कर्म-विज्ञान

(तृतीय भाग)

(कर्म-सिद्धान्त पर सर्वांगीण विवेचन)

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का पुष्प : २८८

कर्म विज्ञान
(तृतीय भाग)

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रथम आवृत्ति
वि. सं. २०४८
आश्विन शुक्ला १४
२२ अक्टूबर १९९१

प्रकाशक-प्राप्तिस्थान
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर
पिन : ३१३००१ (राज.)

मुद्रण-प्रकाशन
संजय सुराना द्वारा
कामधेनु प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स
ए-७, अवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड,
आगरा २८२००२ फोन ६८३२८

* मूल्य *
लागत मात्र ८० रुपया सिर्फ

प्रकाशकीय बोल

"धर्म और कर्म" अध्यात्म जगत के दो अद्‌भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म, बंधन का। बंधन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। प्राणी/कर्मबद्ध आत्मा, प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दुख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

"कर्मवाद" का विषय बहुत गहन है, तथापि कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति-मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत के महान मनीषी, चिन्तक/लेखक उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने "कर्मविज्ञान" नाम से यह विशाल ग्रन्थ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान उपकार किया है। यह विराट् ग्रन्थ लगभग २५०० पृष्ठ का होने से हमने चार भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में आस्रव एवं संवर पर तर्क पुरस्सर विवेचन है।

प्रथम भाग का प्रकाशन पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की ८१ वीं जन्म-जयंती के प्रसंग पर किया जा चुका है। द्वितीय भाग भी पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हो चुका है। तथा तृतीय भाग पाठकों के कर-कमलों में पहुंच रहा है। पहले द्वितीय भाग के तीन खण्ड एक साथ छापने का विचार था। परन्तु छपने पर पुस्तक लगभग एक हजार पृष्ठ से भी बड़ी हो गई। इस कारण चौथा, पांचवा खण्ड भाग-२ में तथा छठा खण्ड भाग ३ में जिल्द किया गया है। पृष्ठ संख्या भाग-२ से आगे ५३९ से चालू रखी गई है। पाठक भाग ३ का ५३९ से अनुसंधान करें।

इस प्रकाशन में दानवीर डा. चम्पालाल जी देसरड़ा, औरंगाबाद का अपूर्व योगदान मिला है जो उनकी साहित्यिक अभिरुचि तथा उपाध्याय श्री और उपाचार्य श्री के प्रति अपार आस्था का द्योतक है। ऐसे तेजस्वी धर्मनिष्ठ युवक सुश्रावक पर हमें सात्विक गर्व है। हम उनके आभारी हैं। साथ ही साहित्यसेवी श्रीमान् श्रीचन्दजी सुराना "सरस" ने बड़ी तत्परता के साथ सुन्दर मुद्रण व साज-सज्जा युक्त प्रकाशन कर समय पर प्रस्तुत किया, हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

आशा है, पाठक इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से अधिकाधिक लाभान्वित होंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
—श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

प्रस्तावना (लेखकीय)

पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री जान डयूई *(John Dewey)* ने अपने जीवन भर के अनुभव का सार इन शब्दों में व्यक्त किया–

"Child is not a blank slate on which we can write whatever we wish".

(चाइल्ड इज नौट ए ब्लेंक स्लेट, ऑन व्हिच वी कैन राइट व्हाटेवर वी विश।)

बालक, कोरी स्लेट (तख्ती) नहीं है, जिस पर अपनी इच्छानुसार हम जो चाहें, लिख सकें।

आगे वह कहता है–हम अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं, कि उसके चारों ओर समुचित वातावरण निर्मित कर दें, उसके जीवन सुधार और चरित्र निर्माण के लिए अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध कर दें, लेकिन वह उसे किस रूप में ग्रहण करेगा, इसे हम निश्चित नहीं कर सकते, बालक में कुछ अदृष्ट ऐसी शक्तियाँ छिपी होती हैं, जो उसकी ग्रहण-क्षमता और उसके जीवन विकास की धारा को निर्धारित करती हैं कि वह फूल के रूप में विकसित होगा अथवा शूल बन जायेगा।

डयूई ने जिसे बालक की ग्रहण शक्ति कहा है, उसे कर्मविज्ञान की भाषा में आस्रव कहा जा सकता है।

आस्रव

जैन दर्शन के नव तत्त्वों में आस्रव भी एक तत्त्व है। योगों–मन–वचन–काय तथा करणों कृत-कारित-अनुमोदन रूप में जो आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन–हलन–चलन होता है, उसके द्वारा जो कर्मों का आकर्षण होता है, वह आस्रव है। सरल शब्दों में, कर्म परमाणु पुंजों का आत्मा की ओर आकर्षित होना, बहना, खिंचना आस्रव–कर्मास्रव है।

आस्रव शब्द का निर्माण स्रु धातु से हुआ है। जिसका अर्थ है–बहना, इसी कारण कर्मविज्ञान में आस्रवों को कर्मागमन के स्रोत अथवा द्वार कहा गया है। जिस प्रकार जलाशय में मोरियों (स्रोतों) से जल आता है, इसी प्रकार आस्रवों द्वारा आत्मा में कर्मों का आगमन होता रहता है।

यों आस्रव स्वरूपतः एक ही है, किन्तु मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों, मिथ्यात्व तथा पाप-पुण्य की अपेक्षा से इसके कई भेद हैं।

आस्रव तत्त्व एक है, वह पुण्य और पाप–परस्पर विरोधी रूपों में कैसे प्रगट हो सकता है? इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है।

एक पौधा है, वही भूमि, पानी, खाद आदि है, किन्तु उसी पर गुलाब का फूल खिलता है, महकता है, अपनी सुगन्ध से जन-मन के चित्त को प्रसन्न करता है, और उसी डाली (टहनी) पर कांटा भी उत्पन्न होता है, जो शूल है, कष्टदायी है, अप्रिय है–मानव इसे नहीं चाहता।

फूल पुण्य का प्रतिरूप है और शूल पाप का।

इसी प्रकार अपने-अपने अदृष्ट तथा भाव कर्म, राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि के अनुसार जीवात्मा पुद्गल कर्म-परमाणु पुंज को आकर्षित करता है, खींचता है, अपनी ओर प्रवाहित करता है। यही आस्रव है। यह शुभ भी है और अशुभ भी।

संवर

संवर, आस्रवों का निरोध है, यह आस्रवों को रोकता है, आस्रव द्वारों को बन्द करता है, आत्मा में कर्मों के आगमन को रोकता है। इसके भी काय संवर, मनःसंवर, वचन संवर, इन्द्रिय संवर, प्राण संवर आदि अनेक रूप अथवा भेद हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समिति, गुप्ति, परीषहजय आदि से संवर होता है, ये संवर के भेद हैं। सम्यक्त्व, विरति, अकषाय, प्रमाद का अभाव तथा योगों की अचंचलता भी संवर के रूप हैं।

किन्तु समझना यह है कि संवर की क्रिया किस प्रकार निष्पन्न होती है। एक भौतिक उदाहरण से समझें।

जंगल में अथवा किसी बगीचे में एक वृक्ष है। माली खाद आदि उसकी जड़ों में देता है। उससे उत्पन्न रस को वृक्ष खींचता है और परिपुष्ट होता है, बढ़ता है। वनस्पति विज्ञान इसे पोषक तत्वों को खींचना (Secretion) कहता है। लेकिन कर्मविज्ञान की दृष्टि से यह आस्रव है।

अब कल्पना करिए, वृक्ष की जड़ के नीचे कोई चट्टान आ गई, कंकड़, पत्थर आ गये, उनसे खाद का पोषक तत्त्व रुक गया। वृक्ष उस तत्त्व को खींच नहीं सकता, बढ़ नहीं सकता, कुछ समय बाद वह हरा-भरा वृक्ष सूखकर ठूँठ बन जायेगा।

जिस प्रकार वृक्ष के पोषक तत्त्वों का अवरोधक चट्टान है, इसी प्रकार संवर भी आस्रव का अवरोधक है, वह नये कर्मों का आगमन नहीं होने देता।

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से आस्रव संसार का कारण है और संवर मोक्ष का। संवर द्वारा संसाररूपी वृक्ष को सुखा दिया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में आस्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का।

आस्रवो भव हेतु स्यात् संवरो मोक्ष कारणम्

उनके इस कथन को प्रस्तुत खण्ड में विविध उदाहरणों और आस्रव तथा संवर की क्रिया-प्रक्रिया का वर्णन करके विशद रूप से समझाया गया है। आस्रवों से बचने और संवर का अनुसरण करने की प्रबल प्रेरणा पाठकों को मिलेगी।

कर्मविज्ञान के इस तृतीय भाग के छठे खण्ड में मुख्यतः आस्रव और संवर पर विशद विवेचन किया है। पहले खण्ड ४, ५ तथा ६ एक साथ ही द्वितीय भाग में रखने का विचार था, परन्तु छठा खण्ड बहुत विस्तृत हो गया, इस कारण पाठकों की सुविधा का ध्यान रखते हुए इसे अलग ही तृतीय भाग बना दिया गया है।

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम मैं श्रमण संघ के अध्यात्मनायक आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का स्मरण करता हूँ, जिनके मंगलमय आशीर्वाद से मैं अपनी अध्यात्म साधना में यशस्वी हो रहा हूँ।

मेरे लेखन में पूज्य उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का आशीर्वाद उसी प्रकार सहायक रहा है जैसे दीपक को ज्योति पुंज के रूप में प्रकाशित होने में स्नेह (तेल)। उनका स्नेह, वात्सल्य, करुणा मेरे जीवन की चिरस्थायी निधि है।

परम स्नेही सन्तमानस महामनीषी मुनि श्री नेमीचन्द जी महाराज का सौजन्यपूर्ण सहयोग भी मेरे लिए अविस्मरणीय है। उन्होंने मेरे द्वारा लिखित निबन्धों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से संशोधित/सम्पादित करके स्नेह-पूर्ण समर्पण और आत्मीय भाव प्रकट किया है।

उनका अध्ययन एवं विषय की पकड़ बहुत ही पैनी है। विषय को सर्वांगीण दृष्टि से प्रस्तुत करने की उनकी शैली भी सुन्दर है। मुझे अपने लेखन/सम्पादन कार्य में उनका निरन्तर सहयोग मिलता रहा है। मैं उनके इस आत्मीयता पूर्ण समर्पण भाव के प्रति आभारी रहूँगा। विद्वद्रत्न साहित्य मनीषी श्री विजय मुनि जी शास्त्री

आगरा ने प्रस्तुत भाग पर प्रस्तावना लिखने का स्नेह पूर्ण आग्रह स्वीकार किया, मैं उनके आत्मीय भाव के प्रति आभारी हूँ।

प्रतिभा मूर्ति ज्येष्ठ भगिनी पुष्पवती जी महाराज की सतत प्रेरणा से मैं (कर्मविज्ञान) प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन में गतिशील रहा हूँ। अतः इनका स्मरण सहज ही हो जाता है।

मैं उन सभी सन्तों, मनीषियों, विद्वानों तथा ज्ञात-अज्ञात कृतिकारों एवं सहयोगियों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सहकार से मैं इस ग्रन्थ को रोचक एवं आकर्षक रूप प्रदान करने में सक्षम हुआ।

इस अवसर पर परमस्नेही श्रीचन्द जी सुराना "सरस" को भी नहीं भुलाया जा सकता, जिनके अथक प्रयास से ग्रन्थ का त्रुटि रहित मुद्रण और आकर्षक साज-सज्जा संभव हुई। वे अत्यधिक धन्यवाद के पात्र हैं।

परम उत्साही सुश्रावक डा. चम्पालाल जी देसरड़ा को भी विस्मृत नहीं हो सकता, जिन्होंने कर्मविज्ञान के द्वितीय एवं तृतीय भाग के प्रकाशन में अपना उदार आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

जैन विकास केन्द्र
पीपाड़ सिटी

–उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

कर्मतत्त्व-मीमांसा

सुख एवं दुख, हानि तथा लाभ, जीवन और मरण, यश अथवा अपयश–ये सब कर्म के फल हैं। संसार-चक्र सदा घूमता रहता है। बीज से अंकुर, अंकुर से फल और फल से फिर बीज। कर्म, कर्म से बन्ध, बन्ध से सुख-दुःख का भोग। पुनः पुनः जन्म, फिर-फिर मरण। प्रयत्न करने पर भी हानि, न करने पर भी कभी लाभ। भला करने पर भी अपयश, और बुरा करने पर भी कभी यश। विचित्र कथा है, कर्म की। विश्व की विविधता का, विचित्रता का आधार कर्म ही है। प्रत्येक धर्म में, सम्प्रदाय में, मत में किसी न किसी रूप में कर्म की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

मनुष्य का वर्तमान जीवन, उसके अतीत का प्रतिबिम्ब है, और अनागत का आलोक। एक ही माता-पिता के चार पुत्र भिन्न-भिन्न स्वभाव के क्यों हो जाते हैं? क्योंकि सब के संस्कार अलग-अलग हैं। संस्कार ही तो कर्म हैं। क्रिया होकर समाप्त हो जाती है, लेकिन वह अपना प्रभाव एवं प्रताप, अपने कर्त्ता के जीवन-पट पर अंकित कर जाती है। यह अंकन ही संस्कार है, संस्कार ही कर्म है। कर्म बिना कर्त्ता के कभी होता नहीं। कर्ता की हर हल-चल कर्म बन जाती है। वह हल-चल शरीर में हो, वाणी में हो, मन में हो–तीनों के स्पन्दन में यदि राग, द्वेष, मोह तथा अज्ञान का चेप लगा हो तो वह हरकत कर्म बन जाती है। चेप है, कषाय। चेप है, संक्लेश। अतः कषाय का योग मिल जाने पर, शरीर, वाणी और चित्त की क्रिया कर्मरूप में परिणत हो जाती है। क्रिया जीव की भी होती है, और अजीव की भी।

जीव और अजीव :

जैन दर्शन में प्रख्यात सप्त तत्त्वों में, नव पदार्थों में, षड् द्रव्यों में और पांच अस्तिकायों में, जीव-अजीव प्रधान हैं। क्योंकि ये दोनों क्रियावान् हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल–ये चारों निष्क्रिय हैं। ये चारों एक-एक हैं। जीव और अजीव का एक भेद पुद्गल अनेक हैं। जीव कर्ता है, वह कभी कर्म नहीं बन सकता। अधर्म, धर्म, आकाश और काल, इन में भी कर्म बनने की योग्यता नहीं है। कर्मरूप में परिणत होने की योग्यता एक मात्र पुद्गल में है। समस्त पुद्गल भी कर्म नहीं बनता, केवल उसी पुद्गल परमाणु की कर्म संज्ञा हो जाती है, जो आत्मा से सम्बद्ध होता है।

आत्म-सम्बद्ध परमाणु पुंज को कार्मण शरीर कहा गया है। यही सूक्ष्म शरीर, अन्य स्थूल शरीर का, इन्द्रिय का और मन का जन्मदाता होता है। अन्य दर्शनों में कार्मण शरीर को लिंग शरीर कहा जाता है। संसार-चक्र का मूल हेतु यही है। समस्त विकारों की, विषयों की और विकल्पों की जड़ भी यही है। किसी वृक्ष की जड़ जब तक हरी-भरी है, तब तक उस पर पत्र, पुष्प और फल उत्पन्न होते ही रहेंगे। जड़ के सूख जाने पर न पत्र हैं, न फूल हैं, न फल हैं। यही स्थिति संसार और कार्मण शरीर की समझो।

संसार-चक्र है क्या ? जीव और पुद्गल का परस्पर संयोग, जैसा कि नीर एवं क्षीर में होता है, अयोगोलक में तथा अग्नि में होता है। मोक्ष क्या है ? दोनों का वियोग। जीव, मात्र जीव रह जाए। कर्म, मात्र पुद्गल हो जाए। फिर संसार का चक्र कैसे घूम सकता है ? जीव हो गया निर्विकार, निर्विषय तथा निर्विकल्प। यही स्थिति है, परम सुख की, परम शान्ति की, परम आनन्द की। तीर्थंकरों की देशना का सार-तत्त्व भी यही है, कि पहले समझो, जानो कि बन्धन क्या, कितना है, कैसा है ? फिर उस को तोड़ने का पुरुषार्थ करो। जोड़ने में पुरुषार्थ किया है, तो उसको तोड़ने में भी करो।

जीव, कर्म और परमात्मा :

भारत के समस्त दर्शन ग्रन्थों में तीन तत्त्वों पर मुख्य रूप में विचार किया है, विद्वानों ने–जीव, कर्म और परमात्मा। जीव की सत्ता अनादि अनन्त है। परन्तु उसकी तीन अवस्थाएँ हैं–शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध। अपने स्वभाव से जीव शुद्ध है, पर कर्म के साथ संयोग होने के कारण वह अशुद्ध हो जाता है। कर्म विलग हो जाए तो शुद्ध है। परमात्मा परम शुद्ध है। वह सादि अनन्त है। क्योंकि संसारी दशा में जीव अशुद्ध होता है। मुक्ति दशा में वह शुद्ध है। अशुद्धि का कारण कर्म वहां पर है, नहीं। कर्म की भी अपनी एक सत्ता है। वह तो सादि-सान्त है। व्यक्तिशः कर्म सादि-सान्त है, लेकिन प्रवाहरूपेण कर्म अनादि सान्त है, और अनादि-अनन्त भी रह सकता है। अभव्य जीव का कर्म अनादि-अनन्त है। क्योंकि उसकी कर्म-ग्रन्थि कभी खुलती नहीं। भव्य जीव का कर्म प्रवाहरूपेण अनादि-सान्त है और व्यक्तिशः सादि-सान्त है। वह उत्पन्न हुआ है, तो कभी न कभी उसका अन्त भी होगा। जैन दर्शन की अवधारणा है कि भव्य वह होता है, जिसमें मोक्ष जाने की योग्यता हो। जिस जीव में योग्यता न हो, तो वह अभव्य होता है। अपने विकार, विकल्प एवं विषय को जीतकर, प्रत्येक भव्य आत्मा, परमात्मा बन सकता है। कर्म-ग्रन्थि को तोड़ने भर की देर है।

जैन दर्शन में, जीव और कर्म के संयोग की एक विशेष पद्धति एक विशेष प्रक्रिया रही है। इस पद्धति को आस्रव एवं बन्ध कहा जाता है। कर्म सूक्ष्म पुद्गल परमाणु-पुंज के रूप में होते हैं। उनका जीव की ओर आना आस्रव है, और कर्म पुद्गलों का तथा जीव का एक-दूसरे में आश्लेष हो जाना, बन्ध कहलाता है। जैसे स्नेह-सिक्त शरीर पर धूलि-कणों का आना और फिर चिपक जाना। बन्ध तत्त्व, मोक्ष तत्त्व का भावात्मक विरोधी तत्त्व है, उसके चार भेद होते हैं–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। प्रकृति-बन्ध के आठ भेद हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष, नाम, गोत्र और अन्तराय। स्थितिबन्ध, जीव के साथ कर्म पुद्गलों के रहने के समय को कहा गया है। अनुभागबन्ध, कर्मों के फल-भोग को कहते हैं। विपाक भी कहते हैं। प्रदेशबन्ध का अर्थ है, जीव के प्रदेशों पर कर्म-परमाणुओं की संख्या। अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, इनको कर्म दलिक कहा गया है। कर्मबन्ध का हेतु है, आस्रव। आस्रव का परिणाम है, बन्ध। संवर और निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं। मूल तत्त्वों के परिज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तत्त्वों के अपरिज्ञान से तथा अनाचरण से जीव बन्धन में पड़ जाता है।

बौद्ध दर्शन :

बौद्ध विद्वानों ने कषाय-प्रेरित कर्मों को बन्धन का कारण माना है। मानसिक, वाचिक और कायिक–ये तीनों प्रकार के कर्म विपाक द्वादश निदान के अन्तर्गत आते हैं। वैभाषिक बौद्धों ने कर्म के दो भेद स्वीकार किए हैं–चेतना और चेतनाजन्य। चेतना में मानसिक कर्मों का तथा चेतनाजन्य में वाचिक और कायिक कर्मों का समावेश होता है। चेतनाजन्य कर्म भी दो प्रकार के होते हैं–विज्ञप्ति एवं अविज्ञप्ति। जिन कर्मों का फल प्रकट रूप में होता है, वे विज्ञप्ति कर्म होते हैं। अविज्ञप्ति कर्म अदृष्ट रूप में रहते हैं, और कालान्तर में अपना फल प्रदान करते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन :

न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म का रूप है, अदृष्ट। कर्म के स्थान पर वहाँ अदृष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। अदृष्ट का अर्थ है–पुण्य एवं पाप, अथवा शुभ और अशुभ कर्मों का वह समुदाय, जो समयानुकूल फल प्रदान करता है। यही है, संसार के चक्र की वह स्थिति जिसको बन्ध कहा गया है। क्योंकि प्रत्येक जन्म में कर्म करने से वर्तमान तथा अनागत जन्मों में फल भोग का चक्र नित्य-निरन्तर चलता रहता है, जिसको षोडश पदार्थों के तथा द्वादश प्रमेयों के तत्त्व-ज्ञान से रोका जा सकता है। यही है, अपवर्ग तथा मोक्ष। संसार के कारण चार

हैं–राग, द्वेष, मोह और प्रवृत्ति। तत्त्वज्ञान से इनका अभाव हो जाता है। वैशेषिक दर्शन में पांच कर्म स्वीकृत हैं–उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। कर्म के अन्य प्रकार से दो भेद होते हैं–सत्प्रत्यय तथा असत्प्रत्यय। प्रत्ययजन्य कर्म सत्प्रत्यय कहा जाता है, और अप्रयत्नजन्य कर्म असत्प्रत्यय कहा गया है।

सांख्य-योग दर्शन :

योग-सूत्र के व्याख्याकारों ने योगी और अयोगी के भेद से कर्म का विभाजन किया है। पुण्य या शुभ कर्म शुक्ल और पाप या अशुभ कर्म कृष्ण कहलाता है। योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं। उनसे योगी को संसार का बन्धन नहीं होता। अयोगी के कर्म तीन हैं–शुक्ल, कृष्ण एवं शुक्ल-कृष्ण। अतः वे बद्ध जीव कहे जाते हैं। कर्मों का मूल कारण संक्लेश है। कर्मों से क्लेश एवं क्लेशों से कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्म, वासना, आशय एवं संस्कार ये शब्द पर्यायवाचक हैं, सबका एक ही वाच्य है।

सांख्य दर्शन भी भारत का प्राचीन दर्शन रहा है। इसमें पच्चीस तत्त्वों की मान्यता रही है, लेकिन मुख्य रूप में दो ही तत्त्व हैं–पुरुष और प्रकृति। पुरुष है, चेतन। प्रकृति है, जड़। दोनों का अनादि काल से संयोग है। यह संयोग ही सांख्य में संसार कहा गया है। भेदविज्ञान से प्रकृति पुरुष का वियोग हो जाता है। यही है, अपवर्ग अथवा मोक्ष। सांख्य दर्शन ज्ञानप्रधान दर्शन है। पुरुष भोक्ता है। प्रकृति कर्त्ता है। पुरुष निष्क्रिय तथा निर्लेप है। बन्धन प्रकृति को होता है। पुरुष को न बन्धन है, और न मोक्ष है। जब बन्धन ही नहीं, तो मोक्ष किसका? सांख्य दर्शन में कर्म नहीं, उस के स्थान पर प्रकृति को माना गया है। क्रिया प्रकृति में मानी है, पुरुष तो कूटस्थ-नित्य है।

मीमांसा दर्शन :

मीमांसा दर्शन का प्रधान विषय है–यज्ञ, होम तथा वेद विहित अनुष्ठान कर्म। उसके अनुसार वेद विहित कर्म, धर्म है। वेद निषिद्ध कर्म, अधर्म है। वेद विहित कर्म चार प्रकार का माना गया है–नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्म। मीमांसक विद्वानों का मत है, कि धर्म का परिपालन अवश्य ही करना चाहिए, क्योंकि धर्म करने वाले को फल की प्राप्ति अवश्य होती है। वह धर्म क्या है? उनका उत्तर है, कि यज्ञ कर्म और होम कर्म। कर्म क्रिया रूप होता है, क्रिया कुछ क्षणों में नष्ट हो जाती है। इस लोक में कृत कर्म से एक अदृष्ट शक्ति प्रकट होती है। इस शक्ति को मीमांसा-शास्त्र में अपूर्व कहा गया है। जन्मान्तर में यही कर्म का फल प्रदान करता

है। मीमांसा दर्शन के परम पण्डित कुमारिल भट्ट ने भोगायतन, भोग-साधन और भोग्य विषय–इन त्रिविध बन्धनों को जीव के भव-बन्धन का कारण कहा है। भोगायतन है, शरीर। भोग-साधन हैं, इन्द्रियां। भोग के विषय हैं–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द। अज्ञानवश जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता है।

वेदान्त दर्शन :

वेदान्त को अद्वैत दर्शन कहा है। अद्वैत का अर्थ है–जहां पर दो तत्त्व नहीं, एक ही तत्त्व माना है। वह एक तत्त्व है, ब्रह्म। ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् में अन्य कुछ भी नहीं है, जगत की विचित्रता विश्व की विविधता, अविद्याजन्य है। माया के कारण है। जगत भ्रम है, माया है। सर्वत्र चेतन है, जड़ कहीं है ही नहीं। यह सिद्धान्त ही अद्वैत के नाम से विख्यात है। अविद्या से काम उत्पन्न होता है। काम से कर्म उत्पन्न होता है। काम, इच्छा, आसक्ति से प्रेरित होकर प्राणी क्रिया करता है–**कर्म हेतुः काम स्यात्**। यही संसार-चक्र है। जो दिवा-निशा घूमता रहता है। यही है, बन्धन, जिसमें जीव बद्ध होकर अपने स्वरूप को भूल बैठा है। क्षणिक विषय सेवन में आसक्ति के कारण, उसके चित्त में कभी प्रसन्नता, तो कभी खिन्नता भी होती है। यही संसार का सुख-दुःख है, जो जीव के अपने शुभ-अशुभ कर्म के परिणाम रूप उसको इस जीवन में–जन्मान्तर में प्राप्त होता रहता है। वेदान्त में कर्म के तीन प्रकार हैं–संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। प्रकारान्तर से भी कर्म के तीन अन्य भेद हो सकते हैं–विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के अन्य दर्शन कर्म की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं। प्रक्रिया सबकी अलग-अलग है। इस मत में सब एक हैं, कि आसक्ति बन्धन का मूल है। कषायमूलक कर्म अवश्य अपना फल देता है।

जैन दर्शन :

कर्म, बन्ध और मोक्ष के विषय में, जैन दर्शन के विद्वान विचारकों ने पर्याप्त चिन्तन, मनन एवं गम्भीर मन्थन किया है। समस्त जीवों में, तत्त्वतः साम्य है, तो फिर उनमें वैषम्य क्यों नजर आता है? एक जीव में भी काल-भेद से, स्थिति-भेद से और क्षेत्र-भेद से वैषम्य क्यों होता है? इन प्रश्नों का सम्यक् समाधान तथा इस प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर कर्मवाद से ही प्राप्त होता है। कर्मवाद, कर्म-मीमांसा, एवं कर्म सिद्धान्त जैनों का अपना स्वतन्त्र चिन्तन रहा है।

कर्म सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पूर्णतः तर्कसंगत है। कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित होने से हम उसे कर्मविज्ञान भी कह सकते हैं।

जैसा कर्म, वैसा फल। जगत् में यह मान्यता प्राचीनतर काल से ही चली आ रही है। शुभ तथा अशुभ कर्म करने में जीव जैसे स्वतन्त्र है, अपने कर्मों के फल भोग में भी वह वैसा ही स्वतन्त्र है। फल भोग में, अन्य किसी के अनुग्रह और निग्रह की आवश्यकता नहीं। जीव अपने वर्तमान एवं भावी का निर्माता स्वयं ही है। कर्मविज्ञान कहता है, कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भावी का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की बिखरी कड़ियों को जोड़ने वाला कर्म तत्त्व ही है।

जैन दर्शन में कर्म के दो भेद हैं–भावकर्म और द्रव्यकर्म। वस्तुतः अज्ञान, राग और द्वेष ही कर्म हैं। राग से माया और मोह का ग्रहण होता है। द्वेष से क्रोध और मान का ग्रहण हो जाता है। स्व और पर का भेद-ज्ञान न होना, अज्ञान तथा दर्शनमोह है। सांख्य, बौद्ध और वेदान्त दर्शन में यही अविद्या के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि राग-द्वेष ही पाप के प्रेरक हैं, तथापि सब की जड़ अज्ञान ही है। अज्ञानजन्य इष्ट-अनिष्ट की कल्पना के कारण, जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे कषाय, राग एवं द्वेष कहे जाते हैं। जैन दर्शन की परिभाषा में यही भावकर्म है, जो जीव का आत्मगत संस्कार विशेष है। आत्मा के चारों ओर तथा ऊपर-नीचे सदा विद्यमान अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक परमाणु पुंज को जो अपनी ओर खींचता है, वह भावकर्म है, जो परमाणु पुंज खिंचता है, वह द्रव्यकर्म है, कार्मण काय है। यही जन्मान्तर में अथवा मरणोत्तर जीवन में, जीव के साथ जाता है, और स्थूल शरीर की निर्मिति के लिए, रचना के लिए भूमिका तैयार करता है। अतः आत्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले सभी मतों में, पुनर्जन्म एवं पुनर्भव के कारण रूप से कर्म तत्त्व को स्वीकार किया है।

कर्म का स्वरूप और भेद :

लोक भाषा में कहा जाता है कि **यथा बीजं तथा फलं**, जिस प्रकार का बीज होता है, उसी प्रकार का उसका फल भी होता है। न्याय-शास्त्र की भाषा में इसको कार्य-कारण भाव कहना संगत होगा। अध्यात्मशास्त्र में, इसको क्रियावाद अथवा कर्मवाद कहते हैं। भगवान् महावीर अपने को क्रियावादी कहते थे। क्रिया ही कर्म बन जाती है। जो कर्मवादी होगा, वह लोक-परलोकवादी होगा। परलोकवादी आत्मवादी अवश्य होगा। कर्म-शास्त्र पर जैन विद्वानों ने पर्याप्त लिखा है, क्योंकि कर्मवाद जैनदर्शन का मुख्य विषय रहा है। आधुनिक भाषा में इसे हम कर्मविज्ञान कह सकते हैं।

कर्म विज्ञान पर जैन आचार्यों ने अनेक विशालकाय ग्रंथों की रचना की है, जीव और जगत की प्रत्येक स्थूल, सूक्ष्म एवं अतिसूक्ष्म क्रिया को, क्रिया के फल को, भूत-वर्तमान भविष्य तीनों काल की संगति बिठाकर कर्म को व्याख्यायित किया है।

कर्मवाद, कर्म-सिद्धान्त, कर्म-रहस्य आदि अनेक ग्रंथों के अनुशीलन के पश्चात् यदि आप प्रस्तुत "कर्म विज्ञान" को पढ़ेंगे तो इसमें आपको अनेक प्रकार के जीवंत तथ्य, तथ्यपूर्ण विवेचन एवं तर्कसंगत, प्रमाण पुरस्सर शैली का दर्शन होगा। स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के विद्वान मनीषी उपाचार्य देवेन्द्र मुनि जी ने अपने अब तक के अध्ययन का नवनीत सरल और सहज शैली में इस पुस्तक में प्रस्तुत कर दिया है। उपाचार्य श्री जी एक गंभीर विद्वान हैं। उनकी भाषा बहुत ही सहज, प्रवाहपूर्ण और विषयानुरूप है। कर्म-सिद्धान्त के विवेचन में शास्त्रीय और वैज्ञानिक दृष्टि का सुन्दर समन्वय किया गया है। अनेक विद्वानों के तर्कयुक्त प्रतिपादन का सार भी इसमें संकलित है। कर्म विज्ञान का प्रथम एवं द्वितीय भाग कुछ समय पूर्व प्रकाशित हो चुका है। अब यह तृतीय भाग मेरे समक्ष है। इसमें आस्रव और संवर इन दो तत्त्वों पर विवेचन किया गया है।

संवर तत्त्व को सम्यग् रूप में समझने पर ही मोक्ष तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। आस्रव को रोकने वाली और बन्ध को न होने देने वाली प्रक्रिया का नाम संवर है। अतः आस्रव के साथ संवर तत्त्व का विवेचन सुन्दर रीति से हुआ है। व्यापक दृष्टि से विद्वान लेखक ने बहुत श्रम पूर्वक जो विवेचन किया है—वह पठनीय एवं मननीय है। यह ग्रन्थ जैन कर्म साहित्य के ग्रंथों में विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा। ऐसा, विश्वास है।

—विजय मुनि शास्त्री

जैन भवन
आगरा
२५-१०-९१

कर्मों का आस्रव और संवर

खण्ड (६) पृष्ठ ५३९-१०४५

१. कर्मों का आस्रव : स्वरूप और भेद ५४१
२. आस्रव की आग के उत्पादक और उत्तेजक ५७२
३. कर्म आने के पाँच आस्रवद्वार ५८५
४. योग-आस्रव : स्वरूप, प्रकार और कार्य ६०६
५. पुण्य और पाप : आस्रव के रूप में ६३१
६. पुण्य कब और कहाँ तक उपादेय एवं हेय ? ६५७
७. आस्रव मार्ग संसारलक्ष्यी और संवरमार्ग मोक्षलक्ष्यी ६८८
८. आस्रव की बाढ़ और संवर की बाँध ७०४
९. काय-संवर का स्वरूप और मार्ग ७२५
१०. वचन-संवर की महावीथी ७५०
११. इन्द्रिय-संवर का राजमार्ग ७७०
१२. मनःसंवर का महत्त्व, लाभ और उद्देश्य ८०५
१३. मनःसंवर के विविध रूप, स्वरूप और परमार्थ ८३२
१४. मनःसंवर की साधना के विविध पहलू ८५७
१५. प्राण-संवर का स्वरूप और उसकी ८९४
१६. प्राणबल और श्वासोच्छ्वासबल-प्राण-संवर की साधना ९३४
१७. अध्यात्म-संवर का स्वरूप, प्रयोजन और उसकी साधना ९७४
१८. अध्यात्म-संवर की सिद्धि : आत्मशक्ति-सुरक्षा और आत्मयुद्ध से १००९

१

कर्मों का आस्रव : स्वरूप और भेद

अथ कर्म-आगमन-जिज्ञासा

संसार के सभी प्राणी कर्मों से युक्त हैं। प्रतिक्षण कर्मों का आवागमन चलता रहता है, प्राणियों के जीवन में। जिन कर्मों का आगमन होता है, वे जीव से श्लिष्ट होकर बंध जाते हैं, देर-सवेर अपना फल देकर चले जाते हैं। फिर नये कर्म आते हैं, और इसी तरह अपना फल भुगता कर चले जाते हैं। कुछ भी पता नहीं चलता है, अल्पज्ञ जीव को कि कर्म कब आया, कैसे आया और कब अपना फल देकर चला गया ?

संसार के अगणित प्राणी खासकर मानव भी इस विषय में प्रायः नहीं जानते हैं और न ही कभी जानने का प्रयत्न करते हैं कि, "हम यहाँ इस लोक में, इस रूप में क्यों और किस कारण से आए हैं ? कहाँ से आए हैं ? कहाँ जाना है ?"[1]

जो व्यक्ति, कुछ जिज्ञासु होते हैं, उनके कानों में कर्मसिद्धान्त की बातें तो खूब टकराती हैं, वे इतना भर अवश्य जानते हैं कि जीव जैसा शुभ-अशुभ कर्म करता है, वैसा ही शुभ-अशुभ फल भोगता है। उनकी जिज्ञासा बार-बार होती है कि कर्म का आगमन (आस्रव) क्यों और कैसे होता है ? उस कर्मास्रव का स्वरूप क्या है ? कितने प्रकार का है वह ? कैसे वह बिना बुलाए ही आ जाता है ? या कैसे खिंचा चला आता है ? कैसे वह स्वभावतः निर्मल, शुद्ध आत्मा के चिपक जाता है ? क्या कर्म को आते हुए रोका भी जा सकता है ?

वस्तुतः कर्मों के आगमन के इन तथ्यों पर जितना गहराई और व्यापक रूप से जैनदर्शन ने प्रकाश डाला है, उतना किसी अन्य दर्शन, धर्म या मत ने इस पर प्रकाश नहीं डाला।

कर्मों को कौन बुलाता है, कैसे बुलाता है ?

शुभ-अशुभ कर्मों के आगमन को जैनकर्म विज्ञान की भाषा में "आस्रव"[2] कहते

---

१. तुलना करें–"एवमेगेसिं णो णातं भवति, अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?"
–आचारांग श्रु. १ अ १ उ. १ सू. २

२. 'पुण्य–पापागमद्वारलक्षणः आस्रवः।' –राजवार्तिक १/४/१६

हैं। अर्थात् जिस क्रिया या प्रवृत्ति से जीव में कर्मों का स्राव– आगमन होता है, वह आम्रव है। आम्रव कर्मों का प्रवेशद्वार है।

यह बिना बुलाए आ जाता है या जीव इसे बुलाता है ? वैसे तो कर्म सिद्धान्त के रहस्य से अनभिज्ञ लोग कह देते हैं–हम कर्मों को कहाँ बुलाते हैं ? कहाँ उन्हें आने का न्यौता देते हैं ?

पर कर्म विज्ञान मर्मज्ञों का कहना है–जीव सीधा तो उन्हें नहीं बुलाता, किन्तु परोक्षरूप से वह मन-वचन काया द्वारा ऐसी-ऐसी प्रवृत्ति कर बैठता है, जिससे कर्म आ धमकते हैं।

कीड़े-मकोड़े, मच्छरों और मक्खियों को कौन बुलाता है ? कौन उन्हें निमंत्रण देता है ? पर मनुष्य जब घर में गन्दगी का ढेर कर देता है, नाली में पानी सड़ने देता है, सफाई नहीं करता है, घी, शक्कर आदि से बनी चीजों को खुली रख देता है, तो कीड़े-मकोड़ों, साँप-बिच्छुओं एवं मच्छरों को बुलाने का आमंत्रण हो ही गया। बीमारियों को सीधे कौन बुलाता है ? परन्तु पेट में गरिष्ठ और मिर्च मसालेदार चीजें, मिठाइयाँ या तली हुई वस्तुएँ खाने पर या भूख से अधिक ठूँसने पर या खान-पान, रहन-सहन अनियमित होने पर, अपनी इन्द्रियों पर संयम न रखने पर बीमारियाँ बहुत शीघ्र ही आपके शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं। जहाँ शरीर कमजोर हुआ कि अनेक रोग आक्रमण कर देते हैं।

दुर्भाग्य कोई नहीं चाहता, परन्तु जीवन में सद्धर्म, नैतिकता, एवं सच्चरित्रता के प्रति आलस्य और प्रमाद के रूप में, तथा शुभ कार्यों के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा के रूप में व्यक्ति दुर्भाग्य के स्वागत का थाल स्वयं सजाता है। इसी प्रकार दरिद्रता और पिछड़ेपन तक की अनेक कठिनाइयों को कोई न्यौत कर नहीं बुलाता, परन्तु अधिकांश व्यक्ति उनके रोकथाम के लिए जागरूकता और सतर्कता भी तो नहीं बरतते और अज्ञान, एवं अशिक्षा के घोर अन्धकार में ही डूबे रहना चाहते हैं। फिर दरिद्रता और पिछड़ापन क्यों नहीं आएँगे ?

कर्मों का प्रवेश किस जीव में और कैसे ?

बिजली सूखी लकड़ी, प्लास्टिक या कांच आदि पर नहीं गिरती, जिस व्यक्ति ने पैर में प्लास्टिक के जूते चप्पल आदि पहने होंगे, या सूखी लकड़ी की किसी चीज पर खड़ा होगा, उसे बिजली नहीं पकड़ती, न ही करैंट मारती है, परन्तु जहाँ नमी होगी, या कोई धातु होगी, अथवा किसी धातु आदि से या पानी से स्पर्श होगा, वहीं बिजली पकड़ेगी, एवं करैंट मारकर सारे शरीर में प्रविष्ट हो जाएगी। ब्राडकास्ट की गई ध्वनि तरंगें आकाश में सर्वत्र घूमती रहती हैं, परन्तु प्रगट वहीं होती हैं, जहाँ रेडियो या ट्रांजिस्टर अथवा टी. वी. यंत्र का स्विच खुला हुआ हो।

ठीक इसी प्रकार कर्म प्रायोग्य पुद्गल परमाणु तो सारे आकाश में तथा जीव के आसपास में फैले हुए हैं, वे घूमते रहते हैं, प्रवेश उसी जीव में, वहीं करते हैं, जहाँ उनके साथी पहले से बैठे हों या राग-द्वेष आदि की चिकनाहट हो। कर्मों को खींचकर आत्मा में ले आने या प्रवेश कराने के कारण ही उन्हें आस्रव कहा जाता है।

सरोवर में नाले खुले होने से जलागमन की तरह आत्मा में भी आस्रवद्वारों से कर्मागमन

एक सरोवर है, उसमें पानी आने के पाँच नाले हैं। सरोवर में पानी के लिए प्रवेशद्वार वे ही नाले हैं, परन्तु सरोवर के वे पाँचों नाले या पाँचों नालों में से कोई भी पहला या दूसरा नाला बंद हो, और बाकी के नाले खुले हों तो पानी सरोवर में आए बिना नहीं रहेगा।

इसी प्रकार आत्मा रूपी सरोवर में भी कर्मरूपी जल आने के पाँच (आस्रव) द्वार हैं। यदि जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँचों द्वारों को; या इन पाँचों द्वारों में से पहले, दूसरे द्वारों को बंद करके बाकी के द्वार खुले रखेगा, फिर कहेगा कि मैंने तो कर्मों को बुलाया नहीं, तो क्या ऐसी स्थिति में कर्म आने से रुक जाएँगे ? वे द्वार खुले रखें और फिर चाहें कि कोई प्रवेश न करे, यह कैसे हो सकता है ? अतः कर्मों के आने के प्रवेशद्वारों को खुले रखें, फिर आप चाहें या न चाहें, कर्म स्वतः ही खिंचे चले आएँगे, और आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट हो जाएँगे।[1]

आस्रव का व्युत्पत्त्यर्थ और मिथ्यात्वादि स्रोतों से कर्मों का आगमन

आस्रव का निर्वचन आचार्यों ने दो प्रकार से किया है–जिससे कर्म आएँ, वह आस्रव है। अथवा आस्रवणमात्र यानी कर्मों का आना मात्र आस्रव है। 'राजवार्तिक' में इस सम्बन्ध में एक रूपक है–जैसे समुद्र खुला रहता है, उसके कोई बाँध या तट नहीं बना होता, इसलिए जल परिपूर्ण नदियाँ चारों ओर से आ-आ कर उसमें बेधड़क प्रविष्ट हो जाती हैं, समुद्र जल से भर जाता है।[2] समुद्र चाहे कि मेरे अन्दर नदियाँ प्रविष्ट न हों, वे मुझे जल से न भरें, यह हो नहीं सकता; क्योंकि समुद्र के चारों ओर के छोर खुले हैं, कोई तटबंध या बाँध नहीं बना हुआ है। इसी प्रकार संसारी आत्मारूपी समुद्र के चारों ओर से कर्मरूपी जल आने के छोर खुले हों तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि स्रोतों से कर्म निश्चित ही आएँगे।

---

१. (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६/२/४-५
   (ख) सर्वार्थसिद्धि ६/२
२. (क) आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्रं वा आस्रवः। –राजवार्तिक १/४/९
   (ख) "यथा महोदधेः सलिलमापगामुखैरहरहरापूर्यते तथा मिथ्यादर्शनादि द्वाराऽनुप्रविष्टैः कर्मभिरनिशमात्मा समापूर्यते इति।" –वही, १/४/२६

भगवान् द्वारा कर्मों के सर्वदिग्व्यापी स्रोतों से सावधान रहने का निर्देश

इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर ने कर्म से मुक्ति चाहने वाले जिज्ञासु और मुमुक्षु साधकों को सभी दिशाओं (तीनों लोकों) में खुले हुए कर्मों के स्रोतों से सावधान करते हुए कहा–

"साधको ! ऊपर (ऊर्ध्वलोक या ऊर्ध्वदिशा में) स्रोत (कर्मों के आगमन–आस्रव के द्वार) हैं, नीचे (अधोलोक या अधोदिशा में) ये स्रोत हैं, तथा मध्य (तिर्यग्दिशाओं–मध्यलोक) में भी ये स्रोत हैं। ये स्रोत कर्मों के आगमनद्वार कहे गए हैं। इनके द्वारा तीनों लोकों को होने वाले कर्मसंग (राग-द्वेषादि या आसक्तिरूप भाव कर्म) को तुम देखो ! ये स्रोत अपने-अपने राग-द्वेष-मोह-कषाय-विषयासक्ति से निष्पन्न भावकर्मों के आवर्त (भंवरजाल) रूप हैं। इनका सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करके आगमज्ञ (ज्ञानी) साधक इन रागद्वेषादिजनित कर्मों के स्रोतों (भावकर्मास्रवों) से विरत हो जाए।"[1]

आशय यह है कि कर्मों के आस्रव (आगमन) के स्रोत तीनों (ऊर्ध्व, अधो एवं मध्य) दिशाओं, अथवा तीनों लोकों में हैं। इन स्रोतों को बंद कर देने या बंद रखने से ही कर्मों का आस्रव बंद होगा–रुकेगा। (कर्मों का) आस्रव बंद होने से (कर्मों का) बन्ध नहीं होगा।

अकर्मा का होने का उपाय : भगवान् द्वारा प्रतिपादित

इसीलिए भगवान् ने इससे आगे के सूत्र में कहा–आस्रवों के इन (राग-द्वेषादि या मिथ्यात्व आदि) स्रोतों को (इस ओर से) हटाकर (आत्माभिमुख करके) या (संवर-साधना से) बन्द करके मोक्षमार्ग (कर्मों से मुक्त होने के पथ) पर निष्क्रमण करने वाला यह महान् साधक (एक दिन) अकर्मा (बन्धक कर्मों से रहित) हो जाता है। वह (कर्मों के आस्रव की प्रक्रिया को और उनके स्रोतों को बन्द करने का उपाय जानता-समझता हुआ) (यतनापूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ) ज्ञाता द्रष्टा हो जाता है। वह इनकी परिज्ञा या प्रतिलेखना करता हुआ कर्मों की गति-आगति का परिज्ञान करके इन कर्म-संगों (विषयसुखों) की आकांक्षा नहीं करता।"[2]

सर्वव्यापी कर्मपुद्गलों को आने से कैसे रोका जाए : एक चिन्तन

प्रश्न होता है–"इन चारों ओर फैले हुए सर्वव्यापी कर्मपुद्गलों को आने से कैसे रोका जाए ? कैसे इनसे मुँह मोड़ा जाए ? कैसे इनको दूर ठेल दिया जाए ?

---

१. उड्ढं सोता अहे सोता तिरियं सोता वियाहिया। एते सोया वियक्खाया जेहिं संगति पासहा ॥
आवट्टमेयं तु उवेहाए एत्थ विरमेज्ज वेयवी।–आचारांग श्रु. १ अ. ५, उ. ६ सू. ५८७-५८८

२. "विणएत्तु सोयं णिक्खम्म, एस महं अकम्मा जाणति पासति।"
"पडिलेहाए णावकंखति, इह आगतिं गतिं परिण्णाय।"
–आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ. ६ सू. ५८९-५९०

इसका एक समाधान यह है कि किसी ऐसे व्यक्ति को, जिससे आप मिलना नहीं चाहते हैं, या जो आपका विरोधी है, आपका अहित ही करता है, उसकी गतिविधि भलीभाँति जान ली जाती है, या वह किस-किस कारण से, किस प्रक्रिया से आपके यहाँ प्रवेश करता है ? इसे भलीभाँति समझ लिया जाता है। उसके पश्चात् यह भी देखा जाता है कि उसके बिना हमारा काम ही नहीं चलता है तो उसे इस प्रकार से अनुकूल बनाया जाता है कि आने पर भी हमारा अहित या नुकसान न करे।

ठीक यही बात चतुर्दिग्व्यापी कर्मपुद्गलों के आगमन की गतिविधि और उसके प्रवेश की प्रक्रिया को समझकर कितनी मात्रा में किन कर्मपुद्गलों के आगमन को स्वीकृत या अस्वीकृत करना है ? इसे भलीभाँति समझ लिया जाए। उसके पश्चात् उससे स्व-परहितमूलक तालमेल बिठाया जाए।

कर्मों का आस्रव प्रभावित नहीं कर सकेगा : कैसे और किस उपाय से ?

ब्राडकास्ट की हुई ध्वनि तरंगें आकाश में सर्वत्र घूमती रहती हैं, पर प्रकट वहीं होती हैं, जहाँ रेडियो यंत्र का स्विच खुला हुआ हो। ठीक इसी प्रकार ब्रह्माण्ड (चतुर्दश रज्जू प्रमाण लोक) में कर्मवर्गणा के अच्छे-बुरे पुद्गल परमाणु काजल की कुप्पी की तरह ठसाठस भरे हैं, फिर भी अपने आत्मप्रदेशों में उन्हीं कर्मपुद्गल परमाणुओं का अवतरण होता है, जिन्हें जीव राग-द्वेष या कषायादिवश अपनाते हैं। यदि व्यक्ति उन्हें उपेक्षित कर देता है, या कोई भी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया करते समय रागद्वेषादि से दूर रहकर यानी प्रियता-अप्रियता का भाव न लाकर; केवल ज्ञाता द्रष्टा रहता है, तटस्थ या सम रहता है, तो वे उपेक्षित कर्म पुद्गल स्वतः ही हट जाएँगे।

स्निग्ध दीवार की तरह रागद्वेष-स्निग्ध आत्मा पर ही कर्मरज चिपकती है

जैसे एक दीवार पर किसी ने तेल या कोई स्निग्ध पदार्थ लगा दिया, अगर चारों ओर धूल उड़ती है, तो वह उस दीवार पर शीघ्र आकर चिपक जाएगी, किन्तु एक दूसरी दीवार है, जिस पर कोई भी स्निग्ध पदार्थ नहीं लगा है, पॉलिश की हुई है या चूना घोंटकर उस पर लगाया हुआ है, तो उस पर उड़ती हुई धूल टकराएगी जरूर, परन्तु दूसरे ही क्षण नीचे झड़ जाएगी।

इसी प्रकार अगर व्यक्ति की आत्मा की दीवार पर राग-द्वेष या कषाय की स्निग्धता होगी तो उससे मन-वचन-काया के योग चंचल-सक्रिय हो उठेंगे, और आकाश मण्डल में घूमती हुई कर्मरज तुरन्त आकर चिपक जाएगी। किन्तु यदि व्यक्ति की आत्मा की दीवार रागादि से रहित केवल ज्ञाता-द्रष्टारूप में निर्मल होगी तो उस पर कर्मरज नहीं चिपकेगी। ऐसी स्थिति में अगर मन-वचन-काया से कोई प्रवृत्ति भी हुई है तो वह कर्मरज आकर सिर्फ टकराएगी, चिपकेगी नहीं, बंधेगी भी नहीं, तुरन्त झड़ जाएगी।

अशुभकर्म से दूर रहें, शुभकर्म को भी कम से कम प्रवेश कराएँ

कोई कह सकता है कि राग-द्वेषादि का सर्वथा अभाव तो बारहवें गुणस्थान की भूमिका में होता है, इतनी उच्च अवस्था को प्राप्त न होने तक क्या करे ? कैसे वह कर्मों के प्रवेश को रोके ?

बात यह है कि जब तक शरीर है, तब तक व्यक्ति को दैनिक चर्या तो करनी ही पड़ेगी, वह करे; किन्तु ऐसी अवांछनीय प्रवृत्तियों से दूर रहे, जिनसे पाप कर्मों का आस्रव और उत्तरक्षण में बन्ध हो। जितना भी हो सके, रागादि से दूर रहे, शुद्ध (अबन्धक) कर्म करे, अथवा कम से कम शुभ कर्म करे, अशुभ कर्म से तो बिलकुल दूर रहे।

इसके विषय में विस्तृत रूप से संवर के प्रकरण में प्रकाश डाला जाएगा।

अवांछनीय तत्त्वों की तरह अवांछनीय कर्मों से मुख मोड़ ले

मकान की खिड़की खोलने पर सूरज की रोशनी और बाहर की हवा को प्रवेश करने का मौका मिलता है, साथ ही तेज हवा के साथ अवांछनीय धूल, मिट्टी, कचरा या गर्म लू भी आ सकती है। अगर व्यक्ति अवांछनीय धूल, मिट्टी, कचरा नहीं चाहता है तो खिड़की में बारीक लोहे की जाली लगवा लेता है, ताकि अवांछनीय पदार्थ अंदर न घुसने पाएँ, और वांछनीय सूर्य की रोशनी, धूप या ठंडी हवा ही घुस सके।

इसी प्रकार व्यक्ति चाहे तो अवांछनीय अशुभ कर्मों, निरर्थक प्रवृत्तियों, व्यर्थ की विकथाओं से अपना मुख मोड़ सकता है। विषय-वासनाओं, सुख-साधनों एवं अन्यान्य पर-पदार्थों की प्राप्ति की ललक न उठावे, प्राप्त होने पर प्रियता-अप्रियता की मुहर-छाप, अथवा राग-द्वेष की छाप उन पर न लगाए। दशवैकालिक सूत्र में बताए अनुसार उन वस्तुओं का प्राप्त होना, तथा उनका उपभोग करना शक्य होने पर भी उनकी ओर पीठ कर ले, उनसे मुख मोड़ ले।[1]

इसी प्रकार ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहने से कर्म के आस्रव को, कर्म बन्ध होने से रोका जा सकता है। यदि इतना न हो सके तो कम से कम अशुभ-अवांछनीय कर्मों के आस्रव के कारणों से मुख मोड़ कर, उन्हें पास फटकने न देकर, यत्नाचार (विवेक) पूर्वक प्रत्येक प्रवृत्ति करके शुभ (कर्म) के आस्रव और उसके कारण होने वाले बंध को रोका जा सकता है।

यह प्रक्रिया कर्मों से तालमेल बिठाने की है, अपनी आदत, प्रकृति एवं दृष्टि को मोड़ने की है। अवांछनीय अशुभ कर्मों को रोकने का यही तरीका सबसे बेहतर है।

---

१. तुलना करें– जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ। –दशवैकालिक २/३

अवांछनीय कोलाहल का अस्वीकार और वांछनीय के साथ तालमेल

उदाहरण के लिए हम कोलाहल को सामने रखकर विचार कर सकते हैं। अत्यधिक शोर-शराबा उत्तेजना पैदा करता है, यह किसी को भी पसन्द नहीं है। परन्तु कई लोग अपना व्यावसायिक या साम्प्रदायिक प्रचार करने के लिए अत्यधिक ऊँची आवाज में लाउडस्पीकर से फिल्मी तर्जों पर बने गीतों का, अथवा भाषणों का धुँआधार प्रचार करते हैं। कई लोग तो इन कर्कश और कर्णकटु आवाजों से कुछ भी नहीं समझ पाते कि ये क्या कहना चाहते हैं। कई कल-कारखानों में भी मशीनों के चलने की भयंकर आवाजें होती हैं। अत्यधिक शोर के हानिकारक प्रभावों से आज के वैज्ञानिक युग में जीने वाला कोई भी समझदार व्यक्ति बेखबर नहीं है। कई देशों में वहाँ के शासन प्रबन्ध-कर्ताओं ने वाहनों और विमानों को भी बिलकुल आवाज न करने वाले, या कम से कम आवाज करने वाले चलाने की अनुमति दी है।

परन्तु मानवीय काया की संरचना ऐसी है कि वह बाहर के प्रभाव को अपनी मनः स्थिति के अनुसार बहुत ही घटा सकती है। कानों की संरचना भी ऐसी है कि सहन नहीं की जा सकने वाली तेज ध्वनि तरंगें कानों से टकराती जरूर हैं, किन्तु मस्तिष्क की जितनी क्षमता है, उतनी ही ध्वनि को वह स्वीकारता है, शेष ध्वनि टकराकर स्वतः वापस चली जाती है। इसी प्रकार अवांछनीय कोलाहल को व्यक्ति अस्वीकार भी कर देता है, और वांछनीय के साथ तालमेल बिठा लेता है।

अवांछनीय तत्त्व को अस्वीकार करने का तात्पर्य

"अस्वीकृत करने से तात्पर्य है–कोलाहल की ओर से ध्यान हटा दिया जाए, और अपने मनोनीत कर्त्तव्य या कार्य में तन्मय हुआ जाए। ऐसा करने से उन तेज आवाजों से न तो एकाग्रता भंग होती है, और न ही अपने कर्त्तव्य या कार्य में रुकावट आती है।"

आवश्यकतानुसार कोलाहल के साथ तालमेल और उपेक्षा

"दैनिक समाचार पत्रों के कार्यालयों के इर्द-गिर्द प्रिंटिग प्रेस की मशीनें, टाइपराइटर तथा दूसरी हलचलें रहती हैं, और पास में ही वहाँ एक कमरे में बैठे हुए सम्पादक-गण अपना ऐसा लेखनकार्य सुरुचिपूर्वक करते रहते हैं, जो एकाग्रता के बिना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। इस पर से यही तथ्य फलित होता है कि यदि कोलाहल की ओर से ध्यान हटाकर अपने अभीष्ट प्रयोजन के साथ तन्मयता स्थापित की जा सके तो फिर मस्तिष्क और कान को व्यग्र या अस्त-व्यस्त करने वाले कोलाहल का व्यवधान दूर हो सकता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उस कोलाहल की ओर से ध्यान हटाकर उसको सह्य बना लिया जाता है, अथवा उसके साथ अपने प्रयोजन के अनुसार तालमेल बिठा

लिया जाता है। रेलगाड़ियाँ पटरी पर जाती-आती रहती हैं। वहीं अत्यन्त निकट ही कई झोंपड़े तथा मकान होते हैं, उनमें रहने वाले गहरी नींद सोते रहते हैं और गाड़ियाँ धड़धड़ाती हुई दौड़ती रहती हैं। कभी-कभी उन्हें समय पर कहीं जाना होता है, या ट्रेन पकड़नी होती है, तो रेलगाड़ियों के आने-जाने के साथ आवश्यकतानुसार समय का तालमेल भी बिठा लेते हैं।

सामान्यतया देखा जाता है कि जरा-सी खट-खट से या कोलाहल से व्यक्ति की नींद उचट जाती है, वह जाग जाता है, किन्तु बड़े-बड़े कल-कारखानों या सिनेमाघरों के आस-पास रहने वाले लोग उस कोलाहल की उपेक्षा करके सामान्य रीति से अपना अभीष्ट कार्य करते रहते हैं, गहरी नींद भी ले लेते हैं।[1] मशीनों पर काम करने वाले कर्मचारी अवकाश पाकर वहीं पास में ही कहीं लेट जाते हैं और गहरी नींद की जरूरत पूरी कर लेते हैं। कोलाहल अपना काम करता रहता है, और नींद अपनी जगह काम करती है।

नदियों और झरनों के किनारे लगातार तीव्र ध्वनि होती रहती है, किन्तु वहाँ के पर्वतीय निवासी उससे कोई असुविधा या अपने दैनिक कार्य-कलापों में कोई रुकावट महसूस नहीं करते। बल्कि कई कलाकार, कवि या चित्रकार तो झरनों और नदियों के पास रहकर उनकी ध्वनि से अपनी कविताओं या चित्रों में कमनीय कल्पना करके अपनी कला को सजीव बना लेते हैं। इसे तालमेल बिठाना कह सकते हैं, और अवांछनीय विषयों से मुख मोड़ना या उन्हें अस्वीकृत करना भी कह सकते हैं।

अशुभ कार्यों का अस्वीकार, शुभकार्यों के साथ तालमेल : क्यों और कैसे ?

इसी प्रकार कर्मचेतना और कर्मफलचेतना पर ध्यान न देकर सिर्फ ज्ञानचेतना पर दृष्टि रखी जाए, ज्ञाता द्रष्टा बनकर रहा जाए, प्रत्येक पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति के साथ अपने मन को राग-द्वेष से न जोड़ा जाए, अपनी इन्द्रियों को उस ओर आकर्षित न किया जाए, अपने वचन पर भी अंकुश रखा जाए, उस ओर से तटस्थ, उदासीन या केवल प्रेक्षक रहा जाए, तो कर्मपुद्गल चाहे वातावरण में बने रहें, चाहे वे अपने आस-पास वायुमण्डल में घूमते रहें, वे आकर्षित होकर उक्त व्यक्ति के आत्म प्रदेशों में प्रविष्ट नहीं हो पाएँगे। कदाचित् वांछनीय शुभकर्मों के साथ तालमेल बिठाने की आवश्यकता हो, तो व्यक्ति अपने मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को शुभयोगपूर्वक तात्कालिक कर्त्तव्य निर्वाह के लिए कर सकता है, उससे शुभ कर्मों का ही आस्रव आ पाएगा। अशुभ आस्रव-अवांछनीय कर्मों के आगमन या प्रवेश से छुटकारा हो जाएगा।

---

१. अखण्ड ज्योति, अक्टूबर १९७८, पृष्ठ ३९-४०

अवांछनीय कर्मों का अस्वीकार या उपेक्षा किस प्रकार हो ?

मूल बात यह है कि अवांछनीय कर्मों को अपने मन-वचन-काया से सर्वथा अस्वीकृत, या उपेक्षित कर दिया जाए या उनके साथ मन इन्द्रियों तथा तन-वचन से असहयोग कर दिया जाए तो उन अवांछनीय अशुभ कर्मों को वापस ही लौटना पड़ेगा, वे आत्म प्रदेशों में प्रविष्ट नहीं हो सकेंगे। व्यक्ति के मन-वचन और काया के दरवाजे और इन्द्रियों की खिड़कियाँ बन्द हों तो अवांछनीय कर्म प्रवेश करने का साहस नहीं करेंगे। अर्थात् उनके साथ कषायों और राग-द्वेष-मोह का कालुष्य न मिलाया जाए तो वे आत्मा के प्रति ही वफादार रहेंगे, आत्मा में प्रतिसंलीन होकर रहेंगे, अन्यत्र दौड़ेंगे ही नहीं, फिर अशुभ कर्मों या सभी कर्मों के आने का खतरा भी टल जाएगा। आत्मा (व्यक्ति) की ओर से अस्वीकृति की प्रखरता हो तो कोलाहल की तरह अन्यान्य अवांछनीय तत्त्वों या अशुभ कर्मों को या बन्धक कर्मों को भी वापस लौटाया जा सकता है, भले ही उनका अस्तित्व अपनी जगह बना रहे।

व्यक्तित्व को ढिलमिल या दुर्बल न बनाएँ

अपना व्यक्तित्व ढिलमिल हुआ या अपने विविध योग दुर्बल एवं कायर होंगे तो कर्मों का चारों ओर से आक्रमण हो सकता है, कर्म चारों ओर से खिंचे चले आ सकते हैं। तन-मन-वचन की दुर्बलता या कर्मों के स्रोतों के प्रति असावधानता या अजागरूकता होगी तो अवांछनीय कर्म झटपट चढ़ दौड़ेंगे। पानी का ढलान निचाई की ओर तीव्र गति से होता है, ऊँचाई होने पर पानी का अपने आप चढ़ पाना कठिन होता है।[1] इसी प्रकार व्यक्ति (आत्मा) का अपना चिन्तन-मनन तथा तन-मन-वचन पर अनुशासन सुदृढ़ हुआ, अपना चरित्र उच्च हुआ तो आकाशीय या पारिपार्श्विक वातावरण में घूमते हुए अशुभ कर्मों के परमाणु न तो आकृष्ट या प्रविष्ट होंगे और न ही कोई क्षति पहुँचा सकेंगे।

कर्म उसी व्यक्ति के आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट या आकृष्ट हो सकेंगे, जिसके तन-मन-वचन पर राग-द्वेषादि की स्निग्धता होगी, चारित्रिक दुर्बलता होगी या किसी भी प्रवृत्ति के समय असावधानता (प्रमत्तता) होगी।

कर्मों के आस्रव के दो प्रकार और उनका कार्य

राग-द्वेष रहित केवलज्ञानी या तीर्थंकर भी शरीरधारी होने के नाते अपनी आवश्यक प्रवृत्तियाँ करते हैं–तन-मन-वचन से; और एक सामान्य व्यक्ति भी अपने तन-मन-वचन से मनचाही प्रवृत्तियाँ करता है, तथा एक वीतरागता प्रेमी मुमुक्षु साधक भी यत्नाचारपूर्वक समस्त दैनिक आवश्यक प्रवृत्तियाँ करता है।

---

१. अखण्ड ज्योति अक्टूबर १९७८ से पृष्ठ ४०

परन्तु तीर्थंकरों या केवलज्ञानियों की प्रवृत्ति कषाय-रहित राग-द्वेष रहित होती है, इसलिए उनमें अशुभ कर्मों के आने का तो कोई प्रश्न ही नहीं, शुभ कर्म भी (प्रवृत्ति के कारण) आते हैं, लेकिन वे केवल टकराकर उसी समय किसी प्रकार का फल दिये बिना ही दूसरे समय (सूक्ष्म क्षण) में ही झड़ जाते हैं। कर्मों के इस प्रकार के आगमन को 'ईर्यापथिक आस्रव' कहा जाता है।

शेष दोनों प्रकार के व्यक्तियों के जीवन में कषाय भी है, राग-द्वेष भी है, परन्तु इन दोनों में से साधक कोटि के व्यक्ति में कषाय मन्द है, राग-द्वेष भी अल्पांश में है, इसलिए उसके साम्परायिक आस्रव के आने पर भी शुभ कर्मों का आगमन होता है, अशुभ कर्मों का नहीं। परन्तु जो व्यक्ति कषाय और राग-द्वेष में आकण्ठ डूबा हुआ है, जिसे आत्म-स्वरूप का कुछ भी भान नहीं है, और न ही अवांछनीय कर्मों को वापस लौटाने जितना तन-मन-वचन का आत्मबल है, न ही अस्वीकृति की दृढ़ता है, वहाँ साम्परायिक आस्रव होते हुए भी अशुभ कर्मों का आगमन होना स्वाभाविक है।

कर्मों के सामान्य आस्रव की प्रक्रिया और लक्षण

यों तो संसार के प्रत्येक जीव की आत्मा अपने स्वभाव की अपेक्षा से शुद्ध है; प्रभास्वर है और अपने ही परिणामों से स्व-संचालित है। वह निमित्त-निरपेक्ष है। किन्तु वीतराग केवली के सिवाय शेष सांसारिक जीव के प्रत्येक आत्मप्रदेश के साथ राग-द्वेष-मिश्रित है। इस कारण स्वभाव से शुद्ध और प्रकाशमान चैतन्य-स्वरूप आत्मा अपने असंख्य आत्मप्रदेशों (अविभागी अवयवों) के साथ राग-द्वेष के योग से मलिन होता रहता है। आत्मा के साथ राग-द्वेष का यह योग कब से है ? इसका आदि सिरा ज्ञात नहीं है। जैनदर्शन इसे प्रवाहरूप से अनादि मानता है। संसारी जीव ज्यों ही मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करते समय राग-द्वेष से युक्त कर लेता है; समझ लो त्यों ही उसने आकाश में, परिपार्श्व में व्याप्त कर्मप्रायोग्य पुद्गलों को प्रवेश के लिए आमंत्रित कर लिया।

इसी प्रकार से शरीरधारी जीवों की राग-द्वेष युक्त परिणामधारा ही नये-नये कर्म-पुद्गल परमाणुओं को अपनी ढिलमिल नीति या दुर्बलता व प्रमाद के कारण आकृष्ट करती रहती है। वही उसे अपने आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट होने का न्यौता देती है। सांसारिक जीव की प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति के साथ लिपटी हुई राग-द्वेष-कषायाविष्ट परिणामधारा ही कर्मपरमाणुओं को आकृष्ट एवं आमंत्रित करने का हेतु बनती है। जैनकर्मविज्ञान की भाषा में कर्मपरमाणुओं को आकृष्ट करने की इसी मानसिक-वाचिक-कायिक क्रिया (रागादियुक्त प्रवृत्ति) को आस्रव कहा गया है।[1]

---

१. (क) पुण्य-पापागमद्वार-लक्षणः आस्रवः। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/४/१६
(ख) जैनयोग से भावांश

अन्य दर्शनों में भी आस्रव और उसके कारणों का उल्लेख

जैनकर्म-विज्ञान में आस्रव या आश्रव को भव-भ्रमण का, एवं बन्ध का पूर्वकारण माना गया है, वैसे ही बौद्धदर्शन में भी आस्रव को भव (संसार-परिभ्रमण) का हेतु माना गया है। बौद्ध धर्मग्रन्थों में जैनागमों की तरह आस्रव (आसव) शब्द का प्रयोग लगभग समान अर्थ में हुआ है। इसे देखकर एस. सी. घोषाल आदि कुछ विचारकों ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'आसव' शब्द बौद्धधर्म में जैनधर्म से लिया गया है। किन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है। जैन और बौद्ध दोनों श्रमण-परम्परा के धर्म हैं। दोनों में एक ही अर्थ के द्योतक कई शब्द और प्रचलित थे।

जैसे–जैनों में प्रचलित 'पौषध' शब्द वहाँ 'उपोसथ' नाम से प्रचलित था। 'प्रमाद' शब्द भी उसी अर्थ में, उसी भाव का अभिव्यंजक था। दोनों श्रमण परम्पराओं में कतिपय शब्दों की व्याख्या अपने-अपने ढंग की थी।

जैन परम्परा में ही आचारांगसूत्र को लीजिए, उसमें कतिपय शब्द ऐसे आए हैं, जिनकी व्याख्या पूर्वापर आचार्यों, निर्युक्तिकारों, चूर्णिकारों एवं वृत्तिकारों ने अलग-अलग ढंग से की है।

बौद्ध परम्परा में 'आसव' (आस्रव) शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है–जो आसव अर्थात् मद्य के समान मत्त बनाकर ज्ञान का विपर्यय कर देता है, वह आसव–आस्रव कहलाता है। जिससे संसार के जन्म-मरणादिरूप दुःख का चारों ओर से प्रसव (जन्म) होता है, वह आसव (आस्रव) है।

बौद्धदर्शन में तीन तथा अभिधम्मत्थकोश के अनुसार चार प्रकार के आस्रव माने गए हैं–(१) काम, (२) भव, (३) अविद्या और (४) दृष्टि।[1] ये चारों आस्रव के कारण होने के कारण इन्हें ही जैनदर्शन-मान्य मिथ्यात्व आदि की तरह आस्रव मान लिया। जैनदर्शन में मिथ्यात्व आस्रव है, उस अर्थ में यहाँ अविद्या है। जैनदर्शन में अविरति है, उसी प्रकार यहाँ 'दृष्टि' शब्द है, जो चारित्रमोह की वृत्ति के अर्थ में है। जैन दर्शनमान्य प्रमाद को जैसे आस्रव का हेतु माना गया है, वैसे बौद्ध धर्मग्रन्थ 'धम्मपद' में भी 'प्रमाद' को आस्रव का हेतु बताया गया है।[2] जैनदर्शन में 'कषाय' एवं इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष को आस्रव के कारण बताये गये हैं, वैसे ही बौद्धदर्शन में उस अर्थ में 'काम'

(ग) वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से तथा पुद्गलों के आलम्बन से होने वाले आत्मप्रदेशों के परिस्पन्द (कम्पन व्यापार) को योग कहते हैं।
–तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी)

१. (क) बौद्धधर्म-दर्शन पृष्ठ २४५
(ख) संयुत्तनिकाय ३६/८, ४५/५/१०, ४३/७/३

२. धम्मपद गा. २९२

शब्द का प्रयोग किया गया है। जैनागमों में आस्रव को भवभ्रमण का कारण बताया गया है, वैसे ही बौद्धदर्शन में 'भव' (बार-बार जन्म मरण) को आस्रव कहा गया है।

बौद्धदर्शन में अविद्या को आस्रव का मुख्य कारण मानकर बताया गया है, कि जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की परम्परा चलती है, वैसे ही अविद्या से आस्रव और आस्रव से अविद्या की परम्परा सापेक्ष रूप में चलती रहती है।[1] जैन परम्परा में जहाँ आस्रव-निरोध रूप संवर को मोक्ष का कारण माना है, वहाँ बौद्ध परम्परा में आस्रवक्षय को निर्वाण प्राप्ति का प्रथम सोपान माना है।[2]

योगदर्शन में प्रयुक्त 'आशय' शब्द तथा 'क्लेश' शब्द भी आस्रव के अर्थ को द्योतित करते हैं। जैसे–मिथ्यात्व आदि पाँच आस्रव के हेतु बताए हैं, वैसे योगदर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँचों को क्लेश कहकर उन्हें कर्मों के आगमन (आस्रव) के कारण माने गए हैं।

जो भी हो, बौद्धदर्शन आस्रवों को पूर्णतया क्षीण करने वाले अर्हन्तों को क्षीणास्रव; इसी प्रकार योगदर्शन क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से पूर्णतया अस्पृष्ट-अछूता रहने वाले को 'ईश्वर' मानते हैं।[3]

भावास्रव और द्रव्यास्रव : स्वरूप, प्रक्रिया और प्रकार

बौद्धदर्शन में आस्रव को चित्तमल (चित्त का मलिन परिणाम) कहा गया है, जबकि जैनदर्शन में आत्मा की राग-द्वेषादि युक्त मलिन परिणामधारा को भाव-आस्रव कहा गया है। जैनकर्मविज्ञान के अनुसार जीव की राग-द्वेषादियुक्त या कषाययुक्त परिणामधारा कर्मपरमाणुओं के आकर्षण का कारण बनती है और उन कर्म पुद्गल परमाणुओं को आकृष्ट करने की क्रिया भी। ये दोनों ही आस्रव के रूप हैं। इनमें से पहला भावास्रव है और दूसरा है द्रव्यास्रव।

'भगवती आराधना' में भावास्रव का लक्षण इस प्रकार किया है–"आत्मा के जिस परिणाम से पुद्गल द्रव्य कर्म बनकर आत्मा में आता है, उस परिणाम को भावास्रव कहते हैं।"

आशय यह है कि जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन से, वचन से या काया से रागद्वेषादि परिणामवश जो कुछ भी प्रवृत्ति होती है, वह जीव का भावास्रव कहलाता है। और उसके निमित्त से किसी विशिष्ट प्रकार की जड़ पुद्गल (कर्म) वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्म प्रदेशों में प्रवेश करती हैं, वह (कर्मों का आगमन) द्रव्यास्रव कहलाता है।

---

१. मज्झिमनिकाय १/१/९
२. संयुत्तनिकाय २१/३/९
३. योगदर्शन पाद २, सूत्र ३, तथा पाद १ सू. २४

'नयचक्र' में भी कहा है–"अपने-अपने निमित्तरूप योग को प्राप्त करके आत्म-प्रदेशों में स्थित पुद्गल कर्मभाव में परिणत हो जाते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।"

इसी को 'द्रव्यसंग्रह' में दूसरी तरह से समझाया गया है–ज्ञानावरणादि कर्मों से परिणमन करने योग्य जो पुद्गल आते हैं, उन्हें द्रव्यास्रव जानना चाहिए। वास्तव में भावास्रव को हम भावकर्म कह सकते हैं और द्रव्यास्रव को द्रव्यकर्म।[1]

संक्षेप में कहें तो आत्मा की रागादि विकारयुक्त मनोदशा भावास्रव है और तदनुरूप कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आगमन की प्रक्रिया द्रव्यास्रव है।

कर्मों के आगमन की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन हम कर्मविज्ञान के **तृतीय खण्ड** में **'कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप'** नामक निबन्ध[2] में कर आए हैं।

वस्तुतः द्रव्यास्रव का कारण भावास्रव है और द्रव्यास्रव उसका कार्य है। भावास्रव में जो आत्मा में भावात्मक परिणमन होता है, वह भी प्रायः पूर्वबद्ध कर्म के कारण होता है। कषाययुक्त जीव में पूर्वबद्ध कर्म के कारण भावास्रव और भावास्रव के कारण द्रव्यास्रव होता है, जिससे अगले क्षण ही कर्म का बन्ध होता है। भावास्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच भेद हैं। इनके प्रत्येक के क्रमशः पाँच, पाँच, पाँच, चार, और तीन (या पन्द्रह) भेद हैं। इसी प्रकार द्रव्यास्रव के भी अनेक भेद होते हैं।

भावास्रव की दो शाखाएँ : साम्परायिक और ईर्यापथिक आस्रव

भावास्रव की दो शाखाएँ हैं–साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथिक आस्रव। जैनदर्शन और गीता दोनों यह मानते हैं कि जब तक आत्मा चौदहवें गुणस्थान (अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर) तक नहीं पहुँच जाता, तब तक उसे तन-मन-वचन से कोई न कोई क्रिया करनी पड़ती है। क्रिया–प्रवृत्ति के फलस्वरूप कर्मों का आगमन (आस्रव) भी होता रहता है। किन्तु सामान्य अल्पज्ञ (छद्मस्थ) के द्वारा होने वाली क्रियायें और वीतराग पुरुष द्वारा होने वाली क्रिया में बहुत ही अन्तर है, रात और दिन का अन्तर है।[3]

---

१. (क) आस्रवति–आगच्छति कर्मत्व-पर्याय पुद्गलानां कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणामः आस्रवः (भावास्रवः) भ. आ. (वि.) ३८/१३४/१०
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. १ पृ. २९६
(ग) लद्धूण तं निमित्तं जोगं जं पुग्गले पदेसत्थं।
परिणमदि कम्मभावं तंपि हु दव्वासवं इदं॥" –नयचक्र (वृ. वृ.) १५३
(घ) नाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेय-भेओ जिणक्खादो॥ –द्रव्यसंग्रह (मू.) ३१

२. कर्मों की प्रक्रिया विस्तृत रूप से जानने के लिए देखें–तृतीय खण्ड में 'कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप' लेख पृ. ४६३

३. द्रव्यकर्म और भावकर्म के विस्तृत वर्णन के लिए देखें–कर्म का विराट् स्वरूप में कर्म के दो रूप : भावकर्म और द्रव्यकर्म लेख।–कर्मविज्ञान प्र. भाग पृ. ३६७

सामान्य अल्पज्ञ पुरुष की क्रिया कषाय (राग-द्वेष, मोहादि) वृत्ति से युक्त होती है जबकि वीतराग पुरुष की क्रिया कषाय रहित होती है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने कषाययुक्त व्यक्ति की क्रिया से होने वाले कर्मागमन को 'साम्परायिक आस्रव' कहा है और कषायवृत्ति से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की क्रियाओं से जो कर्मों का आस्रव होता है, उन्हें 'ईर्यापथिक आस्रव' कहा है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार– कषाय सहित व कषाय रहित आत्मा का योग क्रमशः साम्परायिक और ईर्यापथिक कर्म के आस्रव रूप हैं।[1] सम्पराय संसार का पर्यायवाची शब्द है। जो कर्म संसार का प्रयोजक है, वह साम्परायिक है।

राजवार्तिक में साम्परायिक आस्रव का लक्षण स्पष्ट रूप से समझाते हुए कहा गया है–चारों ओर से कर्मों द्वारा आत्मा (स्व-रूप) का पराभव होना साम्पराय कहलाता है। उस साम्पराय का प्रयोजनभूत कर्म साम्परायिक कर्म है। आशय यह है कि मिथ्यादृष्टि (प्रथम गुणस्थान) से लेकर सूक्ष्म सम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तक कषाय का चेप रहने से योग के द्वारा आगत या आकृष्ट कर्म बाद में गीले चमड़े पर धूल की तरह चिपक जाते हैं; अर्थात् जिनमें बाद में स्थितिबन्ध हो जाता है, उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।[2]

ईर्यापथिक आस्रव का अर्थ, लक्षण एवं कार्य

जिन कर्मों का आस्रव होता है, परन्तु बन्ध नहीं होता, उन्हें ईर्यापथ कर्म कहते हैं। ये कर्म आने से अगले क्षण में बिना फल दिये ही झड़ जाते हैं। अतः इनमें एक समय मात्र की स्थिति होती है, अधिक नहीं। मोह का सर्वथा क्षय या उपशम हो जाने पर ही ऐसे कर्म आया करते हैं। १०वें गुणस्थान तक, जब तक मोह का किंचित् भी सद्भाव है, तब तक ईर्यापथ कर्म सम्भव नहीं, क्योंकि कषाय के सद्भाव में ही नियमतः स्थिति बँधती है।

राजवर्तिक के अनुसार–"ईर्या का अर्थ गति अर्थात् प्राप्ति है, केवल आगति (आगमन) है। उपशान्त-कषाय, क्षीण-कषाय और सयोग-केवली (इन तीनों कषायों से रहित आत्माओं) के योग (मन-वचन-काय-व्यापार) के निमित से कर्म केवल आते हैं, किन्तु उनमें कषायों का लेप न होने से सूखी दीवार पर पड़े हुए रजकण की तरह दूसरे ही क्षण झड़ जाते हैं। चिपकते या बँधते नहीं। इसे ही जैन दर्शन की परिभाषा में ईर्यापथ–आस्रव कहते हैं।"

---

१. "सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।" –तत्त्वार्थसूत्र ६/५

२. (क) "सम्परायः–संसारः, तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकम्।" –सर्वार्थसिद्धि ६/४/३२१/१

(ख) कर्मभिः समन्तादमनः पराभवोऽभिभवः सम्पराय इत्युच्यते। तत्प्रयोजनं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते। मिथ्यादृष्ट्यादीनां सूक्ष्म-सम्परायान्तानां कषायोदय–पिच्छिल-परिणामानां योगवशादानीतंभावेनोपश्लिष्यमाणं आर्द्रचर्माश्रित रेणुवत् स्थितिमापद्यमानं साम्परायिकमित्युच्यते।" –राजवार्तिक ६/४/७/५०८

धवला में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है–"ईर्या का अर्थ योग है, वह जिस कार्मण शरीर का पथ (मार्ग या हेतु) है, वह ईर्यापथ है। यह ईर्यापथ का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसका फलितार्थ है–योगमात्र के कारण जो कर्म बँधता है, वह ईर्यापथ कर्म है। यद्यपि ईर्यापथ आस्रव (आगमन) रूप ही है, वह उत्तरक्षण में बन्ध का कारण नहीं होना चाहिए, किन्तु सिद्धान्तानुसार बन्ध को प्राप्त हुए कर्म-परमाणु द्वितीय समय में ही कषाय के अभाव में समताभाव के कारण निर्जरा को प्राप्त होते हैं, झड़ जाते हैं। यह नाममात्र का बंध है।

अर्थात् कर्मरूप में परिणत होने के दूसरे समय में ही वे समागत कर्म अकर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। कषाय का अभाव होने से वे स्थितिबन्ध के योग्य नहीं होते। स्थितिबन्ध न होने से वह समागत कर्म सिर्फ एक समय तक विद्यमान रहता है। वहाँ एक समय का बन्ध भी केवल सातावेदनीय कर्म का होता है। ईर्यापथिक आस्रव में समागत कर्म गृहीत होने पर भी गृहीत नहीं है, क्योंकि वे सरागी के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म (साम्परायिक कर्म) के समान संसार को उत्पन्न करने वाली शक्ति से रहित हैं। बद्ध होकर भी वह कर्म बद्ध नहीं होता, क्योंकि दूसरे समय में ही उसकी निर्जरा हो जाती है। स्पृष्ट होकर भी वह स्पृष्ट नहीं होता। क्योंकि सत्तारूप से उसका अवस्थान उन परम आत्माओं में नहीं होता। निर्जरित होकर भी वह कर्म निर्जरित नहीं होता, क्योंकि कर्म बन्ध के सद्भाव में जैसी कर्मों की निर्जरा होती है, वैसी अनन्त कर्म स्कन्धों की निर्जरा बिना ही बंध के इसमें हो जाती हैं। यही ईर्यापथ आस्रव की विशेषता है।[1]

निष्कर्ष यह है कि ईर्यापथिक आस्रव में कषायवृत्ति से रहित क्रिया होने से पहले क्षण में कर्म का आगमन (आस्रव) होता है, दूसरे ही क्षण में वह निर्जरित हो जाता है। ऐसी क्रिया आत्मा में कोई विभाव उत्पन्न नहीं करती, जबकि साम्परायिक आस्रव में कषाय सहित क्रिया होने से वह आत्मा के स्वभाव को आवृत करके उसमें विभाव उत्पन्न करती है।

साम्परायिक कर्म आस्रव के ३९ आधार

साम्परायिक कर्मों का आस्रव (आगमन) जिन कारणों से होता है, वे कारण या आधार तत्त्वार्थसूत्र में ३९ बताए हैं। इन्हीं के आधार पर कषाययुक्त जीवों के साम्परायिक कर्म के आस्रव के उत्तरवर्ती क्षण में बन्ध होता है। ये ३९ ही साम्परायिक कर्मों के आस्रव के आधार हैं, क्योंकि वे कषाय मूलक होते हैं। इन सब में एक या दूसरे प्रकार से कषायों का तीव्र या मन्द रंग होता है। वे ३९ आधार इस प्रकार हैं–५ अव्रत, ४

---

१. "णिज्जरियमपि तण्ण णिज्जरियं, सकसाय कम्मणिज्जरा इव अण्णेसिमणं ताणं कम्मबंधाणं बंधय काऊण णिज्जिण्णा ... ४/२४/४१, ५४/१

कषाय, ५ इन्द्रिय, और २५ क्रियाएँ।[1] वस्तुतः ये ही ३९ और मन-वचन-काययोग, ये मिला कर आस्रव के ४२ भेद[2] नवतत्त्व आदि में उल्लिखित हैं।

साम्परायिक आस्रव का प्रथम आधार : अव्रत

साम्परायिक आस्रव का सर्वप्रथम आधार है–अव्रत। अव्रत का अर्थ है किसी भी व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, संकल्प, प्रतिज्ञा आदि से आबद्ध न होना। मनुष्य तभी व्रत-नियम आदि से बद्ध नहीं होता, जब मन में आकांक्षाओं, इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं के बादल उमड़-घुमड़ रहे हों। यद्यपि मनुष्य जिस समाज, राष्ट्र, धर्मसंघ, जाति, गण, संस्था, परिवार आदि से सम्बद्ध होता है, उसके नियम, मर्यादा, परम्परा या आचार संहिता का दबाव से, दण्डभय से, शर्म से, लिहाज से अथवा स्वार्थ से पालन करता है, या करना पड़ता है। परन्तु भय या लोभ से प्रेरित होकर पालन किये हुए नीति-धर्म या नियम की नींव कच्ची है, भय या प्रलोभन के दूर होते ही वह नियम, मर्यादा और प्रतिज्ञा को भंग कर सकता है; व्रतबद्धता ही इसका सुदृढ़ और ठोस उपाय है।

जब सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रतबद्धता, नियमबद्धता या प्रतिज्ञाबद्धता जीवन में आ जाती है, तभी कर्मों के आस्रव का व्यक्ति के जीवन में निरोध हो जाता है, और वैसी स्थिति में मनुष्य के कषाय भी बहुत मन्द हो जाते हैं। तृष्णा, लालसा, काम-वासना और स्वार्थलिप्सा अत्यन्त मन्द हो जाती है। व्रतबद्धताहीन जीवन में, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय तथा काम, मोह, द्वेष, मत्सर, त्याग, संयम व व्रत के प्रति अरुचि, विषय-भोगों में रुचि, असंयम में प्रीति, शोक, क्लेश, चिन्ता, उद्विग्नता आदि विकार अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी दोनों रूपों में तीव्रता से दौड़ लगाते रहते हैं। अव्रतमय जीवन कषाय-क्लिष्ट जीवन है, कर्मास्रव के द्वार इसमें खुले रहते हैं, और कोई भी विकार घुसपैठ कर सकता है। इसलिए अव्रत को साम्परायिक आस्रव का प्रथम आधार पहला भेद बताया है।

अव्रत के मुख्य पाँच अंग : हिंसादि

अव्रत के मुख्यतया पाँच अंग हैं–हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह।[3] ये पाँचों भी तथा इनमें से प्रत्येक कर्मों के आस्रव का आधारभूत कारण है। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति जहाँ भी हिंसा आदि से लिप्त हुई, वहाँ पारिपार्श्विक वातावरण में घूमते हुए अशुभ कर्मपुद्गल आकर आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट होते हैं, और एक क्षण के

---

१. "अव्रत कषायेन्द्रियक्रिया पंच चतुःपंच-पंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः"।
–तत्त्वार्थसूत्र अ. ६/६

२. नवपदार्थ ज्ञानसार पृ. १००

३. "हिंसाऽनृत-स्तेयाऽब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्॥" –तत्त्वार्थ सूत्र अ. ७/१

पश्चात् श्लिष्ट हो जाते हैं। ये साम्परायिक आस्रव इसलिए हैं कि ये भी कषाययुक्त हैं और इसका कर्त्ता भी कषायवृत्ति से युक्त है। कलुषित मानसिक वृत्ति के साथ-साथ सहज शारीरिक और वाचिक क्रियाएँ भी चलती रहती हैं।

हिंसा : अव्रत का प्रथम अंग : स्वरूप और विश्लेषण

अव्रत का पहला अंग हिंसा है। हिंसा का स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र में बताया गया है–प्रमत्तयोग (प्रमादयुक्त मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) से होने वाला प्राणवध हिंसा है।[1]

प्राण के १० प्रकार जैनागमों में बताये गए हैं–(१) श्रोत्रेन्द्रियबल प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय बलप्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय बलप्राण, (४) रसनेन्द्रिय बलप्राण, (५) स्पर्शेन्द्रिय बलप्राण, (६) मनोबल प्राण, (७) वचनबल प्राण, (८) कायबल प्राण, (९) श्वासोच्छ्वासबल प्राण और (१०) आयुष्यबल प्राण।

किसी जीव को जान से मार देना, इतना ही हिंसा नहीं है, किन्तु जीव के १० प्राणों में से किसी भी प्राण का हनन करना, चोट पहुँचाना, सताना, मारना-पीटना, हृदय को आघात पहुँचाना, डराना-धमकाना, दबाकर गुलाम बनाकर परवश कर देना, अंगभंग कर देना, जला देना, दम घोंट देना, पीड़ा देना, अपमानित करना, अन्याय-अत्याचार करना आदि भी हिंसा की कोटि में हैं। फिर मन-वचन-काया से हिंसा करना, कराना और हिंसा का अनुमोदन करना, भी हिंसा की कोटि में है।[2]

प्रमत्तयोग शब्द, इसलिए जोड़ा गया है कि यदि किसी भी प्रकार की हिंसा राग-द्वेष युक्त या कषाययुक्त मनोभावना तथा वचन या काया से की गई है तो वह दोषयुक्त है, यही प्रमत्तयोग का फलितार्थ है। किन्तु यदि कोई महाव्रती साधक या स्थूल अहिंसाव्रती श्रावक बहुत ही सावधानीपूर्वक विवेक और यत्नाचार के साथ प्रवृत्ति कर रहा है, उसकी मनोभावना किसी जीव को मारने-सताने या प्राणहरण करने की नहीं है, फिर भी किसी कारणवश कोई जीव मर जाता है, या किसी जीव को चोट पहुँच जाती है; तो ऐसी स्थिति में उसे द्रव्यहिंसा (व्यावहारिक हिंसा) भले ही कह दी जाए, पर वह हिंसा प्रमत्त-योग युक्त न होने भाव हिंसा नहीं है। वह हिंसा पापकर्मास्रव या पापकर्मबन्धक नहीं है। हाँ, कर्त्ता के पूर्णतः कषायमुक्त न होने से, वह हिंसा पूर्णतः निर्दोष भी नहीं है, उससे शुभास्रव और बाद में शुभकर्मबन्ध होता है।

ऐसे स्थूल अहिंसाव्रत या सूक्ष्म अहिंसाव्रत से बद्ध व्यक्ति द्वारा हिंसा की नहीं गई है; किन्तु हिंसा हो गई है, वह भी भावहिंसा नहीं, द्रव्यहिंसा हुई है। हिंसा करने और हिंसा हो जाने में बहुत ही अन्तर है।

---

१. "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसाः।" – तत्त्वार्थसूत्र ७/८

२. पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणादशैते भगवद्भिरुक्ता स्तेषांवियोजीकरणं तु हिंसा। –जैनाचार्य

एक चिकित्सक की मनोभावना शुभ है, उसके वचन और काय से रोगी के प्राणहरण की प्रवृत्ति नहीं हो रही है, वह करुणा भावना से रोगी को स्वस्थ करने की शुभेच्छा से ऑपरेशन कर रहा है, किन्तु ऑपरेशन करते समय ही अकस्मात् कोई नस कट जाने से रोगी का प्राणान्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में वह चिकित्सक हिंसा दोष का भागी नहीं माना जाता। किन्तु एक चिकित्सक लोभी है, वचन से तो रोगी को स्वस्थ कर देने का विश्वास दिलाता है, किन्तु उसकी मनोभावना तीव्र कषाय युक्त है; उसके पास रोगी की रखी हुई हजारों रुपयों की थैली को वह हजम करना चाहता है, इसलिए दुष्ट मनोभाव से दूषित काययोग से वह ऑपरेशन करता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। ऐसी स्थिति में वह डॉक्टर प्रमत्तयोगयुक्त होने से भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों के दोष का भागी है। फलतः पापकर्म के आस्रव और पापबन्ध से युक्त होता है।

इसलिए पूर्वोक्त प्रथम चिकित्सक के दृष्टान्त पर से स्पष्ट है कि केवल प्राणनाश ऐसी पापास्रव बंधक हिंसा नहीं है; किन्तु प्रमत्तयोगपूर्वक प्राणनाश ही भावहिंसायुक्त होने से पापास्रव पापकर्म बन्धक है।

इसके विपरीत एक चिकित्सक द्वारा रोगी के स्थूल प्राणनाश या पीड़ित करने का प्रयत्न होने पर भले ही रोगी का जीवन बच गया या आयुष्य बढ़ गया हो, या उसे सुख ही पहुँचा हो, किन्तु चिकित्सक की भावना अशुद्ध रही हो तो वह प्रमत्तयोगयुक्त होने से भावहिंसा रूप दोष का भागी तथा पाप कर्मास्रव तथा पाप कर्मबन्धक ही समझा जाएगा।

अतः जिससे चित्त की कोमलता कम हो, कठोरता बढ़े तथा स्थूल जीवन की तृष्णा, सुखैषणा या वित्तैषणा बढ़े वहाँ हिंसा सदोष है, पाप कर्मास्रव जनक है, पाप कर्मबन्धक है।[1]

आचारांगसूत्र में यही कहा गया है–"इस प्रकार कर्म के कारण आदि को भलीभाँति जानकर सब प्रकार से वह किसी जीव की हिंसा नहीं करता।[2]

अव्रत का दूसरा अंग : असत्य : स्वरूप और विश्लेषण

अव्रत का दूसरा अंग है–असत्य। इसका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र में इस प्रकार है–असत् (झूठ) बोलना असत्य है। यद्यपि सूत्र में असत्-कथन को असत्य कहा गया है, तथापि उसमें असत् चिन्तन, असत्-भाषण और असत्-आचरण इन सबका समावेश समझ लेना चाहिए। यहाँ भी हिंसा के स्वरूप की तरह प्रमत्तयोगपूर्वक असत् चिन्तन, कथन और आचरण को ही असत्य का स्वरूप समझना चाहिए। 'असत्' शब्द के यहाँ मुख्यतया दो अर्थ फलित होते हैं–(१) जिस वस्तु का अस्तित्व हो, उसका सर्वथा निषेध

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन) (पं. सुखलाल जी) पृष्ठ १७४-१७५

२. इति कम्म परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसति। –आचारांग १/५/३/५३१

कर देना, अथवा निषेध न करने पर भी जो वस्तु जिस रूप में हो, उसे उस रूप में न कहकर उसके विषय में अन्यथा कथन करना असत् है। (२) गर्हित असत्य, यानी जो कथन सत्य होने पर भी दूसरे को मार्मिक पीड़ा पहुँचाता हो, वह दुर्भावयुक्त कथन भी असत् है।

किसी कर्जदार के पास रुपया चुकाने को है, किन्तु साहूकार के द्वारा तकाजा किये जाने पर कह देना–मेरे पास कुछ नहीं है, अथवा मेरे पर तुम्हारा कुछ भी बकाया नहीं है, या ऋण स्वीकार कर लेने पर भी इस प्रकार का वक्तव्य देना या झूठे (जाली) हस्ताक्षर बनाकर रकम भरपाई के कागजात प्रस्तुत कर देना, जिससे लेनदार सफल न हो सके, यह भी असत्य है।

'असत्' के द्वितीय अर्थ के अनुसार किसी काने, अंधे, रोगी या नपुंसक या विधवा को चिढ़ाने या नीचा दिखाने या उसको मर्मस्पर्शी हार्दिक पीड़ा पहुँचाने की दृष्टि से काना, अंधा, रोगी, हींजड़ा या रांड़ आदि कहना– सत्य होने पर भी असत्य है। किन्तु वास्तविकता प्रदर्शित करने की दृष्टि से काने को एकाक्षिक, अंधे को सूरदास या प्रज्ञाचक्षु, रोगी को व्याधिग्रस्त, नपुंसक को दुर्बलमना एवं विधवा को विधवा या मंगलमूर्ति कहना या लिखना प्रमत्तयोगयुक्त (अर्थात् कषाययुक्त या द्वेषादियुक्त) न होने से गर्हित असत्य दोष नहीं है।

असत्य का त्याग या सत्यव्रत से बद्ध न होने से व्यक्ति क्रोधवश, भयवश, लोभवश, हास्यवश (हंसी-मजाक में) अथवा अहंकार प्रदर्शित करने हेतु, छल, कपट या धोखाधड़ी करने के लिहाज से असत्य बोलता है, असत्य सोचता है और असत्य-आचरण करता है। जिस बात के विषय में शंका हो, अथवा जो बात निश्चित न हो, या जिस बात को विपरीतरूप में समझा गया हो, वहाँ निश्चित रूप से अपनी बात को निश्चित सत्य होने का दावा करना भी असत्य है; क्योंकि यह सब कथन प्रमत्तयोगयुक्त होने से असत्य की कोटि में आते हैं।

असत् के पूर्वोक्त अर्थों के सन्दर्भ में सत्यव्रती (असत्य-त्यागव्रती) को निम्नोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–(१) प्रमत्तयोग का त्याग करना, (२) मन-वचन-काया से की जाने वाली प्रवृत्ति में एकरूपता रखना; (३) सत्य होने पर भी दुर्भावनावश अप्रिय, परपीड़क, मर्मस्पर्शी, हास्यवश न तो सोचना, न बोलना, न ही आचरण करना। (४) जो बात संदिग्ध हो, अनिश्चित हो, विपरीत हो, उसे भी पूर्ण सत्य होने का दावा करके न बोलना, (५) हिंसाकारी, छेदन-भेदनकारी, कठोर, भाषा न बोलना। असत्य-अव्रत कषाययुक्त होने से वह भी अशुभकर्मास्रव तथा पापकर्मबन्धक है।[1]

१. (क) असदभिधानमनृतम् । "तत्त्वार्थ. ७/९
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) पृ. १७६-१७७

अव्रत का तृतीय अंग : स्तेय–चोरी : स्वरूप और विश्लेषण

इसके पश्चात्-अव्रत का तृतीय अंग है–स्तेय–चोरी। चोरी का अर्थ है–बिना दिये, या बिना स्वीकृति दिये, लेना (अदत्तादान) चोरी है। जिस वस्तु पर दूसरे का स्वामित्व या अधिकार हो, उसे उसके स्वामी की आज्ञा या स्वीकृति के बिना चौर्यबुद्धि से ग्रहण करना, अपने कब्जे में कर लेना, अदत्तादान या चोरी है।

इसके अन्तर्गत तस्करी, गिरहकटी, छीनाझपटी, लूटपाट, डकैती, धरोहर हड़पना, दूसरे के स्वामित्व की वस्तु को अपनी बताकर कब्जा कर लेना आदि सब चोरी के अन्तर्गत है।[1] चोरी से मनुष्य की कषाय वृत्ति, लोभवृत्ति, द्वेष, मोह, ममत्वबुद्धि भड़कती है। इसलिए चौर्य अव्रत अशुभकर्मास्रव एवं पापकर्मबन्धक प्रेरक है।

चौर्य-अव्रत से दूर रहने के लिए निम्नोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–(१) अपनी आवश्यकताएँ घटाना, इच्छाएँ सीमित करना, (२) किसी उपयोगी वस्तु को भी, जो दूसरे की मालिकी की हो, ललचाई दृष्टि से न देखना, न ही बिना पूछे उसका उपयोग करना, (३) दूसरे की वस्तु, भले ही रास्ते में पड़ी हो, बिना आज्ञा के लेने का यानी अपने कब्जे में करने का विचार तक न करना, अगर गिरी हुई वस्तु को उसके मालिक तक पहुँचाने की नीयत से उठाना पड़े तो भी उसके मालिक को ढूँढ़कर सौंप दी जाए या मालिक न मिले तो किसी सार्वजनिक संस्था या सरकारी कार्यालय (निकटवर्ती थाने) में जमा करा दी जाए, परन्तु अपने पास तो हर्गिज न रखे।

अव्रत का चतुर्थ अंग : अब्रह्मचर्य–मैथुन : स्वरूप और विश्लेषण

अव्रत का चतुर्थ अंग है–अब्रह्मचर्य। इसे मैथुन, कुशील या अब्रह्म भी कहते हैं। मैथुन-प्रवृत्ति अब्रह्मचर्य है।[2]

मिथुन का अर्थ जोड़ा है। स्त्री पुरुष का जोड़ा तो प्रसिद्ध है, किन्तु वह पुरुष-पुरुष का, दूसरे की स्त्री या दूसरी स्त्री के पुरुष का; अथवा स्त्री-स्त्री का भी हो सकता है। मनुष्य जातीय का विजातीय पशु, देवजातीय, अथवा सजातीय नर-मादा पशु का, सजातीय देव-देवांगना का भी जोड़ा हो सकता है। ऐसे किसी भी जोड़े की कामराग (काम वासना) के आवेश से उत्पन्न मानसिक, वाचिक या कोई भी प्रवृत्ति मैथुन अर्थात्-अब्रह्मचर्य है।

मैथुन शब्द का तात्पर्यार्थ है–कामरागजनित कोई भी अब्रह्मचर्य पोषक चेष्टा। अब्रह्मचर्य या मैथुन के आठ अंग बताये गए हैं–(१) स्मरण (पूर्वक्रीड़ित या पूर्वदृष्ट स्त्री

---

१. (क) अदत्तादानं स्तेयम् । –तत्त्वार्थ ७/१०
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) पृ. १७७
२. (क) मैथुनमब्रह्म।"–तत्त्वार्थ सूत्र ७।११
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलालजी) पृ. १७७-७८

या स्त्री के लिए पुरुष का कामुकता की दृष्टि से स्मरण), (२) कीर्तन (बार-बार उसका गुणगान कामवासना की दृष्टि से करना), (३) केलि–(किसी स्त्री के साथ क्रीड़ा करना-नाचना या खेलना) (४) प्रेक्षण–(काम राग की दृष्टि से किसी स्त्री को ताक-ताक कर देखना); (५) गुह्यभाषण (एकान्त में गुप्त रूप से वार्तालाप करना), (६) संकल्प (किसी स्त्री पर मोहित होकर उसे पाने का संकल्प-विकल्प करना), (७) अध्यवसाय (मन में दृढ़ निश्चय करना कि नहीं मिलेगी तो प्राण त्याग दूँगा), (८) क्रियानिष्पत्ति (किसी स्त्री के साथ अनाचार सेवन करना)।[1]

भारतीय मनीषियों ने इन्हें मैथुन के अंग कहे हैं। मैथुन प्रवृत्ति चाहे मन से हो, वचन से हो, या काया से, महान् दोषों की पोषक और अनर्थों की परम्परा बढ़ाने वाली है; तथा लज्जा, दया, संयम, सदाचार, शील आदि सद्गुणों का ह्रास करने वाली है। कषाययुक्त तो यह प्रवृत्ति है ही, विशेषतः स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद रूप काम नोकषायरूप भी है। मोहवृद्धि करने तथा चारित्रिक गुणों का नाश करने वाली यह प्रवृत्ति पापकर्मास्रव तथा पापकर्मबन्ध कराती है, जो नरकगामी बना देती है। रावण, मणिरथ, आदि का ज्वलन्त उदाहरण हमारे समक्ष है, जो इसी अव्रत का फल नरक के मेहमान बनकर भोग रहे हैं।

अव्रत का पंचम अंग : परिग्रह : स्वरूप और विश्लेषण

अव्रत का पंचम अंग परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ तत्त्वार्थसूत्रकार ने किया है–मूर्च्छा;[2] अर्थात्–आसक्ति-ममता। शब्दशः परिग्रह का फलितार्थ है–वस्तु छोटी हो या बड़ी, सचेतन हो या अचेतन, विद्यमान हो या अविद्यमान, बाह्य हो या आन्तरिक, उसे ममता-मूर्च्छा-आसक्ति पूर्वक मन-वचन-काया से ग्रहण करना, संग्रह करना, मूर्च्छापूर्वक रखना, ममत्वपूर्वक उसका उपयोग करना परिग्रह है।

परिग्रह भी महान् अनर्थों का मूल है। वस्तुओं को पाने, जुटाने, उपभोग करने में और गुम हो जाने, चुराये जाने या नष्ट हो जाने पर अहर्निश चिन्ता, शोक, व्यथा, आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान आदि मानसिक व्याधियाँ लग जाती हैं। अर्थ-लोलुपता, स्वार्थान्धता, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, तस्करी, चोर-बाजारी, वैर-परम्परा, प्रियजन की हत्या, आत्महत्या, तनाव, अनिद्रा, आधि-व्याधि-उपाधि आदि सब परिग्रह राक्षस के ताण्डव नृत्य हैं। परिग्रह का गुलाम मानव अपनी मानवता तक को तिलांजलि दे देता है।

---

१. स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतमेतद् ब्रह्मचर्यं..... ॥

२. (क) मूर्च्छापरिग्रहः। –तत्त्वार्थ, ७।१२
(ख) तत्त्वार्थ. विवेचन (पं. सुखलालजी)

इसलिए परिग्रह में लोभकषाय तो प्रत्यक्ष है ही, क्रोध, मान (अहंकार), माया, मोह आदि भी इसके पृष्ठपोषक हैं। इसलिए यह साम्परायिक कर्मास्रव का स्रोत है; मूलाधार है। १० बाह्यपरिग्रह और १४ आभ्यन्तर परिग्रह जैनाचार्यों ने बताए हैं।

अव्रत के ये पाँच अंग : एक विश्लेषण

अव्रत के इन पाँचों अंगों की सदोषता और पापकर्मास्रव प्राप्ति का आधार राग, द्वेष, कषाय और मोह है। वैसे देखा जाए तो जैनाचार्यों ने हिंसा रूप अव्रत की व्यापक व्याख्या में असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को भी समाविष्ट कर लिया है। फिर भी आम आदमियों के सरलता से समझने के लिए पृथक्-पृथक् निर्देश किया है। ये पाँचों ही दोष अव्रत हैं, अर्थात् मनुष्य इनके त्याग के लिए या इनकी मर्यादा के लिए व्रत-नियमबद्ध न हो तो मनुष्य पापकर्मों का अर्जन कर लेता है—साम्परायिक कर्मास्रव तथा साम्परायिक पापकर्मबन्ध के रूप में।

अतः इन पापकर्मों के आगमन को रोकने के लिए पूर्वोक्त रूप में आस्रवद्वार बन्द करना तथा इनके प्रतिपक्षी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, समता, मैत्री, क्षमा, दया, निर्लोभता, सरलता, शौच, तप, त्याग आदि धर्मांगों को अपनाना आवश्यक है। अथवा गृहस्थ जीवन में महारम्भ, महापरिग्रह, पन्द्रह कर्मादान रूप खरकर्म (व्यवसाय) का सर्वथा त्याग करना, एवं हिंसा आदि दोषों के निवारणार्थ अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रत आदि को स्वीकार करके देशतः (अंशतः) विरत होना आवश्यक है। अर्थात् अपरिहार्य होने से कुछ बातों के प्रति उपेक्षा और कुछ के साथ तालमेल बिठाने की रीति अपनानी चाहिए।[1] आगे संवर के प्रकरण में इन पर विस्तृत विवेचन किया जाएगा।

साम्परायिक आस्रव का द्वितीय आधार : कषाय

वैसे देखा जाए तो साम्परायिक आस्रव का मुख्य आधार कषाय ही है। कषायों के आधार पर ही मनुष्य जन्म-मरणादिरूप संसार में परिभ्रमण करता है, संसारवृद्धि करता है।

कषाय का निर्वचनार्थ किया गया है—कष का अर्थ है—संसार, उसका आय—लाभ ही कषाय है, और सम्पराय का अर्थ भी संसार है, और साम्परायिक का अर्थ है—संसार का प्रयोजक—संसार से जोड़े रखने वाला। विभिन्न पहलुओं से पंचसंग्रह (प्रा.) सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में कषाय के विभिन्न व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ दिये गए हैं, उन्हें भी जान लेना आवश्यक है।

'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है—जो कषाय रस के समान हो, वह कषाय है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) पृ. १७९

अर्थात्–जैसे बड़ आदि वृक्षों का काषाय रस श्लेष्म (चिपकने) का कारण है, वैसे ही आत्मा का क्रोधादि कषाय भी कर्मों के श्लेष (चिपकने) का कारण है।[1]

पंचसंग्रह में कषाय का अर्थ किया गया है–"जो क्रोधादि जीव के सुख-दुःख-रूप बहुविध धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्मरूपी खेत को कर्षते–जोतते हैं, जिनके लिए संसार की चारों गतियाँ मर्यादा (सीमा या मेंढ) रूप हैं, इस कारण उन्हें कषाय कहते हैं।

राजवार्तिक में कहा गया है–चारित्र परिणामों का कषण–घात करने के कारण क्रोधादि चतुष्टय कषाय कहलाते हैं। अथवा क्रोधादि परिणाम आत्मा को दुर्गति में ले जाने के कारण आत्मस्वरूप का कषण–हनन करते हैं, इस कारण ये कषाय कहलाते हैं। अथवा कषाय वेदनीय (कर्म) के उदय से होने वाला क्रोधादिरूप कालुष्य ही कषाय है, जो आत्मा के स्वाभाविक रूप का कषण=हनन कर देता है।"[2]

वस्तुतः कषाय सांसारिक जीवों के साथ पहले गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक तीव्रतम, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर, किसी न किसी रूप में लगा हुआ है। जब तक कषाय जीव के साथ संलग्न रहता है, तब तक चतुर्गतिक संसार में उसका गमनागमन जारी रहता है, वह आत्मस्वरूप को, चारित्र के परिणामों को विकृत कर देता है, नष्ट कर देता है, आत्मा की छवि बिगाड़ देता है। कर्मों के आस्रव, योगों की चंचलता और तदनन्तर कर्मों के बन्ध का मूल कारण कषाय है।

कषाय के मूल चार भेद हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हीं के अवान्तर भेद प्रत्येक के चार-चार होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन हम आगे बन्ध के प्रकरण में करेंगे।

वास्तव में, कषाय ही साम्परायिक आस्रव और साम्परायिक कर्मबन्ध का प्रमुख कारण है। इसके निवारण या इन पर विजय पाने के लिए साधक को क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष या आकिंचन्य धर्म की साधना करनी चाहिए। इसकी कुछ झाँकी "कर्मों के आने के पाँच आस्रवद्वार" नामक निबन्ध में पाठक देखें।[3]

---

१. (क) कष्यते प्राणी विविधैर्दुःखैरस्मिन्निति कषः संसारः तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषायाः।" –आचार्य नमि।

(ख) कषाय इव कषायाः। यथा कषायो जैयग्रोधादिः श्लेष हेतुस्तथा, क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्येते।" –सर्वार्थसिद्धि ६/४/३२०/९

(ग) सुख दुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्सा।
संसारगदी मेढं तेण कसाओत्ति णं बिंति। –पंचसंग्रह गा. १०-९

(घ) चारित्र परिणाम-कषणात् कषायः। –राजवार्तिक ९/७/११/६०४/६

२. (क) क्रोधादि परिणामः कषति हिनस्त्यात्मानं कुगति-प्रापणादिति कषायः। –राजवार्तिक ६/४/२/५०८/८

(ख) कषायवेदनीयस्योदयादात्मनः कालुष्यं क्रोधादिरूपमुत्यद्यमानं–कषत्यात्मानं हिनस्तीति कषाय इत्युच्यते।" –राजवार्तिक २/६/२/१०८/२८

३. कषाय के विषय में कुछ झाँकी इसी खण्ड में–'कर्मों के आने के पाँच आस्रवद्वार' में देखें।

इन्द्रिय–इन्द्रियों द्वारा विषयों में राग-द्वेषयुक्त प्रवृत्ति : साम्परायिक आस्रव का तृतीय आधार

साम्परायिक कर्मास्रव का तृतीय आधार तत्त्वार्थसूत्र में 'इन्द्रिय' बताया गया है, किन्तु यहाँ इन्द्रिय शब्द का उपलक्षण से भावार्थ है–इन्द्रियों की विषयों या पदार्थों में राग द्वेषयुक्त प्रवृत्ति। क्योंकि स्वरूप मात्र से कोई भी इन्द्रिय अपने आप में कर्मबन्ध का कारण नहीं होती, और न ही इन्द्रियों की राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति कर्मबन्धक का कारण होती है।[1]

कषाययुक्त संसारी आत्मा जब भी इन्द्रियों के माध्यम से विषयों में प्रवृत्ति करती है, तब मनोज्ञ विषयों पर राग (मोह–आसक्ति) और अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष–घृणा करने लगती है। वही कर्मास्रव तथा कर्मबन्ध का कारण होती है।

इन्द्रियाँ पाँच हैं–श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं। यद्यपि पाँच कर्मेन्द्रिय और हैं, उनका विवरण वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। कुछ विवेचन हम पहले "कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप" में कर आए हैं।[2] प्रसंगवश यहाँ कुछ विवेचन करना अभीष्ट है।

इन्द्रियों के द्वारा सहज रूप से विषयों में प्रवृत्ति दोषयुक्त नहीं, दोषयुक्त है राग-द्वेष

वास्तव में, पाँचों इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं, होंगी ही। इन्द्रियों द्वारा विषयों में सहजरूप से प्रवृत्त होना अर्थात् नेत्र का किसी वस्तु को देखना, कान का सुनना, नाक का सूँघना, जीभ का चखना और स्पर्शेन्द्रिय का स्पर्श करना, इतना दोषयुक्त नहीं है, किन्तु मन (नो-इन्द्रिय) जब अच्छे मनोज्ञ और अभीष्ट विषय के प्रति प्रीति, राग, मोह और आसक्ति करता है और बुरे अमनोज्ञ और अनिष्ट विषय के प्रति द्वेष, घृणा या द्रोह करता है, तब वह साम्परायिक आस्रव का कारण बनता है, और अनन्तर क्षण में अशुभ कर्मबन्ध का।

आचारांग सूत्र का यह कथन सत्य है कि जो व्यक्ति ऊपर-नीचे, तिरछे सामने (सहज भाव से) रूपों को देखता है, शब्दों को सुनता है, (वहाँ तक तो ठीक है) परन्तु जब वह ऊपर, नीचे, तिरछे वस्तुओं को देखकर उनके रूपों में मूर्च्छित होता है, शब्दों को सुनकर उनमें भी मूर्च्छित (आसक्त) होता है, यह आसक्ति ही संसार (सम्पराय आस्रव) का कारण कहा गया है।"[3]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) पृ. १५१

२. देखें, कर्मविज्ञान के तृतीय खण्ड में 'कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप' नामक निबन्ध में इन्द्रिय और मन पर विवेचन, पृ. ४६३ से ४८४

३. "उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणं सद्दाइं सुणेति। उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु याधि। एस लोए वियाहिए।"

—आचारांग १/१/५/९४-९५-९६

'आचारांग सूत्र' में बताया गया है–आँखों से न देखना, कानों से शब्द टकराने पर न सुनना, नाक से पारिपार्श्विक वस्तु को न सूंघना, जीभ से सहज में उपभोग किये जाने वाले पदार्थों का न चखना और प्रतिलेखनादि के समय आवश्यक वस्त्रादि का स्पर्श न करना शक्य नहीं है, अर्थात्-स्वाभाविक रूप से आवश्यक विषयों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किया जाना शक्य नहीं है, किन्तु उन गृहीत विषयों के प्रति राग या द्वेष करना ही दोषयुक्त है, वही कर्मास्रव तथा कर्मबन्ध का कारण है।[1]

भगवद्गीता में कहा गया है–"प्रत्येक इन्द्रिय के विषय (अर्थ) के साथ राग और द्वेष अव्यक्तरूप से अवस्थित हैं, अतः साधक को उन रागद्वेष के वश में नहीं होना चाहिए। इन्द्रिय विषयों के साथ मनःकल्पित राग-द्वेष ही आत्मा के लिए शत्रु हैं, वे ही कर्मबन्ध करवाकर दुर्गति प्राप्त कराने के कारण बनते हैं।" "स्वाधीन अन्तःकरण वाला जो व्यक्ति विषयों के प्रति रागद्वेष से रहित होकर अपने वश में की हुई इन्द्रियों से विषयों का उपभोग करता है, उसका अन्तःकरण प्रसन्नता, स्वच्छता (निर्मलता) को प्राप्त होता है।"[2]

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियों को आवश्यकतानुसार अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करते समय उस विषय की मनोज्ञता पर राग, मोह या आसक्ति न करे और अमनोज्ञता पर द्वेष, घृणा या अरुचि न करे। उदाहरणार्थ–एक व्यक्ति को रास्ते में चलते हुए सुन्दर सलौना बालक दृष्टिपथ में आ गया, उस समय बालक को देखकर उसके प्रति राग या आसक्ति न करे, इसी प्रकार एक कुष्ट रोगग्रस्त व्यक्ति को देखकर उसके प्रति घृणा या अरुचि मन में न करे। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय के प्रति सहज भाव से प्रयुक्त होने पर भी राग-द्वेष या प्रीति-अप्रीति का भाव न आने दिया जाए।

यही तथ्य उत्तराध्ययन सूत्र में प्रतिपादित किया गया है–"समाधि (चित्त की स्वस्थता) की भावना वाला तपस्वी श्रमण, इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं, उनमें कदापि रागभाव न करे तथा उनके अमनोज्ञ विषयों में मन में द्वेषभावना लाए।" जैसे "चक्षु

---

१. नो सक्का सोउं सद्दा, सोतविसयमागया। रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
नो सक्का रूवमदट्ठं चक्खुविसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
न सक्का गंधमग्घाउं, नासाविसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
न सक्का फासमवेएउं फासविसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
–आचारांग सूत्र श्रु.२, अ. ३ उ.१५ सूत्र १३१ से १३५ तक

२. (क) इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३/३४
(ख) राग-द्वेष-वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥२/६४ –भगवद्गीता अ. ३/३४, अ. २/६४

का ग्राह्य विषय रूप है, नासिका का ग्राह्य विषय गन्ध है, जिह्वा का ग्राह्यविषय रस है, कर्ण का ग्राह्यविषय शब्द है, और काया (स्पर्शेन्द्रिय) का ग्राह्यविषय स्पर्श है; इन पाँचों विषयों के प्रति राग का कारण मनोज्ञ रूपादि है, और द्वेष का कारण है अमनोज्ञ रूपादि। इन दोनों के प्रति राग-द्वेष करना ही कर्मास्रव है, जो इन दोनों (मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों) के प्रति अरागद्विष्ट (सम) रहता है; वही वीतराग हो सकता है।"

उसके फिर अशुभकर्मास्रव तो होता ही नहीं है। शुभकर्मास्रव भी पहले क्षण में आता है, दूसरे क्षण में बद्ध स्पृष्ट होकर निर्जरित (आंशिक रूप से क्षय) हो जाता है। इसके विपरीत विषयों के प्रति राग द्वेष से जिसका चित्त प्रदुष्ट रहता है; वह विविध पापकर्मों का आस्रव, बन्ध और संचय (सत्तावस्थित) करता रहता है। ये ही बद्ध, संचित कर्म भविष्य में विपाक के समय दुःख रूप हो जाते हैं।[1]

यहाँ तथा गीता में कर्मों के आस्रव के मूल कारण राग-द्वेष से बचने के लिए (लोकदृष्टि में) प्रिय को पाकर हर्षित न हो, अप्रिय को पाकर उद्विग्न न हो, दोनों ही अवस्था में सम रहे।[2]

मानलो कभी नेत्र आदि का किसी प्रिय या अप्रिय वस्तु या विषय से स्पर्श हो जाए तो तुरन्त नेत्र आदि को वहाँ से हटा ले, रूपादि के प्रति उपेक्षा या तटस्थता रखे। तटस्थ-मध्यस्थ (सम) रहने वाले को ही आचारांग में निर्जरापेक्षी कहा है।[3]

जिस प्रकार कछुआ खतरा देखते ही अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार राग, द्वेष, मोह और आसक्ति का खतरा देखते ही जो अपनी इन्द्रियों को उन-उन विषयों से सहसा सर्वथा खींच लेता है, सिकोड़ कर अपनी आत्मा में लीन कर देता है, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित (स्थिर) है।"[4]

आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि जिस व्यक्ति को शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श भलीभाँति ज्ञात हो जाते हैं, और जो उनमें राग-द्वेष का त्याग कर देता है, वही आत्मवान् ज्ञानवान् वेदवान् धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है।[5] वस्तुतः इन्द्रिय विषयों के

---

१. (क) जे इंदियाणं विसया मणुन्ना, न तेसु भावं निसिरे कयावि।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ –उत्तराध्ययन ३२/२१
(ख) वही, गा. २३, ३५, ४८, ६१, ७४

२. न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् प्राप्य चाऽप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः ॥ –गीता ५/२०

३. मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अंतो बहिं विउसिज्ज अज्झत्थं सुद्धमेसए –आचारांग १/८/८/२०

४. यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽगानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ –गीता २/५८

५. आचारांग १/३/१ सूत्र ३५७

प्रति राग-द्वेष, मोह ही कर्मास्रव एवं कर्मबन्ध के कारण हैं। इसलिए सर्वप्रथम तो साधक अपनी किसी भी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय को अनावश्यक ही किसी विषय में प्रवृत्त या प्रेरित न करे। परन्तु कदाचित् साधक की कोई भी इन्द्रिय बिना ही आवश्यकता के किसी विषय में प्रवृत्त हो जाए या होने लगे, मन जो छठी इन्द्रिय (नो-इन्द्रिय) है, वह किसी विषय में प्रवृत्त होने पर रागद्वेष करने लगे, तब साधक एक पल की भी देर किये बिना तत्क्षण उस विषय से अपनी उक्त इन्द्रिय तथा मन को हटा ले और उसे आत्मचिन्तन में, आत्मध्यान में लीन कर ले। इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग, द्वेष, मोह या आसक्ति के भंयकर दुष्परिणामों का विचार करके उनके प्रति एकदम उपेक्षा कर ले, अगर जरा-सी भी ढील की तो पतन निश्चित है।

इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है–"संजमति, नो पगब्भति। अर्थात् व्यक्ति इन्द्रियों का संयम करे, उच्छृंखल रूप से व्यवहार न करे।"[1]

परन्तु अनिवार्य आवश्यकता ही हो, किसी विषय में प्रवृत्त होने की, तो राग-द्वेष निरपेक्ष होकर सहजभाव से प्रवृत्त हो, उसके साथ तालमेल का पूर्वोक्त मार्ग अपनाए। अन्यथा, इन्द्रिय आस्रव से कर्मों का आगमन और प्रवेश तथा तदनन्तर पापकर्मबन्ध निश्चित है।

साम्परायिक कर्मास्रव का पंचम आधार : चौबीस क्रियाएँ

साम्परायिक कर्मों के आस्रव (आगमन) का पंचम आधार है–क्रिया। स्थानांगसूत्र में क्रियाओं के ५ वर्ग बनाकर कुल २५ क्रियाएँ बताई हैं। कषाययुक्त जीव के मन-वचन-काया से होने वाली कोई भी क्रिया या प्रवृत्ति, हलचल या स्पन्दन साम्परायिक कर्मास्रव एवं कर्मबन्ध का कारण बन जाती है।

यहाँ २५ क्रियाएँ बताई गई हैं, उनमें से एक ईर्यापथिकी (इरियावहिया) क्रिया को छोड़कर शेष २४ क्रियाएँ साम्परायिक कर्मास्रव की हेतु हैं–आधार हैं। इसलिए ये २४ क्रियाएँ नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक समस्त सकषाय जीवों के होती हैं। पच्चीसवीं ईर्यापथिकी क्रिया कषायमुक्त या उपशान्त कषाय मनुष्यों के ही होती है। पच्चीस क्रियाएँ[2] इस प्रकार हैं–

(१) कायिकी क्रिया–शरीर के अंगोपांग एवं इन्द्रियों से जो भी चेष्टा या प्रवृत्ति की जाती है, वह कायिकी क्रिया है। इसके तीन अवान्तर प्रकार हैं–(१) मिथ्यादृष्टि

---

१. आचारांग १/५/३/५३१

२. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) में पच्चीस क्रियाओं का विवेचन पृ. १५१-१५२
(ख) देखें–जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. ५८-५९
(ग) स्थानांग सूत्र, स्थान ५, उ. २, सूत्र ११५, ११७, ११९ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. ४८९-४९०

प्रमत्त जीव की क्रिया, (२) सम्यग्दृष्टि प्रमत्त जीव की क्रिया एवं (३) सम्यग्दृष्टि अप्रमत्त जीव की क्रिया।

(२) अधिकरणिका क्रिया–घातक शस्त्र, अस्त्र, मूसल, ऊखल आदि अधिकरणों के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली क्रिया या प्रवृत्ति।

(३) प्राद्वेषिकी क्रिया–दूसरों के प्रति द्वेष, घृणा, मात्सर्य, असूया, ईर्ष्या आदि से युक्त होकर की जाने वाली क्रिया।

(४) पारितापनिकी क्रिया–स्वयं को या दूसरों को व्यर्थ ही संतप्त, पीड़ित, या दुःखित करना।

(५) प्राणातिपातकी क्रिया–दस प्राणों में से किसी भी प्राण का घात करना, हिंसा करना। यह क्रिया स्व और पर दोनों से सम्बन्धित है। राग-द्वेष, तथा कषायावेश में आकर अपने ही प्राणों का घात करना, या आत्महत्या करना, अथवा स्व-स्वभाव का घात करना स्व-प्राणातिपातकी है, और दूसरे प्राणियों के प्राणों का घात करना या प्राणों से वियुक्त करना पर-प्राणातिपातकी है।

(६) आरम्भिकी क्रिया–गृहकार्य या आजीविकादि कार्य में होने वाले आरम्भ (जीवों की हिंसा) से निष्पन्न होने वाली क्रिया।

(७) पारिग्रहिकी क्रिया–जड़ पदार्थों तथा सचेतन प्राणियों का मूर्च्छा-ममतापूर्वक संग्रह या परिग्रहण करना। अथवा परिगृहीत पदार्थों का नाश या वियोग न हो, इस दृष्टि से की जाने वाली क्रिया।

(८) मायाप्रत्यया क्रिया–छल, कपट, ठगी, धोखा, वंचना या कुटिलता से निष्पन्न होने वाली क्रिया।

(९) अप्रत्याख्यान क्रिया–असंयम या अविरति (नियम, व्रतादि ग्रहण न करने) की दशा में होने वाली प्रवृत्ति। अथवा पापप्रवृत्ति से निवृत्त न होना।

(१०) मिथ्यादर्शन क्रिया–मिथ्यात्व से युक्त होकर या मिथ्यादृष्टि से प्रेरित विविध क्रियाएँ करना। अथवा मिथ्यादर्शन के अनुसार प्रवृत्ति करने-कराने में निरत मनुष्य की प्रशंसा या अनुमोदना करके मिथ्यात्व में दृढ़ करना।

(११) दृष्टिजा क्रिया–देखने की क्रिया या दृष्टि से होने वाली प्रवृत्ति से जनित राग-द्वेषादि क्रिया।

(१२) पृष्टिज–स्पृष्टिजा क्रिया–स्पर्श सम्बन्धी क्रिया या स्पर्श जनित रागद्वेषादि मानसिक क्रिया।

(१३) प्रातीत्यिकी क्रिया–सजीव या निर्जीव पदार्थों के बाह्य संयोग, आश्रय या निमित्त से निष्पन्न रागादि मानसिक क्रिया तथा तज्जनित क्रिया।

(१४) सामन्तोपनिपातिकी क्रिया–इसके दो अर्थ परिलक्षित होते हैं–(१) स्त्री, पुरुष और पशुओं के आने-जाने के स्थान पर मल-मूत्र आदि का त्यागना; (२) स्वयं के भौतिक पदार्थों की सम्पदा, अथवा चेतन प्राणिज सम्पदा (पत्नियाँ, दास-दासी, पशु-पक्षी आदि) को देखकर लोगों के द्वारा की गई प्रशंसा या निन्दा से हर्ष-विषाद होने की क्रिया।

(१५) स्वहस्तिकी क्रिया–अपने हाथ से जीवों को त्रास देने या कष्ट देने की क्रिया। अथवा अपने हाथ से निर्जीव डंडा, लट्ठी आदि से प्रहार करने की क्रिया। दूसरे की क्रिया को स्वयं कर लेना भी स्वहस्तिकी क्रिया का अर्थ है।

(१६) नैसृष्टिकी क्रिया–किसी सचेतन प्राणी को पकड़कर फेंक देने की क्रिया, अथवा निर्जीव पदार्थों (बन्दूक बाण आदि) से निशाना साधकर चलाने और जीव को मारने की क्रिया।

(१७) आज्ञापनिका क्रिया–दूसरे को आज्ञा देकर कराई जाने वाली सावद्य क्रिया, या पापकर्म। इसे कहीं-कहीं 'आज्ञा व्यापादिकी' भी कहा है, अर्थ किया गया है–शास्त्रीय आज्ञा के विपरीत चलने या प्ररूपणा करने की क्रिया।

(१८) वैदारणिकी क्रिया–विदारण करने–चीरने फाड़ने से निष्पन्न क्रिया, अथवा संघ या समाज में फूट-विघटन पैदा करने की क्रिया; अथवा दूसरे के द्वारा किये गए पापकार्य को प्रकट करना।

(१९) अनाभोग-प्रत्ययाक्रिया–इसके दो अर्थ हैं–(१) बिना देखे-भाले, या प्रमार्जन किये, शरीर, वस्त्र, पात्र आदि को रखना, गिराना, (२) अविवेकपूर्वक जैसे-तैसे जीवनव्यवहार का सम्पादन करना या अविवेक अयतनापूर्वक सभी प्रवृत्तियाँ या क्रियाएँ चेष्टाएँ करना।

(२०) अनवकांक्ष प्रत्यया क्रिया–स्वहित-परहित का ध्यान न रखकर क्रिया करना, अथवा गुरुजनों या बड़ों की आज्ञा की अपेक्षा किये बिना, इच्छा जाने बिना ही मनमानी प्रवृत्ति करते रहना।

(२१) प्रेय-प्रत्यया क्रिया–राग, मोह, आसक्ति (मूढ़ प्रेम) के वशीभूत होकर क्रिया करना या रागादि से निष्पन्न मानसिक क्रिया।

(२२) द्वेष प्रत्यया क्रिया–द्वेष वृत्ति से प्रेरित होकर कोई भी प्रवृत्ति करना।

(२३) प्रयोग या प्रायोगिकी क्रिया–मन, वचन, काया से अनुचित-अशुभ प्रवृत्ति करना या इन तीनों की शक्तियों का दुष्प्रयोग करना।

(२४) समुदान क्रिया–सामुदायिक क्रिया–समूहबद्ध होकर सामूहिकरूप से अशुभ या अनुचित प्रवृत्ति करना। जैसे–सामूहिक नृत्य करना या वेश्यानृत्य करवाना, अथवा सामूहिक रूप से कोई षड्यंत्र करना, जालसाजी या ठगी करना।

(२५) ईर्यापथिक क्रिया–कषायवृत्ति से रहित होकर की जाने वाली क्रिया।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र, स्थानांगसूत्र आदि में दोनों प्रकार के आस्रवों की दृष्टि से २५ क्रियाओं का उल्लेख किया है, किन्तु साम्परायिक आस्रव का आधार पूर्वोक्त २४ क्रियाएँ ही होती हैं, पच्चीसवीं ईर्यापथिक क्रिया नहीं। यहाँ पूर्वोक्त २४ क्रियाओं का निर्देश साम्परायिक कर्मास्रव-बाहुल्य की दृष्टि से किया गया है।[1]

यद्यपि अव्रत, इन्द्रिय-प्रवृत्ति एवं पूर्वोक्त चौबीस क्रियाओं की बन्धकारणता राग-द्वेष-कषाय पर ही निर्भर है; तथापि कषाय से पृथक् अव्रत आदि का आस्रव एवं बन्ध के कारण रूप में इसलिए निर्देश किया गया है कि संवर (नूतन कर्मआस्रवनिरोध) के इच्छुक साधक इस ओर ध्यान दे सकें कि कौन-कौन-सी प्रवृत्ति व्यवहार में कषायजन्य दृष्टिगोचर होती है।[2]

सूत्रकृतांगोक्त आस्रवरूप तेरह क्रियाएँ और उनका लक्षण

सूत्रकृतांग सूत्र में भी आस्रवरूप तेरह क्रियाएँ बताई गई हैं–

(१) अर्थ क्रिया–अपना स्वार्थ सिद्ध करने या भौतिक लाभ के लिए कोई क्रिया करना, जिससे दूसरों का अहित हो।

(२) अनर्थ क्रिया–बिना किसी उद्देश्य या प्रयोजन के निरर्थक प्रवृत्ति करना। जैसे–व्यर्थ ही किसी को मारना-पीटना, सताना।

(३) हिंसा क्रिया–अमुक व्यक्ति या प्राणी ने मुझे और मेरे प्रियजनों को कष्ट दिया है, या देगा, यह सोचकर उसकी हिंसा करना। जैसे–कई लोग बिच्छू या सांप को देखते ही मार डालते हैं।

(४) अकस्मात् क्रिया–जल्दबाजी में, हठात् अनजाने हो जाने वाला पापकर्म। जैसे–घास काटते-काटते अनजाने में अनाज के पौधे को काट देना।

(५) दृष्टि-विपर्यास क्रिया–दृष्टिभ्रम या बुद्धिभ्रमवश होने वाला पापकर्म। जैसे–चोर आदि के भ्रमवश सामान्य निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देना या पीड़ित करना, मार डालना। जैसे–दशरथ राजा द्वारा हरिण की भ्रान्ति से निरपराध श्रवण कुमार का किया गया वध।

---

१. (क) देखें– तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) में पच्चीस क्रियाओं का अर्थ, पृ. १५१, १५२
(ख) देखें–जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. ५९, ६०
(ग) स्थानांगसूत्र स्थान ५, उ. २ सूत्र ११९, १२१, १२२
(घ) देखें–सर्वार्थसिद्धि ६/५/३२१-३२३/११ में पच्चीस क्रियाएँ और उनके अर्थ
(ङ) देखें–राजवार्तिक ६/५/७-११/५०९-५१० में पच्चीस क्रियाएँ।

२. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) पृ. १५२-१५३

(६) मृषा क्रिया–झूठ बोलने की क्रिया, अथवा दम्भ आदि से प्रेरित होकर की जाने वाली क्रिया।

(७) अदत्तादान क्रिया–चोरी, डकैती, ठगी, लूटमार, छीनाझपटी, गिरहकटी आदि क्रिया।

(८) अध्यात्म क्रिया–दम्भ, दिखावा, ठगने या वंचना करने की दृष्टि की गई सामायिक आदि अध्यात्म क्रिया, अथवा अकारण ही मन में होने वाली क्रोध, आदि मानसिक क्रिया।

(९) मानक्रिया–जाति आदि का मद या गर्व, अहंकार आदि करना।

(१०) माया-क्रिया–कपट करना, धोखेबाजी करना।

(११) लोभक्रिया–लोभ, लालच या लोलुपता करना।

(१२) मित्र क्रिया–प्रियजनों, मित्रों, हितैषीजनों को कठोर दण्ड देना।

(१३) ईर्यापथिकी क्रिया–अप्रमत्त, कषायवृत्तिरहित, संयमी साधक की आहार विहार, गमनागमन आदि चर्यारूप यत्नाचारयुक्त क्रिया।[1]

इनमें से तेरहवीं क्रिया के सिवाय शेष १२ क्रियाएँ साम्परायिक आस्रव की आधार हैं। वैसे देखा जाए तो मूलभूत आस्रव त्रिविध योग है। यह समग्र क्रिया-व्यापार भी स्वतः प्रभूत नहीं है। उसके भी प्रेरक सूत्र हैं, मिथ्यात्वादि; जिन्हें आस्रवद्वार कहा जाता है। इन्हें ही तत्त्वार्थसूत्रकार ने 'बन्धहेतु' कहा है। इनके सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे।

साम्परायिक आस्रव के दो भेद : शुभास्रव और अशुभास्रव

साम्परायिक आस्रव के मुख्य दो भेद हैं–शुभास्रव और अशुभास्रव। ये त्रिविध योग प्रसूत हैं। इनके अनेक भेद-प्रभेद हैं; जिनका विवेचन हम आगे करेंगे।

निष्कर्ष यह है कि आस्रवों का स्वरूप, रहस्य, इनके मुख्य द्वार, इनके मूल आधार आदि सबको हृदयंगम करके नये कर्मों के आने के द्वार पर प्रहरी बनकर ही व्यक्ति इनका निराकरण, उपेक्षा और निरोध आसानी से कर सकेगा। ■

---

१. (क) सूत्रकृतांग २/२/१
(ख) जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. ६१

२

आस्रव की आग के उत्पादक और उत्तेजक

आस्रव शुद्ध आत्मा को आवृत, विकृत और सुषुप्त कर देता है

प्रत्येक आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति होती है; किन्तु आस्रव के कारण यह अनन्तशक्ति अभिव्यक्त नहीं हो पाती। जब तक आस्रवों का अस्तित्व रहता है, तब तक उस जीव के ज्ञान और दर्शन आवृत रहते हैं, उसका आत्मिक सुख (आनन्द) विकृत रहता है, और उसकी आत्मिक शक्ति सुप्त रहती है। सांसारिक आत्माओं में जो अशुद्धि या विकृति है अथवा शक्ति की सुषुप्ति है, वह स्वाभाविक नहीं है। वह समग्र अशुद्धि, विकृति या सुषुप्ति आस्रवजनित है।

इसी के आधार पर समस्त जीव दो भागों में विभक्त होते हैं–बद्धजीव और मुक्तजीव। क्योंकि संसार के जन्ममरणादि के कारणभूत आस्रव ही जीवों के कर्मबद्ध होने का कारण है और आस्रव का प्रतिरोधी संवर कारण है–जीवों को कर्मों से मुक्त अथवा संसार से मुक्त करने का।

इसीलिए एक जैनाचार्य ने कहा है–"आस्रव संसार (भव भ्रमण) का हेतु है और संवर संसार से मुक्ति (मोक्ष) का कारण है। संक्षेप में यही आर्हती (जैन) दृष्टि है, शेष सब इसी का विस्तार है।"[1]

आस्रव का निरोध होने पर ही शुद्ध आत्मिक-सुख की अनुभूति

अतः आस्रव-युक्त जीव बद्ध और आस्रव-मुक्त जीव मुक्त कहलाता है। जब तक आस्रव और उसके योगादि परिवार जनित कर्म रहते हैं, तब तक आत्मा को शुद्ध परमात्म-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता। आस्रव के निरोधक संवर की दीर्घकाल तक श्रद्धा-सत्कारपूर्वक निरन्तर साधना करने पर ही आस्रव की शक्ति क्षीण होती है, कर्मों के आगमनद्वार अवरुद्ध और बंद हो सकते हैं, आत्मा के शुद्ध निर्मल स्वरूप की अनुभूति हो सकती है, और तभी आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण निर्मल हो सकते हैं।

---

१. आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥ –एक जैनाचार्य

आस्रवों का निरोध होने पर कर्मों के उदय से आत्मा को होने वाली सांसारिक पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति बंद हो जाती है और उस स्थिति में विशुद्ध आत्मिक सुख (आनन्द) की अनुभूति होती है। किन्तु जब तक जीव में आस्रव की क्रिया, तदनुसार योगों की चंचलता और प्रवृत्ति रहती है, तब तक वह शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भौतिक दुःखों और क्षणिक पौद्गलिक या वैषयिक सुखों की अनुभूति के चक्र में जीवनयापन करता रहता है। वह सहज स्वाभाविक आत्मिक सुख के अनुभव से वंचित रहता है।[1]

आस्रव की आग आत्मा के ज्ञानादि गुणों को विकृत कर डालती है

निष्कर्ष यह है कि आस्रव एक ऐसी आग है, जो आत्मा के अनन्त ज्ञान और दर्शन के असीम प्रवाह को अपनी लपटों से मुर्झा और झुलसा डालती है, ज्ञान और दर्शन की अनन्त धाराओं को अवरुद्ध करके निराधार बना देती है। अनन्तशक्ति के स्रोतों को विमुग्ध और स्थगित कर देती है, असीम आनन्द की अनुभूति को आस्रव की आग विकृत बना डालती है।

आस्रव की आग के उत्पादक एवं उत्तेजक कौन? यह जानना आवश्यक

अतः जिज्ञासु साधक और मुमुक्षु आत्म-विकासार्थी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि आस्रव की इस आग को और इसके उत्पादकों, सह-उत्पादकों और आग के उत्तेजकों को भलीभाँति समझ ले, और भलीभांति हृदयंगम कर ले। जैनागमों में किसी हेय पदार्थ का त्याग (प्रत्याख्यान) करने के लिए पहले उसे ज्ञपरिज्ञा से जानना आवश्यक बताया गया है।[2]

कर्मों के विभिन्न रहस्यों को जानने वाला ही परिज्ञातकर्मा होता है

आचारांगसूत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि इस लोक में जिस साधक को ये कर्म समारम्भ परिज्ञात (अर्थात् ज्ञपरिज्ञा से ज्ञात और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यात) हो जाते हैं, वह मुनि निश्चय ही परिज्ञातकर्मा हो जाता है।[3]

कर्मास्रवों का भलीभांति परिज्ञान क्यों आवश्यक है?

अतः आत्मा के गुणों, शक्तियों और विशेषताओं को क्षति पहुँचाने वाली आस्रव (कर्मों के आगमन) की आग और उसके उत्पादकों, उत्तेजकों, प्रोत्साहकों को समझना

---

१. जैनयोग पृ. ३४ (भावांश)

२. ज्ञपरिज्ञया जानाति, प्रत्याख्यानपरिज्ञया हेयतत्त्वं प्रत्याख्याति त्यजतीति परिज्ञा।
–स्थानांगवृत्ति स्थान २

३. "जस्सेते लोगंसि कम्म समारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे।"
–आचारांग सूत्र श्रु.१ अ. १ उ.१

आवश्यक है। ताकि कर्मों के आगमन के स्रोत–आस्रव आत्मा में प्रविष्ट होकर उसकी छवि को न बिगाड़ सकें, उसकी शक्ति को कुण्ठित न कर सकें।

कुछ आग लगाने वाले, कुछ आग में पूला डालने वाले तत्त्व

लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि कुछ लोग दियासलाई आदि रगड़कर आग लगा देते हैं, कुछ लोग उस आग में पूला डालकर उसे और अधिक भड़का देते हैं। वह भड़की हुई आग मकान को जलाकर भस्म कर देती है। इसी प्रकार आस्रव की आग लगाने वाले चार तत्त्व हैं, और उस आग को भड़काने वाला-उत्तेजित करने वाला एक तत्त्व है। ये पाँचों ही मिलकर आत्म भवन को विकृत और भस्मीभूत कर देते हैं।

नमि राजर्षि के सामने यही इन्द्र-प्रश्न था : आपके समक्ष भी यही

उत्तराध्ययन सूत्र में एक संवाद नमि राजर्षि और इन्द्र का प्रतिपादित है। इन्द्र विप्रवेष में आकर नमि राजर्षि के देहगेह के प्रति अनासक्ति की परीक्षा के हेतु कहता है– "भगवन्! यह अग्नि और यह पवन, आपके मन्दिर (प्रासाद) को जला रहे हैं। अतः आप अपने अन्तःपुर (रनिवास) की ओर क्यों नहीं देखते? उसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है।"[1]

यही बात यहाँ विचारणीय है। यह आस्रवरूपी अग्नि, आग लगाने वालों और उसे भड़काने वालों द्वारा लगाई जा रही है और आपके आत्मारूपी मन्दिर को जलाकर भस्म कर रही है, विकृत बना रही है। आप इससे आत्मा को बचाकर अपने ज्ञानादि गुणों की निधि को सुरक्षित करिये।

मूल आग है–रागद्वेषरूप आस्रव हेतु की

परन्तु सांसारिक जीव के जीवन में यह आग तब तक भड़कती रहती है, जब तक वह बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं कर लेता। कर्म आस्रव के मूल कारण राग-द्वेष हैं। बारहवें गुणस्थान से पूर्व तक ऐसा एक भी क्षण नहीं आता कि राग-द्वेष की आग बुझ जाए। बाहर से मौन और शान्त होकर ध्यान में बैठे हुए व्यक्ति को स्थूलदृष्टि से देखने वाले लोग कह देते हैं–कितना शान्त है। किन्तु उस शान्त बैठे हुए व्यक्ति को आप गहराई से टटोलेंगे तो प्रतीत होगा कि उसके अन्तर्मन में भी रागद्वेष की आग सुलग रही है।[2] कभी वह थोड़ी देर के लिए अग्नि पर आई राख की तरह उपशान्त दिखाई देगी, किन्तु निमित्त मिलते ही भभके बिना नहीं रहेगी। ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का जीवन वृत्तान्त इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है।

---

१. एस अग्गी य वाऊ य, एवं डज्झइ मंदिरं।
भयवं अंतेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खह॥ –उत्तराध्ययन ९/१२

२. जैन योग पृ. ४२ (भावांश)

आम्रवाग्नि का प्रथम उत्पादक व सहायक : मिथ्यात्व

प्रश्न होता है–निरन्तर जलने वाली इस भावाग्नि का उत्पादक कौन है? शास्त्रीय दृष्टि से टटोलें तो इसके उत्पादक चार बताए गए हैं। इस आग का प्रथम उत्पादक– आग लगाने में सहायक मिथ्यात्व है। जिस व्यक्ति में मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टि आम्रव की आग लगती है, वह व्यक्ति दुःख को सुख और सुख को दुःख मानने लगता है। अपनी मिथ्या मान्यता और मिथ्या आग्रह को नहीं छोड़ता। मिथ्यात्व की आग के प्रभाव से व्यक्ति कहीं रागान्ध और कहीं मोहान्ध, कहीं स्वार्थान्ध और कभी धर्मान्ध हो जाता है। वह अपने एकांगी दृष्टिकोण को ही पकड़े रहता है, सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता।

जैसे ज्वरग्रस्त व्यक्ति को मीठी वस्तु भी कड़वी लगती है, इसी प्रकार मिथ्यात्व आम्रव की आग से ग्रस्त व्यक्ति को सच्ची बात भी कटु और मिथ्या लगती है। अयथार्थ दृष्टिकोण के प्रभाव से उसे आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं होती, सदैव भ्रान्ति बनी रहती है।

मिथ्यात्व आम्रव के समग्र संसारी जीवों की दृष्टि से दो भेद बताए गए हैं–गृहीत मिथात्व और अगृहीत (सहज) मिथ्यात्व।[1] गृहीत मिथात्व में जानबूझकर मनुष्य विपरीतमार्ग को पकड़ने के लिए उद्यत रहता है, उसे ही यथार्थ मानता है। अगृहीत मिथ्यात्व एकेन्द्रियादि जीवों में होता है, जो बिलकुल बोध रहित हैं।

इसी प्रकार मिथ्यात्व के ५ भेद बताए गए हैं–(१) एकान्त (२) विपरीत (३) एकान्त विनय, (४) संशय और (५) अज्ञान मिथ्यात्व।[2]

जिस जीव में मिथ्यात्व की आग लगती है, वहाँ एकान्तरूप से हठाग्रहपूर्वक किसी गलत बात को पकड़े रहने की वृत्ति हो जाती है। कभी वस्तु को विपरीत रूप में जानने-मानने की दृष्टि बन जाती है, कभी किसी बात को समझे-बूझे बिना सबकी हाँ में हाँ मिलाने की और 'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास' वाली कहावत के अनुसार सबकी ठकुरसुहाती और जी हजूरी करने की वृत्ति हो जाती है। कभी व्यक्ति संशय और दुविधा में पड़ा रहता है कि यह सच है या वह सच है? वह सहसा सत्य का निर्णय नहीं कर पाता और कभी तो अज्ञानान्धकार में पड़ा रहता है, न तो वह वस्तु तत्त्व को जानता है, और न जानने की उसमें रुचि ही होती है।

आम्रवाग्नि का द्वितीय उत्पादक व सहायक : अविरति या अव्रत

कुछ व्यक्तियों में मिथ्यात्व आम्रव की आग इतनी तीव्र नहीं होती, अथवा वह

---

१. जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) पृ. २२७
२. धवला १/१/९/१६२/२

मिथ्यात्व की आग की लपटों से दूर रहता है, किन्तु उसमें अविरति या अव्रत की आग भयंकर रूप से प्रज्वलित रहती है। अविरति की आग से उसका मन-मस्तिष्क सांसारिक पदार्थों की चाह से इतना व्याकुल रहता है कि वह किसी भी वस्तु की प्राप्ति की लालसा को छोड़ नहीं सकता। खान-पान, रहन-सहन, धन-सम्पत्ति, मकान आदि किसी वस्तु का त्याग, नियम, मर्यादा या विरति से वह दूर भागता है। आकांक्षाएँ, आवश्यकताएँ एवं लालसाएँ बढ़ाने में ही वह जीवन की सार्थकता समझता है। वह रात-दिन इसी उधेड़-बुन में रहता है, कि किसी तरह से मेरे कार, कोठी, बंगला हो जाए और तिजोरी रुपयों से छलाछल भर जाए। इस प्रकार अहर्निश तीव्र असंयम और कष्ट की आग में वह झुलसता रहता है।

अविरति की मुख्य पाँच संतान : अहिंसा प्रथम सन्तान

अविरति अकेली ही आस्रव की आग की उत्पादक नहीं है, अपितु उसके साथ ही उसकी मुख्य पाँच संतान हैं। वे हैं–हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह।[1]

हिंसा की आग जब जीवन में आती है, तब व्यक्ति अहिंसा, क्षमा, मैत्री, करुणा, अनुकम्पा और दया को भूल जाता है। हिंसा से प्रेरित होकर जीव स्वार्थान्ध बनकर दूसरों की जिंदगी को बर्बाद करने पर उतारू हो जाता है। हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान के वशीभूत होकर मानव दूसरों की हत्या, निर्दोष पशुओं की बलि, शिकार, मांसाहार तथा दंगा, आगजनी और मार-पीट करने को तैयार हो जाता है। हिंसा का उन्माद मानव को दानव बना देता है। वह दहेज के नाम पर निर्दोष महिला की हत्या करने को, सताने को और जला डालने को उद्यत हो जाता है। कभी धर्म के नाम पर, कभी जाति-कौम के नाम पर और कभी राष्ट्र के नाम पर मनुष्य स्वार्थान्ध होकर नरसंहार करने पर उतारू हो जाता है।

अतः हिंसा ऐसी आग है, जो सहसा छूट नहीं पाती और मनुष्य अहिंसाव्रती नहीं हो पाता। इस प्रकार अविरति की आग को भड़काने वाली सर्वप्रथम चिनगारी यह हिंसा है।[2] हिंसा ही है, जो मनुष्य में क्रूरता, निर्दयता, क्रोधान्धता, लोभान्धता और जाति आदि मदों की उन्मत्तता लाती है। वह मनुष्य में दया, क्षमा, मृदुता, सरलता, करुणा, अनुकम्पा, शान्ति, निरहंकारिता एवं निर्लोभता के भाव नहीं आने देती। अतः हिंसा अपने आप में प्रचण्ड आग है, ज्वाला है। वह हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान के लिए प्रेरित करके घोर पापकर्मों का बंध करा देती है।[3]

---

१. द्रव्यसंग्रह ३०/८८

२. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा । –तत्त्वार्थसूत्र ७/८

३. देखें–रौद्रध्यान का लक्षण भेद सहित–'हिंसाऽनृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्''''''''' –तत्त्वार्थसूत्र ९/३६

अविरति की दूसरी संतान : मृषावाद

अविरति की आग को भड़काने में दूसरा निमित्त है–मृषावाद या असत्य।[1] असत्य भी ऐसी चिनगारी है, जो मनुष्य को क्रोधवश, ईर्ष्यावश, लोभवश, स्वार्थवश या भयवश झूठ-फरेब करने, ठगी करने, धोखाधड़ी करने, वाग्जाल में फंसाने, दूसरों पर दोषारोपण करने, निन्दा चुगली करने, छल-कपट करने, धरोहर को हड़प जाने और झूठी साक्षी देने, झूठे दस्तावेज या लेख लिखने, षड्यन्त्र रचने तथा जालसाजी करने के लिए असत्य आचरण करने को प्रेरित करती है।

असत्य मनुष्य को मृषानुबन्धी रौद्रध्यान के लिए प्रेरित करता है, जिससे भयंकर पापकर्मों का बन्ध हो जाता है। असत्य भी ऐसी चिनगारी है, जो अविरति आस्रव की आग को उत्तेजित करती है, जिससे मनुष्य एक बार झूठ बोलने एवं असत्याचरण करने की आदत का शिकार होने पर उससे विरत नहीं हो पाता। उसमें लोभ, स्वार्थ, दम्भ, छल, ठगी, जालसाजी आदि दुर्गुण बढ़ते जाते हैं। अन्ततोगत्वा मनुष्य को वह घोर पतन के गर्त में धकेल देता है।

अविरति की तीसरी संतान : चोरी

इसके पश्चात् अविरति की आग को अधिकाधिक प्रज्वलित करने वाली तीसरी चिनगारी चोरी है।[2] चोरी एक ऐसा पलीता है, जो मनुष्य को दूसरों का जान-माल हरण करने, दूसरों के अधिकार छीनने, लूटपाट, छीनाझपटी, तस्करी, गिरहकटी, जेब-कतरी, बेईमानी, डकैती, तस्करी, हत्या, क्रूरता और निर्दयता के लिए प्रेरित करती है।

चोरी करने वाला अपने और दूसरे के हिताहित, कल्याण-अकल्याण, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, राजदण्ड, समाजदण्ड, बदनामी आदि को नहीं देखता, सोचता। वह चोरी करने के फन को अपना गौरव समझता है।

एक बार चोरी की लत पड़ जाने पर वह छूटनी अत्यन्त कठिन हो जाती है। चोरी करने का पेशा तो और भी भयंकर है। कई बार तो चौर्यकर्म करने वालों को गरीबों की हाय ऐसी लग जाती है कि उसका फल प्रियजन की मृत्यु या भयंकर रोगोत्पत्ति के रूप में उसी जन्म में मिल जाता है। अतः चोरी भी जीव को इस पापकर्म के आस्रव से विरत नहीं होने देती, बल्कि यह अविरति की आग में ईंधन का काम करती है।

चौर्य कर्म करने वाला स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान का शिकार होकर घोर पापकर्म बंध करके दुर्गति में जाता है, वह कभी-कभी इस जन्म में या आगामी जन्म में दरिद्र हो जाता है।

---

१. असदभिधानमनृतम् –तत्त्वार्थसूत्र ७/९
२. अदत्तादानं स्तेयम्। – वही ७/१०

अविरति की चौथी सन्तान : अब्रह्मचर्य

इसके पश्चात् अविरति की आग को अधिकाधिक तीव्र करने वाली चौथी अब्रह्मचर्य की चिनगारी है। यह मनुष्य में कामवासना, सब प्रकार की मैथुनवृत्ति, कामोत्तेजना, विषयभोगों की तीव्र अभिलाषा, ऐशआराम करने की, व्यर्थ ही वीर्यपात करने की तथा गुंडापन अपनाने की वृत्ति को बढ़ावा देती है।

कामवासना की आदत का शिकार मानव दूसरों की बहू-बेटियों को ताकता रहता है, भय और प्रलोभन देकर किसी भी महिला से अनाचार सेवन करने को उद्यत हो जाता है। वह समय-कुसमय, पाप-पुण्य, हिताहित, गम्य-अगम्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का कोई विचार नहीं करता। परस्त्रीगमन और वेश्यागमन से ही नहीं, कुमारी कन्या, गुरुपत्नी तथा अपनी मातृतुल्या चाची, मामी, भाभी आदि के साथ भी संगम करने में कोई परहेज नहीं करता। वह कुशील त्याग करने का विचार ही नहीं करता। आए दिन किसी प्रकार से सदाचार और शील की मर्यादाओं का अतिक्रमण करता रहता है। वह नियमबद्ध या व्रतबद्ध होना ही नहीं चाहता। इस प्रकार अब्रह्मचर्य[1] अविरति की आग को भड़काता रहता है, वह अब्रह्मचर्य से विरत होने ही नहीं देता।

अविरति की पाँचवी सन्तान : परिग्रह

अविरति की आग को उत्तेजित करने वाली पाँचवीं चिनगारी है–परिग्रह[2]। परिग्रह मानव को संयम और व्रतनियमबद्धता के पास ही नहीं फटकने देता। वह उसके धन और विषयसुख-साधनों की आकांक्षा, लालसा और लोभवृत्ति को रात-दिन बढ़ाता रहता है। परिग्रह-ग्रस्त मानव सांसारिक पदार्थों का पिपासु ही बना रहता है, उसकी प्यास कभी शान्त नहीं होती। उसमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक धन और भोग-विलास के साधनों को पाने और उनका उपभोग करने की चाह बढ़ती जाती है। वह परिग्रह के सर्वथा त्याग की बात तो स्वप्न में भी नहीं सोच सकता, परिग्रह की मर्यादा (सीमा) करने की बात से भी कतराता है; उलटे वह महापरिग्रही बनने के लिए आतुर होता है। उसकी व्याकुलता और अशान्ति, आवश्यकता और महत्त्वाकांक्षा दिनानुदिन बढ़ती जाती है। फिर उसे अपने समग्र जीवन में बल्कि जिंदगी की अन्तिम घड़ी में भी अपरिग्रहवृत्ति, संतोषवृत्ति अथवा परिग्रह परिमाण की बात नहीं सुहाती। उसकी खानपान-लोलुपता, धनलिप्सा, भोगविलास के साधनों को पाने की लालसा, दूसरों के धन को हड़पने की ललक तथा सुख-सुविधाओं के साधन जुटाने की इच्छा जिंदगी में कभी मिटती नहीं, बल्कि बढ़ती ही जाती है। इसलिए परिग्रह अविरति की आग को अधिकाधिक तेज करने वाला अविरति का परम साथी है।

---

१. मैथुनमब्रह्म। –तत्त्वार्थसूत्र ७/११
२. मूर्च्छा परिग्रहः। –वही, ७/१२

अविरति की इन पाँचों सन्तानों का भी परिवार काफी बड़ा है। यहाँ विस्तारभय से हम उनका उल्लेख नहीं करना चाहते। जिज्ञासुजन प्रश्नव्याकरण सूत्र में इन पाँचों आस्रवद्वारों का विस्तृत वर्णन पढ़कर अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं।[1]

आस्रवाग्नि का तृतीय उत्पादक और सहायक : प्रमाद

इसके पश्चात् आस्रव की आग का उत्पादक या सहायक है–प्रमाद।[2] कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि की आग भी नहीं है, और न ही अविरति की आग है, किन्तु प्रमाद आस्रव का पावक उनमें सतत जलता रहता है। मिथ्यात्व की आग अधिक से अधिक तीसरे गुणस्थान तक प्रज्वलित रहती है, और अविरति की आग चतुर्थ गुणस्थान तक जलती है, किन्तु प्रमाद की आग तो छठे गुणस्थान तक जीव में प्रज्वलित रहती है। प्रमाद का दायरा पूर्वोक्त दोनों आस्रवों के उत्पादकों से विस्तृत है।

प्रमाद का अर्थ है–आत्मविस्मृति, अपने आप को या आपे को भूल जाना। मनुष्य प्रमाद के चक्कर में पड़ कर अपने आप को, अपने कर्तव्य को, अपने हिताहित को अपने नियमव्रत-मर्यादा को, अपनी संस्कृति और आत्मा के निजी गुणों को भूलकर पर-पदार्थों, परभावों या विभावों के प्रवाह में बहने लगता है। उसमें समय पर जागृति, सावधानी, जागरूकता या सतर्कता नहीं रहती। वह जानता सब कुछ है, व्रत-नियम भी ग्रहण करता है, सामायिक, पौषध आदि धार्मिक क्रियाएँ भी करता है, किन्तु उस समय परपदार्थों का, सावद्य प्रवृत्तियों का चिन्तन करने लगता है, अथवा अपने व्रत, नियम की विधि का ध्यान नहीं रखता, भूल पर भूल करता जाता है। लिया था नियम कि "आज पाँचों विकृति कारक पदार्थों (विगई) का त्याग करता हूँ" किन्तु घर आते ही पत्नी की मनुहार होते ही दूध पी गया। रात्रि भोजन का त्याग किया था, किन्तु भान ही नहीं रहा, "रात्रि भोजन कर लिया।"

इस प्रकार के अनेक त्याग-प्रत्याख्यान, नियम, व्रत लेकर अश्रद्धा पैदा हो जाना, उनके पालन में अनुत्साह रखना, अनादर करना[3], कर्तव्य पालन में शिथिलता रखना, कर्तव्य, धर्म या दायित्व के पालन में आलस्य कर देना, निद्राधीन होकर या किसी नशीली चीज का सेवन करके नशे में चूर होकर सेवा, कर्तव्य, दान, शील, तप या समाधि पालन का अवसर खो देना इत्यादि भी प्रमाद के अंग हैं। प्रमाद की चिनगारी आस्रव (कर्मों के आगमन) की आग को प्रज्वलित करने, बढ़ाने और फैलाने में सहायक बन जाती है।

---

१. देखें–प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा आदि पाँच आस्रवद्वारों का वर्णन।

२. "प्रमादः सकषायत्वम्" –सर्वार्थसिद्धि ७/१३/३५१/२

३. "स च प्रमादः कुशलेषु (शुभकार्येषु) अनादरः।" –राजवार्तिक ८/१/३०/५६४

प्रमाद के अंगभूत संगी-साथी पाँच है

प्रमाद अकेला ही नहीं है, उसके अंगभूत संगी-साथी पाँच हैं–(१) मद्य (मद), (२) विषय, (३) कषाय, (४) निद्रा (या निन्दा) और (५) विकथा।[1]

मद्य : प्रमाद का प्रथम अंग

मद्य उन वस्तुओं को कहते हैं जिनका सेवन करने से बुद्धि लुप्त (नष्ट-भ्रष्ट) हो जाए, मनुष्य अनुचित कार्य या कुकृत्य करने पर उतारू हो जाय। ऐसी नशीली वस्तुओं में शराब, भांग, गांजा, अफीम, ब्रांडी, ह्विस्की आदि हैं। इनका सेवन करने से आदमी उन्मत्त एवं प्रमत्त होकर चाहे जैसी चेष्टा करने लग जाता है, अंटशंट बकने लगता है, अकथ्य कथन करने लगता है।

इसी प्रकार आठ प्रकार के मद (अहंकार) को बढ़ाने वाले तत्त्व भी मद्य कहलाते हैं। मद के आठ स्थान ये हैं–(१) जातिमद, (२) कुलमद, (३) बलमद, (४) रूपमद, (५) तपोमद, (६) श्रुत (ज्ञान) मद, (७) लाभमद और (८) ऐश्वर्य (प्रभुतासत्ता) मद।[2]

इन आठ मदों के रहते मनुष्य गर्वोद्धत होकर दूसरों को तुच्छ, नीच और घृणित तथा स्वयं को श्रेष्ठ, उच्च और प्रशंसनीय समझने लगता है। वह दूसरों का तिरस्कार और अपमान करने से नहीं चूकता। इसी कारण अहंकार के नशे में वह अपना यथार्थ मूल्यांकन नहीं कर पाता। अतः ईर्ष्या और द्वेष से ग्रस्त रहता है।

प्रमाद की आग को बढ़ाने में किसी भी प्रकार का मद सहायक हो सकता है। मद को सम्यक्त्व का नाशक और मिथ्यात्ववर्द्धक भी कहा गया है। मदग्रस्त मानव किसी गुणवान पुरुष के गुणानुवाद नहीं कर सकता, जानते हुए भी सत्य तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाता। किसी दूसरे की उन्नति या तरक्की नहीं देख सकता, न ही किसी दूसरे से कोई अच्छी बात या तत्त्वज्ञान सीख सकता है। विनम्रता, मृदुता, कोमलता, सहृदयता या सरलता से मदमत्त व्यक्तियों कोसों दूर रहता है।

प्रमाद का द्वितीय अंग : विषयासक्ति

दूसरा प्रकार है–विषय अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों में, सांसारिक परपदार्थों में आसक्ति। पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों पर राग और अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष ही अप्रमाद का सबसे बड़ा शत्रु है। इसीलिए भगवान् ने "प्रमाद को ही कर्म का मूर्त्तरूप बताया है, और अप्रमाद को अकर्म रूप।" पाँचों इन्द्रियों के विषयों में या परपदार्थों के

---

१. "मज्जं विसय कसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।" –कर्मग्रन्थ भा. १

२. "अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता तं जहा– जातिमए कुलमए बलमए रूवमए तवमए सुयमए लाभमए इस्सरियमए॥" –समवायांग ८वाँ समवाय

प्रति आसक्ति एवं घृणा, अथवा इष्ट विषयों–पदार्थों के प्राप्त होने पर राग और अनिष्ट विषयों का पदार्थों की प्राप्ति होने पर द्वेष करना भयंकर कर्मबन्ध का कारण है।

प्रमाद एक प्रकार से जीते-जी मृत्यु है। विषयासक्त मनुष्य अपने हिताहित एवं कर्तव्य-अकर्तव्य को भूल जाता है। उसे यह भान ही नहीं रहता कि किस पदार्थ का या विषय का क्या, कितना और कैसे उपयोग करना चाहिए? जिस वस्तु को पाने की मन में सनक उठी कि तुरन्त उसकी प्राप्ति के लिए प्रमादी मानव एड़ी से चोटी तक का पसीना बहाने को तैयार हो जाता है। प्राप्त होने पर आसक्त और अहंकारग्रस्त हो जाता है, प्राप्त न होने पर मन में ग्लानि, घृणा, उदासी या मायूसी छा जाती है। काम-भोगों की प्राप्ति ही उसका एक मात्र लक्ष्य रहता है। इससे कितना कर्मबन्धन होगा, इसका भान वह भूल ही जाता है।

कषाय : प्रमाद का तृतीय अंग

कषाय तो सरासर प्रमादवर्द्धक है ही। शास्त्र में क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों कषायों को साक्षात् अग्नि कहा गया है; ये चारों प्रमाद-परिपोषक हैं, ये बार-बार जन्म-मरण या पुनर्जन्म की जड़ को सींचने वाले कहे गए हैं। ये रागद्वेष के प्रत्यक्ष सहायक हैं। माया और लोभ राग की प्रवृत्ति के उत्तेजक हैं, जबकि क्रोध और अभिमान द्वेष की प्रवृत्ति के प्रवर्द्धक हैं। कषाय ही संसार-परिभ्रमण की अवधि में वृद्धि करने वाले है। इसलिए कषायों को प्रमाद की आग को बढ़ाने वाले ठीक ही कहा गया है।[1]

निद्रा : प्रमाद का चतुर्थ अंग

इसके पश्चात् प्रमाद का संवर्द्धक एवं उपजीवक है–निद्रा। सामान्यतया निद्रा में मनुष्य मृतवत् हो जाता है, अपने व्रत, नियमों से बेखबर रहता है। आलस्य एवं असावधानी भी निद्रा का ही अंग है। निन्दा, चुगली या परपरिवाद भी भावनिद्रा है। मनुष्य प्रायः इनमें इतना रस लेता है कि अपने कर्तव्य एवं समय का भी उसे भान नहीं रहता। व्यर्थ की गप्पें हांकना, इधर-उधर की व्यर्थ की बातों में स्वयं उलझना भी भावनिद्रा है। इसमें पड़ने वाला अपने सत्कार्य के समय या अवसर को चूक जाता है। अतः द्रव्यनिद्रा हो या भावनिद्रा दोनों ही प्रमाद[2] की साक्षात् पृष्ठपोषिका हैं। कर्मबन्धन से बचने के लिए इनसे दूर रहना चाहिए।

---

१. (क) कसाया अग्गिणो वुत्ता –उत्तरा.अ. ३६/२६३
   (ख) चत्तारि एए कसिणा कसाया सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स। –दशवैकालिक ८/४०

२. (क) पंच संग्रह में प्रमाद के १५ भेद बताए गए हैं–४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, १ निद्रा, १ प्रणय। –पंच संग्रह (प्राकृत) गा. १/१५
   (ख) भगवती आराधना (विजयोदया टीका ३१२/८१२/४) में भी ये ही पाँच प्रकार हैं– –"प्रमादः पंचविधः विकथाः कषायाः, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति।

प्रमाद के पंचम अंग : विकथा की विवेचनकथा

प्रमाद का अन्तिम अंग है–विकथा। विकथा का अर्थ है–ऐसी कथा, ऐसी चर्चा या ऐसी बातें, अथवा ऐसा औपन्यासिक या विकारोत्तेजक साहित्य का पठन-वाचन, ऐसा दृश्य देखना जिससे मन में, वचन में विकार बढ़े, शरीर और इन्द्रियाँ कुचेष्टा करने के लिए उद्यत हो जाएँ।

शास्त्रों में चार मुख्य विकथाएँ बताई गई हैं–(१) स्त्रीविकथा, (२) भक्तविकथा, (३) राजविकथा और (४) देशविकथा।[1]

स्त्रीविकथा वह है, जो कथा या उपन्यास या चर्चा काम विकारोत्तेजक हो, उसे कहना, पढ़ना या सुनना अथवा दृश्य देखना। आशय यह है कि स्त्रियों के हावभाव, अंगोपांगों अथवा उनकी कामचेष्टाओं, क्रीड़ाओं का इस ढंग से वर्णन करना, सुनना या पढ़ना या उनसे सम्बन्धित अश्लील दृश्य देखना, जिससे कामोत्तेजना पैदा हो। वह स्त्रीविकथा है।

भक्तविकथा उसे कहते हैं, जिसमें विविध प्रकार को भोज्य पदार्थों की रसप्रद बातें इस ढंग से कही-सुनी जाएँ जिससे स्वाद-लोलुपता बढ़े, समय का निरर्थक अपव्यय हो।

इसी प्रकार राजकथा से आशय है कि राजाओं के द्वारा या राष्ट्रों द्वारा किये गए या किये जाने वाले हिंसात्मक युद्धों, युद्धलिप्सा के कारण राज्यवृद्धि के लिए किए गए नरसंहार तथा राजाओं द्वारा किये गए या किये जाने वाले पशु-पक्षियों के शिकार का, निर्दोष पशु-पक्षियों की राजाओं द्वारा देवी-देवों के नाम पर की जाने वाली पशुबलि, नरबलि आदि तथा राजाओं के अन्तःपुर का, भोग विलास का, रंग-राग आदि का इस ढंग से वर्णन किया जाए जिससे मन में हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान पैदा हो, या हिंसा करने की वृत्ति पैदा हो। वर्तमान में राजनेताओं या मंत्रियों की विकृति एवं सत्ता की छीनाझपटी वाली बाजनीति-सी राजनीति की चर्चा में व्यर्थ समय खोना, जिससे मन में राग-द्वेष या कषाय की वृद्धि हो, सत्ता लालसा बढ़े। सत्ता या कुर्सी पाने के लिए तिकड़मबाजी की भावना पैदा हो।

इसी प्रकार देश कथा का आशय उस चर्चा विकथा से है, जिसमें विविध देशों के फैशन, विलास एवं हिंसात्मक रीति-रिवाजों, कामोत्तेजक परम्पराओं, रागद्वेषवर्द्धक बातों का कथन-श्रवण या पठन किया जाए।

ये चारों विकथाएँ प्रमाद की आग को उत्तेजित एवं वृद्धिंगत करने वाली हैं। इन विकथाओं में पड़ने या इनके सुनने-पढ़ने से एक तो आत्म-साधना का अमूल्य समय नष्ट

---

१. चत्तारि विकहाओ पन्नत्ताओ, तं जहा–इत्थिकहा, भत्तकहा, रायकहा, देसकहा।"
–समवायांग, समवाय ४

होता है, दूसरे इनसे राग-द्वेष एवं कषायों की वृद्धि होती है, तीसरे निरर्थक कर्मबन्ध होता है। अतः इन विकथाओं में पड़ना अपनी आत्म-शक्तियों को व्यर्थ बर्बाद करना है। इसीलिए इन्हें प्रमाद का पंचम अंग कहा गया है कि इनमें पड़ने पर मानव अपने आत्म-स्वरूप को, अपनी आत्म-साधना को तथा आत्म-शक्तियों के सदुपयोग को भूल जाता है।

प्रमाद से हानि, अप्रमाद से लाभ

अतः प्रमाद भी आम्रव की आग को प्रज्वलित करने और बढ़ाने वाला है। प्रमाद ऐसी आग है, अथवा आग का उत्पादक, संवर्द्धक है, जो छठे गुणस्थान तक व्यक्ति में सतत रहता है। प्रमाद के कारण रत्नत्रय की–मोक्षमार्ग की सम्यक् आराधना तथा कर्मक्षय करने की साधना के लिए साधु धर्म में दीक्षित साधक भी इन्हें भूलकर आराधक के बदले विराधक बन जाता है, कभी-कभी तो सम्यक् श्रद्धा से भी विचलित या भ्रष्ट होकर नीचे गुणस्थान की भूमिका में आ जाता है। प्रमाद की आग को बुझाने की दृष्टि से ही भगवान् ने साधकों को प्रत्येक चर्या के साथ "जयं चरे, जयं चिट्ठे" यानी यतनापूर्वक चलने-बैठने आदि का निर्देश दिया है।

कषाय : आम्रवाग्नि का सबसे प्रबल सहायक एवं उत्पादक

इसके पश्चात् सबसे तीव्र आग कषाय की है। कषाय स्वयं ही आग है, और आम्रव की आग को सबसे अधिक बढ़ाने, फैलाने और भड़काने वाला है। कषाय की आग दसवें गुणस्थान तक तो रहती ही है। ग्यारहवें गुणस्थान में मोहजन्य कषाय उपशान्त होकर विद्यमान रहती है। कहना चाहिए कि कषाय की आग का अस्तित्व दसवें गुणस्थान तक है। इतनी भयंकर दौड़ है इसकी। इसकी लपटें साधक के तन, मन और वचन सबको संतप्त, व्याकुल एवं अशान्त कर देती हैं।

आम्रव की आग को तीव्रतम करने वाली, सबसे अधिक फैलाने वाली कषाय की चिनगारी है। इसका ताप शीघ्र नहीं मिटता। महान् एवं उच्च साधकों एवं आचार्य आदि पदधारियों को, जिन्होंने घर-बार छोड़कर अकिंचनता धारण की है, उन्हें भी कषाय नहीं छोड़ता। उनमें भी दूसरे सम्प्रदाय, पंथ या मत के साधकों के उत्कर्ष, प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा को देख-सुनकर ईर्ष्या, द्वेष तथा निन्दा आदि की तथा अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों की वृद्धि अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा, प्रतिष्ठा की लोभवृत्ति जागृत हो जाती है और तो और जिनका क्रोध उपशान्त हो गया है, अहंकार वृत्ति भी शान्त है, माया भी नहीं रही, उनमें भी अपनी प्रसिद्धि, पद, प्रतिष्ठा तथा यश की कामना तथा शिष्यवृद्धि आदि का लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से अंगड़ाई लेता रहता है। दसवें गुणस्थान तक संज्वलन लोभ का अस्तित्व रहता है।

कषायों के सहायक नौ नोकषाय हैं, तथा चारों कषायों के भी प्रत्येक के तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मन्द ये चार-चार स्तर हैं, जिनका किञ्चित् वर्णन हमने 'कर्मों के आने के पाँच आस्रवद्वार' शीर्षक निबन्ध[1] में किया है। आगे बन्ध[2] के प्रकरण में इनके विषय में सांगोपांग निरूपण किया जाएगा।

निष्कर्ष यह है कि कषाय आस्रव की ज्वाला को प्रज्वलित रखने वाली अपने क्रोधादि तथा नोकषाय आदि अंगोपांगों सहित एक प्रबल आग है। इससे साधक की रक्षा तभी हो सकती है, जब वह इन चारों कषायों की चाल, इनके विविध स्तर और पैंतरों को पहचाने और उनसे बचने के लिए भगवान् महावीर के इस निर्देश सूत्र को सदैव ध्यान में रखे–"जो व्यक्ति अपनी आत्मा का हित चाहता है, वह पापकर्मवर्द्धक क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का वमन–परित्याग कर दे। क्योंकि क्रोध प्रीति को नष्ट कर देता है, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सभी गुणों का विनाश कर डालता है। अतः क्रोध को शान्ति से, मान (अहंकार) को मृदुता–नम्रता से, माया को ऋजुता-सरलता से और लोभ को संतोष से जीतना चाहिए।"[3]

कर्मबन्ध और उनके कटुफल के परिप्रेक्ष्य में भगवान् ने कहा–"क्रोध से आत्मा का अधःपतन होता है, मान से अधम गति प्राप्त होती है, माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और लोभ से इहलोक और परलोक दोनों में भयंकर क्लशों का भय है।"[4] आचारांगनिर्युक्ति में स्पष्ट कहा है–"संसार का मूल कर्म है, और कर्म का मूल है–कषाय।[5] अतः कषायाग्नि को सदैव उपशान्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

चारों की सम्मिलित आस्रवाग्नि : कर्म परमाणुरूप ईंधन

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय, यह चारों प्रकार की सम्मिलित आस्रवाग्नि दसवें गुणस्थान तक समस्त संसारी जीवों में तीव्र-मन्दरूप में सतत

---

१. कषायों के १६ भेदों का संक्षिप्त उल्लेख देखें–'कर्मों के आने के पाँच आस्रवद्वार' शीर्षक निबन्ध में।

२. कषायों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन बन्ध के प्रकरण में देखें।

३. कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो॥
कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥
उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
माया मज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥ –दशवैकालिक ८/३७-३८-३९

४. अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गइ पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं॥ –उत्तराध्ययन ९/५४

५. "संसारस्स उ मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया।" –आचारांग निर्युक्ति १८९

जलती रहती है। आम्रवाग्नि को प्रज्वलित करने या प्रज्वलित रखने वाले ये चार प्रेरक तत्त्व हैं। इन आम्रव चतुष्टयरूप अग्नियों के लिए ईंधन है–कर्मपुद्गल।

ये आम्रवाग्नियाँ जब जलती हैं, तो आकाश में या पारिपार्श्विक वायुमण्डल में विद्यमान कर्मप्रायोग्य परमाणु पुद्गल स्वतः खिंचे चले आते हैं। जिस प्रकार पतंगे रोशनी देखते ही खिंचे चले आते हैं और रोशनी पर टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार ये कर्म परमाणु भी इन चारों आम्रवाग्नियों का ताप देखते ही स्वतः आकृष्ट होकर चले आते हैं और आत्म-प्रदेशों में बलात् प्रविष्ट हो जाते हैं। ये कर्म परमाणु ईंधन के रूप में आकर इन अग्नियों को प्रज्वलित करते रहते हैं। पुराने कर्मरूपी ईंधन समाप्त हो जाते हैं तो नये ईंधन आते रहते हैं और इन चारों आम्रवाग्नियों के चलने का सिलसिला जारी रहता है।

योग : चारों आम्रवाग्नियों को प्रज्वलित रखने वाला वायु

अग्नि हवा के बिना प्रज्वलित नहीं रह सकती, यहाँ पूर्वोक्त आम्रवाग्नियाँ भी बिना वायु के जलती नहीं रह सकतीं, उसके बिना वे बुझ जाएँगी। प्रकृति का यह निर्बाध नियम है–जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ वायु है। यहाँ इन चारों अग्नियों को प्रज्वलित रखने के लिए वायु है–त्रिविध योग। योग अपने आप में अग्नि नहीं है, मन-वचन-काय स्वतः प्रवृत्ति नहीं करते, स्वयं चंचल व सक्रिय नहीं होते, परन्तु जहाँ पूर्वोक्त चारों प्रकार की आम्रवाग्नियों के लिए कर्मरूप ईंधन है, वहाँ वायु का कार्य करने वाला है योग–प्रवृत्ति।

योग का अर्थ–चंचलता, सक्रियता या प्रवृत्ति है। योग तीन हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इन योगों की चंचलता या प्रवृत्ति जितनी तीव्र होगी यानी उतनी तीव्र वायु चलेगी, उतनी ही तीव्रता से कर्मपुद्गल खिंचे चले आएँगे, और पूर्वोक्त अग्नियों को जलने में यह (योग रूपी वायु) सहायता करती रहेगी। वायु स्वयं नहीं जलाती। जलाने का कार्य है–पूर्वोक्त चार आम्रवों का। किन्तु ये त्रिविध योग जलती हुई आम्रवाग्नि को और अधिक भड़का देते हैं। ये आग में पूला डालने जैसा कार्य करते हैं। अतः आम्रवाग्नि के उत्पादकों और उत्तेजकों को भलीभांति जानकर कर्ममुक्ति के इच्छुकों को इनसे बचने का प्रयास करना चाहिये।[1] ■

---

१. जैन योग से किंचित् भावांश ग्रहण पृ. ४२-४३

३

कर्म आने के पाँच आस्रव द्वार

भवन के पाँच द्वार खुले रखने का परिणाम

किसी भवन के पाँच दरवाजे हों और वे पाँचों दरवाजे ग्रीष्मऋतु में बाहर की सुखद वायु और ठंडक का सुखद स्पर्श पाने के लिए खोल दिये जायें। बाहर की हवा में उष्णता है, लू चल रही है, साथ ही एकाएक गर्म हवाएँ भी चल रही हैं, इसका भान भवन में बैठे हुए व्यक्ति को न हो तो क्या परिणाम आता है ?

परिणाम यह आता है कि वे गर्म हवाएँ उन खुले हुए दरवाजों से आकर उस भवन को भी गर्म कर देंगी, और भवन में बैठे हुए व्यक्ति को गर्मी से व्याकुल और पसीने से तरबतर कर देंगी। साथ ही वे गर्म हवाएँ अपने साथ धूल और कचरा भी उड़ाकर लाएँगी, जिससे भवन में धूल, कचरा और तिनके आदि हवा के साथ-साथ आते रहेंगे और उस भवन को तथा भवन में बैठे हुए व्यक्ति को धूल, कचरे आदि से भर देंगी। भवन की सारी चमक-दमक और शोभा मलिन हो जाएगी।

सांसारिक जीवों द्वारा मिथ्यात्वादि पाँचों आस्रवद्वार खुले रखने का परिणाम

आत्मारूपी भवन का मालिक सांसारिक जीव भी भवन के पाँचों द्वार खोलकर बैठा है; संसार के विषय-सुखों की सुखदायी लगने वाली वायु के स्पर्श के लिए। यद्यपि वह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इस त्रिविध ताप से संतप्त है, किन्तु उस ताप को शान्त करने का सही तरीका मालूम न होने से सांसारिक वासनाओं की हवाएँ लेने के लिए आतुर रहता है, उन्हीं को सुखदायक एवं शान्तिदायक समझता है, परन्तु पाँचों द्वार खुले होने से[1] कषाय, प्रमाद, मिथ्यात्व, अव्रत और योग की आंधियाँ सहसा प्रविष्ट होकर कर्मों की धूल और कचरा ले आती हैं, जीव को तमसाच्छन्न कर देती हैं, ज्ञानादि से प्रकाशमान आत्मा को अज्ञान तमसाच्छन्न कर देती हैं।

साधनापरायण व्यक्ति पाँचों आस्रवद्वारों को खोलने में सावधान

जो साधनापरायण व्यक्ति 'पंचासव-परिण्णाया तिगुत्ता'[2] अर्थात्–पाँच आस्रवों

---

१. समवायांग, ५वां समवाय में इसी प्रकार का पाठ है।

२. दशवैकालिक सूत्र अ. ३ गा. ११

की गतिविधि से भलीभाँति परिचित हैं, और अपने मन-वचन-काया को सुरक्षित (गुप्त-संवृत) करके रहते हैं, वे इन पाँच द्वारों को खुले नहीं रखते।[1] वे अपने अन्तर् के द्वारों को खोलने में ही लगे रहते हैं। अपने आत्म-गुणों को खोजने और आत्मिक आनन्द प्राप्त करने में लगे रहते हैं। सदैव सावधान रहते हैं कि कहीं इन पाँचों आस्रवद्वारों से कर्मपरमाणु प्रविष्ट और संश्लिष्ट न हो जाएँ।

कर्मों के आकर्षण और संश्लेषण के लिए मुख्यतया दो द्वार

कर्म का आकर्षण, प्रवेश और संश्लेषण तभी होता है, जब मुख्यतया आत्मभवन के दो द्वार खुले हों, और व्यक्ति इससे बेखबर-असावधान हो। ये दोनों मुख्य द्वार हैं-योग-आस्रव और कषाय-आस्रव। मुख्यरूप से ये दो आस्रवद्वार ही ऐसे हैं, जिनसे कार्मों का आकर्षण, प्रवेश और संश्लेष होता है।[2] योग-आस्रव तेज हवाओं की तरह चंचलता और चपलता का प्रतीक है, और कषाय आस्रव कचरा, गंदगी, अंधेरा, मलिनता आदि का प्रतीक है।

योग-आस्रवद्वार खुला होता है तो हवा के समान मन चंचल हो जाता है, वाणी चपल हो उठती है और काया विविध प्रवृत्तियाँ और चेष्टाएँ करने के लिए उतावली हो जाती है।

योग-आस्रव की चंचलता का दिग्दर्शन

योग-आस्रव से होने वाली चपलता बिजली की तरह चंचल होती है, वह स्पष्ट ही प्रतीत होती है, किन्तु कषाय-आस्रव से होने वाला परिणाम स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। इसका कारण, योगों (मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों) का बैकिंग करने वाला, पीठ ठोकने वाला कषाय ही है। वैसे देखा जाए तो मन, वचन या काय अपने आप में चंचल नहीं होते। लोग प्रायः कह देते हैं-मन बहुत ही चंचल है, वचन उससे कम चंचल है, काया उससे भी कम चंचल है। काया तो स्थिर हो सकती है। उसे निश्चेष्ट करके बैठा जा सकता है, वचन को भी मौन करके स्थिर रखा जा सकता है, परन्तु मन तो बिलकुल अदृश्य है, उसकी भागदौड़ को कैसे कम किया जाए? मन की चंचलता पर बड़े-बड़े योगी एवं साधक भी काबू नहीं पा सके हैं।

चंचलता कौन पैदा करता है?

प्रश्न होता है-मन आदि त्रिविध योग स्वयं चंचल नहीं हैं तो इनमें चंचलता कौन पैदा करता है? कौन मन के यंत्र को, वचन के मंत्र को और काया के तंत्र को संचालित करके इन्हें चंचल बना देता है?

---

१. देखें-स्थानांगसूत्र में-पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा-मिच्छत्तं, अविरती, पमादो, कसाया, जोगा। -स्थानांग. स्था. ५ उ. २, सू. १०९

२. कर्मवाद पृ. ४६

योग-आम्रव का स्वरूप

वास्तव में, 'चंचलता' को ही जैनकर्म विज्ञान की परिभाषा में 'योग' कहा जाता है। चंचलता कहें, हलन-चलन कहें, प्रवृत्ति कहें या क्रिया कहें, एक ही बात है। इसी को जैन दर्शन में कहीं स्पन्दन, कहीं कम्पन, कहीं परिणमन और कहीं संकोच-विकोच भी कहा गया है। 'सर्वार्थसिद्धि' और 'राजवार्तिक' में 'योग' का लक्षण दिया गया है–वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन–हलन-चलन को योग कहते है। 'धवला' में आत्म-प्रदेशों के संकोच-विकोच (विस्तार) एवं परिभ्रमणरूप परिस्पन्दन को 'योग' कहा गया है। तत्त्वार्थसूत्र[1] में काय, वचन एवं मन की क्रिया को 'योग' कहा है।

योगों की चंचलता का प्रेरक है–अविरति आम्रव

निष्कर्ष यह है कि योग एक प्रकार की चंचलता है, किन्तु वह चंचलता स्वतः नहीं होती। यंत्र का चक्र घूमता है। वह चाहे बिजली से घूमे, हवा से घूमे, चाहे और किसी साधन से। कोई भी घूमने वाली चीज अपने आप नहीं घूमती। उसे घुमाने वाला उसके पीछे कोई दूसरा होता है। इसी प्रकार योगों की चंचलता के पीछे कोई और प्रेरक होता है। कर्मविज्ञान की भाषा में कहें तो यह योग-आम्रव अपने आप प्रवृत्त नहीं होता; इसका पृष्ठ पोषक है–अविरति। अविरति की प्रेरणा न हो तो मन, वचन और काया से कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार अविरति दूसरा आम्रवद्वार है।

अविरति आम्रव का स्वरूप और कार्य

'अविरति' का शब्दशः अर्थ है–आत्मबाह्य पदार्थों–परभावों से विरति–निवृत्ति न होना। परभावों में रुचि या आकांक्षा तथा स्वभावों के प्रति अरुचि या उपेक्षा अविरति शब्द का फलितार्थ है। दूसरे शब्दों में कहें तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-चारित्र में रुचि या आकांक्षा न होना, अहर्निश सांसारिक सजीव-निर्जीव परपदार्थों को पाने और भोगने की चाह होना अविरति है।

अविरति के कारण ही मनुष्य के मन में परपदार्थों की, प्रसिद्धि की, प्रतिष्ठा की, स्वार्थ-सिद्धि की लालसा, आकांक्षा, तृष्णा एवं वासना बनी रहती है। वह धन, जन,

---

१. (क) योगो वाङ्मनःकायवर्गणा निमित्त आत्म प्रदेश-परिस्पन्दः।
–सर्वार्थसिद्धि ६/१/३१८/५

(ख) आत्मनो मनोवाक्काय्वर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पन्दः उपयोगो योगः।
–राजवार्तिक ९/७/११/६०३

(ग) जीव-पदेसाणं परिप्फंदो संकोच-विकोचब्भमण-सरूवओ (जोगो)
–धवला १०/४/२-४/१७५

(घ) काय-वङ्मनःकर्म योगः। –तत्त्वार्थसूत्र ६/१

भवन आदि परपदार्थों की आसक्ति एवं ममता से होने वाले अनिष्टों को जानता है, अनुभव भी करता है, फिर भी व्रतबद्ध या नियमबद्ध होकर उनका त्याग-प्रत्याख्यान नहीं कर पाता। जीने की आकांक्षा और मृत्यु की भीति उसे बार-बार उन परपदार्थों को पाने के लिए प्रेरित करती रहती है।

वह इस प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्ति से होने वाले अशुभ कर्मबन्ध और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दुःखों की परम्परा को भूल जाता है। पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में परस्पर संघर्ष, छीना-झपटी, स्वार्थलिप्सा एवं कलह-क्लेशों का मूल कारण अविरति की मनोवृत्ति–प्रवृत्ति ही है।[1]

मन की चंचलता के पीछे अविरति की ही प्रेरणा है

निष्कर्ष यह है कि चंचलता या योग-आस्रव के पीछे किसी न किसी कामना के रूप में अविरति छिपी रहती है। कोई भी व्यक्ति किसी न किसी चीज को पाने की इच्छा करता है, तभी मन प्रवृत्त होता है। मन में वह छिपी हुई चाह किसी न किसी रूप में भड़कती है। किसी को वैषयिक सुखोपभोग की आकांक्षा होती है, तो किसी को सुख-सुविधा के साधनों को पाने की मन में ललक उठती है। किसी को सुख पाने और दुःख मिटाने की इच्छा होती है, तो किसी को प्रिय वस्तु या परिस्थिति को प्राप्त करने और अप्रिय वस्तु या परिस्थिति से छुटकारा पाने की कामना होती है, किसी को प्रसिद्धि पाने की और अप्रसिद्धि दूर करने की लालसा होती है, किसी को धन-संग्रह करने और निर्धनता से छुटकारा पाने की धुन होती है। ये जो विभिन्न प्रकार की आन्तरिक आकांक्षाएँ–इच्छाएँ हैं, इन्हें जैन कर्मविज्ञान की भाषा में अविरति आस्रव कहते हैं।

मन में चंचलता पैदा करने वाला यह अविरति आस्रव ही है। इसके कारण ही मनो-नभ में विभिन्न प्रकार की आकांक्षाओं–अपेक्षाओं के बादल उमड़ते रहते हैं। इसके कारण पदार्थों को पाने की प्यास बुझती नहीं; अधिकाधिक भड़कती रहती है। इस प्रकार परपदार्थों की अमिट चाह का स्रोत अविरति आस्रव है। इसकी मात्रा जितनी अधिक बढ़ती जाती है, मनोयोग की चंचलता भी उतनी ही अधिक होना स्वाभाविक है।[2]

वचन की चंचलता भी अविरति-प्रेरित

इसी प्रकार वचनयोग की चंचलता को बढ़ावा देने वाला अथवा बोलने के लिए प्रेरित करने वाला भी यह अविरति आस्रव है। व्यक्ति अपने आप वाणी को मुखरित नहीं करता। उसे बोलने के पीछे कोई न कोई आकांक्षा, इच्छा या कल्पना होती है, तभी वह बोलता है। मनुष्य को किसी आकांक्षा या अपेक्षा के रूप में अविरति आस्रव से बोलने की

---

१. कर्मवाद पृ. ४७
२. वही, पृ. ४७

प्रेरणा मिलती है, तभी वह बोलता है। पागल या विक्षिप्त के असम्बद्ध बोलने के पीछे भी कोई न कोई गुप्त आकांक्षा की प्रेरणा होती है। कई दफा व्यक्ति मौन धारण करके भी अन्तर् में अव्यक्त भाषा के रूप में चिन्तन करता रहता है, इसके पीछे भी कोई न कोई आकांक्षा–अविरति की प्रेरणा होती है। इस प्रकार वचनयोग का–वाणी की चंचलता का प्रेरक भी अविरति आस्रव है।[1]

काया में चंचलता एवं सक्रियता पैदा करने वाला अविरति आस्रव

काया की चंचलता अर्थात् काययोग की प्रवृत्ति का प्रेरक भी अविरति आस्रव है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो शरीर में सक्रियता, चंचलता या चेष्टा पैदा करने वाला या भटकाने वाला तत्त्व अविरति आस्रव है। विषयसुख के साधनों को पाने और भोगने की जब ललक उठती है तो शरीर उसे पाने के लिए सक्रिय–चंचल हो उठता है।

मान लीजिए–कुछ लोग एक जगह प्रवचन सुनने बैठे हैं। पास में ही सड़क पर एक मदारी डुगडुगी बजाकर बंदर का नाच दिखा रहा है। उस समय कुछ लोग तो शान्ति से बैठे रहेंगे, किन्तु कुछ लोग एकदम उठकर सड़क पर हो रहे बंदर के नाच को देखने चले जाएँगे। ऐसा अन्तर इसलिए है कि जिन लोगों की काया के साथ मन में अविरति कम है, उत्सुकता और कुतूहल वृत्ति कम है, वे शान्त भाव से बैठे रहेंगे, किन्तु जिन लोगों में अविरति–आकांक्षा और उत्सुकता प्रबल है, वे सहसा शरीर से उठकर तमाशा देखने दौड़ पड़ेंगे।[2]

बहिर्मुखी ऋषिगण और अन्तर्मुखी जनक राजा

याज्ञवल्क्य ऋषि की सभा में सहजानन्द, विरजानन्द आदि कई ऋषि प्रवचन सुनने के लिए उपस्थित थे। किन्तु याज्ञवल्क्य ऋषि ने प्रवचन शुरू नहीं किया। सबसे अन्त में जब जनक राजा आए तभी उन्होंने प्रवचन प्रारम्भ किया। ऋषियों में आपस में कानाफूसी होने लगी कि "याज्ञवल्क्य के मन में राजा का महत्त्व है, हम ऋषियों का नहीं।"

याज्ञवल्क्य उनकी मनोवृत्ति को भाँप गए। सहसा देवमाया से जनकराज का राजमहल तथा आसपास की सभी कुटियाँ धाँय धाँय जलती दिखाई दीं। यह देख ऋषियों के मन में उथल-पुथल मच गई। किसी ने सोचा– मेरी लंगोटी जल जाएगी, किसी ने सोचा–मेरा तुम्बे का कमण्डलु जल कर भस्म हो जाएगा, किसी ने सोचा–मेरा बिछौना जल जाएगा। यह सोचकर एक-एक करके सभी ऋषि सभा में से उठकर चल दिये। श्रोता में केवल एक जनकराजा शान्तभाव से बैठे रहे।

---

१. वही, पृ. ४७
२. कर्मवाद पृ. ४८

याज्ञवल्क्य ऋषि ने उनसे कहा–राजन्! आपकी मिथिला नगरी और राजमहल आदि जल रहे हैं, आप भी जाकर संभालिए न ?" जनक राजा ने उत्तर दिया, "ऋषिवर! इसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है, मेरा तो मेरे पास ही है।"

जो ऋषि सभा में से उठकर चले गए थे, उन्होंने वहाँ पहुँच कर देखा तो कुछ नहीं जल रहा है, सब देवमाया है। सभी ठगे-से रह गए। वापस आकर सभा में बैठ गए। याज्ञवल्क्य ऋषि ने एक-एक ऋषि से पूछा, "आपकी लंगोटी, कमंडलु या बिछौना सही सलामत है न ?" सब लज्जित और निरुत्तर होकर नीचे मुँह कर बैठे रहे।[1]

बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी वृत्ति वालों में अन्तर

वास्तव में, जो बहिर्वृत्ति होता है, उसकी वृत्तियाँ बाहर भटकती रहती हैं, वह किसी भी आकांक्षा से प्रेरित होकर बाहर दौड़ने लग जाता है, परन्तु जिसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं, उसमें बाह्य पदार्थों के प्रति आकर्षण, उत्सुकता या आकांक्षा बहुत कम होती है। यही मनोविज्ञान में उल्लिखित बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी वृत्ति का अन्तर है।

जिसकी कामवृत्ति बहिर्मुखी होती है, समझ लो उसमें अविरति प्रबल है, वह सहसा शरीर से काम चेष्टा करने के लिए उद्यत हो जाएगा, किन्तु जिसकी कामवृत्ति अन्तर्मुखी होती है, वह अन्तर् में डुबकी लगाता है, अन्तर्मुखी होकर कामवृत्ति का उदात्तीकरण कर लेगा, उसे वात्सल्यरूप में रूपान्तरित कर लेगा। इस प्रकार कामभोग की प्रवृत्ति या सक्रियता के पीछे भी अविरति आस्रव की प्रेरणा होती है।

अविरति की प्रबलता-मन्दता पर त्रियोग की अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी प्रवृत्ति निर्भर

अविरति प्रबल होती है, तब मानव अपने मन-वचन-काय को बाहर की ओर भटकाता है। वह विषय-वासनाओं में, सुख-साधनों को जुटाने में, तथा अपनी महत्वाकांक्षाओं और इच्छाओं की पूर्ति करने में तीनों योगों से बाहर ही बाहर प्रवृत्ति करता है।

किन्तु जब अविरति मन्द हो जाती है, तब वह अपने अंदर ही अन्दर झांकता है। उसकी आकांक्षाएँ, आशाएँ, अपेक्षाएँ, स्पृहाएँ और आवश्यकताएँ कम हो जाती हैं। वह कम से कम साधनों से सहज भाव से आत्मलक्ष्यी प्रवृत्ति करता है। वह जो भी प्रवृत्ति मन-वचन-काय से करता है, वह आत्मौपम्य भाव से, आत्म-भावों से भावित होकर यत्नाचारपूर्वक करता है।

भगवद्गीता की भाषा में कहें तो–जो मनुष्य आत्मा में रत है, आत्मा में ही तृप्त है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसका कोई भी आत्मबाह्य कार्य नहीं होता। आत्मनिष्ठ व्यक्ति सदैव अन्तर्मुखी, आत्मस्थ अथवा स्थितात्मा होता है।

---

१. मानवतानुं मीठुं जगत्, भा. १ (कविवर्य नानचन्द्रजी महाराज) से संक्षिप्त

अन्तर्मुखी वृत्ति वाला व्यक्ति गीता की भाषा में स्थितप्रज्ञ

ऐसी अन्तर्मुखी वृत्ति वाला निर्द्वन्द्व, शान्त, निश्चल एवं स्थिर हो जाता है। गीता में स्थितप्रज्ञ का लक्षण भी यही है, जब व्यक्ति मनोगत सभी कामनाओं-आकांक्षाओं का त्याग कर देता है और अपने आप सहजभाव से अपनी आत्मा में सन्तुष्ट–आत्मतृप्त होकर बैठ जाता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। दुःख प्राप्त होने पर जो अनुद्विग्न और सुखों के पाने में निःस्पृह रहता है, तथा जिसके राग, भय और क्रोध (द्वेष) नष्ट हो गए हैं, वह स्थिरबुद्धि कहलाता है। जो सर्वत्र आसक्तिरहित है तथा अभीष्ट वस्तु को पाकर हर्षित नहीं होता और न ही अनिष्ट वस्तु पाकर मन में द्वेष करता है, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। जो अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट कर अन्तर्मुखी कर देता है, उसी की बुद्धि स्थिर है।"[1]

आत्म-भावों में स्थित साधक की निश्चलता और निःस्पृहता की झाँकी

आचारांग सूत्र में भी स्थितात्मा (गीता के स्थितप्रज्ञ) की योग्यता का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है–"इस प्रकार वह स्थितात्मा (आत्मभाव में स्थित) संयम पालन में उद्यत, अस्नेह (अनासक्त), अविचल (परीषहों-उपसर्गों आदि से अकम्पित), चल (विहारचर्यादि करने वाला) तथा अपने अध्यवसाय को संयम से बाहर न ले जाने वाला साधक अप्रतिबद्ध होकर विचरण करे।"[2]

इसमें कर्मास्रवों से सावधान साधक की निःस्पृहता एवं निश्चलता की झांकी दी गई है।

इस सम्बन्ध में गजसुकुमालमुनि का जीवन वृत्तान्त द्रष्टव्य है।[3]

स्वयं में अन्तर्लीन होने से ही चंचलता कम होगी

निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति जब स्वयं अपने आत्मभवन में प्रवेश करके अपनी आत्मगुण-समृद्धि को टटोलने लगता है, तब आंकाक्षाएँ-अपेक्षाएँ स्वतः कम होती जाती हैं, और तब योगों की चंचलता-चपलता अपने आप कम होती जाती है।

---

१. (क) कर्मवाद पृ. ४८
   (ख) यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
   आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ –गीता अ. ३ श्लो. १७
   (ग) वही, अ. २, श्लोक ५५ से ५८ तक

२. एवं से उट्ठिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए।"
   –आचारांग श्रु. १ अ. ६ उ. ५

३. देखें–अन्तकृद्दशा सूत्र वर्ग ३, अ. ८

अन्तर् में आंकाक्षाओं की घटा, बाहर से त्याग; से चंचलता कम नहीं होती

आंकाक्षाओं, इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं, लालसाओं, तृष्णाओं की घटा अन्तर्मन में उमड़ रही हो, वह साधक बाहर से चाहे इन्द्रियों को निश्चेष्ट कर ले, वाणी को बन्द करके मौन हो जाए, तब भी चंचलता कम नहीं होगी। बल्कि दशवैकालिक सूत्र के अनुसार "पद-पद पर ऐसा साधक संकल्प-विकल्पों के वशीभूत होकर विषादमग्न होता रहता है।"

ऐसा साधक, जो सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, तथा अन्यान्य विषय-भोगों के साधनों का बाह्य रूप से त्याग भी कर ले, परन्तु अन्तर्मन में उनको पाने और उपभोग करने की लालसा एवं कामना प्रज्वलित होती रहे; किन्तु सामाजिक मर्यादाओं, नैतिक नियमों के भय से, लोकलज्जा से उन्हें पाना और उपभोग करना उसके वश की बात नहीं है, ऐसे साधक को कामनाओं और आंकाक्षाओं का त्यागी नहीं कहा जा सकता।"[1]

ऐसे साधक के योगों की चंचलता बाहर से भले ही कम दिखाई दे, परन्तु अन्दर से अधिकाधिक वृद्धिंगत होती जाती है। उसके पांचों आस्रवद्वार कर्मों के आगमन के लिए खुले होते हैं। इस आन्तरिक चंचलता का कारण भी उसकी अमिट चाह है। ऐसे व्यक्ति सैंकड़ों आशाओं के पाश में बद्ध होकर अपनी चंचलता बढ़ाते रहते हैं और कर्मों के आस्रव को आमंत्रित करते रहते हैं।

आकांक्षा शान्त न होने के पीछे कारण है–मिथ्यात्व आस्रव

प्रश्न होता है, कई लोग शास्त्रज्ञ और कर्मविज्ञान-मर्मज्ञ भी होते हैं, वे जानते हैं कि योगों की चंचलता का स्रोत कामना, वासना, इच्छा या आकांक्षा है; फिर भी वे आकांक्षाओं की, वस्तुओं की प्राप्ति और उपभोग की पिपासा को क्यों नहीं बुझा पाते?

इसका समाधान यह है कि इस पिपासा के शान्त न होने का भी एक कारण है। मनुष्य इस भ्रान्ति में रहता है कि मैंने इतने शास्त्र पढ़ लिये, इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया; मैं कर्मों के आगमन (आस्रव) और संश्लेष (बन्ध) के कारणों को जानता हूँ।

वास्तव में, वह उक्त सिद्धान्तों और तथ्यों को हृदयंगम नहीं कर पाया। कर्मों के आस्रव और बंध का सिद्धान्त और योगों की चंचलता के मूल स्रोत को बंद करने का तथ्य उसके जीवन में क्रियान्वित अथवा मज्जागत नहीं हो पाया है। उसका पाण्डित्य पल्लवग्राही है। नीतिकार[2] भी कहते हैं कि "कई लोग शास्त्र पढ़ कर भी मूढ़ता के

---

१. पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसंगओ॥
वत्थ-गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ॥ –दशवैकालिक अ. २।१-२

२. "शास्त्राण्यधीत्याऽपि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् स एव पण्डितः।" –हितोपदेश

शिकार बने रहते हैं। जो शास्त्रगत सिद्धान्तों को क्रियान्वित करता है, पापकर्मों से डरता है, वही पण्डित है, विद्वान् है।"

वास्तव में, आकांक्षाओं की अतृप्ति का कारण व्यक्ति की 'मिथ्यादृष्टि' है। व्यक्ति की दृष्टि विपरीत हो तो, चाहे कितना ही शास्त्र-ज्ञान करले, जप, तप, क्रियाकाण्ड करले, उसकी पदार्थों की आकांक्षा या पिपासा मिटती नहीं है; क्योंकि जिन अनुष्ठानों और आचरणों से पिपासा शान्त होती है, उनको वह बिलकुल अपनाता नहीं, और जिससे पिपासा भड़कती है, आकांक्षाएँ समुद्र की लहरों की तरह अधिकाधिक बढ़ती हैं, उन्हें वह मूढ़ बनकर अपनाता रहता है।[1]

दृष्टिमूढ़ होने पर मनुष्य जानता हुआ भी सम्यक् नहीं जानता, अथवा विपरीत रूप में जानता है। इसे ही मिथ्यात्व, मिथ्यादर्शन या मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

मिथ्यात्व-आस्रव के कारण समस्त वस्तुओं को विपरीत रूप में जानता-मानता है

यह मिथ्यादृष्टि ही समस्त दोषों की जननी है; अनन्त कर्मबन्धक है तथा अनन्त-संसार-परिभ्रमणकारिणी है। मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति दुःखद विषयों को सुखद और अशाश्वत विषयों को शाश्वत मानता है। जो वस्तु खतरनाक है, भयावह है, उसमें वह विश्वास करता है और भय तथा खतरा मिटाने वाली वस्तु पर अविश्वास करके उससे शीघ्र पलायन करता है।

मिथ्यात्वदशा में मनुष्य नित्य को अनित्य, और अनित्य को नित्य समझता है तथा दुःख के साधनों को सुख के और सुख के साधनों को दुःख के साधन समझता है। मिथ्यात्वकाल में सारी बातें उलटी ही उलटी सूझती हैं, वह उलटा ही सोचता-विचारता है, उसका विश्वास भी यथार्थ के प्रतिकूल होता है।[2]

मिथ्यात्व के मुख्य दस प्रकार

स्थानांग सूत्र में दस प्रकार के मिथ्यात्व बताए हैं–"धर्म को अधर्म समझना और पशु बलि आदि अधर्म को धर्म समझना, उन्मार्ग को सुमार्ग और सुमार्ग को उन्मार्ग मानना, अजीवों को जीव और जीवों को अजीव समझना, असाधुओं को साधु और सुसाधुओं को असाधु मानना, आठ कर्मों से अमुक्त आत्माओं को मुक्त और मुक्त जीवों को अमुक्त मानना।"[3]

---

१. कर्मवाद पृ. ४९

२. जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) पृ. २२७

३. दसविधे मिच्छत्ते पण्णत्ते तं जहा–अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, उम्मग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। –स्थानांग स्था. १० सू. ७४

मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति सभी कार्य उलटे करता है

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति जिस किसी देव को, जिस किसी वेषधारी साधु को तथा जिस किसी भी शास्त्र को भय, लोभ, आशा और आसक्ति के वश सच्चा मानने को तैयार हो जाता है। उसका न तो अपना कोई सिद्धान्त होता है, न ही धर्मनीति के अनुरूप व्यवहार। जरा-से पद, प्रतिष्ठा या धन के प्रलोभन से वह सभी प्रकार के अनर्थ करने को तैयार हो जाता है।

वह जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, श्रुत (शास्त्रज्ञान), ऐश्वर्य (सत्ता या अधिकार), एवं ऋद्धि (वैभव) के मद (अहंकार) से मत्त रहता है। वह प्रबल अहंकार-वश दूसरों को तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार करता है। वह धर्म की क्रियाओं या अहिंसा आदि या दानादि अंगों का आचरण भी करता है तो लौकिक लाभ, यशकीर्ति या प्रशंसा आदि की दृष्टि से करता है। वह देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता एवं लोकमूढ़ता का शिकार बना रहता है। उसके विचार और कार्य शरीराश्रित व्यवहारों में उलझे रहते हैं। उसे न तो स्व-पर का विवेक होता है, न ही पदार्थों या सत्य तत्त्वों पर विश्वास। वह आत्मस्वरूप को भूल कर शरीरादि परपदार्थों में अहंत्व-ममत्व बुद्धि करता है। जो कल्याण का मार्ग है, उसमें उसकी श्रद्धा नहीं होती, वह भ्रान्त बना रहकर अकल्याण मार्ग को भी अपना लेता है। उसमें असत्य का हठाग्रह रहता है, पूर्वाग्रहवश वह अपनी मानी हुई परम्परा या मान्यता को ही सत्य और दूसरों की कल्याणकारी परम्परा या मान्यता को असत्य ठहराता है।[1]

मिथ्यात्व-आस्रव के कारण : मति-भ्रान्ति, आकांक्षा में वृद्धि

मिथ्यात्व अवस्था में क्रोध, मान, माया और लोभ प्रबलतम होते हैं; इन्द्रिय-विषयों में अत्यधिक आसक्ति रहती है। वह पदार्थ-प्राप्ति की पिपासा और पिपासा-शान्ति के आध्यात्मिक मार्ग को भी जानता है, फिर भी मिथ्यात्ववश वह उसी मार्ग को अपनाता है, जिससे पिपासा एवं व्याकुलता अधिकाधिक बढ़ती है। उसकी मिथ्यादृष्टि ही उसकी बुद्धि को विपरीत, तथा मति को भ्रान्त करके उसे सत्य को विपरीत रूप में ग्रहण करने के लिए बाध्य करती है।[2] जब तक यह मिथ्यात्व-आस्रव नहीं छूटता या इसे रोका नहीं जाता, तब तक कर्म का चक्र टूट नहीं सकता।

यही कारण है कि जब तक मिथ्यात्व का अस्तित्व रहता है, तब तक आकांक्षा, अतृप्ति, पदार्थ-प्राप्ति की पिपासा, सांसारिक परपदार्थों की भोग-लालसा धनादि पदार्थों की तीव्र मूर्च्छा बनी रहती है। इसलिए अविरति आस्रव को उत्तेजित करने वाला, उसे हवा देने वाला मिथ्यात्व या मिथ्यादृष्टि आस्रव है।

१. जैन दर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) पृ. २२७।
२. जैन योग पृ. ३२

प्रमाद-आस्रव : स्वरूप और कार्य

जब तक जीव में अविरति और मिथ्यात्व-आस्रव रहते हैं, तब इन दोनों का साथी प्रमाद आस्रव भी इनका सहयोगी बन जाता है। प्रमाद का अर्थ नींद लेना इतना ही नहीं है, परन्तु अहितकर कार्यों के प्रति सावधान न होना, तथा हितकर या कुशल कार्यों का अनादर करना भी है। आत्मस्वरूप की विस्मृति भी प्रमाद का एक अर्थ है।[1]

प्रमादावस्था में जीव अपने आत्मस्वरूप को भूलकर आत्मबाह्य इन्द्रिय-विषयों के प्रति सहसा आकर्षित एवं लुब्ध हो जाता है। उसे यह भान ही नहीं रहता कि सांसारिक सुख-भोग के साधन, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, सत्ता, अधिकार आदि सब नश्वर हैं, ये सदा रहने वाले नहीं हैं, इनसे सुख के बदले दुःख ही अधिक बढ़ता है।

इसके लिए जैन-आगमोक्त नन्दनमणिहार का दृष्टान्त देना उपयुक्त होगा। उसने पौषधोपवास जैसे आध्यात्मिक अनुष्ठान के दौरान अपने व्रत को विस्मृत करके वापिका बनवाने तथा पौषधशाला आदि के निर्माण कराने का विचार करके अपने व्रत और पौषध का भंग कर दिया था।[2]

संघर्ष, स्वार्थ, मोह एवं अहंकार के आवेश में मनुष्य यह भूल जाता है कि इनसे अशुभ कर्म का बंध होता है। धन और सत्ता सुख के साधन नहीं हैं, इस बात को अनुभवपूर्वक जान लेने और मस्तिष्क में अंकित कर लेने के बावजूद भी मनुष्य जब अपने व्यवहार क्षेत्र में उतरता है, तब इस तथ्य को बिलकुल भूल जाता है। उस समय उसे यही धुन सवार होती है कि 'धन और सत्ता को किसी भी उपाय से प्राप्त कर लेना चाहिए।'

ऐसा क्यों होता है? इसका स्पष्ट उत्तर है कि मिथ्यात्व के साथ ही प्रमाद उभर कर आ जाता है। प्रमादावस्था में मनुष्य का करणीय-अकरणीय का, हित-अहित का बोध धुंधला पड़ जाता है; उसकी जागरूकता, सावधानी एवं कर्तव्य-स्मृति लुप्त हो जाती है। उपशान्त क्रोधादि कषाय पुनः उदित हो जाते हैं और कभी-कभी कुशल कर्म (शुभ कार्य) के प्रति अनास्था बढ़ जाती है, हिंसा की भूमिका भी तैयार होने लगती है। प्रमादावस्था में मनुष्य का हिंसा-अहिंसा का विवेक भी लुप्त हो जाता है। मनुष्य का मन मदवर्द्धक पदार्थों, इन्द्रिय-विषयभोगों तथा कषायों के प्रति आकर्षित रहता है।

प्रमाद का एक अर्थ अनुत्साह भी है। प्रमादावस्था में अहिंसा, संयम, तप तथा क्षमा आदि धर्मों एवं व्रतों, नियमों के पालन एवं आचरण में शिथिलता आ जाती है।

---

१. (क) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ. २२८
   (ख) जैन योग पृ. ३२
२. ज्ञाताधर्मसूत्र में नन्दनमणिहार का जीवनवृत्त देखें– अ. १३

प्रमादी व्यक्ति का धर्माचरण में उत्साह मन्द हो जाता है। विषयवासना, भोजन, राजनीति और देशविदेश की भोगविलास की कथाओं– चर्चाओं में ही उसे आनन्द आता है, आध्यात्मिक विकास की चर्चा में उसकी आन्तरिक रुचि नहीं होती। इस प्रकार प्रमाद-आस्रव अविरति और मिथ्यात्व का सहयोगी बनकर योगों की चंचलता को बढ़ा देता है।[1]

चतुर्थ आस्रवद्वार : कषाय और उसका प्रभाव

चौथा आस्रव द्वार है–कषाय। कषाय का उल्लेख हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। आत्मा का स्वरूप स्वभावतः शुद्ध, शान्त और निर्विकारी है। परन्तु क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय उसे कलुषित बना देते हैं। स्वरूप से भ्रष्ट कर देते हैं, चित्त को विकृत कर देते हैं, जब तक कषाय रहता है, तब तक संसार से छुटकारा नहीं होता।

मूल दोष–राग और द्वेष हैं। माया और लोभ की प्रवृत्ति को राग, तथा क्रोध और अभिमान की प्रवृत्ति को द्वेष जागृत करता है। क्रोधादि चारों कषाय आत्मा की विभाव दशाएँ हैं। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद–ये कषाय के उदय (दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयकर्म के उदय) से ही निष्पन्न होते हैं।[2]

इसका मतलब यह हुआ कि योगों की चंचलता को बढ़ावा देने में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद की अपेक्षा कषाय की भूमिका सबसे अधिक है। कषाय योगों की चंचलता को टिकाने और वृद्धिंगत करने में प्रमुख सहायक बनता है।

चंचलता को वृद्धिंगत करने में कषाय सब आस्रवों में प्रबल

चंचलता के द्वारा कर्मपरमाणुओं का आकर्षण होता है, लेकिन कषाय उन कर्मपरमाणुओं को टिकाकर रखते हैं। कषाय को कर्म-परमाणुओं के आगमन के प्रथम क्षण में आस्रव मान गया है, किन्तु है यह प्रमुख रूप से बन्ध का कारण। मन-वचन-काया की चंचलता के द्वारा तो कर्मों का केवल आकर्षण-प्रवेश होता है, किन्तु उन कर्मों को स्थायित्व प्रदान करने वाले–बाँधकर रखने वाले तो कषाय ही हैं। कषाय जितना तीव्रतम होगा, उतने ही दीर्घकाल तक कर्मपरमाणु आत्मा के साथ चिपके रहेंगे।

कर्मविज्ञान इस तथ्य पर बहुत जोर देता है कि योगों की चंचलता से कर्मपरमाणु आकृष्ट होते हैं, और कषाय के द्वारा वे टिके रहते हैं। कर्मों के टिकने की स्थिति

---

१. (क) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) पृ. २२९
   (ख) जैन योग पृ. ३२
२. (क) वही, पृ. ३२
   (ख) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ. २२९

(कालसीमा) तथा फलदान शक्ति, ये दोनों कषाय की तीव्रता-मन्दता पर निर्भर हैं। अतः संसार को घटाना है तो कषायों को मन्दतर करके क्षय करो।[1]

कषाय के विभिन्न रूप एवं स्तर

यही कारण है कि तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) कषाय का जब तक उदय रहता है, तब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता, तीव्रतर (अप्रत्याख्यानी) कषाय के उदयकाल में देशविरति (आंशिक व्रताचरण) भी नहीं होती, तथा तीव्र (प्रत्याख्यानी) कषाय की उदयावस्था में पूर्णविरति (महाव्रती साधुता) प्राप्त नहीं होती, और मन्द (संज्वलन) कषाय के उदयकाल में वीतरागता (मोहक्षीणता) की स्थिति प्राप्त नहीं होती।

पूर्वोक्त चारों कषायों की प्रत्येक की तीव्रता-मन्दता के आधार पर चार-चार कोटियाँ होती हैं, इस दृष्टि से कषाय के मूल चार और अवान्तर भेद सोलह हो जाते हैं।

इन कषायों को उत्तेजित करने वाले नौ नोकषाय हैं। इन्हें नोकषाय इसलिए कहा गया है कि ये पूर्ण कषाय नहीं, नो–ईषद्-अल्प कषाय हैं। इनके नाम हैं–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद।

इस प्रकार चारों कषाय और उनका सारा परिवार योगों की चंचलता को बढ़ाने वाले एवं कर्मों को आकर्षित करने वाले आस्रव भी हैं और कर्मों को टिका कर रखने वाले 'बन्ध' के कारण भी है।[2]

इन चारों भावास्रवों के बिना अकेला योग चंचलता पैदा नहीं कर सकता

वस्तुतः योगों की चंचलता को बढ़ाने, तीव्र करने, उत्तेजित करने और रसयुक्त करके आत्मा के साथ कर्मों को बाँधने वाले ये कषाय आदि चारों भावास्रव-द्वार ही हैं। इनके बिना अकेला योग आस्रव स्वयं न तो अपने में तीव्रता और चंचलता पैदा कर सकता है, न ही कर्मों को बाँध सकता है। अतः कर्मपरमाणुओं को प्रवेश कराने में मुख्य कारण योग है और उन्हें बाँधने में मुख्य कारण मिथ्यात्व आदि चार हैं। पाँचों ही आस्रवद्वारों का अपना-अपना महत्व है।

आत्मा स्वयं कार्मणवर्गणा के पुद्गलों को आकर्षित नहीं कर सकती। आत्मा के पास एक माध्यम है, जिसके द्वारा वह कर्म-पुद्गलों को आकर्षित करती है। वह माध्यम है–भावास्रव। भावास्रव की पाँच शक्तियाँ हैं–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

इन पाँच शक्तियों के माध्यम से आत्मा कर्मपुद्गलों को आकर्षित करती है। ये पाँचों भावास्रव या भावकर्म हैं। भावास्रव की इन पाँच शक्तियों को भावचित्त भी कहा जा

---

१. जैन योग पृ. २३
२. वही पृ. २३

सकता है।[1] मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना चित्त है। इन पाँचों चित्तों (भावास्रव की शक्तियों) का जैसा-जैसा निर्माण होता जाता है, वैसे-वैसे मन्द-तीव्र ये चित्त (भावास्रव) होते रहते हैं। और ये चित्त जिस प्रकार के होते हैं, उन्हीं भावास्रवों (भावचित्तों) के अनुसार द्रव्यचित्तों–पौद्गलिक चित्तों (द्रव्यास्रवों–द्रव्यकर्मों) का निर्माण होता जाता है।

निष्कर्ष यह है कि भावास्रवों (इन पाँच चित्तों) के बिना न तो कर्मों का आकर्षण हो सकता है और न ही उन्हें विशेष रूप दिया जा सकता है। ये दोनों ही कार्य भावास्रव (भावचित्त) के बिना नहीं हो सकते।

योगों की चंचलता को रोकने के लिए पूर्वोक्त चारों आस्रवों से सावधान रहना आवश्यक

फिर भी इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि तब तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय, ये चारों आस्रव अस्तित्व में रहते हैं, तब तक योगों की चंचलताओं को न तो रोका जा सकता है और न ही चंचलता के चक्र को मन्द किया जा सकता है। योगों की चंचलता के साथ इन चारों आस्रवों के रहने पर आत्मभवन में इन पाँचों द्वारों से तेजी से कर्मों का आगमन और प्रवेश चालू हो जाता है।

फिर चंचलता का चक्र इतनी तेजी से चलने लगता है कि व्यक्ति एकाग्र होकर एकान्त शान्त स्थान में ध्यान करने बैठता है, तो कभी विविध इच्छाओं का ज्वार उमड़कर आता है, कभी आत्महित के विरुद्ध सोचने लग जाता है, कभी प्रमाद आकर घेर लेता है, व्यक्ति अपने उद्देश्य और ध्यानविधि को भूलकर उत्पथ में भटक जाता है, तो कभी कषायों की ज्वाला अन्तरात्मा में भड़क उठती है, और साधक को शुभ ध्यान से भटका देती हैं। धर्मध्यान एक ओर धरा रह जाता है, व्यक्ति आर्तरौद्रध्यान के चक्कर में फंसकर संकल्प-विकल्पों के ताने-बाने बुनने लगता है।

इसलिए आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधकों को मन-वचन-काया की चंचलता पैदा करने और बढ़ाने वाले तथा विविध अशुभ कर्मों को खींचकर आत्मभवन में प्रविष्ट कराने वाले इन पाँचों आस्रवद्वारों से सावधान रहना चाहिए।[2]

योगों की चंचलता को कम करने के लिए प्रतिपक्षी को अपनाना आवश्यक

जिज्ञासु और मुमुक्षु साधकों को कर्मविज्ञान के इन गूढ़ रहस्यों को समझना चाहिए और योगों की चंचलता को कम करने के लिए मिथ्यात्व को छोड़ने और सम्यक्त्व को ग्रहण करने, अविरति को छोड़ने और विरति को स्वीकार करने, तथैव प्रमाद को

---

१. चेतना का ऊर्ध्वारोहण पृ. १३८-१३९
२. कर्मवाद पृ. ५०

छोड़ने और अप्रमाद (सतर्कता, सावधानी और जागरूकता) को अपनाने, तथा कषायों को मन्द करने का अभ्यास करना चाहिए। प्रतिदिन अपने मन को स्थिर, शान्त एवं समत्व में स्थित रखने हेतु ध्यान का एवं आत्मा को इन शुभ भावों से स्वयं भावित करने (ओटो-सजेशन देने) का अभ्यास करना आवश्यक है। तभी आप का मन, वचन और शरीर शान्त और स्थिर रह सकेगा।

एक ओर से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, इन चारों आस्रवों को क्षीण करने के लिए व्यक्ति स्वयं कटिबद्ध हो जाए और दूसरी ओर से योगों की चंचलता को कम करने का अभ्यास किया जाए तो आत्मभवन में कर्मों के आने के इन प्रवेश द्वारों को बन्द करना कठिन नहीं होगा। संवर की इस महत्वपूर्ण साधना में भले ही कई वर्ष लग जाएँ, इसमें उत्साहपूर्वक डटे रहें। तभी सिद्धि और सफलता के दर्शन होंगे।

पाँच मुख्य-मुख्य आस्रव-संवर द्वारों के बीस-बीस आस्रव-संवर उपद्वार

पूर्वोक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आस्रवों के पाँच मुख्य द्वार हैं, यानी सदर दरवाजे हैं,[1] जिन्हें खुले रख देने से या असावधानीपूर्वक खुले छोड़ देने से कर्मों का आगमन तेजी से होने लगता है।

कई दफा ऐसा भी होता है कि मुख्य द्वारों को पूरा न खोलना पड़े, इसके लिए दरवाजे में भी आने की दो छोटी-छोटी बारियाँ (द्वारिकाएँ) रख दी जाती हैं, जिनसे आसानी से प्रवेश किया जा सकता है। कर्मों के आगमन या प्रवेश के लिए भी कषाय और प्रमाद से युक्त जीव के आत्म-प्रदेशों में भी ऐसी बीस बारियाँ हैं, जिन्हें आस्रवों के उपद्वार कहा जा सकता है।

कर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने उन्हें बीस आस्रवद्वार के नाम से अभिहित किया है। साथ ही उन्होंने इन द्वारों को बंद करने के बीस कपाट के रूप में बीस संवरद्वार भी बताये हैं। जागरूक और सतर्क साधक संवर के इन द्वारों के कपाटों को प्रायः बंद रखता है, परन्तु फिर भी जब विविध दैनिक प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं, तब उन कपाटों के पल्लों को खोलना पड़ता है, मगर खोलने पर भी वह सावधान रहता है और ज्यों ही कोई प्रवृत्ति करता है तो यत्नाचार पूर्वक करता है, सावधान रहता है कि कहीं से भी कोई आस्रव आकर घुस न जाए।

वैसे तो प्रश्नव्याकरण सूत्र में हिंसा, असत्य, चौर्य (अदत्तादान), अब्रह्मचर्य (मैथुन) और परिग्रह, इन पाँचों को आस्रवद्वार की संज्ञा दी है और अहिंसा, सत्य,

---

१. (क) पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा–मिच्छत्तं, अविरइ, पमाया, कसाया, जोगा य॥
–समवायांग समवाय ५
(ख) पंच संवरदारा पण्णत्ता, तं जहा–सम्मत्तं, विरई, अपमाया, अकसाया, अजोगा य।
–वही, समवाय ५

अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों को संवर द्वार बताया है। यही कारण है कि दशवैकालिक और स्थानांगसूत्र में इसी अपेक्षा से संवर का लक्षण दिया गया है– "प्राणवध (हिंसा) आदि आस्रवों का निरोध संवर है;" तथा "जिस परिणाम से कर्मों के आगमन (आस्रव) के कारण प्राणातिपात आदि आस्रवों का संवरण–निरोध किया जाता है, उसे संवर कहते हैं।" वस्तुतः प्रश्नव्याकरणोक्त ये पाँच आस्रवद्वार और पाँच संवरद्वार निम्नोक्त बीस आस्रवद्वारों और बीस संवरद्वारों (कपाटों) में गतार्थ हो जाते हैं।[1]

आस्रवों के बीस द्वार और संवरों के बीस कपाट

द्रव्यास्रव के नवतत्त्व आदि में बीस आस्रवद्वार बताए हैं, साथ ही द्रव्यसंवर के बीस कपाट भी उन द्वारों को बन्द करने हेतु बताए हैं।

आस्रव के बीस द्वार क्रमशः इस प्रकार हैं–(१) मिथ्यात्व, (२) अव्रत (पंचेन्द्रिय तथा मन को वश में न रखना, षट्कायिक जीवों की हिंसा से निवृत्त न होना), (३) पंचविध प्रमाद, (४) चतुर्विध कषाय और नवविध नोकषाय, (५) योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति), (६) प्राणातिपात, (७) मृषावाद, (८) अदत्तादान, (९) मैथुन, (१०) परिग्रह, (११ से १५) श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय को रागद्वेषादियुक्त निरंकुश प्रवृत्त करना, (१६ से १८) मनोबल, वचनबल और कायबल का दुरुपयोग करना, (१९) वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को असावधानी से उठाना और रखना, और (२०) सूई, तृण आदि पदार्थ भी अयतना से लेना रखना। इन बीस द्वारों से कर्म आते हैं।

इसी प्रकार संवर के २० प्रकार भी इन आस्रवद्वारों को बन्द करने हेतु हैं–(१) सम्यक्त्व, (२) विरति, (३) अप्रमाद, (४) कषायत्याग, (५) योग-स्थिरता, (६) जीवों पर दया करना, (७) सत्य बोलना, (८) अदत्तादान (चोरी) से विरत होना, (९) ब्रह्मचर्य-पालन, (१०) ममत्व-त्याग, (११ से १५) पूर्वोक्त पाँचों इन्द्रियों को वश करना, (१६-१७-१८) मन-वचन-काय पर नियंत्रण करना, अंकुश रखना, (१९) भाण्डोपकरणों को यतनापूर्वक उठाना और रखना और (२०) सूई, तृण आदि छोटी-छोटी वस्तुएँ भी यतनापूर्वक उठाना-रखना। इन बीस कपाटों से आते हुए कर्मों को रोका जाता है। संवर के ये बीस कपाट हैं, जो आस्रवद्वारों को बंद करने के लिये पर्याप्त हैं।[2]

नगर-रक्षा की तरह आत्म-रक्षा के लिए आस्रवद्वारों को भलीभाँति बंद करो

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में आस्रवद्वारों के बंद करने से संवर की उपलब्धि की

---

१. देखें–प्रश्नव्याकरण सूत्र में पाँच आस्रवद्वार और पाँच संवरद्वारों के नाम और विवेचन।

२. जैन तत्त्व कलिका (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ९७-९८

महिमा एक रूपक द्वारा समझाई गयी है–एक नगर है। उसके चारों ओर शत्रुगण घेरा डाले हुए पड़े हैं। परन्तु नगररक्षकों द्वारा नगर के मुख्य द्वार अच्छी तरह बंद कर रखे हैं। ऐसी स्थिति में उस नगर में उन शत्रुओं या अवांछनीय लोगों का प्रवेश दुष्कर हो जाता है। इसी प्रकार जो साधक पाँच समिति, तीन गुप्ति, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता (अपरिग्रह वृत्ति) और ब्रह्मचर्य, इन दशविध धर्मों, तथा बाईस प्रकार के परीषहों पर विजय, एवं सामायिक आदि पंचविध चारित्ररूपी कपाटों से आत्मारूपी नगर के द्वार बंद कर लेता है, उसमें फिर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आस्रवशत्रुओं का तथा अव्रत, कषाय, इन्द्रिय-विषयासक्ति एवं चौबीस साम्परायिक क्रियाओं रूपी अवांछनीय तत्त्वों का प्रवेश दुर्गम्य हो जाता है।[1]

भीतर प्रादुर्भूत होने वाले आस्रवों को बंद करने का उपाय : संवरानुप्रेक्षा

प्रश्न होता है इस प्रकार समिति, गुप्ति आदि संवरों द्वारा आत्मा को संवृत कर लेने पर नवीन कर्मों के आगमन का द्वार तो रुक जाता है; परन्तु पहले से आत्म-प्रदेश में जो उनके साथी कर्म बैठे हुए हैं, उनके निमित्त से अंदर ही अंदर सांसारिक छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवों के साथ रागद्वेष के कारण कर्मों का आगमन या प्रादुर्भाव रूप आस्रव होता जाएगा; उसे रोकने का क्या उपाय है ? क्योंकि संवर का एक लक्षण राजवार्तिक में ऐसा भी किया गया है कि "मिथ्यादर्शनादि, जो कर्मों के आगमन के निमित्तों का अप्रादुर्भाव आस्रवनिरोध है, तथा आस्रव निरोध होने पर कर्मों के ग्रहण का अभाव हो जाना संवर है।"[2]

इस प्रकार के आस्रवों के प्रादुर्भाव या कर्मों के ग्रहण को रोकने के लिए राजवार्तिक, चारित्रसार एवं सर्वार्थसिद्धि में 'संवरानुप्रेक्षा' बताई गई है। एक रूपक द्वारा इस तथ्य को समझाया गया है–जिस प्रकार समुद्र में नौका के भीतर हुए छिद्र को बंद न करने पर क्रमशः उसके द्वारा भीतर आते हुए जल से नाव के डूब जाने पर उसके आश्रित यात्रियों का विनाश अवश्यम्भावी है, इसके विपरीत उस छिद्र के बंद कर देने पर वे यात्री सकुशल अपने अभीष्ट गन्तव्य स्थान में पहुँच जाते हैं; उसी प्रकार कर्मों के आगमन (आस्रव) के द्वारों को जो रोक देता है, शरीररूपी पोत (नाव) में इन्द्रिय-विषयासक्ति आदि द्वारों से छिद्र हों, और उनसे कर्मजलरूपी आस्रव आ रहे हों तो उन्हें तप (बाह्य आभ्यन्तर तपाचरण) से बंद कर देता है, अथवा संवरानुप्रेक्षा से उन्हें संवृत–अवरुद्ध कर देता है ऐसा मोक्षसाधक यात्री उपद्रव से रहित सकुशल अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) में पहुंच जाता है। संवर-गुणों का अनुचिन्तन (अनुप्रेक्षा) करने से उसके कल्याण में कोई बाधा नहीं आती।

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/४, ११/१८

२. 'कर्मागमनिमित्ताऽप्रादुर्भूतिरास्रव-निरोधः, तन्निरोधे सति तत्पूर्व-कर्मादानाभावः संवरः।'
–राजवार्तिक ९/१/१,२/६

दूसरा उपाय 'चारित्रसार' में इस प्रकार बताया गया है–जिस प्रकार मंत्रबल से जांगुलिक (सपेरा) सर्प की दंश-प्रचेष्टा तथा विषवमन को स्तम्भित कर देता है, उसी प्रकार संवरगुणों के पुनः पुनः चिन्तन (अनुप्रेक्षण) से तथा सम्यक्त्व, व्रत, निष्कषायता, अयोगता आदि परिणामों की तीव्र धारा से अन्दर ही अंदर होने वाले आस्रवों का प्रादुर्भाव बंद हो जाएगा।[1]

फिर भी तेरहवें गुणस्थान तक योगों की चंचलता रहेगी। वह भी शुभयोगों में प्रवृत्ति से अशुभ योग के संवर (अशुभयोग रूप आस्रव के निरोध) होते जाएँगे, और शुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति से शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के योगों (प्रवृत्तियों) का निरोधरूप संवर हो जाएगा।

किन्तु योगदर्शन के अनुसार संवर-साधना की दृढ़ भूमिका तभी स्थापित होगी, जब साधक दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक संवरानुप्रेक्षा के साथ-साथ संवर-साधना का अभ्यास करेगा।[2]

आस्रव और बंध में अन्तर तथा दोनों की कार्य-भिन्नता

प्रश्न होता है–गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) तथा समवायांग आदि में मिथ्यात्व आदि पाँचों को आस्रव के तथा तत्त्वार्थसूत्र एवं समयसार आदि में मिथ्यात्व आदि को बन्ध के कारण बताए हैं। दोनों में ये पाँचों कारण समान हैं; फिर आस्रव और बन्ध में क्या अन्तर रहा?

इसका समाधान यह है कि मिथ्यात्व आदि पाँचों के द्वारा पहले केवल कर्मों का आगमन (प्रवेश या आस्रव) होता है, इसके पश्चात् ही दोनों (आत्मा और कर्मों) का एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्धरूप बन्ध होता है। अर्थात्–पंचाध्यायी के अनुसार–आस्रव के अनन्तर जीव कर्म से निबद्ध हो जाता है और कर्म जीव से। दोनों का अन्योन्यानुप्रवेश–परस्पर श्लेष हो जाता है, जिसके कारण कर्म अपना फल भुगताए बिना आत्मा से पृथक् नहीं होते।

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्वादि पाँचों पहले क्षण में आस्रव रूप होते हैं, वे ही उत्तरक्षण में बन्धरूप हो जाते हैं। इन दोनों के कार्यों में अन्तर के कारण दोनों का अन्तर स्पष्ट है।

---

१. तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि ९/७
   (क) तत्त्वार्थ-राजवार्तिक ९/७/७/२
   (ख) चारित्रसार पृ. ८७
   (ग) "सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
   सुहजोगस्स निरोहो सुद्धवजोगेण संभवति।" –कार्तिकेयानुप्रेक्षा ६३
   (घ) आचारसार १०/४०

२. 'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः। –योगदर्शन पाद १, सूत्र १४

इस विषय में अध्यात्मकमल-मार्त्तण्ड में दोनों का अनेकान्तदृष्टि से समन्वय करते हुए कहा गया है–यह सत्य है कि समयसारकथित प्रमाद को छोड़कर मिथ्यात्व आदि चार या गोम्मटसार, स्थानांग आदि में निरूपित मिथ्यात्वादि पाँच कारण आस्रव और बन्ध में समान हैं। क्योंकि जैसे अग्नि में दाहकत्व (जलाने की) और पाचकत्व (पकाने की) दोनों शक्तियों का सद्भाव पाया जाता है, वैसे ही मिथ्यात्व आदि में आस्रवत्व और बन्धत्व, इन दोनों शक्तियों का सद्भाव है।[1] विशेषता इतनी है कि मिथ्यात्व आदि प्रथम समय में आस्रव के कारण होते हैं, और द्वितीय क्षण में बन्ध के।

आशय यह है कि दोनों में पूर्वक्षणवर्तित्व और उत्तरक्षणवर्त्तित्व का अपेक्षा भेद है, किन्तु देशनाओं में भिन्नता नहीं है। अर्थात्–दोनों के ही मिथ्यात्वादि हेतु समान हैं, किन्तु प्रथम क्षण में जो कर्मस्कन्धों का आगमन होता है, वह आस्रव है और कर्मस्कन्धों के आगमन के पश्चात् द्वितीय क्षण में वे कर्मस्कन्ध जीव (आत्म) प्रदेशों में (श्लिष्ट होकर) अवस्थित हो जाते हैं यह बन्ध है। यही आस्रव और बन्ध में अन्तर है।

निष्कर्ष यह है कि आस्रव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है और बन्ध के द्वारा उनका श्लेष होकर फलभोगपर्यन्त आत्म-प्रदेशों में अवस्थान हो जाता है।

---

१. (क) "पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा–मिच्छत्तं अविरइ पमाया कसाया जोगा य।"
–समवायांग, सम. ५

(ख) मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य आसवा होंति।
पण बारस पणुवीसं पण्णारसा होंति तब्भेया॥ –गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ८६

(ग) "मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।" –तत्त्वार्थसूत्र अ. ८ सू. १

(घ) "सामण्ण-पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोधव्वा॥" –समयसार १०९

(ङ) "जीव-कर्मविलक्षो हि, जीवबद्धं हि कर्म तत्॥" –पंचाध्यायी २/१०४

(च) आत्म कर्मयोरन्योन्यानुप्रवेशात्मको बन्धः। –सर्वार्थसिद्धि ८/११

(छ) चत्त्वारः प्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावास्रवो।
भावबन्धश्चैकत्वाद्वस्तुतस्तु वत मतिरिति चेतत्र, शक्तिद्वयात् स्यात्॥
एकस्यापीह वन्हेर्दहन-पचन भावात्म शक्तिद्वयाद् वै।
वह्निः स्याद् दाहकश्च, स्व-गुणगण बलात् पाचकश्चेति सिद्धेः॥
मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवः स्युः।
पश्चात् तत्कर्मवत्वं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथञ्चित्॥
नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नाऽस्रवः स्यात्।
आयत्यां स्यात् स बन्धः स्थितमिति लयपर्यन्तमेषोऽनयोर्भित्॥
–अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, परिच्छेद ४

पुद्गल कर्मों के आगमन का अभिप्राय : ज्ञानावरणादि पर्याय की प्राप्ति

कर्मों के आगमन (आस्रव) के सम्बन्ध में जैन कर्मसिद्धान्तसम्मत एक शंका 'भगवती आराधना' में उठाई गई है कि जैन दर्शन के अनुसार कर्मों का अन्य स्थान से आगमन नहीं होता, किन्तु जिस आकाश प्रदेश में आत्मा है, उसी आकाश-प्रदेश में अनन्त प्रदेशी पुद्गलद्रव्य भी है, वही कर्मपर्याय (कर्मरूप) में परिणत हो जाता है। तब फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि (कर्म) पुद्गल आत्मा में आ जाते हैं?

इसका समाधान देते हुए जैनाचार्य कहते हैं–"यह कोई दोष नहीं है। 'पुद्गल (कर्म) द्रव्य आता है' इसका आशय यहाँ इतना ही है कि 'वह पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणीयादि कर्म-पर्याय को प्राप्त होता है।' इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पुद्गल द्रव्य कहीं देशान्तर से आकर कर्मावस्था को धारण करते हैं।"[1] ■

---

१. "ननु कर्मपुद्गलानां नान्यतः आगमनमस्ति, यत्राऽऽकाशप्रदेशमाश्रित आत्मा, तत्रैवावस्थिताः पुद्गलाः अनन्त-प्रदेशिनः कर्मपर्यायं भजन्ते;.....तत् किमुच्यते आगच्छतीति?"
"नैष दोषः, आगच्छन्ति–द्रौकन्ते ज्ञानावरणादि पर्यायमित्येवं ग्रहीतव्यम्।"
–भगवती आराधना, (विजयोदया वृत्ति) ३८/१३४/११

४

योग-आस्रव : स्वरूप, प्रकार और कार्य

योग-आस्रव : बद्ध अवस्था से जीवन्मुक्त अवस्था तक

संसारी जीवों की बद्ध अवस्था से जीवन्मुक्त (सदेह मुक्त) अवस्था तक योग-आस्रव प्रतिक्षण रहता है। अर्थात्–प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान पर्यन्त योग-आस्रव विद्यमान रहता है।

पूर्व-निबन्धों में हमने सामान्यतया आस्रव के पाँच कारण बताए थे–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। योग इनमें अन्तिम होते हुए भी आस्रव के कारणों में योग को प्रथम स्थान दिया गया है।

भगवतीसूत्र में बताया गया है कि संसारी जीव प्रतिसमय आठ कर्मों में से आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों का बन्ध नियमतः करता है। जब बन्ध प्रतिसमय करता है, तब बन्ध का कारण आस्रव होने से कषाययुक्त जीव के प्रतिक्षण सात कर्मों का आस्रव भी होता है।[1]

आस्रव में योग की और बन्ध में कषाय की प्रधानता

अनगार धर्मामृत में आस्रव और बन्ध के पौर्वापर्य का चिन्तन प्रस्तुत करते हुए लिखा है–"प्रथम क्षण में कर्मस्कन्धों का आगमन–आस्रव होता है, आगमन के पश्चात् द्वितीय आदि क्षणों में उन कर्मवर्गणाओं की आत्म-प्रदेशों में अवस्थिति होती है, उसे बन्ध कहते हैं।"

कुछ और बातों का भी अन्तर इन दोनों में है–आस्रव में योग की मुख्यता है, और बन्ध में कषाय आदि की प्रधानता है। जैसे–राजसभा में अनुग्रह करने योग्य और निग्रह करने योग्य पुरुषों के प्रवेश कराने में राजकर्मचारी मुख्य होता है, किन्तु प्रवेश होने के पश्चात् उन व्यक्तियों को सत्कृत करने या दण्डित करने में राजाज्ञा मुख्य होती है।

इसी प्रकार 'योग' की मुख्यता से कर्मों के आगमन (आस्रव) का द्वार खोल दिया जाता है, किन्तु उन समागत कर्मों का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध (श्लेष)

---

१. भगवतीसूत्र

होता है, साथ ही वह कर्म जिस प्रकृति का हो, उसका वर्गीकरण, व्यवस्था उसके तीव्र मन्दादि रस के अनुरूप अनुभाव व्यवस्था तथा उसकी स्थिति व्यवस्था और प्रदेश व्यवस्था यानी चारों प्रकार के बन्ध के द्वारा उस कर्मानुसार दण्ड व्यवस्था बन्ध के द्वारा होती है। कर्म को प्रवेश कराता है, आस्रव; किन्तु उसका नियमानुसार फैसला करता है बन्ध।[1]

योग-आस्रव और बन्ध का अन्तर

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में भी योग-आस्रव और बन्ध का अन्तर बताते हुए कहा है–"जिस प्रकार भोज्य वस्तु प्रत्येक जीव के आमाशय में पहुँचकर भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होती है, उसी प्रकार योग की प्रधानता से आस्रव द्वारा आकर्षित या प्रविष्ट किये गए कर्मों का आत्मा के साथ संश्लेष होने पर अनन्त प्रकार से परिणमन होता है। बन्ध (बद्ध कर्म) ही जगत में प्राणियों की अनन्त विचित्रताओं, विभिन्नताओं के रूप में वर्गीकरण करता है। योग-आस्रव और बन्ध के कार्य में यही अन्तर है।

समयसार में भी इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है। जैसे–पुरुष के द्वारा खाया हुआ भोजन जठराग्नि के निमित्त से माँस, चर्बी, रुधिर आदि पर्यायों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार सचेतन जीव के द्वारा योगों से आकर्षित द्रव्यास्रव अनेक भेद युक्त कर्मों के बाँधने का कारण बनता है।[2]

योग को ही आस्रव क्यों कहा गया, शेष आस्रवों को क्यों नहीं?

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में एक महत्वपूर्ण शंका उठाई गई है कि तत्त्वार्थ सूत्र में काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहकर उसी को आस्रव बताया गया है, जबकि अन्य ग्रन्थों और आगमों में मिथ्यात्व आदि चार हेतुओं को भी आस्रव कहा गया है। प्रश्न होता है–योग को ही आस्रव क्यों, मिथ्यात्वादि को आस्रव क्यों नहीं कहा गया?

इसका समाधान श्लोकवार्तिक में इस प्रकार है–मिथ्यादर्शन जो ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन का कारण है, वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है, सासादन सम्यग्दृष्टि आदि

---

१. "प्रथम क्षणे कर्मस्कन्धानामागमनमास्रवः, आगमनानन्तरं द्वितीयक्षणादौ जीव प्रदेशेष्वस्थानं बन्ध इत भेदः। आस्रवे योगो मुख्यो, बंधे च कषायादिः। यथा राजसभायामनुग्राह्य-निग्राह्ययोः प्रवेशने राजादिष्ट पुरुषो मुख्यः, तयोरनुग्रह-निग्रहकरणे राजादेशः।" –अनगार धर्मामृत पृ. ११२

२. (क) जह पुरिसेण गहिओ आहारो, परिणमइ सो अणेगविहं।
मंस-वसा-रुधिरादि-भावे उदरग्गि-संजुत्तो।
तह णाणिरस दु पुव्वं बद्धा पच्चया बहुविगप्पा।
बज्झंते कम्मं ते सयपरिहीणा उ ते जीवा॥ –समयसार १७९-१८०

(ख) सर्वार्थसिद्धि ८/२

(ग) राजवार्तिक ९/७

(घ) महाबंधो भा. १ प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) पृ. ६७

के नहीं। अविरति पूर्णतया असंयत के तथा देशतः (आंशिकरूप से) देशविरति के ही पाई जाती है, संयत में नहीं। प्रमाद प्रमत्त संयत-पर्यन्त पाया जाता है, अप्रमत्त आदि गुणस्थानवर्ती जीवों में नहीं। कषाय भी सकषायी जीवपर्यन्त (१०वें गुणस्थान तक) ही पाया जाता है, उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीवों में नहीं। जबकि योगरूप आस्रव तो सयोगी केवली (१३वें गुणस्थान) पर्यन्त पाया जाता है।

अतः योग-आस्रव का दायरा बहुत व्यापक है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय का दायरा सीमित है, भले ही इनका दायरा उत्तरोत्तर व्यापक है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आस्रव के निमित्त से क्रमशः बढ़ते-बढ़ते दसवें गुणस्थान तक कर्मपरमाणुओं का आगमन होता रहता है, किन्तु योग आस्रव से तो प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक कर्मपरमाणुओं का आगमन होता है। इसलिए योग की प्रधानता और व्यापकता के कारण योग को ही आस्रव कहा गया है।[1]

योग ही आस्रव कहा जाता है, क्यों और कैसे?

जैसे जलाशय में जल को प्रवेश कराने वाले नाले आदि का मुख आस्रव अर्थात् प्रवाह का निमित्त होने से 'आस्रव' कहलाता है, वैसे ही आत्मा (आत्मप्रदेशों) में कर्मजल को प्रवेश वाला योग कर्मों के प्रवाह (आस्रव) का निमित्त होने से योग को ही आस्रव कहा जाता है। योग के द्वारा ही आत्मा में कर्मवर्गणा का आस्रवण (कर्मरूप से संयोग) होता है।

मिथ्यात्व आदि चारों आस्रवों का योग में अन्तर्भाव

एक कुँए में विद्युत्संचालित मोटर लगी हुई है। उसके साथ तीन पाइप फिट किये गए हैं। पाइपों के साथ भी अलग-अलग कार्य के लिए तीन मशीनें लगी हुई हैं। एक मशीन से पानी गर्म होकर नल के माध्यम से आता है; एक से पानी ठंडा होकर नल के द्वारा आता है तथा एक मशीन से पानी फिल्टर होकर नल के द्वारा आता है। तीनों मशीनों के कारण पानी चाहे अलग-अलग किस्म का आता हो, परन्तु सारा पानी आता है, कुँए से ही; और सब किस्म का पानी पाइपों एवं नलों के माध्यम से ही खिंचकर बाहर आता है।

इसी प्रकार आकाश प्रदेश में पुद्गल परमाणु रहे हुए हैं। मन-वचन-कायारूपी तीन पाइप (परनाले) ही कर्मजल को खींचते हैं। उनमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायरूपी चार चित्तयंत्र लगे हुए हैं। उनमें से कोई चित्तयंत्र कर्मरूपी जल को उत्तेजित (गर्म) करता है, तो कोई कर्मजल को पुण्यरूप में परिणत करने हेतु शीतल मन्द करता है, तो कोई विवेक के छन्ने से छानकर कर्म को शुद्ध (अबन्धक) कर देता है। निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्व आदि चारों आस्रवों का संक्षेप में 'योग' में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

---

१. "शंका–योग एव आस्रवः सूत्रितो, न तु मिथ्यादर्शनादयोऽपीत्याह ····· ।"
–तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ६/२, पृ. ४४३

योग को ही आस्रव कहने का प्रमुख कारण

योग ही मिथ्यात्वयुक्त, प्रमादयुक्त, अविरतियुक्त और कषाययुक्त होकर कर्म पुद्गलों को आकर्षित करके लाता है, और आत्मा से जोड़ता है। कर्मपुद्गल के आकर्षण में चाहे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय–ये चारों (आस्रव) विशिष्ट विभावों के रंग में जीव को रंजित कर देते हों, परन्तु जीव में कर्मरूपी जल का आकर्षण–आगमन होता है, मन-वचन-काय-योग के माध्यम से ही।

कषायादि चारों आस्रव भावास्रव हैं, वे कर्मों को ग्रहण या आकर्षण करने में सीधे कारण नहीं हैं। ये चारों भाव-आस्रव, जब योगों के साथ मिलते हैं, तभी कर्मों का ग्रहण–आकर्षण होता है। अतः योग के सिवाय कषायादि चारों भावास्रव तो योगों की चंचलता को बढ़ाने, उत्तेजित करने, टिकाने या तीव्र मन्द करने में सहायक होते हैं। एकमात्र योग को ही आस्रव कहने का यही आशय है।[1]

योग को ही प्रमुख आस्रव द्वार कहने का कारण

यों तो संसारी जीव के साथ पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक योग प्रतिक्षण रहता है। अयोगी केवली अवस्था में भी कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के पूर्वक्षण तक योग रहता है। उनके भी बादर काययोग से बादर मनोयोग फिर बादर वचनयोग का, फिर बादर उच्छ्वास-निःश्वास तथा बादर काययोग का; तत्पश्चात् सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचनयोग का, फिर सूक्ष्म काय योग का तथा सूक्ष्म उच्छ्वास-निःश्वास का क्रमशः निरोध होता है। और अन्तिम समय में 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच लघु स्वरों के उच्चारण काल में सर्वयोगों का निरोध हो जाता है। मन-वचन-काय की चंचलता (क्रिया या योग) का सर्वथा निरोध हो जाने पर पूर्णमुक्त परमात्मा की आत्मा पूर्णतः शुद्ध, सर्वकर्ममुक्त, निर्मल, अशरीरी और निष्प्रकम्प बन जाती है। इस प्रकार की पूर्णमुक्त अवस्था में आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था प्रगट हो जाती है।

फिर न तो उनमें कर्मजन्य मलिनता रहती है और न ही योगों की चंचलता। इसलिए बद्ध अवस्था से पूर्णमुक्त अवस्था से पूर्व तक, यानी प्रथम और अन्तिम समय तक संसारी आत्मा के साथ योग-आस्रव ही रहता है, शेष चार आस्रव नहीं। इसी कारण योग को प्रमुख 'आस्रवद्वार' कहा गया है।[2]

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन–पं. सुखलाल जी) पृ. १४८
(ख) काय-वाङ्-मनःकर्म योगः। स आस्रवः।" –तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सू. १-२
(ग) महाबंधो भा. १, प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर), पृ. ६७

२. धवला ६/१, ९–२/१६

आत्मा की स्वीकार की स्थिति में बाह्य भावों से जोड़ने वाला योग

ज्ञान आत्मा का अविनाभावी निजीगुण है, स्व-भाव है। आत्मा जब तक स्वभाव की स्थिति में रहता है, तब तक विभाव या परभाव का कोई प्रवेश, संक्रमण या प्रभाव उस पर नहीं होता।

आत्मा की मुख्यतया दो प्रकार की स्थितियाँ होती हैं या तो वह स्व-भाव में स्थित रहता है या विभाव में–विजातीय तत्त्व में स्थित होता है। जब वह स्व-भाव में, अपने ज्ञान-दर्शन-गुण में ज्ञाता-द्रष्टारूप में स्थिति करता है, तब वह आत्मा बाह्य भावों-विभावों को अस्वीकार कर देता है। इसके विपरीत जब वह स्व-भाव को–स्वकीय ज्ञान-दर्शन गुण को भूलकर विभाव में–विजातीय तत्त्व में स्थित होता है, तब प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ का यानी राग-द्वेष का संवेदन करने लगता है। यह आत्मा की आत्म बाह्य भावों के स्वीकार की स्थिति है।

आत्म-बाह्य भावों–विभावों के संवेदन की स्थिति में आत्मा बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क जोड़ता है। बाह्य भावों के प्रति प्रियता की संवेदनधारा में जब बहने लगता है; तब वह बाहर से कुछ लेकर अपने साथ जोड़ता है। इस जोड़ने का माध्यम बनता है–योग। आत्मबाह्य पदार्थों से इस प्रकार जोड़ने की भावधारा को पारिभाषिक शब्दों में योग आस्रव कहते हैं। कर्मपुद्गल-परमाणुओं को बाहर से आकर्षित करके आत्मा के साथ जोड़ने वाला योग-आस्रव है।[1]

योग की विशिष्ट प्रक्रियात्मक परिभाषाएँ और लक्षण

अनादिकालिक कर्ममलयुक्त जीव जब रागादि कषायों से संतप्त होकर कोई मानसिक, वाचिक या कायिक क्रिया करता है, तब कार्मण वर्गणा के पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित होता है, अथवा जिस प्रकार आग में तपा हुआ लोहे का गोला पानी में डालने पर चारों ओर से पानी को खींचता है। उपर्युक्त क्रियाओं के करने से आत्म-प्रदेशों में उसी प्रकार कम्पन, हलचल, स्पन्दन या विक्षोभ या चांचल्य पैदा होता है, जिस प्रकार समुद्र में तूफान आने पर उसके पानी में विक्षोभ एवं चांचल्य से युक्त तरंगें उत्पन्न होती हैं।

जैनदर्शन की भाषा में इस प्रकार आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होने का नाम 'योग' है। 'योग' के कारण ही कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गल-परमाणुओं के आत्मा की ओर आगमन को (योग) आस्रव कहा गया है। विभिन्न पहलुओं से 'योग' के लक्षण और अर्थ का निरूपण हम **'कर्म आने के पाँच आस्रवद्वार'** नामक निबन्ध में कर आए हैं।

---

१. घट-घट दीप जले पृ. २२ (भावांश)

योग के दो रूप : भावयोग और द्रव्ययोग

पंचसंग्रह में योग का विशेष लक्षण दिया गया है–"मन-वचन-काय से युक्त जीव का जो वीर्य-परिणाम अथवा प्रदेश-परिस्पन्दरूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते हैं।"

इसी आशय का लक्षण 'राजवार्तिक' में दिया गया है–"वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्यलब्धि योग का प्रयोजक होता है, उस सामर्थ्य वाले आत्मा का मन-वचन-काय वर्गणावलम्बित, आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप उपयोग योग है।"

गोम्मटसार (जीव काण्ड) में योग के दो रूप बताकर इनका पृथक-पृथक लक्षण दिया गया है–जो काय-वचन-मनोवर्गणा का अवलम्बन रखता है, ऐसे संसारी जीव की समस्त प्रदेशों में रहने वाली कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत जो शक्ति है, उसे भावयोग कहते हैं, और इसी प्रकार के जीव के प्रदेशों का जो चलनरूप परिस्पन्द है, उसे 'द्रव्ययोग' कहते हैं।

भावयोग का एक अन्य लक्षण भी है–"क्रिया की उत्पत्ति में जीव का उपयोग भावयोग है।"[1]

योग का वैज्ञानिक विश्लेषण

योग-आस्रव का विश्लेषण वैज्ञानिक दृष्टि से करें तो योग की विशिष्ट क्रिया-प्रक्रिया आसानी से समझ में आ जाएगी।

योगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा गया है, वह योग यहाँ योग-आस्रव के रूप में विवक्षित नहीं है। वह योग जैनदर्शन में मनःसमाधि या समत्व अथवा मनःसंवर या शुभध्यान कहलाता है।

---

१. (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६/२/५१
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ६/१,२
(ग) पंचाध्यायी २/४५/१०९-१००
(घ) सर्वार्थसिद्धि २/२६, ६/१
(ङ) मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स वीरिय-परिणामो।
जीवस्स (जीह) विप्पणिजोगो जोगोत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठो॥
–गोम्मटसार (जीवकाण्ड) २१६/४७२
(च) "वीर्यान्तराय-क्षयोपशम-लब्ध-वृत्ति-वीर्यलब्धियोगः।
तद्वत आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पदः उपयोगो योगः।"
–राजवार्तिक ९/७/११/६०३
(छ) "कायवाङ्मनोवर्गणावलम्बिनः संसारि जीवस्य लोकमात्र-प्रदेशगता कर्मादान-कारणं या शक्तिः सा भावयोगः। तद्विशिष्टात्मप्रदेशेषु यः किञ्चिच्चलनरूप-परिस्पन्दः स द्रव्ययोगः।"
–गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्त्व प्रबोधिनी २१६/४७३
(ज) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा. ३, पृ. ३९२

जैनकर्मविज्ञान के अनुसार योग आम्रव की परिभाषा पिछले पृष्ठों में अंकित कर दी है। फिर भी वैज्ञानिक दृष्टि से योग-आम्रव का स्पष्टार्थ इस प्रकार है—जीव द्वारा मन, वचन और काय से की जाने वाली प्रवृत्ति या क्रिया से उत्पन्न आन्तरिक कम्पन-प्रकम्पन ही वस्तुतः योग है।

संसारी जीव जब भी कोई क्रिया करता है, तब इन्द्रियाँ, मन, वचन या शरीर क्रियाशील हो जाता है। उसका मन या मनोभाव एक विषय से हटकर दूसरे विषय में प्रयुक्त होता है अथवा एक विचार को छोड़कर दूसरे विचार में प्रवेश करता है; तभी शरीर के आन्तरिक अणु परमाणु कम्पन-प्रकम्पन से युक्त हो जाते हैं।

ये कम्पन-प्रकम्पन जीव के भावों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार तीव्र-मन्द हो सकते हैं। उन कर्मपुद्गलों का आगमन—आम्रव तभी होता है, जब योग के साथ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायरूप विभावों का रंग मिल जाता है। इन्हीं योग से संयुक्त इन विभावों के कारण व्यक्ति के मनोभावों या क्रियाओं में विकार उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से विशेष शक्तिशाली कम्पन-प्रकम्पन उत्पन्न होते हैं।

पूर्वोक्त मनोविकारों के साथ होने वाले मन-वचन-काय योग अथवा कम्पन ही कर्मों के आकर्षण या आगमन (आम्रव) के कारण होते हैं। ऐसे योग ही हमारे कर्मों के कर्ता, धर्ता या विधाता हैं।[1]

कर्मजनित चैतन्य परिस्पन्दन (कम्पन) ही योग आम्रव का हेतु

यों तो विश्व की प्रत्येक छोटी-बड़ी वस्तु, हर एक कण या अणु-परमाणु, ग्रह-उपग्रह तथा उन पर स्थित सब कुछ गतिशील एवं कम्पन-प्रकम्पन से युक्त हैं। इसके अतिरिक्त प्रकाश किरणें, बादलों का गर्जन, विद्युत की चमक-दमक एवं कड़कन तथा अन्य तीव्र ध्वनियाँ एवं हवाएँ आदि भी कम्पन या परिस्पन्दन उत्पन्न करती रहती हैं। किन्तु सभी प्रकार के कम्पन या परिस्पन्दन को कर्मास्रव का कारण माना जाएगा, तब तो मेघ आदि प्रकम्पनयुक्त प्राकृतिक वस्तुओं को भी कर्मों का आम्रव मानना पड़ेगा।

किन्तु जैनदर्शन में सभी परिस्पन्दन या कम्पन कर्मास्रव के कारण नहीं माने जाते हैं। यहाँ कर्मजनित चैतन्य परिस्पन्दन या कम्पन ही कर्मास्रव का कारण माना जाता है। मेघादि प्रकृतिगत वस्तुओं का परिस्पन्द कर्मजनित चैतन्य परिस्पन्द नहीं है, इसलिए उनका परिस्पन्द या कम्पन आम्रव का हेतु नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जीवों के शरीर में श्वास लेने-छोड़ने तथा भोजन का पाचन, रक्त संचालन आदि जो स्वाभाविक क्रियाएँ होती हैं, उनसे भी कम्पन-प्रकम्पन परिस्पन्दन होता है, किन्तु उन स्वाभाविक क्रियाओं की उत्पत्ति में जीव का उपयोग नहीं होता,

१. जीवनरहस्य और कर्मरहस्य (आचार्य अनन्तप्रसाद जैन 'लोकपाल') पृ. १०८-११०

इसलिए उन्हें भी योग आस्रव नहीं कहा जा सकता। अतः योग का परिष्कृत स्वरूप बताते हुए कहा गया–"क्रिया (परिस्पन्दन या कम्पन) की उत्पत्ति में जीव का जो उपयोग होता है, वही वास्तव में योग है।"[1]

कुछ स्वाभाविक कम्पन-प्रकम्पनों के अतिरिक्त जब भी व्यक्ति चलता-फिरता है, खाता-पीता, सोता-बैठता है; अथवा इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, अथवा मन विविध प्रकार के विचारों के ताने-बाने बुनता है, वचन द्वारा बोलने की विविध क्रियाएँ की जाती हैं, अथवा व्यक्ति जो कुछ भी देखता-सुनता है, सूँघता, स्पर्श करता या चखता है, उस से मन में अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ विविध विचार आते-जाते रहते हैं, इनसे भी कम्पन (योग) होते रहते हैं। ये कम्पन आत्मा के उपयोग से सम्बद्ध होने के कारण कर्मपुद्गलों के आस्रव के कारण होते हैं।

कम्पनजनित कर्मों का उद्गमस्थान : कार्मण-वर्गणा

अब यह देखना है कि जीव के मन, वचन और शरीर से कम्पनजनित कर्मों का उद्गम स्थान या स्रोत क्या है? ये कर्म कैसे प्रेरित होते हैं?

वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो हमारा समग्र शरीर रासायनिक द्रव्यों (chemicals) से बना है। अनन्त-अनन्त अणु-परमाणुओं के संयोग एवं स्कन्ध (संगठन) से इस शरीर का निर्माण हुआ है। शरीर को बनाने वाले ये सभी रासायनिक द्रव्य जैन परिभाषा में पुद्गल (अजीव द्रव्य या निर्जीव मेटर) कहलाते हैं। हमारे खान-पान, श्वासोच्छ्वास, मल-मूत्र, प्रस्वेद (पसीना) आदि से अनन्तानन्त पुद्गल हमारे शरीर में प्रवेश करते और निकलते रहते हैं। हर समय इनकी क्रिया-प्रक्रिया से सतत परिवर्तन (परिणमन) होता रहता है। कम्पन-प्रकम्पन (योग) इन क्रियाओं में तीव्रता लाकर इन परिवर्तनों में सुदृढ़ता, निश्चितता और स्थायित्व प्रदान करते हैं। वस्तुतः ये योगों के कम्पन-प्रकम्पन रासायनिक क्रियाओं के उत्तेजक या उद्दीपक का काम करते हैं।

कार्मणवर्गणा ही कर्मशरीर की निर्मात्री

वैज्ञानिक मानते हैं कि पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई का छोटा-से-छोटा कण अणु होता है, जिसमें पदार्थ के सभी गुण विद्यमान रहते हैं। ये अणु दो या दो से अधिक मूल धातुओं (Elements) के परमाणुओं (Atoms) के संघबद्ध (स्कन्ध) होने से बने हुए होते हैं। ये यौगिक (Compound) के रूप में होते हैं।

इन्हीं अणुओं को जैनकर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने विभिन्न गुण, स्वभाव, प्रभाव, प्रकृति के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित होने से 'वर्गणा' कहा। कर्मों को प्रेरित करने वाली

१. (क) वही, पृ. ११०
(ख) धवला १/१/१,६/३१६
(ग) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भा. ३, पृ. ३९२

वर्गणा को कार्मणवर्गणा कहा गया। इन कार्मण-वर्गणाओं के सुसंगठित समष्टिरूप को ही कार्मणशरीर (कर्मशरीर) नाम दिया गया है।

हमारा स्थूल शरीर तो प्रत्यक्ष दृश्यमान है, किन्तु कार्मण शरीर अदृश्य है। वह हाड़-मांस के इस स्थूल शरीर में पूर्णतः एकमेक होकर पूरे शरीर के आकार का है। यही कर्मपुद्गलरचित शरीर कर्म का प्रेरक है।

जीवधारी के शरीर में आत्मा की विद्यमानता के कारण ही चेतना है। आत्मा न रहे तो शरीर निर्जीव (मुर्दा) हो जाता है। जब तक शरीर में आत्मा रहती है, तब तक यह हलन-चलन, कम्पन-प्रकम्पन, विचार और अनुभव करता रहता है। जीव ज्ञानानन्दमय सचेतन आत्मा की विद्यमानता में ही कर्म करते हैं। जब तक आत्मा शरीर में वर्तमान है, तभी तक आम्रव, बन्ध आदि होते हैं। सचेतन आत्मा न हो तो शरीर कुछ भी सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं कर पाता। और न ही अपनी आत्मा से कुछ प्रेरणाएँ प्राप्त कर पाता है।[1]

कार्मण शरीर ही व्यक्ति के मन, बुद्धि, मस्तिष्क को प्रेरित करता है

अतः ये कार्मण-वर्गणाएँ चैतन्ययुक्त शरीर में ही कार्मण शरीर के रूप में विद्यमान रहती हैं। ये सूक्ष्म बीजरूप में स्थित अदृश्य कार्मण-वर्गणाएँ ही कार्मण शरीर का निर्माण करती हैं। ये कार्मण-वर्गणाएँ भी पृथक-पृथक विभिन्न रासायनिक संगठनों की प्रतिनिधिस्वरूप विभिन्न गुण-प्रभाव से युक्त रहती हैं और इन्हीं बीजरूप कार्मण-वर्गणाओं द्वारा निर्मित कार्मण शरीर से जीव के मन-वचन-काय (इन्द्रियों) द्वारा होने वाले सभी कार्य या क्रियाएँ परिचालित या प्रेरित होती हैं।

व्यक्ति जो भी सोचता-विचारता, बोलता या करता है, वह भी कार्मणशरीर के किसी न किसी आन्तरिक रासायनिक संगठन द्वारा ही प्रेरित या उत्पन्न होते हैं। कार्मण शरीर के अणु या कार्मण शरीर ही व्यक्ति के मन, बुद्धि या मस्तिष्क को परिचालित या नियंत्रित करता है। वही जीव के सभी क्रिया-कलापों को प्रेरित या संचालित करने में मूल स्रोत या आधार है।

कार्मणशरीर को बनाने वाली इन कार्मण-वर्गणाओं में परिवर्तन भी सतत होता रहता है। देहधारी की प्रत्येक क्रिया से कम्पन-प्रकम्पन होता रहता है। इनके परिणाम-स्वरूप अबाध्यरूप से प्रतिपल प्रतिक्षण पुद्गल-परमाणुओं और वर्गणाओं का अजस्र प्रवाह पारस्परिक क्रिया-प्रक्रिया द्वारा प्रभावित एवं परिवर्तित होता रहता है।

आम्रव और योग की क्रिया-प्रक्रिया

शरीर में विद्यमान सभी वर्गणाएँ सतत परिवर्तनशील हैं। कुछ पुरानी वर्गणाएँ

---

१. जीवनरहस्य और कर्मरहस्य (आचार्य अनन्तप्रसाद जैन 'लोकपाल') पृ. १११-११२

(अणु या मौलीक्यूल) टूटती रहती हैं और नई का निर्माण तथा पुरानी में कुछ परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से कार्मण शरीर को बनाने वाली बीजरूप या प्रतिरूप वर्गणाओं में भी सतत परिवर्तन तथा रसायनों का सम्मिश्रण भी होता रहता है। इनका भी गुण प्रभाव इनको बनाने वाले अणुओं के गुण-प्रभाव से भिन्न होता है। ये भी देहधारी के कार्यों पर प्रभाव डालते हैं।

कोई भी देहधारी या मानव एक भरे-पूरे संसार में स्थित होने से हर ओर से अनन्तानन्त जीवों और पुद्गलों निर्मित वस्तुओं से घिरा रहता है। कम्पन-प्रकम्पनादि के द्वारा पुद्गल-परमाणुओं और वर्गणाओं का अजस्र प्रवाह पारस्परिक क्रिया-प्रक्रिया के कारण अदल-बदल होता रहता है। शरीर के भीतर की वर्गणाओं से भी पारस्परिक क्रिया-प्रक्रिया एवं कम्पन-प्रकम्पन द्वारा पुद्गल परमाणु एक-दूसरे से निकलते और प्रवेश करते रहते हैं। यह प्रवाह सदा चलता रहता है। व्यक्ति के कार्यों द्वारा कम्पित होकर छूटने या बाहर से आने वाले पुद्गल परमाणु भी शरीर की पौद्गलिक या रासायनिक संरचना में प्रविष्ट एवं प्रवाहित होते रहते हैं। योग द्वारा कम्पन-प्रकम्पन ही से पुद्गल परमाणुओं का यह प्रवाह काफी व्यापक एवं वृद्धिंगत होता है। ऐसे प्रवाह को जो जीव की कार्मण-वर्गणाओं में परिवर्तन लाता है, उसका मुख्य हेतु योग-आम्रव है। किन्तु आन्तरिक संरचना से प्रवाहित जो पुद्गल परमाणु देहधारी की कार्मण-वर्गणाओं या कार्मणशरीर में परिवर्तन नहीं लाते, अथवा जो देहधारी के विचारों और कार्यों को प्रभावित नहीं करते, उनकी गणना आम्रव में नहीं की जाती। अतः आम्रव का मुख्य कारण योग को बतलाया गया है।[1]

आत्मा की क्रिया का कर्मपरमाणुओं से संयोग ही योग है

योग का अर्थ अगर यह किया जाए कि जो संयोग को प्राप्त हो, उसे योग कहते हैं, तब तो वस्त्रादि का भी शरीर से संयोग होता है, वे भी योग कहलाने लगेंगे, परन्तु वस्त्रादि आत्मा के धर्म (स्वभाव) नहीं हैं। इसलिए वस्त्रादि को योग नहीं कहा जा सकता। परन्तु जैन परम्परा में मन, वचन, काया से होने वाली आत्मा की क्रिया कर्मपरमाणुओं से आत्मा का योग अर्थात् संयोग कराती है, इसलिए उसे योग कहा जाता है।[2]

गति को भी योग नहीं कहा जा सकता

इसी प्रकार गति को भी योग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि योग-आम्रव में कम्पन, हलचल या परिस्पन्द क्रिया होती है। जैन परम्परा में गति, जीव से सम्बद्ध

---

१. वही, पृ. ११५-११६

२. "युज्यत इति योगः? न युज्यमान पटादिना व्यभिचारस्तस्यानात्मधर्मत्वात्।
न कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात्॥" –धवला १/१, १, ४/१३९

अवश्य है, किन्तु चार गतियों में से एक गति से दूसरी गति में जाने में जीव प्रदेशों का परिस्पन्दन–संकोच-विकोच नहीं होता, परममुक्त सिद्धपरमात्मा जब जन्म-मरण-देह, इन्द्रिय आदि से रहित व कर्ममुक्त होकर जब मध्य लोक से लोक के अग्रभाग में जाते हैं, तब उनके आत्मप्रदेशों में योगाभाव के कारण संकोच विकोच रूप परिस्पन्द नहीं होता। इस कारण योग गति नहीं है, अपितु परिस्पन्दन क्रिया है। परिस्पन्द से रहित पूर्णमुक्त परमात्मा के आत्मप्रदेशों में योग की सम्भावना नहीं है। इसलिए वे अयोगी कहलाते हैं। यह नियम है कि आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द होता है तो योग (मन-वचन-काय की क्रिया) से ही होता है।[1]

योग के शुभ-अशुभ रूप का आधार : शुभ-अशुभभाव

योग-आस्रव के शुभ और अशुभ दो रूप होते हैं। राजवार्तिक में एक प्रश्न उठाया गया है कि योग का शुभत्व और अशुभत्व क्या है? वहाँ समाधान किया गया है–शुभ परिणामों (भावों) से निष्पन्न योग (मन-वचन-काय प्रवृत्ति) शुभ योग है और अशुभ परिणामों से होने वाला योग अशुभ योग है।

वस्तुतः योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावों की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य या आशय से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य या आशय से प्रवृत्त होने वाला योग अशुभ है। किन्तु शुभ-अशुभ कर्मबन्ध का कारण होने से योग में शुभाशुभता नहीं मानी जाती। शुभाशुभ कर्मबन्ध पर योग की शुभाशुभता मानने से सभी योग अशुभ ही हो जाएंगे, कोई भी योग शुभ नहीं रह जाएगा। जबकि कर्मग्रन्थों में शुभ योग को भी आठवें आदि गुणस्थानों में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्धन का कारण बताया गया है।[2]

त्रिविध योग अकेले सुख-दुःख के कारण नहीं

इसलिए सैद्धान्तिक दृष्टि से सोचा जाए तो त्रिविध योग अपने-आप में सुख-दुःख के हेतु नहीं हैं। जब ये त्रिविध योग मिथ्यात्वादि पूर्वोक्त चार आस्रवों के साथ मिलकर प्रवृत्त होते हैं, तब सुख-दुःख के हेतु बनते हैं। अकेले योग-आस्रव से कर्मों का ग्रहण आकर्षण अवश्य होता है, किन्तु उससे चैतन्य मूर्च्छित नहीं होता। इसीलिए अकेला योग-आस्रव दुःख का हेतु नहीं बनता, जबकि मिथ्यात्वादि चार आस्रवों से चैतन्य मूर्च्छित हो जाता है, इस कारण वे दुःख के हेतु बनते हैं।[3]

---

१. वही, ७/२, १,३३/७७

२. कथं योगस्य शुभाशुभत्वम्?"" शुभपरिणाम निर्वृत्तो योगः शुभः, अशुभ परिणाम निर्वृत्तश्चाशुभ इति कथ्यते। न शुभाशुभ कर्मकारणत्वेन यद्येवमुच्येत तर्हि शुभयोग एव न स्यात्। ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्॥ –राजवार्तिक ६/३/२-३/५०७

३. जैन योग पृ. ३४

आलम्बन-भेद से योग के तीन प्रकार : मनोयोग, वचनयोग, काययोग

चूँकि कर्मों का ग्रहण अकेले मन से ही नहीं होता, वचन से भी होता है और काया की क्रिया या प्रवृत्ति से भी होता है; और योग की परिभाषा भी यही है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से तथा पुद्गलों के अवलम्बन से होने वाले आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन (कम्पन व्यापार)। इसलिए आलम्बन-भेद से योग के तीन प्रकार हो जाते हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग।[1]

मनोयोग के विभिन्न लक्षण

'सर्वार्थसिद्धि' में मनोयोग का विशद लक्षण इस प्रकार है–'आभ्यन्तर वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशमरूप आन्तरिक मनोलब्धि के होने पर तथा बाह्य निमित्तभूत मनोवर्गणाओं का आलम्बन मिलने पर मनःपरिणामों के सम्मुख हुए आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द मनोयोग कहलता है।"

'धवला' में इसका संक्षिप्त लक्षण यों दिया है–मन की समुत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, उसे मनोयोग कहते हैं। इसी ग्रन्थ में इसकी व्यापक परिभाषा दी गई है–"सत्य आदि चार प्रकार के 'मन' में जो अन्वयरूप से रहता है, उसे सामान्य मन कहते हैं। उक्त मन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है, उसे मनोयोग कहते हैं।"

धवला में मनोयोग के दो लक्षण और दिये गए हैं–"(१) मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलम्बन से जीव का जो संकोच-विकोच होता है, वह मनोयोग है।" (२) "बाह्य पदार्थ के चिन्तन में प्रवृत्त हुए मन से उत्पन्न जीव (आत्म) प्रदेशों के परिस्पन्द का नाम मनोयोग है।"[2]

मनोयोग के चार भेद

षट्खण्डागम, गोम्मटसार (जीव काण्ड) तथा स्थानांग, समवायांग आदि आगमों में मनोयोग के शुभाशुभत्व की दृष्टि से चार भेद किये गए हैं–(१) सत्यमनोयोग, (२)

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलाल जी) पृ. १४८

२. (क) सर्वार्थसिद्धि ६/१/३१८/११
   (ख) धवला १/१, १, ५०/३८२
   (ग) वही, १/१, १, ६५/३०८
   (घ) वही, ७/२, १, ३३/७६
   (ङ) वही, १०/४, २, ४, १७५/४३७

मृषा (असत्य) मनोयोग, (३) सत्यमृषा (मिश्र) मनोयोग और (४) असत्यामृषा मनोयोग।[1]

मनोयोग के चार भेदों का स्वरूप

इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार है–सद्भाव अर्थात् समीचीन पदार्थ के विषय करने वाले मन को 'सत्यमन' कहते हैं, उसके द्वारा जो योग (प्रवृत्ति–मन से चिन्तनात्मक क्रिया) होता है, उसे सत्यमनोयोग कहते हैं। इससे विपरीत योग को मृषा (असत्य) मनोयोग कहते हैं। सत्य और मृषा (असत्य) दोनों के मिश्रित मनोयोग को सत्यमृषामनोयोग कहते हैं और जो मन न तो सत्य हो और न मृषा हो, उसे असत्यामृषा मन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है, उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं। असत्यामृषा मनोयोग को व्यवहारमनोयोग भी कहते हैं।[2]

भावमन की अपेक्षा से योग के भेदों के लक्षण

गोम्मटसार जीवकाण्ड में इन चारों का लक्षण इस प्रकार किया गया है–'सत्यमन' का अर्थ है–सत्यार्थज्ञान को उत्पन्न करने की शक्तिरूप भावमन, ऐसे सत्य मन से जनित योग या प्रयत्नविशेष सत्यमनोयोग है। उससे विपरीत असत्यार्थ-विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्तिरूप भावमन से जनित प्रयत्नविशेष असत्यमनोयोग है। उभयार्थ–विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्तिरूप भावमन से जनित प्रयत्न-विशेष उभय-मनोयोग है और अनुभयार्थ-विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्तिरूप भावमन से जनित प्रयत्न विशेष अनुभय मनोयोग है।

द्रव्यमन की अपेक्षा से योग के भेदों के लक्षण

इसी को विश्लेषणपूर्वक समझाते हुए कहा गया–यथार्थ ज्ञानगोचर पदार्थ सत्य है। जैसे–जलज्ञान का विषयभूत जल, क्योंकि उसमें स्नान, पान आदि अर्थक्रिया का सद्भाव है। अयथार्थ ज्ञानगोचर पदार्थ असत्य है। जैसे–जलज्ञान का विषयभूत मृग-मरीचिका का जल। क्योंकि उसमें स्नान, पान आदि अर्थक्रिया का अभाव है। यथार्थ और अयथार्थ, दोनों ज्ञानगोचर अर्थ। उभय सत्यासत्य है। जैसे–जलज्ञान के विषयभूत कमण्डलु में घट का ग्रहण, क्योंकि कमण्डलु में जल धारणादि रत्नक्रिया के सद्भाव से वह घट की भांति सत्य है, किन्तु घटाकार के अभाव में असत्य है। प्रतिभाशाली तेजस्वी बालक को 'अग्नि' कहने की भांति यह कथन गौण है तथा यथार्थ-अथार्थ दोनों ही प्रकार

---

१. (क) षट्खण्डागम १/१,१/सूत्र ४९/२८०
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) मू. २१७/४७५
(ग) पच्चीस बोल का थोकड़ा, बोल ८वाँ

२. पंचसंग्रह (प्राकृत) १/८९-९०

के निर्णय से रहित ज्ञानगोचर पदार्थ अनुभय है। जैसे–'यह कुछ प्रतिभासित देता है।' इस प्रकार के सामान्यरूप से प्रतिभासित पदार्थ में स्वार्थ क्रियाकारी विशेष के निर्णय का अभाव होने से न ही उसे सत्य कहा जा सकता है और न ही असत्य। वह अनुभय है।[1]

निष्कर्ष यह है कि घट में घट का विकल्प सत्य है, घट में पट का विकल्प असत्य है। कुण्डी में जल धारण देखकर घट का विकल्प उभय है। और 'ओ देवदत्त!' इस प्रकार की आमंत्रणी आदि भाषा में उत्पन्न होने वाला विकल्प अनुभय है। अथवा 'यह कन्या काल के द्वारा ग्रहण की गई है। ऐसा विकल्प भी 'अनुभय' है। क्योंकि काल का अर्थ–मृत्यु और मासिक धर्म, दोनों हो सकते हैं।

अतः सत्य, असत्य, उभय और अनुभय, इन चार प्रकार के अर्थों को जानने और कहने में जीव के मन व वचन की प्रयत्नरूप जो प्रवृत्ति-विशेष होती है, उसी को सत्यादि मनोयोग तथा सत्यादि वचनयोग कहते हैं।[2]

मनोयोग के चारों भेदों का वचन-निमित्तक लक्षण

यह तो सबका अनुभूत सत्य है कि हम कोई भी विचार करते हैं तो मन में पहले उस विचार की अव्यक्त– मौन, अन्तर्जल्प-भाषा उत्पन्न होती है। इसलिए केवल व्यक्त भाषा–यानी भाष्यमाणी भाषा ही भाषा (वचन) नहीं है, अभाष्यमाणी (अव्यक्त भाषा) भी अन्तर्जल्प भाषा (वचन) होती है।

इसलिए 'धवला' में इन चारों का अर्थ स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है– "समनस्क जीवों में वचन प्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि मन के बिना उनमें वचन-प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। इसलिए इन चारों का लक्षण इस प्रकार भी हो सकता है– सत्यवचन-निमित्तक मन से होने वाले योग को सत्यमनोयोग, असत्यवचन निमित्तक मन से होने वाले योग को असत्य मनोयोग, और सत्य-असत्य इन दोनों रूप वचन-निमित्तक मन से होने वाले योग को उभय-मनोयोग तथा पूर्वोक्त तीनों प्रकार के वचनों से भिन्न आमंत्रणादि अनुभयरूप वचन-निमित्तक मन से होने वाले योग को अनुभय-मनोयोग कहना चाहिए"।

यद्यपि यह कथन मुख्यार्थ प्रतिपादक नहीं है, उपचरित है; क्योंकि इस कथन की समग्र मन के साथ व्याप्ति नहीं है। वचन की सत्यादिकता से मन में सत्य आदि का उपचार किया जाता है। इसलिए निर्दोष अर्थ के लिए इन चारों का सीधा मन से सम्बन्धित अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अर्थात्–जहाँ जिस प्रकार की वस्तु विद्यमान हो, वहाँ उसी प्रकार

---

१. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) (जीवतत्त्व प्रबोधिनी टीका) २१४/४७५
(ख) वही, (जीवकाण्ड) २१७/४७५

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीवतत्त्व प्रबोधिनी) २१७/४७५

से प्रवृत्ति करने वाले मन को सत्य मन, उससे विपरीत मन को असत्य मन तथा सत्य और असत्य उभयरूप मन को उभयमन एवं जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञान का कारण है, उसे अनुभयमन कहते हैं। इन चारों प्रकार के सत्यासत्यादि वचनों को उत्पन्न करने वाले मन से जनित योग यानी प्रयत्नविशेष को सत्यादि मनोयोग समझना चाहिए।[1]

मनोज्ञान और मनोयोग में अन्तर

कोई यह तर्क कर सकता है, सम्यग्दृष्टि या सम्यग्ज्ञानी, विशेषतः मनःपर्याय-ज्ञानी अपने एवं दूसरे व्यक्तियों के प्रयत्न के बिना पूर्व प्रयोग से मन को जान लेते हैं, मन को जानने से यदि मनोयोग हो जाता है, तब तो कर्मों का आस्रव कभी रुक नहीं सकेगा।

इस शंका का समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि मन को केवल जान लेने (ज्ञान करने) से ही मनोयोग नहीं हो जाता। मनोयोग तभी होता है जब उस मन के साथ तन्निमित्तक प्रयत्न से सम्बन्धित परिस्पन्द हो यानी शुभाशुभता का परिणाम उसके साथ मिश्रित हो।[2]

मनोयोग के दो भेद : शुभमनोयोग अशुभ मनोयोग

मनोयोग के सत्य-मनोयोग आदि चारों प्रकार से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि हम जो भी शुभ-अशुभ, अच्छी-बुरी, हितकर-अहितकर प्रवृत्ति, क्रिया या चेष्टा करते हैं, वह सर्वप्रथम मन में जन्म लेती है। मन जब ठीक होता है तो शुभ विचार-मनन-चिन्तन करता है और जब ठीक नहीं होता, अर्थात् सधा हुआ नहीं होता, तो यथार्थ एवं शुभ विचार नहीं करता।

यद्यपि मन से जो भी शुभ-अशुभ प्रवृत्ति होती है, वह शुभाशुभ मनोयोग आस्रव है, कर्मों के आगमन-आकर्षण का कारण है, तथापि जब तक छद्मस्थ अवस्था है, तब तक यत्किंचित् राग रहेगा, भले ही वह प्रशस्त राग हो। इसलिए पूर्णतया शुद्ध-रागद्वेष-रहित प्रवृत्ति तो क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में जाकर होती है, उससे पूर्व तक शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों प्रकार का उपयोग रहता है।

इसलिए शुद्धोपयोग पूर्वक मन की प्रवृत्ति होगी तब तो वह कर्मास्रवरहित तथा कर्मबन्ध रहित होगी। परन्तु छद्मस्थ भूमिका में सदा सर्वदा निरन्तर शुद्धोपयोग रहना कठिन है, अतः शुभोपयोग में मन का प्रवृत्त रहना कथञ्चित् अभीष्ट माना गया, ताकि अशुभोपयोग से मन बचा रहे।

---

१. (क) धवला, १/१,१,४९/२८१
   (ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष पृ. २८८
२. धवला १/१,१,५७/२८३

मनोयोग के दो भेद शुभ-अशुभ : स्वरूप और लक्षण

इसलिए आचार्यों ने उपयोग के आधार पर मनोयोग को दो भागों में विभक्त करके मनोयोग के दो भेद बताए हैं–शुभमनोयोग, अशुभ मनोयोग। उनका लक्षण भी उपयोग के आधार पर करते हुए कहा गया–जीवदया आदि शुभोपयोग हैं, और विषय-कषायादि में प्रवृत्ति अशुभोपयोग हैं।

इसी आधार पर तत्त्वार्थ राजवार्तिक में दोनों का लक्षण इस प्रकार किया गया है–"प्राणी के प्राणों के बध (हिंसा), घात, ठगी आदि का चिन्तन, ईर्ष्या, असूया, द्वेषभाव, घृणा आदि अशुभ मनोयोग हैं और अर्हद्भक्ति, गुरुभक्ति, तप, त्याग की रुचि, विषयों से विरक्ति, श्रुतविनय आदि विचार करना शुभ मनोयोग है।[1]

निष्कर्ष यह है कि मन से प्राणिमात्र के हित का चिन्तन-मनन होता है, तब उसे हम सत्यमनोयोग कह सकते हैं। 'सद्भ्यो हितम् सत्यम्'–प्राणियों के लिए जो हितकर है, कल्याणक है, वह सत्य है। इसी प्रकार अनुभय मनोयोग आमंत्रण, आज्ञा आदि मानसिक भावों से निष्पन्न होता है, तथापि उसमें हितकर-अहितकर दोनों प्रकार का होने से तथा उभय मनोयोग में भी सत्य और असत्यमिश्रित होने से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के मनोयोग होने सम्भव हैं।

वचनयोग : स्वरूप और लक्षण

मनोयोग के बाद वचनयोग-आस्रव है। वचनयोग यद्यपि मनोयोगपूर्वक ही होता है, किन्तु कई बार मनुष्य बिना विचारे या चिन्तनात्मक प्रयत्न किये बिना भी झटात् बोल देता है, अथवा जो द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के तिर्यञ्च अमनस्क प्राणी हैं, उनके व्यक्त भाषा नहीं होती, विचारपूर्वक चिन्तन-मनन भी नहीं कर सकते, उनके वचनयोग आस्रव विशेषतः होता है।

वचनयोग का सामान्य लक्षण यह है–"शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुई वचन-वर्गणाओं का आलम्बन होने पर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरण के क्षयोपशम से प्राप्त हुई आन्तरिक वचनलब्धि के मिलने पर वचनरूप पर्याय (परिणाम) के अभिमुख हुए, आत्मा का होने वाला प्रदेश परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है।"[2]

वचनयोग का स्पष्टार्थ तथा सामान्य अर्थ

धवला में इसका संक्षिप्त अर्थ दिया गया है–वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न

---

१. (क) राजवार्तिक ६/३/१,२
   (ख) सर्वार्थसिद्धि ६/३/३१९
२. (क) सर्वार्थसिद्धि ६/३/३१८
   (ख) राजवार्तिक ६/१/१०/५०५

होता है, वह वचनयोग है। अथवा सत्यादि चार प्रकार के वचनों में जो अन्वयरूप से रहता है, उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचन से उत्पन्न हुए आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दरूप वीर्य के द्वारा जो योग-प्रयत्न होता है, उसे वचनयोग कहते हैं। धवला में अन्य दृष्टि से भी वचनयोग का लक्षण किया गया है-भाषावर्गणा के पुद्गल स्कन्धों के अवलम्बन से जो जीव (आत्म) प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है,[1] वह वचन योग है।

वचनयोग के चार भेद : स्वरूप और लक्षण

मनोयोग की तरह वचनयोग के भी चार भेद षट्खण्डागम में किये गए हैं-सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग।[2]

वचनयोग के इन चारों भेदों के लक्षण भी वहाँ इस प्रकार दिये गए हैं-स्थानांग आदि आगमों में उक्त जनपद सत्य आदि दश प्रकार के सत्य वचनों में वचन (भाषा) वर्गणा के निमित्त से जो योग-प्रयत्न होता है, उसे सत्य वचनयोग कहते हैं, इससे विपरीत योग को असत्य (मृषा) वचनयोग कहते हैं। सत्य और मृषा (असत्य) वचनरूप योग को उभय (मिश्र) वचनयोग कहते हैं और जो वचनयोग न तो सत्य रूप हो, और न ही मृषा रूप हो, उसे असत्यामृषावचनयोग है।

असंज्ञी जीवों की जो अनक्षररूप भाषा है, तथा संज्ञी जीवों की जो आमंत्रणी आदि भाषाएँ हैं, वे अनुभय भाषा की कोटि में आती हैं अतः अनुभय भाषारूप वचन प्रयोग असत्यामृषा वचनयोग समझना चाहिए।[3]

---

१. (क) धवला १/१,१, ४७/२७९
   (ख) वही, १/१,१,६५/३०८
   (ग) वही, ७/२, १, ३३/७६
२. (क) षट्खण्डागम १/९/१/५२/२८६
   (ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) मूल २१७ गा. पृ. ४७४
   (ग) मूलाचार ३१४
३. (क) दसविहे सच्चे पण्णत्ते तं जहा-
   "जणवय सम्मय-ठवणा, णामेरूवे पडुच्च सच्चे य।
   ववहार भाव-जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे॥"
   जनपद सत्य, सम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य भावसत्य, योगसत्य और औपम्यसत्य। -स्थानांग स्थान १०/८९
   (ख) दसविहे मोसे पण्णत्ते तं जहा-
   कोधे माणे माया, लोभे पिज्जे तहेव दोसे य।
   हास भए अक्खाइय, उवघात निस्सिते दसमे॥" -वही, स्थान. १०/९०
   दशविध असत्य-क्रोध-मान-माया-लोभ-प्रेय (राग) द्वेष-हास्य-भय आख्यायिका उपघातनिश्रित मृषा (असत्य)।

चतुर्विध मनोयोग के समान चतुर्विध वचनयोग भी

धवला में कहा गया है–चार प्रकार के मन से उत्पन्न हुए चार प्रकार के वचन भी क्रमशः उन्हीं संज्ञाओं को प्राप्त होते हैं, ऐसी प्रतीति भी होती है। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में कहा गया है–सत्यादि पदार्थ से सम्बन्धित जो मन तथा वचन की प्रवृत्ति होती है, वह सत्यादि विशेषण से विशिष्ट चार प्रकार के मनोयोग व वचनयोग है।[1]

वचनयोग के दो भेद : शुभ और अशुभ : स्वरूप और लक्षण

मनोयोग के समान वचनयोग के भी शुभवचनयोग और अशुभवचनयोग ये दो भेद किए गए हैं। उनका लक्षण राजवार्तिक में इस प्रकार किया गया है–असत्य भाषण, कठोरवचन, छेद-भेदकारी वचन, निश्चयकारी, हिंसाकारक सावद्य (पापयुक्त) आदि वचन प्रयोग अशुभ वचनयोग है और सत्य, हित, मित, असंदिग्ध, मृदु, असावद्य वचन बोलना शुभवचन योग है।

निमित्त की अपेक्षा से भी शुभ-अशुभ वचनयोग का लक्षण कार्तिकेयानुप्रेक्षा में दिया गया है–भोजनविकथा, स्त्रीविकथा, राजविकथा तथा (देशविकथा अथवा) चोर कथा आदि अशुभ (पापवर्द्धक) कथाओं का करना अशुभ वचनयोग है और जन्म-मरणादिरूप संसार परिभ्रमण का उच्छेद करने वाली कथाओं का करना या वैसे वचन-प्रयोग करना शुभवचनयोग है।[2]

अमनस्क विकलेन्द्रिय जीवों में अनुभयवचनयोग पाया जाता है : क्यों, कैसे?

पहले यह कहा गया था कि वचन की उत्पत्ति पहले मन से होती है। इस दृष्टि से मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाले वचन को भी अनुभयवचन कहा गया। प्रश्न होता है, ऐसी स्थिति में अमनस्क (द्रव्यमन रहित) द्वीन्द्रय आदि जीवों के अनुभय वचन कैसे हो सकते हैं?

इसका समाधान धवला में इस प्रकार किया गया है कि यह एकान्त नहीं है कि सारे ही वचन मन से ही उत्पन्न हों। यदि सम्पूर्ण वचनों की उत्पत्ति मन से मानी जाएगी तो मन से रहित केवलज्ञानियों के वचनों का अभाव प्राप्त हो जाएगा।

(ग) दसविहे सच्चा मोसे पण्णत्ते तं जहा–
उप्पण्णमीसिए, विगतमीसए, उप्पण्णविगतमीसए, जीवमीसए, अजीवमीसए, जीव-अजीव-मीसए, अणंतमीसए, परित्तमीसए, अद्धामीसए अद्धद्धामीसए॥
–स्थानांग स्थान १०/९१

(घ) पंचसंग्रह (प्रा.) १/९१-९२

१. (क) धवला १/१, १, ५२/२८६
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड (जी. प्र.) २१७/४७५/५

२. (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ५३, ५५
(ख) राजवार्तिक ६/३, १, २

फिर भी यह शंका रह जाती है कि विकलेन्द्रिय जीवों में मन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है?

समाधान यह है कि मन से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। दूसरी इन्द्रियों से भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अमनस्क जीवों में जो केवलज्ञानी हैं, उनके ज्ञान की उत्पत्ति मनोयोग से नहीं होती, किन्तु समनस्क जीवों को जो क्षायोपशमिक ज्ञान होता है, वह मनोयोग से होता है। वस्तुतः विकलेन्द्रिय जीवों के वचन अनध्यवसायरूप ज्ञान के कारण होते हैं, इसलिए उन्हें अनुभयरूप वचन कहा गया है। अनध्यवसाय से यहाँ वक्ता के अभिप्राय विषयक अध्यवसाय का अभाव विवक्षित है, ध्वनिविषयक अध्यवसाय (निश्चय) का अभाव नहीं। वह तो उनमें पाया जाता है।[1]

उपशमक और क्षपक जीवों में असत्य और उभय मनोयोग तथा वचनयोग सम्भव है

मनोयोग के सम्बन्ध में एक शंका और है। वह यह है कि ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशमक तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षपक (क्षीणमोह) महामानवों की कषाय क्षीण हो गई हैं, उनमें सत्यमनोयोग तथा अनुभयमनोयोग भले ही रहे, किन्तु असत्य और उभय मनोयोग तथा असत्य वचनयोग कैसे रह सकता है? क्योंकि इन दोनों में रहने वाला अप्रमाद असत्य और उभय मन के कारणभूत प्रमाद का विरोधी है।

इसका समाधान करते हुए धवला में कहा गया है कि ज्ञानावरण कर्म से ये दोनों युक्त होते हैं, इसलिए इनमें विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञान के कारणभूत मन का सद्भाव मानने में कोई विरोध नहीं आता। परन्तु इनके सम्बन्ध से उपशमक और क्षपक मानव प्रमत्त नहीं माने जा सकते, क्योंकि प्रमाद मोह की पर्याय है, जिसे उन्होंने उपशान्त व क्षीण कर दिया है। क्षीण कषाय जीवों के भी वचन असत्य हो सकते हैं, क्योंकि असत्य-वचन तथा सत्यामृषावचन का कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसलिए असत्य वचनयोग और उभयवचन योग बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों तक में सम्भव है।

निष्कषाय जीवों तथा ध्यानलीन अपूर्वकरण गुणस्थानी में भी वचन-काय-योग संभव

एक शंका और है–वचनगुप्ति के पूर्णतया पालक कषायरहित जीवों के वचन-योग रूप आस्रव कैसे सम्भव है?

इसका समाधान किया गया है कि कषायरहित जीवों में भी अन्तर्जल्प के पाये जाने में कोई विरोध नहीं है।[2]

---

१. धवला १/१,१,५३/२८७

२. (क) धवला १/१,१,५१/२८५

इसी प्रकार ध्यान में लीन अपूर्वकरण नामक गुणस्थानवर्ती जीवों में वचनबल का सद्भाव भले ही हो, किन्तु ध्यानावस्था में उनके वचनयोग या काययोग का सद्भाव भी सम्भव है, क्योंकि अन्तर्जल्प के लिए प्रयत्नरूप वचनयोग और कायगत सूक्ष्म प्रयत्न (परिस्पन्दन) रूप काययोग का सद्भाव उनमें पाया ही जाता है। इसी प्रकार वैक्रियक समुद्घातगत जीवों में मनोयोग तथा वचनयोग का परिवर्तन एवं मारणान्तिक समुद्घातगत (मूर्च्छितावस्था) जीवों में भी बाधक कारणों के अभाव में गाढ़निद्रा में सोये हुए जीवों के समान अव्यक्त मनोयोग और अव्यक्त वचनयोग सम्भव है।[1]

काययोग : स्वरूप और लक्षण

वचनयोग के पश्चात् योग-आस्रव का तीसरा भेद है–काययोग। काययोग का कर्मसैद्धान्तिक दृष्टि से विशद लक्षण सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार किया गया है–"वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय-वर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पन्द काययोग कहलाता है।"

तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनीयावृत्ति में इसका विशद लक्षण इस प्रकार दिया गया है–काय का अर्थ शरीर है, जो कि आत्मा का निवास रूप पुद्गल द्रव्यघटित है। जैसे–वृद्ध अथवा दुर्बल व्यक्ति के लिए लाठी मार्ग में चलने में अवलम्बनरूप उपग्राहक होता है, उसी प्रकार जीव को गमनागमनादि क्रियाएँ तथा विषयों में सचेष्ट प्रयत्न करने में वह जीव के लिए अवलम्बनरूप उपग्राहक होता है। उस (काय) के योग से जीव का वीर्य परिणाम अर्थात् शक्ति या सामर्थ्य काययोग है।[2]

धवला में इसका व्यापक दृष्टि से लक्षण किया गया है–सात प्रकार के कायों में जो अन्वयरूप से रहता है, उसे सामान्य काय कहते हैं। उस काय से उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण योग होता है, उसे काययोग कहते हैं।

इसी ग्रन्थ में दूसरा लक्षण इस प्रकार किया गया है–चतुर्विध शरीरों (औदारिक, वैक्रिय, तैजस एवं कार्मण शरीर) के अवलम्बन से जीव (आत्म) प्रदेशों का जो संकोच-विकोच होता है, वह काययोग है।

तीसरा एक और लक्षण चिकित्साशास्त्र (शरीरशास्त्र) की दृष्टि से वहाँ किया

(ख) वही १/१,१,५५/२८९
(ग) वही, २/१,१,४३४

१. (क) वही, २,१,१,४३४
(ख) वही, ४/१,३,२९/१०२

२. तत्त्वार्थ भाष्य सिद्धसेनीया वृत्ति ६/१

गया है–वात, पित्त और कफ आदि के द्वारा उत्पन्न परिश्रम से जीव प्रदेशों का जो परिस्पन्द होता है, वह 'काययोग' कहलाता है।[1]

काययोग के सम्बन्ध में कुछ सैद्धान्तिक समाधान

काययोग शरीर नामकर्मोदय जनित नहीं होता, क्योंकि पुद्गलविपाकी (कर्म) प्रकृतियों के जीव (आत्म-) परिस्पन्दन का कारण होने में सैद्धान्तिक विरोध है। इसी प्रकार एक गति से दूसरी गति में जाते (चलते) समय (विग्रह गति में) आत्मप्रदेशों में संकोच-विकोच का नियम भी कर्मसिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि जब जीव जन्मान्तर के लिए या मोक्ष के लिए गति करता है, यानी अन्तराल गति के समय व सिद्ध होने के प्रथम समय में जब-जब जीव यहाँ से (मध्यलोक से) लोक के अग्रभाग को जाता है, तब स्थूल शरीर न होने से उसके प्रदेशों में संकोच-विकोच नहीं पाया जाता। विग्रहगति में सिर्फ कार्मण काययोग ही होता है। वह भी सांसारिक जीवों के ही, १४वें गुणस्थान वाले अयोगी केवली के नहीं।[2]

काययोग के सात प्रकार

षट्खण्डागम में काययोग सात प्रकार का बताया गया है– (१) औदारिक काययोग, (२) औदारिक-मिश्र काययोग, (३) वैक्रिय काययोग, (४) वैक्रिय-मिश्र काय योग, (५) आहारक काययोग, (६) आहारक-मिश्र काययोग और (७) कार्मण काययोग।[3]

शुभ-अशुभ काययोग : स्वरूप

शुभ, अशुभ परिणामों (भावों) की दृष्टि से काययोग के दो भेद होते हैं– शुभकाययोग और अशुभकाययोग।

'राजवार्तिक' में व्यापक दृष्टि से शुभाशुभ काययोग के लक्षण इस प्रकार किये गए हैं–हिंसा, चोरी तथा मैथुन प्रयोगादि अनन्त विकल्परूप काययोग अशुभ है, जबकि अहिंसा, अचौर्य और ब्रह्मचर्यादि अनन्त विकल्प रूप काययोग शुभ है।

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ६/१/६१९
   (ख) धवला १/१,१,६५/३०८
   (ग) धवला ७/२,१,३३/७६
   (घ) वही, १०/४,२४/१७५
२. (क) धवला ५/१,७,४८/२२६
   (ख) वही, ७/२,१,३३/७७
३. षट्खण्डागम १/१,१/५६/२८९

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में दूसरी दृष्टि से इन दोनों का लक्षण किया गया है—बाँधने, छेदने और मारने आदि की क्रियाएँ अशुभ काययोग हैं, जबकि वीतरागदेव, वीतरागानुगामी निर्ग्रन्थ तथा जैनशास्त्रों के प्रति श्रद्धा-भक्ति शुभ काययोग है।[1]

काययोग के सात भेद : क्यों और किस अपेक्षा से?

काययोग के सात भेद जो किये गए हैं, वे इसलिए कि मनुष्यों और तिर्यंचों में जन्म से औदारिक शरीर होता है और देवों तथा नारकों में वैक्रिय शरीर। इसके अतिरिक्त तैजस और कार्मण शरीर तो मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक इन चारों गतियों के जीवों (समस्त संसारी जीवों) में पाये जाते हैं और आहारक शरीर तो एकमात्र चतुर्दशपूर्वज्ञानधारक मुनियों में ही पाया जाता है। इन सांसारिक जीवों की अपने-अपने शरीर के अनुसार तथा अपने-अपने कर्म तथा कार्मणशरीर के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के काय-परिस्पन्दन, कायप्रयत्न या कायपरिणाम होता है। इसी को लेकर एक ही काययोग के विभिन्न सांसारिक जीवों की अपेक्षा से सात प्रकार किये गए हैं।

काययोग के भेद और स्वरूप

धवला के अनुसार औदारिक शरीर के आश्रय से उत्पन्न शक्ति (वीर्य) से जीव के प्रदेशों के परिस्पन्दन का कारणभूत जो प्रयत्न होता है, उसे औदारिककाययोग कहते हैं। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) के अनुसार औदारिककाय के निमित्त से आत्मप्रदेशों की जो कर्म-नोकर्मों को आकर्षण शक्ति होती है, वही औदारिककाययोग है। तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार औदारिक शरीर के साथ योग औदारिककाययोग है, अर्थात् औदारिकशरीर के अवलम्बन से उपजात क्रिया के साथ (कर्म का) सम्बन्ध औदारिककाययोग है।[2]

लोकप्रकाश के अनुसार प्रारम्भ किया हुआ औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है, तब तक वह कार्मण शरीर के साथ औदारिकमिश्र कहलाता है। जो शरीर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अपूर्ण-अपर्याप्त रहे उसे मिश्र कहते हैं। जहाँ कार्मण शरीर के साथ औदारिक मिश्र हो—अपरिपूर्ण अपर्याप्त हो, वहाँ औदारिकमिश्र होता है। अतः धवला के अनुसार, कार्मण और औदारिक स्कन्धों से उत्पन्न हुई शक्ति से जीवप्रदेशों के परिस्पन्दन के लिए जो योग यानी प्रयत्न होता है, उसे औदारिकमिश्र काययोग कहते हैं।[3]

---

१. (क) राजवार्तिक ६/३/१-२/५०६-५०७
   (ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ५३,५५
२. (क) धवला पु. १/पृ. ३१६
   (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीवप्रबोधिनी टीका) २३०
   (ग) तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेनीया वृत्ति ६/१
३. (क) लोकप्रकाश ३/१३०८
   (ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीव प्रबोधिनी टीका) २३१

विक्रिया और वैक्रिय शरीर

सर्वार्थसिद्धि, पंचसंग्रह (सं.) आदि के अनुसार अणिमा, महिमा आदि अष्टगुणरूप ऐश्वर्य के सम्बन्ध से एक-अनेक, छोटे-बड़े आदि अनेक प्रकार के रूपों का निर्माण करना (क्रियाएँ करना) विक्रिया कहलाती है। इस विक्रियारूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले शरीर को वैक्रिय (वैगूर्विक या वैक्रियिक) शरीर कहते हैं। अथवा तत्त्वार्थ श्रुतसागरी वृत्ति के अनुसार–जो शरीर सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्य के करने में समर्थ पुद्गल से रचा जाता है, तथा जिसका प्रयोजन विविध (उक्त) क्रियाओं का करना है, वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। उसके आश्रय से आत्म प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है उससे होने वाला योग वैक्रियिक काययोग कहलाता है।[1]

औदारिकमिश्रकाययोग के समान ही वैक्रियमिश्रकाययोग समझना।

इसी प्रकार धवला के अनुसार–सूक्ष्मपदार्थों को आत्मसात् करने वाले आहारक काय से जो योग (परिस्पन्द या प्रयत्न) होता है, उसे आहारक काययोग कहते हैं। तथा आहारक शरीर और कार्मण शरीर के स्कन्धों से उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा जो योग होता है, उसे आहारकमिश्र काययोग कहते हैं।[2]

धवला, प्रज्ञापनासूत्र आदि के अनुसार–जो सब शरीरों की उत्पत्ति का बीजभूत-कारण रूप शरीर है, उसे कार्मण शरीर कहते हैं। अथवा कर्म के विकारभूत या कारणरूप शरीर का नाम कार्मण शरीर है। उस कार्मण शरीर के साथ वर्तमान जो संयोग है, अर्थात्–आत्मा की कर्माकर्षण शक्ति से संगत प्रदेश परिस्पन्दरूप जो योग है, उसे कार्मण काययोग कहते हैं।[3]

कायक्लेश काययोग-कर्मास्रव नहीं, वह कर्मक्षय का हेतु है

प्रश्न होता है–कायक्लेश नामक बाह्य तप में भी कायिक प्रवृत्ति होती है, और तपस्या को निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण माना गया है, परन्तु कायिक क्रिया होने से क्या उसे शुभ-आस्रव माना जाएगा?

(ग) शतक (म. हेम वृत्ति) २-३/५
(घ) धवला पु. १/पृ. २९०

१. (क) सर्वार्थसिद्धि २/३६,
(ख) पंचसंग्रह (सं.) १/१७३-१७४

२. धवला पु. १, पृ. २९२, २९३

३. (क) धवला पु. १४ पृ. ३२९
(ख) प्रज्ञापना मलयवृत्ति २० प./२६७ सू./पृ. ४०९
(ग) गोम्मटसार (जी. जी. प्र.) ७०३
(घ) धवला पु. १ पृ. २९९

समाधान–यद्यपि कायक्लेश में कायिक प्रवृत्ति (क्रिया) होती है, किन्तु उसके पीछे रागद्वेष या कषायभाव न होने से वे शुभ या अशुभ काययोग आस्रव की कोटि में नहीं आते। वस्तुतः मोक्षमार्ग से च्युत न होने और कर्मक्षय (निर्जरा) के लिए परीषह और उपसर्ग आदि को सहने की सामर्थ्य वृद्धि के लिए ग्रीष्मकाल में आतापना, शीतकाल में वस्त्रविहीनता (अपावृतता), वर्षाकाल में प्रतिसंलीनता, दंश-मशक आदि के काटने पर शरीर को न खुजलाना, विविध प्रतिमाधारण, वृक्षमूल में निवास, निरावरणशयन तथा कायोत्सर्ग में स्थिरता, उत्कुटुकासन आदि सात प्रकार के स्थानांगोक्त कायक्लेश तप स्वेच्छा से अंगीकार किये जाते हैं, इसलिए यह काययोगरूप कर्मास्रव का कारण नहीं है।[1]

काययोग ही एकमात्र योग : क्यों और कैसे?

वस्तुतः योग एक ही है, अर्थात्–समस्त प्रवृत्तियों का सूत्रधार एक ही है–काययोग। मन और वाणी ये दोनों अपने आप में पंगु हैं। मन अपने-आप चल नहीं सकता, न ही वाणी स्वयं चल सकती है। मन और वचन ये दोनों काया के द्वारा प्रेरित हैं, संचालित हैं। स्थूल शरीर ही पुद्गलों को ग्रहण एवं आकर्षित करता है। मन के पुद्गलों को भी स्थूल शरीर ग्रहण करता है, वचन के पुद्गलों को भी वही ग्रहण करता है। स्थूल शरीर पुद्गलों को ग्रहण करता है, तभी मन संचालित होता है, और तभी वाणी मुखरित होती है।

द्रव्य आस्रव का लक्षण भी यही है–कर्मपरमाणुओं को ग्रहण करने और आकर्षित करने की क्रिया। (कर्म-) पुद्गल परमाणुओं का आकर्षण या ग्रहण काययोग (शारीरिक क्रिया या प्रवृत्ति) से होता है। बाह्य पुद्गलों को आकर्षित करने वाला घटक काययोग आस्रव है। समस्त कर्मपरमाणु आकर्षित होते हैं–काययोग के द्वारा। जैसे–जलाशय में नाले से पानी आता है, वैसे ही काययोग रूपी नाले के द्वारा कर्म के परमाणु भीतर आकर आत्मप्रदेशों के साथ सम्बद्ध होते हैं, जैसे–गीले कपड़े पर हवा द्वारा उड़ाकर लाये हुए रजकण चिपक जाते हैं, वैसे ही रागद्वेष से स्निग्ध या आर्द्र बने हुए जीव पर काययोग द्वारा लाये हुए कर्मपरमाणु चिपक जाते हैं।

अतः कर्मपरमाणुओं को लाने वाला मूल में काययोग ही है। प्रवृत्ति का मूल स्रोत–एक ही है–काया। योगों की संख्या तीन कहना सापेक्ष कथन है। काया के द्वारा ही सारे बाह्य पुद्गलों का ग्रहण एवं आकर्षण होता है। इसी दृष्टि से भगवान् ने सर्वप्रथम काया का संवर करने का निर्देश किया है। वाणी और मन का संवर कायसंवर के पश्चात् ही

---

१. (क) स्थानांग स्थान ७ में सप्तविधकायक्लेश, सू. ४९, (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर)
(ख) मूलाचार (मू.) गा. ३५६

क्रमशः होता है। वैसे भी देखा जाए तो वाणी और मन, ये दोनों इन्द्रियों तथा अंगोपांगों की तरह काया के ही अंगभूत हैं। इसलिए काययोग-आस्रव से सावधान रहना चाहिए।[1]

अध्यवसाय-स्थान असंख्येय, कर्मास्रवरूप योग अनन्त क्यों?

राजवार्तिक में एक शंका उठाई गई है--जीवों के अध्यवसाय-स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। ऐसी स्थिति में ये त्रिविध योग अनन्त प्रकार के कैसे हो सकते हैं?

इसका समाधान किया गया है कि अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश रूप से बंधे हुए ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के देशघाती और सर्वघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम-भेद से अनन्तानन्त प्रदेश वाले कर्मों के ग्रहण का कारण होने से तथा संसार के अनन्तानन्त जीवों में से प्रत्येक जीव के अनन्त कोटि के शुभाशुभ कर्म होने की अपेक्षा से, ये तीनों योग अनन्त प्रकार के हो सकते हैं।[2]

इस तथ्य-सत्य को ध्यान में रखकर कर्मों के आगमन (आस्रव) से बचने के लिए सर्वप्रथम इन तीनों योगों के निरोध करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। ■

---

१. (क) महावीर की साधना का रहस्य पृ. ४८
   (ख) जैन योग पृ. ३१
२. राजवार्तिक ६/३/२/५०७

५

पुण्य और पाप : आस्रव के रूप में

कर्मों का आवागमन अयोग-अवस्था से पूर्व तक

सांसारिक जीव जब तक अयोगी-अवस्था को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक 'कर्म' एक या दूसरे रूप में उसके जीवन में आते-जाते रहते हैं। सयोगी केवली अवस्था तक कर्मों का आवागमन जारी रहता है; क्योंकि जब तक जीव के साथ तन लगा हुआ है, तब तक उसे शरीर से कोई न कोई क्रिया या प्रवृत्ति करनी ही पड़ती है। संसार के प्रत्येक जीव के द्रव्यमन और द्रव्यवचन न भी हों, किन्तु तन तो उसके साथ जन्म-जन्मान्तर तक लगा ही रहता है।

शुभाशुभ योगों के आधार पर पुण्यास्रव-पापास्रव

तन से प्रवृत्ति करते समय ही मन से या तो वह शुभभाव से संलग्न होगा, या फिर अशुभ भावों से युक्त होगा। अगर शुभभावों से युक्त होगा तो पुण्यास्रव (शुभकर्मों के आगमन) को आमंत्रित कर लेगा और यदि अशुभभावों से युक्त होगा तो पापास्रव (अशुभकर्मों के आगमन) को आमंत्रित कर लेगा। अर्थात्–मानसिक, वाचिक या कायिक कोई भी प्रवृत्ति करते समय जीव यदि शुभभावों से युक्त होता है तो पुण्यकर्म के आस्रव का बीज बोता है और अशुभभावों से युक्त होता है तो पापकर्म के आस्रव का बीज बोता है।

पुण्य-पापास्रव का लक्षण और विश्लेषण

इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट कहा गया है–

"शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य।" (अ. ६, सूत्र ३-४)

'शुभयोग पुण्य का आस्रव है, और अशुभयोग पाप का आस्रव है।'

'सर्वार्थसिद्धि' में शुभ-अशुभयोग की परिभाषा इस प्रकार है–'शुभ परिणामों (भावों) से निष्पन्न योग शुभ हैं और अशुभ परिणामों से निष्पन्न योग अशुभ।'

इसी दृष्टि से 'प्रवचनसार' में पुण्य और पाप का लक्षण निर्धारित किया है–'पर के प्रति शुभ-परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है।'

'द्रव्यसंग्रह' के अनुसार–'शुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्यरूप होता है और अशुभ परिणामों से युक्त जीव पापरूप।'

इसी प्रकार पुण्यरूप जीव का लक्षण मूलाचार के अनुसार यह है–"सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, व्रतरूप परिणाम तथा कषाय-निग्रहरूप गुणों से परिणत आत्मा पुण्यरूप जीव है।"

शुभपरिणामों की व्याख्या करते हुए 'प्रवचनसार' में कहा गया है–रागद्वेष-विजेता अर्हद् देव, इन्द्रियजय के द्वारा शुद्धात्मस्वरूप के विषय में प्रयत्न-परायण यति (साधु), स्वयं भेदाभेदरूप रत्नत्रय के आराधक तथा रत्नत्रयाकांक्षी भव्य मानवों को जिनदीक्षा देने वाले गुरु, इन तीनों की पूजा-भक्ति, तथा दान (चार प्रकार के दान) एवं शील-व्रतादि-परिपालन और उपवासादि शुभ अनुष्ठानों में जो व्यक्ति अनुरक्त होता है, तथा अशुभ अनुष्ठानों से विरत रहता है, वह जीव शुभ उपयोग (परिणाम) वाला होता है। इसके विपरीत जीवहिंसा, चोरी, असत्य आदि अशुभ कार्य, पीड़ाकारक हिंसारूप अशुभ वचन तथा ईर्ष्या, जीववधादिरूप अशुभ मन से अशुभ उपयोग (परिणाम) होता है।[1]

पुण्यास्रव के कारण

पंचास्तिकाय के अनुसार–जिस जीव में प्रशस्त राग है, जिसके परिणाम अनुकम्पा से युक्त हैं, जिसके चित्त में कलुषता नहीं है, उस जीव के पुण्यास्रव होता है।

इससे भी आगे बढ़कर मूलाचार में कहा है–जीवों के प्रति अनुकम्पा, शुद्ध मन, वचन, काय की क्रिया, सम्यग्-दर्शन-ज्ञानरूप उपयोग, ये पुण्यकर्म आस्रव के कारण हैं। इसके (शुभ के) विपरीत जीवों के प्रति निर्दयता, अशुद्ध मन-वचन-काय की क्रिया तथा मिथ्यादर्शन-ज्ञानरूप उपयोग पाप कर्मास्रव के कारण हैं।[2]

---

१. (क) 'शुभपरिणाम-निर्वृतो योगः शुभः, अशुभपरिणाम-निर्वृतश्चाशुभः।' –सर्वार्थसिद्धि
(ख) 'सुह-परिणामो पुण्णं, असुहो पावं त्ति भणियमण्णेसु।' –प्रवचनसार मू. १८१
(ग) 'सुह-असुह-भावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।' –द्रव्यसंग्रह मू. ३८/१५८
(घ) 'सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसाय-णिग्गह-गुणेहिं। जो परिणदो सो पुण्णो।' –मूलाचार मू. २३४
(ङ) 'देवद-जदि-गुरु-पूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥' –प्रवचनसार १/६९
(च) 'पापं हिंसादिक्रिया साध्यं अशुभं कर्म।' स. म. २७/३०२/१७
(छ) 'सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावं त्ति हवदि जीवस्स॥' –पंचास्तिकाय १३२

२. (क) "रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि॥" –पंचास्तिकाय मू. १३५
(ख) "पुण्णस्सासव भूदा अनुकंपा सुद्ध एव उवओगा।
विपरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणादि॥" –मूलाचार २३५

किस प्रकार के मन-वचन-काययोग से शुभास्रव होता है?

'ज्ञानसार' में मन-वचन-काययोग से पुण्यास्रव की मीमांसा करते हुए कहा गया है–

यम (व्रत), प्रशम, निर्वेद (वैराग्य), तत्त्वों का चिन्तन, इत्यादि का जिस मन में आलम्बन हो, तथा जिस मन में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ्य, ये चार भावनाएँ हों, वही मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है। सांसारिक (सावद्य) व्यापारों से रहित तथा श्रुतज्ञान के आलम्बन से युक्त एवं सत्यरूप पारिणामिक वचन भी शुभास्रव के लिए होते हैं। भलीभांति कायगुप्ति से सुगुप्त (सुरक्षित या वशीभूत) काय से तथा अहर्निश कायोत्सर्ग से संयमी मुनि काययोग द्वारा शुभकर्म (पुण्य) का संचय करते हैं।[1]

शुभ-अशुभ योग के हेतु ही पुण्य-पापास्रव के हेतु हैं

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार–"काया, वाणी और मन की सरलता तथा इनकी अविसंवादिता, ये शुभ योग के कारण हैं, जबकि अशुभयोग के कारण हैं–काय, वचन और मन की वक्रता एवं इनकी विसंवादिता। शुभयोग पुण्यास्रव का और अशुभयोग पापास्रव का कारण है।"

पुण्यास्रव के विविध हेतु

'राजवार्तिक' में कहा है–धार्मिक पुरुषों के दर्शन करना, उनका आदर-सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, उपनयन, संसार के कारणों से डरना, प्रमाद का त्याग करना इत्यादि सब शुभनामकर्म (पुण्यकर्म) के आस्रव के कारण हैं।

'तत्त्वार्थसार' में व्रताचरण को पुण्यकर्मास्रव का कारण बताया है। योगसार में अरहन्त आदि पंच परमेष्ठियों के प्रति श्रद्धा-भक्ति, समस्त जीवों पर करुणा और पवित्र-चारित्री के प्रति अनुराग (प्रीति) करने से पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध बताया है।[2]

शुभ परिणाम पुण्य, अशुभ परिणाम पाप

प्रवचनसार के अनुसार पुण्यरूप पुद्गल (कर्म) के बन्ध का कारण होने से

---

१. ज्ञानसार २/३,५,७

२. (क) काय-वाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादनं च, तद्विपरीतम्। –सर्वार्थसिद्धि ६/२३/३३७
(ख) धार्मिक-दर्शन-संयम-सद्भावोपनयन-संसरणभीरुता, प्रमादवर्जनादिः।
तदेतच्छुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम्।" –राजवार्तिक ६/२३/१/५२८
(ग) "व्रतात् किलास्रवेन् पुण्यम्।" –तत्त्वार्थसार ४/५९
(घ) अर्हदादौ पराभक्तिः, कारुण्यं सर्वजन्तुषु।
पावने चरणे रागः, पुण्यबन्ध-निबन्धनम्॥ –योगसार अ. ४/३७

शुभ-परिणाम पुण्य है, और पापरूप पुद्गल (कर्म) के बन्ध का कारण होने से अशुभ-परिणाम पाप है।[1]

पापास्रव के विविध हेतु रूप परिणाम

इस अपेक्षा से 'सर्वार्थसिद्धि' में पाप का निर्वचन किया गया है–"जो आत्मा को शुभ (परिणामों) से बचाता है, यानी दूर रखता है, वह पाप है।"[2]

'पंचास्तिकाय' में पापप्रद आस्रव के परिणामों (भावों) का निरूपण इस प्रकार किया गया है–"चारों संज्ञाएँ, तीन अशुभ लेश्याएँ, इन्द्रियवशता, आर्त्त-रौद्र-ध्यान, दुष्प्रयुक्त ज्ञान और मोह, ये भाव पाप (आस्रव और बन्ध) के प्रदायक हैं।"

'नयचक्र' (बृ.) में 'अशुभवेदादि के कारण जो अव्रतादि भाव हैं, उन्हें शास्त्र में पाप कहा गया है, व्रतादि भाव को शुभवेदादि के कारण पुण्य।"

योगसार में कहा गया है–"अर्हन्तादि पूज्य-पुरुषों की निन्दा करना, समस्त जीवों के प्रति निर्दयभाव रखना और निन्दित आचरणों में प्रीति रखना आदि पाप (आस्रव) बन्ध के कारण हैं।"

पंचास्तिकाय के अनुसार–जिसकी चर्या प्रमादबहुल हो, हृदय में कलुषता हो, विषयों के प्रति लोलुपता हो, पर (सजीव-निर्जीव पदार्थ) का संताप करता हो, दूसरों का प्रवाद (निन्दा) करता हो, वह पापास्रव करता है।[3]

पाप विषकुम्भवत्, अपराधमय, पातक एवं हेय तथा अहितकर

पाप तो जीवन के लिए सर्वथा हेय है। 'समयसार वृत्ति' के अनुसार–"जो अज्ञजन साधारण (पापकर्मों से) अप्रतिक्रमणवृत्ति (अनिवृत्ति) वाले हैं वे शुद्ध आत्मा की सिद्धि के स्वभाव से भिन्न हैं। इसलिए पापरूपी विष से परिपूर्ण होने से, वे स्वतः

---

१. तत्र पुण्य-पुद्गल-बन्धकारणत्वात् शुभ-परिणामः पुण्यम्, पाप-पुद्गल-बन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम्। –प्र. सा. त. प्र. /१८१

२. पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। –सर्वार्थसिद्धि ६/३/३२०

३. (क) सण्णाओ य तिलेस्सा इंदिय-वसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति॥ –पंचास्तिकाय मू. १४०

(ख) अहवा कारणभूदा तेसिं च वयव्वयाइ इह भणिया।
ते खलु पुण्णं पावं जाण इमं पवयणे भणियं॥ –नयचक्र वृ. १६२

(ग) निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्घृण्यं सर्वजन्तुषु।
निन्दिते चरणे रागः, पापबन्ध-विधायकः॥ –योगसार अ. ४/३८

(घ) चरिया पमायबहुला कालुस्सं लोलदा य विसएसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि॥ –पंचास्तिकाय मू. १३९

अपराधमय हैं, इस कारण विषकुम्भवत् हैं। अतः पाप भी विषकुम्भ के समान सदैव हेय है। क्योंकि इसमें चारित्र का लेशमात्र भी न होने से यह (पाप) अशुभोपयोगरूप होने से अतीव हेय है।"

इसीलिए उत्तराध्ययनचूर्णि में पाप का निर्वचन किया गया है–जो आत्मा को पाश (कठोरबन्धन) में बांधता है, अथवा पतित कर देता है–गिरा देता है, वह पाप है।

'मरणसमाधि' (प्रकीर्णक) में कहा गया है–'जैसे जीवितार्थी के लिए विष हितकर नहीं होता, वैसे ही कल्याणार्थी के लिए पाप हितकर नहीं है।"

पुण्य-पाप वस्तु या क्रिया के आधार पर ही नहीं, कर्ता के परिणाम के आधार पर भी

पुण्य-आस्रव और पापास्रव का निर्णय किसी वस्तु या क्रिया के आधार पर ही नहीं, अपितु कर्ता के भावों के आधार पर भी मुख्यतया होता है। इस विषय में हमने तृतीय खण्ड के 'कर्म के शुभ, अशुभ और शुद्धरूप' शीर्षक निबन्ध में बहुत ही विस्तार से दृष्टान्त, युक्ति, प्रमाणपूर्वक प्रतिपादन किया है।[2]

सुख या दुःख उपजाने मात्र से भी पुण्य-पाप का निर्णय नहीं होता

किसी को सुख या दुःख उपजाने मात्र से भी पुण्य या पाप नहीं हो जाता, अपितु उसके पीछे कर्ता का आशय तथा कभी-कभी उस प्रवृत्ति (क्रिया या कर्म) का भी शुभाशुभत्व देखा जाता है। सर्वार्थसिद्धि में इस विषय को एक दृष्टान्त देकर समझाया गया है–जैसे कोई दयालु वैद्य किसी मायादि-रहित संयमी साधु के फोड़े की चीर-फाड़ करके मरहम पट्टी करता है। यद्यपि उस समय उस संयमी मुनि को दुःख देने में वह वैद्य निमित्त होता है, तथापि उस वैद्य के परिणाम उन्हें दुःख देने के नहीं, अपितु सुख (साता) उपजाने के होते हैं। अतः दुःखोत्पादन के इस कारणमात्र से पापकर्मबन्ध तथा उसका पूर्वकारणरूप पापास्रव नहीं होता, अपितु पुण्यास्रव एवं पुण्यबन्ध होता है। वस्तुतः पुण्य-पाप-आस्रव में अन्तरंग भावों, शुभ-अशुभ-परिणामों या शुभाशुभ उपयोगों की ही प्रधानता है।

---

१. (क) "यस्तावदज्ञानिजन-साधारणोऽप्रतिक्रमणादिः संशुद्धात्मसिद्धयभावास्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वद् विषकुम्भ एव।" –समयसार (आत्मख्याति वृत्ति) ३०६

(ख) ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्त हेय एवायमशुभोपयोग इति।
–प्रवचनसार त. प्र. ।९२

(ग) पाशयति पातयति वा पापम्। –उत्तराध्ययन चूर्णि २

(घ) न हु पावं हवइ हियं, विसं जहा जीवियत्थियस्स। –मरणसमाधि ६१३

२. विस्तृत विवेचन के लिए 'कर्म के शुभ, अशुभ और शुद्धरूप' शीर्षक लेख देखें–कर्मविज्ञान प्रथम भाग पृ. ५२९ से

'आप्तमीमांसा' में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है–'यदि दूसरे को सुख या दुःख उपजाने मात्र से क्रमशः पुण्य-पाप होने का नियम होता तो कांटे, विष, छुरी, तलवार आदि अचेतन (जड़) पदार्थों को पाप और दूध, फल, रोटी आदि अचेतन पदार्थों को पुण्य हो जाता। तथा वीतरागी मुनि को ईर्यासमितिपूर्वक गमन करते हुए कदाचित् क्षुद्रजीवों के अकस्मात् वध हो जाने से पापास्रव या पापबन्ध हो जाता।

यदि स्वयं को सुख या दुःख उपजाने से पुण्य-पाप का आस्रव हो जाने का नियम होता तो वीतराग निर्ग्रन्थ मुनि तथा विचारक विद्वान् भी अशुभ कर्म के (आस्रव या) बन्ध के भाजन हो जाते; क्योंकि वे भी इस प्रकार के निमित्त बन जाते हैं। अतः यही मानना उचित है कि स्व और पर, दोनों, सुख या दुःख में निमित्त होने के कारण भी, उनके परिणाम अगर विशुद्ध हैं, या संक्लेशकर हैं, तो उनके कारण ही उनसे प्रादुर्भूत कार्य पुण्य-पाप आस्रव होते हैं, पुण्य-पाप एकान्ततः परपदार्थाश्रित नहीं हैं।[1] पुण्य और पाप में अन्तरंग की प्रधानता है।

क्रिया की अशुभता के आधार पर पापास्रव का उपार्जन

अशुभ (पाप) आस्रव के कारणों का उल्लेख करते हुए राजवार्तिक में कहा गया है–मिथ्यादर्शन, पिशुनता (चुगली), अस्थिर-चित्त-स्वभावता, झूठे बांट तराजू रखना (नाप-तौल में गड़बड़ करना), कृत्रिम स्वर्ण, मणि, रत्न आदि बनाना, झूठी साक्षी देना, अंगोपांगों का छेदन करना, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का विपरीत रूप में भावित करना, हिंसाजनक मंत्र, पींजरा आदि बनाना, कपट की प्रचुरता, परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह, (शौकीन) उद्धतवेषधारण, रूपमद, कठोर-असभ्य भाषण, गाली देना, व्यर्थ बकवास करना, वशीकरण प्रयोग (मारण, मोहन, उच्चाटनादि प्रयोग) करना, सौभाग्य का दुरुपयोग करना, दूसरों में कुतूहल उत्पन्न करना, आभूषणों में आसक्ति, मन्दिर गन्ध, माल्य या धूपादि का चुराना, देर तक उपहास करना, ईंटों का भट्टा लगाना, वन में दावाग्नि लगाना, प्रतिमायतन का विनाश करना, आश्रय या आधार का विनाश करना, आराम-उद्यान को नष्ट करना, तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ और पापकर्म-जीविका आदि भी अशुभ (पाप) आस्रव के कारण हैं।[2]

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ६/११/३३०
(ख) आप्तमीमांसा ९२-९५

२. (क) राजवार्तिक ६/२२/४/५२८ : "च शब्दः क्रियतेऽनुक्तस्यास्रवस्य समुच्चयार्थः। कः पुनरसौ? मिथ्यादर्शन-पिशुनता-ऽस्थिरचित्तस्वभावता-कूटमान-तुलाकरण ..... पाप कर्मोपजीवनादिलक्षणः। स सर्वोऽपि अशुभस्य नाम्न आस्रवः।"

अशुभ परिणामों तथा क्रियाओं के आधार पर पापास्रव-निर्देश

इसी प्रकार शास्त्रों में पापकर्म (अशुभ कर्म) के उपार्जन के १८ प्रकार (स्थान) बताए हैं–(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य (चुगली), (१५) परपरिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) मायामृषा (दम्भ या ढोंग), और (१८) मिथ्या-दर्शन शल्य। इन अठारह पापस्थानों (पापवृद्धि के कारणों) से अशुभ (पाप) कर्म का आस्रव होता है।[1]

दानादि शुभ क्रियाओं तथा शुभपरिणामों के आधार पर पुण्यास्रव का उपार्जन

इसी प्रकार 'स्थानांगसूत्र' में पुण्योपार्जन के नौ प्रकार का उल्लेख है–

(१) अन्नपुण्य–भोजनादि देकर किसी भूखे व्यक्ति की भूख मिटाना।

(२) पान-पुण्य–पानी पिलाकर तृषा-पीड़ित व्यक्ति की प्यास मिटाना।

(३) लयनपुण्य–बेघरबार को आश्रय के लिए मकान देना अथवा सार्वजनिक धर्मशाला आदि बनवाना।

(४) शयन-पुण्य–शय्या, बिछौना आदि सोने की सामग्री देना।

(५) वस्त्रपुण्य–सर्दी से ठिठुरते हुए को या वस्त्रहीन को वस्त्र देना।

(६) मनपुण्य–मन से शुभ विचार करना। दूसरों के मंगल के लिए भावना करना।

(७) वचनपुण्य–प्रशस्त एवं शुभ तथा सन्तोष भरे वचन बोलना, अच्छी सलाह देना।

(८) कायपुण्य–रोगी, दुःखित, पीड़ित आदि की काया से सेवा करना, श्रमदान देना।

(९) नमस्कार-पुण्य–गुणिजनों एवं महापुरुषों के प्रति श्रद्धाभक्तिवश नमस्कार करना।

इसी प्रकार भगवती सूत्र में भी अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभप्रवृत्तियाँ पुण्योपार्जन की कारण बताई हैं।[2]

मानसिक-वाचिक-कायिक शुभ-अशुभ-आस्रव के लक्षण

इसी सन्दर्भ में, राजवार्तिक में मानसिक, वाचिक एवं कायिक शुभ-अशुभ आस्रव (पुण्य-पाप) के पृथक्-पृथक् लक्षण बताते हुए कहा गया है–हिंसा, असत्य, चोरी एवं कुशील (अब्रह्मचर्य) में प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है और इनसे निवृत्ति शुभकायास्रव

---

१. देखें–अठारह पापस्थान का वर्णन : आवश्यक निर्युक्ति, प्रतिक्रमणसूत्र आदि आगमों में।

२. (क) "नवविधे पुण्णे पण्णत्ते तं जहा–"अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वइपुण्णे, कायपुण्णे, णमोक्कारपुण्णे।" –स्थानांगसूत्र, स्थान ९, सू. २५
(ख) भगवती सूत्र ७/१०/१२१

है। कठोर वचन, गाली, निन्दा चुगली, इत्यादि रूप में दूसरों के प्रति उपघातक वचन-प्रवृत्ति वाचिक अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति वाचिक शुभास्रव है। मिथ्याश्रुति, ईर्ष्या, मात्सर्य, षड्यंत्र इत्यादि रूप से मन की प्रवृत्ति मानसिक अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति मानसिक शुभास्रव है।[1]

क्रिया के बाह्य स्वरूप और परिणाम (फल) को लेकर भी द्रव्य-भावपुण्य

कर्त्ता के आशय के अतिरिक्त क्रिया के बाह्य इष्ट-अनिष्ट स्वरूप एवं क्रिया के शुभ-अशुभ बाह्य परिणाम (फल) को लेकर भी पुण्य और पाप का निर्णय किया गया है। जैसे–"पंचास्तिकाय" में भावपुण्य-द्रव्यपुण्य का लक्षण किया गया है–दान, पूजा, षट् आवश्यक आदि रूप जीव का शुभ परिणाम भावपुण्य है। इसी (पूर्वोक्त) भावपुण्य के निमित्त से उत्पन्न होने वाले सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृति-रूप पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड द्रव्य-पुण्य है। दूसरे शब्दों में–दानादि क्रियाओं से उपार्जित किया जाने वाला शुभ कर्म द्रव्यपुण्य है।[2]

इसी प्रकार पुण्य का निर्वचन 'सर्वार्थसिद्धि' में किया गया है–"जो आत्मा को पवित्र करता है, अथवा जिससे आत्मा पवित्र होता है, वह पुण्य है।"

इसी का परिणाम (फल) के आधार पर लक्षण करते हुए 'भगवती आराधना' में कहा गया है–जिससे अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है, वह कर्म पुण्य कहलाता है। इसके विपरीत जिससे अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती हो, ऐसे कर्म को (तदनुरूप भावों को) पाप कहते हैं।[3]

जैनदर्शन में पुण्य-पाप कर्म के शुभाशुभत्व का निर्णय

निष्कर्ष यह है कि जैनदर्शन पुण्य-पाप कर्म के शुभाशुभत्व का निर्णय मुख्यतया निश्चय दृष्टि से कर्त्ता के आशय (परिणाम या भाव) के आधार पर करता है, किन्तु व्यवहार दृष्टि से कहीं कर्म के अच्छे-बुरे, मंगल-अमंगल बाह्यरूप के आधार पर और

---

१. तत्र कायिको हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मादिषु प्रवृत्ति-निवृत्तिसंज्ञः। मानसो मिथ्याश्रुत्यभिध्यातेर्ष्यासूयादिषु मनसः प्रवृत्ति-निवृत्ति-संज्ञः। वाचिकः परुषाक्रोश-पिशुन-परोपघातादिषु वचःसु-प्रवृत्ति-निवृत्ति संज्ञः।" –राजवार्तिक १/७/१४/३९

२. (क) दान-पूजा-षडावश्यकादिरूपो जीवस्य शुभ परिणामो भावपुण्यम्। भावपुण्य-निमित्तेनोत्पन्नः सद्वेद्यादि-शुभप्रकृतिरूपः पुद्गल-परमाणु-पिण्डो द्रव्यपुण्यम्॥"
–पंचास्तिकाय ता. वृत्ति १०८/१७२/८

३. (क) पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्।
–सर्वार्थसिद्धि ६/३/३२०/२, राजवार्तिक ६/३-४/५०७

(ख) 'पुण्यं' नाम अभिमतस्य प्रापकम्। पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकम्।'
–भगवती आराधना (वि.) ३८/१३४/२०-२१

कहीं क्रिया की शुभाशुभ फलश्रुति के आधार पर तो कहीं भावों के साथ सामाजिक दृष्टि या लोक व्यवहार (द्रव्य) के आधार पर कर्म की शुभाशुभत्व या पुण्य-पापरूपता का निर्णय किया गया है। इस सम्बन्ध में हम विस्तृत वर्णन 'कर्म का शुभ और अशुभ रूप' शीर्षक (निबन्ध) में कर चुके हैं।[1]

बौद्ध आचारदर्शन में पुण्यकर्म का निरूपण

बौद्ध आचारदर्शन में पुण्य के दानात्मक स्वरूप की झांकी दी गई है। 'संयुत्तनिकाय' में कहा गया है कि अन्न, पान, वस्त्र, शय्या, आसन और चादर के दाता विद्वान् व्यक्ति के जीवन में पुण्य प्रवाह बहता रहता है।

'अभिधम्मत्थसंगहो' में १५ प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्तियों को कुशल चैतसिक (पुण्यकर्म) कहा गया है–(१) श्रद्धा, (२) अप्रमत्तता (स्मृति), (३) पापकर्म के प्रति लज्जा, (४) पापकर्म के प्रति भीरुता, (५) अलोभवृत्ति (त्याग), (६) अद्वेष (मैत्री), (७) समता, (८) मानसिक पवित्रता, (९) शारीरिक प्रसन्नता, (१०) मन का हलकापन, (११) शरीर का हलकापन, (१२) मन की मृदुता, (१३) शरीर की मृदुता, (१४) मन की सरलता, (१५) शरीर की ऋजुता आदि।[2]

कर्मों की शुभाशुभता का आधार राग की प्रशस्तता-अप्रशस्तता भी है

जैनदर्शन ने यह भी बताया है कि कर्मों की शुभाशुभता का आधार राग की उपस्थिति या अनुपस्थिति नहीं, अपितु राग की प्रशस्तता-अप्रशस्तता है। जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी मन्द-मन्दतर होगी, वह राग उतना ही प्रशस्त होगा, इसके विपरीत जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी तीव्र-तीव्रतर होगी, उतना ही वह राग अप्रशस्त होगा।

प्रशस्तराग या द्वेष की अत्यल्पता को ही अन्य धर्मों और दर्शनों में 'प्रेम' कहा गया है। प्रशस्त प्रेम के कारण ही परार्थ प्रवृत्ति या परोपकारवृत्ति का उदय होता है। वही शुभकर्म (पुण्य) के उपार्जन का कारण होता है। उसी से लोकमंगलकारी या समाज-कल्याणकारी अन्नदानादि नवविध शुभ प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य (शुभ) कर्म का सृजन होता है।

---

१. देखें, तृतीय खण्ड में 'कर्म का शुभ और अशुभ रूप' शीर्षक निबन्ध में विस्तृत विवेचन, – पृ. ५२९

२. (क) संयुत्तनिकाय
(ख) अभिधम्मत्थसंगहो, चैतसिक विभाग
(ग) जैनकर्मसिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन)

इसके विपरीत जहाँ अप्रशस्त राग होता है, वहाँ घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या, असूया, तुच्छ स्वार्थवृत्ति, अतिलोभ, अहंकार (जाति आदि अष्टमद) आदि अशुभवृत्ति-प्रवृत्तियों के रूप में पाप या अमंगलकारी अशुभ कर्म का सृजन होता है।

संक्षेप में, यों कहा जा सकता है कि जिस प्रवृत्ति के पीछे शुभ आशय, शुभ हेतु, शुभ मंगलकारक परार्थ-परोपकारी वृत्ति, शुभ हेतु, प्रशस्तराग (प्रेम) तथा नीति-न्याय की वृत्ति होती है, वह कर्म पुण्य (शुभ) है और जिस प्रवृत्ति के पीछे घृणा, द्वेष, तुच्छ स्वार्थ, आर्त्तरौद्रध्यान, परपीड़न, अतिलोभ, अनीति, अन्याय, अत्याचार, हिंसा आदि की वृत्ति होती है, वह कर्म पाप (अशुभ) है।[1]

कर्मों की शुभाशुभता के मापदण्ड पृथक्-पृथक् : क्यों और कैसे?

यद्यपि संसार के समस्त आस्तिक दर्शनों, धर्मों, पंथों, सम्प्रदायों एवं मजहबों ने अच्छे और बुरे कर्मों को माना है। भारतीय धर्मों और दर्शनों में जहाँ इन दोनों के लिए पुण्य और पाप शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ पाश्चात्य दर्शनों में शुभकर्मों के लिए मेरिट (Merit) और अशुभकर्मों के लिए डि-मेरिट (Demerit) अथवा गुड डीड (Good deed) और बेड डीड (Bad deed) शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह बात दूसरी है कि प्रत्येक देश की ऐतिहासिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, धर्म-धारणाओं, भौगोलिक परिस्थितियों, खान-पान एवं रहन-सहन की विभिन्नताओं तथा सभ्यता के विभिन्न स्तरों के कारण इन सबके शुभ और अशुभ कर्म के मापदण्ड पृथक्-पृथक् हो गए हैं।[2]

कतिपय पाश्चात्य दर्शनों में क्रिया की शुभाशुभता की मान्यता

इस सन्दर्भ में हम डॉ. के. एल. शर्मा के लेख–"पाश्चात्य दर्शन में क्रिया–सिद्धान्त" द्वारा यह भी प्रमाणित करना चाहते हैं कि पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में कुछ तत्त्वमीमांसक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं विधिशास्त्री ऐसे भी हुए हैं, जिनकी रुचि भारतीय आस्तिक दर्शनों के द्वारा मीमांसित कर्म के शुभाशुभ प्रत्यय की तरह क्रिया के शुभाशुभ प्रत्यय में है।

मानवक्रिया का स्वरूप बताते हुए उन्होंने कहा कि–"हमारी क्रियाएँ प्रकृति में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों (Changes) से भिन्न हैं, क्योंकि मानव स्वयं गति करने वाला (Self mover) है, तथा वह स्वयं अपनी गतियों (क्रियाओं) को प्रारम्भ (Initiate) करता है, निर्देशित (Directed) एवं नियंत्रित (Controlled) करता

१. (क) जैनकर्मसिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन)
(ख) जैनदृष्टिए कर्म (डॉ. मोतीचंद गि. कापड़िया)

२. 'कर्मविज्ञान प्रथम भाग (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि) की प्रस्तावना पृ. ८

है।..... " मनुष्य की गतियाँ इसलिए क्रिया की कोटि में आती हैं, कि उन्हें कर्ता (Agent) अक्सर अभिप्रायपूर्वक करता है, जबकि पेड़, पौधे, राकेट आदि वैसा नहीं कर सकते।".....[1]

मानव की भी कई क्रियाएँ (Human motives) आन्तरिक होती हैं, जिनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे ऐच्छिक या अभिप्रायात्मक हैं। जैसे–हाथ का कांपना, सांस लेना, रक्त संचार आदि। ये क्रियाएँ सहज होने के कारण आन्तरिक (नाड़ीतंत्र) से सम्बन्धित हैं, इसलिए इन्हें नियंत्रित नहीं किया जा सकता।"

".....अभिप्रायात्मक क्रियाओं का उत्तरदायित्व (Responsibility) से सम्बन्ध होने कारण किसी भी क्रिया को शुभ या अशुभ कहा जाता है। ..... अगर अभिप्रायात्मक एवं अनभिप्रायात्मक क्रियाओं में भेद नहीं माना जाएगा, तो इसके परिणाम मानव-दर्शन एवं नीतिशास्त्र के लिए अच्छे नहीं होंगे। .....मनस् और शरीर के सम्बन्ध की व्याख्या के लिए वे अभिप्रायात्मक क्रियाएँ–जिनका सम्बन्ध अनिवार्यतः दैहिक गति से होता है, महत्वपूर्ण हैं।.....[2]

अभिप्रायात्मक क्रियाएँ व्यक्ति–अर्थात्–दैहिक (Corporeal) शरीरयुक्त कर्त्ता करता है। इस दृष्टि से क्रिया के साथ शुभ अभिप्राय है या अशुभ? इसके निर्णय के लिए क्रिया को वर्णित करने वाले निम्नोक्त तत्वों पर विचार करना चाहिए–

(१) कर्त्ता (Agent)—इस क्रिया को किसने किया?

(२) क्रिया-प्रकार (Act-Type)—उसने कैसी क्रिया की?

(३) क्रिया करने की प्रकारता (Modality of action)—उसने किस प्रकार से क्रिया की? इसके अन्तर्गत दो पहलू हैं–(अ) प्रकारता की विधि (Modality of manners) : किस प्रकारता की विधि से उसने इसे किया?, (ब) प्रकारता का साधन (Modality of means) : उसने किस साधन द्वारा इसे किया?

(४) क्रिया की परिस्थिति (Setting of action)—किस सन्दर्भ में उसने यह क्रिया की? इसके अन्तर्गत तीन पहलू हैं–(अ) कालिक पहलू–उसने इसे कब किया? (ब) दैशिक पहलू–उसने इसे कहाँ किया? और (स) परिस्थित्यात्मक पहलू (Circumstantial aspect)—उसने किन परिस्थितियों में इस क्रिया को किया?

---

१. जिनवाणी, कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित लेख–'पाश्चात्य दर्शन में क्रियासिद्धान्त' (डॉ. के. एल. शर्मा) से, पृ. २१८

२. वही, पृ. २१९

(५) क्रिया की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता (Rationality of action)—इस क्रिया को उसने क्यों किया? इसके अन्तर्गत भी तीन पहलू हैं–(अ) कारणता (Cause)—इसे करने के पीछे क्या कारण था?, (आ) पूर्णता (Finality)—किस उद्देश्य (aim) से उसने इसे किया? तथा (इ) अभिप्रायता (Intentionality)—किस प्रेरणा से, या किस अभिप्राय से उसने यह क्रिया की?

"क्रिया की प्रकारता–क्रिया के विशेषणों से ज्ञात हो जाती है और प्रकारता के आधार पर कर्ता की मानसिक स्थिति का पता लग जाता है। क्रिया की परिस्थिति सन्दर्भ का निर्धारण–पर्यावरण, काल, स्थान एवं परिस्थिति के आधार पर किया जाता है। कर्ता ने क्रिया क्यों की? इस प्रश्न की व्याख्या में कारणता, पूर्णता एवं प्रेरणा का ध्यान रखा जाता है।[1]

"..... व्यक्ति के प्रत्यय (जिसके अन्तर्गत दैहिक और मानसिक पहलू हैं) के समान क्रिया के भी बाह्य (दैहिक और निरीक्षणीय) तथा आन्तरिक (मानसिक एवं अन्तर्निरीक्षणीय) परस्पर सम्बद्ध पहलू (प्रत्यय) हैं। क्रिया के बाह्य पहलू का सम्बन्ध–उसने क्या किया?, कैसे किया? तथा किन परिस्थितियों में किया? से है; जबकि आन्तरिक पहलू का सम्बन्ध उसकी मानसिक स्थिति (विचार, अभिप्राय, प्रेरणा आदि) से है।"

"वस्तुतः कर्ता ने क्या किया? और क्यों किया? में भेदरेखा–अर्थात्–क्रिया के वर्णन (description) एवं मूल्यांकन के बीच विभाजन रेखा खींचना सिद्धान्ततः सम्भव भी है और व्यावहारिक रूप से वांछनीय भी है।[2]

जैनकर्मविज्ञान में भी क्रिया के पीछे प्रकार, पद्धति, भावादि द्वारा शुभाशुभ कर्म की मान्यता

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कतिपय पाश्चात्य दर्शनों ने जैनकर्मविज्ञान द्वारा मान्य शुभ-अशुभ क्रियाओं से होने वाले पुण्य-पापास्रव के सिद्धान्त की पुष्टि की है। जैनकर्म-विज्ञान भी कर्ता के द्वारा की जाने वाली केवल क्रियाओं को शुभाशुभ कर्म के आस्रव का कारण नहीं मानता, अपितु क्रियाओं को कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीन रूपों में विभाजित करके फिर उसके पीछे क्रिया के प्रकार, क्रिया करने की पद्धति (तीव्रता, मन्दता, जाने-अनजाने, तथा साधनों के प्रकार

---

१. (क) वही, पृ. २२१
(ख) Nicholas Rescher—"On the Characterization of Actions." "The Nature of Human Action." Edited by—Myles Brand, P. 247-54

२. जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित–'पाश्चात्य दर्शन में क्रिया सिद्धान्त' लेख से, पृ. २२२

आदि), क्रिया करने की परिस्थिति एवं क्रिया करने के पीछे अभिप्राय, परिणाम, इरादा या उद्देश्य, भाव आदि के आधार पर ही क्रिया के शुभत्व (पुण्यत्व) अथवा अशुभत्व (पापत्व) का निर्णय करता है।

यही कारण है कि तीनों योगों (मन, वचन, काया के प्रयोगों) से होने वाली क्रिया या प्रवृत्ति के द्वारा निष्पन्न होने वाले आस्रव के शुभाशुभत्व (पुण्य-पापास्रव) का आधार न तो केवल प्रवृत्ति या क्रिया है, और न ही कर्मबन्ध की शुभाशुभता है। यदि कर्मबन्ध को शुभाशुभता का आधार मानते हैं तो कोई भी योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) शुभ नहीं रह पाएगा। आठवें आदि गुणस्थानों में शुभयोग भी अशुभज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध का कारण होता है।[1]

शुभ-अशुभ योगरूप पुण्य-पापास्रव पुण्य-पापबन्ध के कारण : क्यों और कैसे?

शुभाशुभयोगरूप पुण्य-पाप-आस्रव पुण्य-पापबन्ध के कारण हैं। इस अपेक्षा से शुभयोग का कार्य पुण्य प्रकृति का बन्ध और अशुभयोग का कार्य पाप प्रकृति का बन्ध है, यह कथन आपेक्षिक है; क्योंकि कषाय की मन्दता के समय होने वाला योग शुभ और कषाय की तीव्रता के समय होने वाला योग अशुभ है। जैसे–अशुभयोग के समय प्रथम आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है; वैसे ही छठे आदि गुणस्थानों में शुभयोग के समय भी सभी पुण्य-पाप-प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है। फिर शुभयोग का पुण्यबन्ध के और अशुभयोग का पापबन्ध के कारणरूप में पृथक्-पृथक् विधान कैसे संगत हो सकता है?

इसका समाधान कर्मविज्ञान-वेत्ताओं ने इस प्रकार किया है कि प्रस्तुत विधान मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। शुभयोग की तीव्रता के समय पुण्यप्रकृतियों के अनुभाग (रस) की मात्रा अधिक और पाप-प्रकृतियों के अनुभाग की मात्रा अल्प निष्पन्न होती है। इसके विपरीत अशुभयोग की तीव्रता के समय पापप्रकृतियों का अनुभाग (रस) बन्ध अधिक और पुण्यप्रकृतियों का अनुभागबन्ध अल्प होता है। पहले में जो शुभयोग-जन्य पुण्यानुभाग की अधिक मात्रा तथा दूसरे में अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है उसे ही प्रधान मानकर सूत्रों में अनुक्रम से शुभयोग को पुण्य का और अशुभ योग को पाप का कारण कहा गया है। यहाँ शुभयोगजन्य पापानुभाग की अल्पमात्रा तथा अशुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अल्प मात्रा विवक्षित नहीं है। इसलिए लोक की भाँति शास्त्र में भी प्रधानता की दृष्टि से कथन किया गया है।[2]

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) पृ. १४९
   (ख) चतुर्थ कर्म ग्रन्थ (गुणस्थानों में बन्ध विचार) तथा द्वितीय कर्म ग्रन्थ
२. (क) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) से पृ. १५०
   (ख) न्यायशास्त्र का 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति', यह न्याय प्रसिद्ध है।

जैनदर्शन में योगों की शुभाशुभता के आधारभूत तथ्य

जैसे कि पाश्चात्य दर्शनों में क्रियासिद्धान्त में क्रिया की शुभाशुभता के आधारभूत कतिपय तथ्य बताये गए थे, वैसे ही जैनदर्शन में भी मन-वचन-काय के योग (क्रिया या प्रवृत्ति) की शुभाशुभता के लिए तत्त्वार्थसूत्र में भी कुछ तथ्य बताये गए हैं–तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य (शक्ति विशेष) और अधिकरण (शस्त्रादि) की भिन्नता (अन्तर) से उसकी (कर्मास्रव तथा तत्पश्चात् कर्मबन्ध की) विशेषता होती है।

अव्रत, कषाय, इन्द्रिय व्यापार तथा क्रिया आदि पूर्वोक्त आस्रव (बन्धकारण) एक सरीखे होने पर भी परिणामों (भावों) की तीव्रता-मन्दता के कारण कर्मबन्ध भी पृथक्-पृथक् प्रकार का होता है। जैसे–एक ही दृश्य के दो दर्शकों में एक मंद आसक्ति-वाला है, दूसरा तीव्र आसक्तिवाला है, तो दोनों का कर्मबन्ध भी मन्द-तीव्र होगा।

इच्छापूर्वक प्रवृत्ति करना ज्ञातभाव है, अनिच्छापूर्वक कृत्य का हो जाना अज्ञातभाव है। ज्ञातभाव और अज्ञातभाव में बाह्य क्रिया समान होने पर भी कर्मबन्ध में अन्तर पड़ता है। जैसे–एक पापपरायण व्यक्ति नदी पार करता हुआ निःशंक होकर अनेक जलजन्तुओं को मार देता है, उसे तीव्र अशुभ कर्मबन्ध या पापकर्मास्रव होगा, जबकि एक ईर्यासमितिपूर्वक गमन करने वाले साधक से नदी पार करते समय अकस्मात् कोई जलजन्तु पैर से दबकर मर जाता है, तो उसे तीव्र अशुभकर्मबन्ध ही नहीं, बल्कि पापकर्म का बन्ध या पापास्रव भी उसे नहीं होगा।

वीर्य (शक्तिविशेष) भी शुभ-अशुभ कर्मास्रव या कर्मबन्ध की विचित्रता का एक कारण है। जैसे–दान, सेवा आदि शुभकार्य एक व्यक्ति पूर्ण शक्तिभर करता है, जबकि दूसरा व्यक्ति हत्या, चोरी आदि अशुभ कार्य पूरी शक्ति से निःशंक होकर करता है तो पहले व्यक्ति को शुभकर्म का तीव्र आस्रव या बन्ध होगा, जबकि दूसरे व्यक्ति को अशुभ कर्म का तीव्र आस्रव या बन्ध होगा।

फिर अधिकरण के भेद से भी शुभाशुभ कर्मास्रव में तथा कर्मबन्ध में अन्तर पड़ता है। एक डाक्टर है, वह तीव्र करुणा भाव से किसी रोगी का ऑपरेशन करते समय शस्त्र द्वारा फोड़े की चीर-फाड़ करता है, उसे तीव्र शुभकर्मास्रव या शुभ कर्मबन्ध होता है। जबकि एक हत्यारा आवेश में आकर किसी के पेट में छुरा भोंककर उसका प्राणान्त कर देता है, उसे तीव्र अशुभकर्मास्रव (पाप कर्म) या तीव्र पाप कर्मबन्ध होता है।

बाह्य क्रिया समान होने पर भी जीवअधिकरण–संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूप में तीन प्रकार का योग (मन-वचन-काय प्रयोग) के रूप में तीन प्रकार का, कृत-कारित एवं अनुमत रूप में तीन प्रकार का और कषाय के रूप में चार प्रकार का है।

इसी प्रकार अजीवाधिकरण भी निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग के क्रमशः दो, चार, दो और तीन भेद रूप हैं।

जीव और अजीव दोनों से शुभ या अशुभ क्रिया निष्पन्न होती है। अकेला जीव या अकेला अजीव कुछ नहीं कर सकता।

द्रव्याधिकरण है—जीव—व्यक्ति तथा अजीव वस्तु, तथा भावाधिकरण है—जीव के कषाय आदि परिणाम तथा छुरी आदि निर्जीव (अजीव) वस्तु की तीक्ष्णता-अतीक्ष्णता रूप शक्ति या शस्त्र का प्रयोग करने की शक्ति आदि।[1]

योग द्वारा बाह्य क्रिया में समानता होने पर भी शुभ-अशुभकर्म के आस्रव तथा बन्ध में असमानता के कारणरूप में सूत्र में तीव्र-मन्द, ज्ञात-अज्ञातभाव, वीर्य, एवं अधिकरण आदि की विशेषता का प्रतिपादन किया है।

वास्तव में योगों की शुभाशुभता के लिए केवल शुभ-अशुभ परिणाम ही आधार हैं, जिन्हें ही क्रमशः पुण्यास्रव और पापास्रव कहा जाता है, किन्तु कर्मबन्ध की तीव्रता-मन्दता के लिए विशेष निमित्त काषायिक परिणामों की तीव्रता-मन्दता ही है। सज्ञात-अज्ञात प्रवृत्ति या शक्ति की विशेषता या शस्त्रप्रयोग-विशेषता में काषायिक परिणामों की तीव्रता-मन्दता कारण है।

शुभ-अशुभ कार्य से सम्बन्धित अन्य बातें

जब कोई सांसारिक जीव दान, परोपकार आदि शुभकार्य अथवा हिंसादि अशुभ कार्य करने में प्रवृत्त होता है, तब वह क्रोध या मान आदि किसी कषाय से प्रेरित होता है। कषाय-प्रेरित होने पर भी कभी तो वह स्वयं उस शुभ या अशुभ कार्य को करता है, कभी दूसरे से करवाता है, अथवा दूसरे के द्वारा किये गए कार्य की प्रशंसा और अनुमोदना करता है।

इसी प्रकार वह कदाचित् उस कार्य को-मन, वचन या काया इन तीनों योगों में से किसी एक, दो या तीनों योगों से जोश में आकर कार्य प्रारम्भ (संरम्भ) करता है अथवा उस कार्य के लिए साधन जुटाता (समारम्भ करता) है, या कार्य करने में जुट जाता (आरम्भ करता) है। अर्थात् उस कार्य की संकल्पात्मक सूक्ष्म अवस्था से लेकर उसे प्रकट रूप में पूर्ण करने तक की तीन अवस्थाएँ क्रमशः संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की सूचक हैं। इन तीनों में से वह किसी एक, दो या तीनों अवस्थाओं से युक्त होता है।

जीवाधिकरण की १०८ अवस्थाएँ

संसारी जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करते समय पूर्वोक्त भाव जीवाधिकरण की

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सू. ७
(ख) तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) से पृ. १५३-१५४

१०८ अवस्थाओं में से किसी न किसी एक अवस्था में अवश्य रहता है। जैसे–क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों का कृत, कारित तथा अनुमोदित रूप से संरम्भ के साथ काय का योग होने से कुल १२ भेद हुए। काय के स्थान में वचन और मन पद लगाने से १२ × ३ = ३६ भेद हुए। तीनों के ३६ संरम्भकृत भेदों में संरम्भ के स्थान में समारम्भ और आरम्भ पद लगाने से ३६ + ३६ + ३६ = १०८ भेद कुल होते हैं।

भाव-अजीवाधिकरण के भेद-प्रभेद

परमाणु आदि मूर्त वस्तु द्रव्य-अजीवाधिकरण है, और जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी मूर्त द्रव्य जिस अवस्था में विद्यमान होता है, वह भाव-अजीवाधिकरण है। यहाँ भाव-अजीवाधिकरण के मुख्य ४ भेद बताए गए हैं–(१) निर्वर्तना (रचना), (२) निक्षेप (रखना), (३) संयोग (मिलाना) तथा (४) निसर्ग (प्रवर्तन = प्रयोग)।

निर्वर्तना के दो भेद हैं– मूलगुण-निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना। औदारिक आदि शरीर रूप (जिसमें मन, इन्द्रिय, अंगोपांग आदि) रचना, जो जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में अन्तरंग साधन के रूप में उपयोगी होती है, वह है–मूलगुणनिर्वर्तना, जबकि पुद्गल द्रव्य की बाह्य साधन रूप में (लकड़ी, पत्थर आदि के रूप में) जीव की शुभाशुभ परिणति में उपयोगी होती है, वह उत्तरगुण निर्वर्तना है।[1]

निक्षेप भी चार प्रकार का है–(१) अप्रत्यवेक्षित, (२) दुष्प्रमार्जित, (३) सहसा-निक्षेप और (४) अनाभोग-निक्षेप।

किसी वस्तु को भलीभाँति देख-भाल किये बिना ही कहीं रख देना, अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। प्रत्यवेक्षण करने पर भी अच्छी तरह प्रमार्जन किए बिना ही वस्तु को जैसे-तैसे रख देना दुष्प्रमार्जित निक्षेप है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही सहसा अर्थात् हड़बड़ी में, जल्दी-जल्दी में वस्तु को रख देना सहसा निक्षेप है। उपयोग के बिना ही किसी वस्तु को कहीं रख देना अनाभोग निक्षेप है।

संयोग के भी दो भेद हैं–भक्तपान-संयोगाधिकरण और उपकरण संयोगाधिकरण। अन्नजल आदि खाद्य-पेय वस्तुओं का संयोजन करना भक्तपान संयोगाधिकरण है और वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का संयोजन करना उपकरण-संयोजनाधिकरण है।

निसर्ग के भी तीन प्रकार हैं–शरीर, वचन और मन का प्रवर्तन क्रमशः काय-निसर्ग, वचन-निसर्ग और मनो-निसर्ग कहलाता है।[2]

इसके अतिरिक्त साम्परायिक कर्मों में शुभ-अशुभरूप (पुण्य-पाप रूप) में कर्म की उत्तरप्रकृतियों के अनुसार विभिन्न बन्धहेतु के रूप में शुभाशुभ आस्रव बताये हैं। उनका विस्तृत वर्णन हम आगे बन्ध के प्रकरण में करेंगे।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलाल जी) से पृ. १५४-१५५
२. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) से पृ. १५५

यहाँ तो इतना ही बताना अभीष्ट है कि योगरूप आस्रव के शुभाशुभत्व का निर्णय केवल प्रवृत्ति से ही नहीं होता, अपितु तीव्र-मन्दादि परिणाम भेद से, शक्तिविशेष से तथा पूर्वोक्त विभिन्न अधिकरणों के आधार पर होता है।[1]

पुण्य-पाप : आस्रव भी और बन्ध भी

उत्तराध्ययन सूत्र में नवतत्त्वों (पदार्थों) का निरूपण किया गया है, उसमें पुण्य और पाप को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में बताया गया है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में तथा दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में पुण्य-पाप को छोड़कर सात तत्त्वों का ही उल्लेख किया गया है--जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

किन्तु यह मतभेद विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। जो परम्परा पुण्य-पाप को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानती है, वह इन्हें आस्रव के अन्तर्गत समाविष्ट कर लेती है। अगर सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो पुण्य और पाप केवल शुभाशुभ आस्रव रूप ही नहीं है, अपितु शुभाशुभ कर्मबन्ध के रूप में तथा शुभाशुभ कर्मफल के रूप में भी इनका स्वीकार किया गया है।

अतः आस्रव के दो विभाग (शुभास्रव, अशुभास्रव) करने मात्र से उद्देश्य पूरा नहीं होता, क्योंकि आस्रव की तरह बन्ध और विपाक के भी शुभ और अशुभ के भेद से दो-दो भेद करने होंगे। इस वर्गीकरण और भेदाभेद की कठिनाई से बचने के लिए आगमों में पुण्य-पाप को दो स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में प्रतिपादित करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[2]

आचार्यों ने पुण्य-पाप द्रव्य और भावरूप से दो-दो प्रकार के बताए हैं--(१) शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य-पुण्य तथा (२) अशुभ कर्म पुद्गल द्रव्य-पाप। इसलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि आत्मा से सम्बद्ध कर्म पुद्गल या आत्मा और कर्म पुद्गल का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्यबन्ध तत्त्व है। द्रव्य पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय है जो भावपुण्य है, और द्रव्य-पाप का कारण है अशुभ अध्यवसाय, जो भावपाप है। दोनों का बन्धतत्त्व में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि बन्ध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय ही भावबन्ध है।[3]

शुभाशुभ आस्रव और बन्ध में सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर

निष्कर्ष यह है कि शुभ-अशुभ आस्रव (पुण्य-पाप आस्रव) कर्मों के आगमन के बीज हैं और शुभाशुभ बन्ध उन्हीं के अंकुर हैं। शुभाशुभ आस्रव पूर्वक्षणवर्ती हैं, और शुभाशुभ बन्ध उत्तरक्षणवर्ती हैं।

---

१. इसके विशेष विवरण के लिए बन्ध-प्रकरण देखें।
२. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित लेख--पुण्य-पाप की अवधारणा (जशकरण जी डागा) से पृ. १५३
३. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) पृ. ५-६

आस्रव और बन्ध में सैद्धान्तिक दृष्टि से एक अन्तर यह भी है कि तत्त्वार्थ- सूत्र में प्रत्येक मूल कर्म-प्रकृति के जो आस्रव गिनाये गए हैं, उसके अतिरिक्त आस्रव भी उनके हो सकते हैं। जैसे वध, बन्धन, ताड़न आदि तथा अशुभ प्रयोग आदि असातावेदनीय के आस्रवों में नहीं गिनाये हैं, फिर भी वे उनके आस्रव हैं।

इतना होने पर भी आस्रव तो एक समय में नियमानुसार एक कर्म-प्रकृति का ही होता है, किन्तु बन्ध तो एक समय में एक प्रकृति के अतिरिक्त दूसरी अविरोधी प्रकृतियों का भी हो जाता है।

यह शास्त्रीय नियम है कि सामान्यतया आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष सातों कर्मप्रकृतियों का बन्ध एक साथ होता है। इस नियम के अनुसार जब ज्ञानावरणीय कर्मप्रकृति का बन्ध होता है, तब वेदनीय आदि छहों कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध होता है। इस दृष्टि से एक कर्मप्रकृति के आस्रव अन्य कर्मप्रकृति के भी बन्धक हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि तब फिर प्रकृति-विभाग से आस्रवों के पृथक्-पृथक् विभाग करने का क्या प्रयोजन है।[1]

इसका समाधान करते हुए पं. सुखलाल जी कहते हैं कि आस्रवों का कर्मप्रकृतियों के अनुसार जो पृथक्-पृथक् विभाग बतलाया गया है, वह अनुभाग (रस) बन्ध की अपेक्षा से बताया गया है। किन्तु किसी भी एक कर्मप्रकृति के आस्रव के सेवन के समय उस कर्मप्रकृति के अतिरिक्त अन्य कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध होता है, यह शास्त्रीय नियम केवल प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से घटित करना चाहिए, न कि अनुभाग बन्ध के विषय में।

निष्कर्ष यह है कि यहाँ आस्रवों का विभाग प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से नहीं, अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। अतः एक साथ अनेक कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध मान लेने से इस शास्त्रीय नियम में कठिनाई नहीं आती तथा प्रकृतिविभाग में उल्लिखित आस्रव भी केवल उन-उन कर्मप्रकृतियों के अनुभागबन्ध में ही निमित्त बनते हैं। इस प्रकार यहाँ आस्रवों का बन्ध के कारणरूप में जो विभाग निर्दिष्ट किया है, यह भी बाधित नहीं होता। इस व्यवस्था से पूर्वोक्त शास्त्रीय नियम एवं प्रस्तुत आस्रव सम्बन्धी विभाग दोनों अबाधित बने रहते हैं।[2]

"फिर भी इतना विशेष है कि अनुभागबन्ध की अपेक्षा से आस्रव का समर्थन भी मुख्य भाव की अपेक्षा से ही है। अर्थात्–ज्ञान-प्रदोष आदि आस्रवों के सेवन के समय मुख्य रूप से तो ज्ञानावरणीय कर्म के अनुभाग का बन्ध होता है, और उसी समय बंधने

---

१. तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलाल जी) (नया संस्करण) पृ. १६४

२. वही, पृ. १६४-१६५

वाली अन्य कर्म-प्रकृतियों के अनुभाग का बन्ध गौणरूप से होता है। आशय यह है कि जिस समय योग द्वारा जिन कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध सम्भव है, उसी समय कषाय द्वारा उतनी ही कर्मप्रकृतियों का अनुभागबन्ध भी सम्भव है।"[1]

अन्तर्भूमि में पुण्य-पाप का देवासुर-संग्राम

वास्तव में पुण्य और पाप दोनों ही प्रमत्त संसारी जीव के मन-वचन-कायामय जीवन के क्षेत्र पर छाये रहते हैं। सर्वथा पुण्य ही पुण्य रहे, पाप का अंशमात्र भी न रहे, यह निम्नस्तरीय भूमिका में होना कठिन है। इसी प्रकार सर्वथा पाप ही पाप रहे, उसमें पुण्य का अंश मात्र भी न रहे, यह भी निम्नतमस्तर की भूमिका में असम्भव है। इसीलिए पुराणों में एक कल्पना दी गई है–देव-असुर संग्राम की। प्रमत्त संसारी जीव के तन-मन-वचन में देव भी रहते हैं और असुर (दानव) भी। दोनों आस्रव जीवन के इस अखाड़े में मल्लयुद्ध करने के लिए तैयार रहते हैं। कभी कोई जीतता है, और कभी कोई हारता है।

इस देवासुर संग्राम का प्रारम्भ और अन्त : कब और कैसे?

इस देवासुर-संग्राम का अन्त केवल बुद्धि के सहारे नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही पक्ष अपने-अपने दावे पेश करते हैं और अपनी-अपनी युक्ति, तर्क, सामर्थ्य और विशेषता का प्रतिपादन करते हैं। इनमें से कोई अपनी हार नहीं मानता। क्षमता किसी में भी कम नहीं। यह द्वन्द्व अनन्तकाल से चला आ रहा है। यह अन्तर्द्वन्द्व है।[2] इसे कर्मविज्ञान की भाषा में पुण्य-पाप का द्वन्द्व कह सकते हैं।

पाप और पुण्य दोनों में से किसकी प्रबलता कब तक?

साधक जब तक ११वें गुणस्थान की भूमिका तक नहीं पहुँच जाता, तब तक कषायों के वेग के कारण पाप और पुण्य का अन्तर्द्वन्द्व मचा रहता है। यह बात दूसरी है कि सातवें अप्रमत्त गुणस्थान की भूमिका से लेकर तेरहवें गुणस्थान की भूमिका तक के स्वामी पाप का दाँव बिलकुल नहीं चलने देते, उसे जीतने नहीं देते। वे पाप को जरा भी प्रश्रय नहीं देते। पुण्य को भी चलाकर उपार्जन नहीं करते, न ही प्रश्रय देते हैं, अगर पहले से पुण्य बंधा हुआ हो, और उसके उदय से कोई शुभ या अनुकूल फल प्राप्त हो गया हो तो उसे भी समभाव से भोग लेते हैं। उसमें आसक्ति बहुत ही कम, तथा कषाय मन्द होता है, दसवें गुणस्थानी तक में। उससे आगे तो कषाय भी नहीं होते। राग की मात्रा ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशान्तदशा में होती है। बारहवें में तो उसका भी अत्यन्त क्षय हो जाता है।

---

१. बन्ध के विषय में अगले (बंध के) प्रकरण में विस्तृत विवेचन देखें।
२. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७८ में प्रकाशित 'अन्तर्जगत् का देवासुर संग्राम' लेख से भावांश ग्रहण पृ. ५२

आगे की भूमिका में उत्तरोत्तर पाप हारता है, पुण्य जीतता है

निष्कर्ष यह है कि अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक तो लोभ आदि कषाय और मोह की दशा तीव्रतम तो नहीं, परन्तु तीव्र तो रहती ही है। उसके पश्चात् देशविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से दसवें सूक्ष्म सम्पराय नामक गुणस्थान तक लोभादि कषाय और मोह की दशा उत्तरोत्तर कम होती जाती है। इस तथ्य की दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों की शक्ति को देखें तो पुण्य की शक्ति प्रबल है, पाप की शक्ति अल्प है। परन्तु निम्न-निम्नतर गुणस्थानों में पाप की शक्ति प्रबल प्रतीत होती है, पुण्य की कम; परन्तु ऐसे गुणस्थान प्रथम से लेकर चतुर्थ तक के चार ही हैं। आगे के गुणस्थानों में पाप की शक्ति उत्तरोत्तर कम होती जाती है। पाप हारता जाता है और पुण्य जीतता जाता है।

पाप पतन के मार्ग पर और पुण्य उत्थान के मार्ग पर ले जाता है

प्रत्येक प्राणी के भीतर अन्तरात्मा की भूमि पर ये ही दो प्रबल तत्त्व बैठे हैं। एक का नाम पुण्य है, दूसरे का नाम पाप है। एक देव है, दूसरा असुर है। एक प्रकाश रूप है, दूसरा अन्धकार रूप है। ये दोनों ही आस्रव (कर्मास्रव) हैं। एक आत्मा के उत्थान एवं विकास में सहायक हो सकता है, जबकि दूसरा आत्मा के पतन में सहायक। एक सांसारिक या भौतिक विकास में सहायक होने से आध्यात्मिक एवं धार्मिक उत्थान में निमित्त बन जाता है, जबकि दूसरा सांसारिक एवं भौतिक विकास में एक बार तो सहायक होता प्रतीत होता है, परन्तु फिर विकास का दीपक एकदम बुझ जाता है और वह आध्यात्मिक एवं नैतिक पतन के मार्ग पर बढ़ता जाता है। दोनों के परिणाम में रात और दिन का अन्तर है। पुण्य का परिणाम सुख के रूप में आता है, जबकि पाप का परिणाम दुःख रूप में।

अधिकांश मानव सुख की–विषय-सुख की कामना करते हुए, उसकी पूर्ति के लिए अनेकों पाप कर्म करते हैं। उनके दुष्परिणाम के रूप में वे दुःख भी पाते रहते हैं, फिर भी उक्त पाप कर्म से विरत नहीं होते। इसका कारण है– अन्तर्मन में होने वाला वही अन्तर्द्वन्द्व।

पुण्य की भ्रान्तिवश पापास्रव का संचय

वस्तुतः ऐसे सुखेच्छु लोगों को पाप कर्मों के आस्रव से विमुख होकर पुण्यकर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए था। ऐसे लोग धन, विषय-सुख-साधन आदि को पुण्य का फल मानकर उन्हीं के जुटाने में एक ओर नाना पाप करते रहते हैं, दूसरी ओर ऐसे लोग थोड़ा-सा भजन-पूजन या दिन में कुछ देर भगवान् का नाम-जप या पूजा-पाठ करके मान लेते हैं कि हमने पुण्य कर्म कर लिया। इस पुण्य लाभ से हमारे पाप नष्ट हो जायेंगे। फलस्वरूप इस लोक में हमें धन-वैभव और उससे सुख-साधन प्राप्त हो जायेंगे, परलोक

में भी हमें स्वर्ग आदि के सुख मिल जाएँगे। परन्तु उनका यह विचार मिथ्या है, नितान्त स्वार्थपूर्ण है, एवं भ्रमयुक्त है।[1]

जप, तप, पूजा-पाठ, आदि के साथ-साथ जब तक सदाचरण नहीं होगा, जीवन नैतिकता से युक्त नहीं होगा, तथा परार्थ सत्कर्मों की प्रवृत्ति नहीं होगी, तब तक पुण्य आस्रव उनसे कोसों दूर रहेगा, पापकर्म का आस्रव ही उनके जीवन में घनीभूत होता जाएगा।

पापकर्मों से जुटाए हुए सुख-साधनों से पुण्यलाभ मिलना कठिन

पाप-आस्रव को चाहता तो कोई नहीं, न ही पापी कहलाना चाहता है, परन्तु वैषयिक सुखलिप्सा एवं नितान्त स्वार्थपरायणता उसे पुण्य-आस्रव से दूर ठेलती जाती है। वह आसुरी वृत्तियों से ग्रस्त होकर अहंकार, स्वार्थ, तृष्णा, सुखभोगलिप्सा आदि में प्रवृत्त रहता है। अनुचित रूप से एकत्रित किये हुए तथा हिंसा, ठगी, बेईमानी आदि पापकर्मों से जुटाए हुए सुख के साधन कथमपि पुण्यास्रव के कारण नहीं हो सकते। एक ओर पापकर्मों के आस्रव से दूर रहा जाए, और दूसरी ओर नीतिधर्म से प्राप्त धन एवं साधन से अपने और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के साथ-साथ अभावपीड़ितों, अज्ञानग्रस्तों, दीन-हीनों, पददलितों एवं सात्विक अकिंचन सुपात्रों को सत्कार सद्भावना एवं श्रद्धापूर्वक दान, सहयोग एवं सहायता-प्रदान किया जाए तो पुण्य-आस्रव का लाभ मिल सकता है।

पुण्य और पाप के अन्तर्द्वन्द्व में आसुरीवृत्ति की प्रबलता

परन्तु पुण्य और पाप का पूर्वोक्त अन्तर्द्वन्द्व उसके मन-मस्तिष्क में ऐसी सद्भावना, श्रद्धा, एवं सत्कार भावना एवं पदार्थ-समर्पण भावना आने ही नहीं देता है। आसुरीवृत्ति का धनी व्यक्ति इन बातों को सोच ही नहीं पाता और वह मिथ्याभ्रान्ति का शिकार होकर पुण्यलाभ के बहाने पापकर्मों का उपार्जन करता रहता है।

पापरूप असुरपक्ष के तर्क-कुतर्क

कई लोगों का विचार ही पापास्रव में रूढ़ हो जाता है, तदनुसार तर्क-वितर्क उनके मन-मस्तिष्क में रूढ़ हो जाता है।

असुरपक्ष का तर्क यह है कि परलोक किसने देखा है? इन प्रत्यक्ष सुख-साधनों को छोड़कर परोक्ष सुख के लिए दूसरों को अपना धन, साधन लुटा दें, दान कर दें, या अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग कर दें, यह तो सरासर मूढ़ता है। सुख-साधनों के उपभोग का लाभ और आनन्द तो तत्काल मिलता है। अधिकांश व्यक्ति उसी मार्ग पर

---

१. वही, जनवरी १९७८ में प्रकाशित लेख से भावांश पृ. ५३

चल रहे हैं। साथी स्वजनों का परामर्श और प्रोत्साहन तो उसी के लिए है। फिर भावी सुख के लिए वर्तमान सुखों को तिलांजलि देकर दुःख में पड़े रहना, यह कौन-सा पुण्य है? परलोक किसने देखा है? पता नहीं, इस त्याग का, दान का या परोपकार का फल इस लोक में या परलोक में मिलेगा या नहीं? सभी लोग तो प्रत्यक्ष सुख-प्राप्ति के तात्कालिक लाभ के मार्ग पर चल रहे हैं, फिर मुझे इस (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या प्रत्यक्षलाभवाद के) मार्ग पर क्यों नहीं चलना चाहिए?[1]

इस प्रकार पुण्य और पाप के अन्तर्द्वन्द्व के शिकार लोग पापास्रव-परायण होकर जीवनयापन करते रहते हैं। ऐसे लोग आरामतलबी एवं सुख-सुविधाभोगी बनकर, निपट स्वार्थी एवं पापचारी बन जाते हैं।

पापश्रमण : पुण्य से दूर, पापास्रव के निकट

उत्तराध्ययनसूत्र में ऐसे श्रमणों—स्व-पर-कल्याण की साधना के उद्देश्य से बने हुए साधुओं को पापश्रमण कहा गया है, जो सुरक्षित निवासस्थान (उपाश्रय आदि) एवं खान-पान की प्रचुर सुविधा मिल जाने पर, केवल तत्त्वज्ञान बघारता रहता है और यथेच्छ खा-पी कर सुख से सो जाता है, आलसी बनकर पड़ा रहता है, स्वधर्म-कर्तव्य की प्रेरणा करने वाले आचार्य या उपाध्याय आदि की निन्दा-भर्त्सना करता रहता है, ऐसा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपश्चरण में प्रमादी, अविनीत, अहंकारी, कलहकारी, मायावी, वाचाल, लुब्ध एवं कदाग्रही व्यक्ति साधु बन जाने पर भी साधुवेश में पापास्रव का उपार्जन करने वाला 'पापश्रमण' कहलाता है। वह कर्मक्षय की साधना से तो प्रायः दूर ही रहता है, शुभकर्मरूप पुण्यास्रव के उपार्जन की साधना भी नहीं करता।[2]

पापास्रव-परायण लोगों की वृत्ति-प्रवृत्तियाँ

ऐसे श्रमणों के जीवन में भी जब प्रमादवश पापाचरण घुस जाता है, तब उनसे नीची श्रेणी के गृहस्थों या गृहस्थ साधकों के जीवन में पापास्रवों का प्रविष्ट होना कौन-सी बड़ी बात है? ऐसे पापास्रव-परायण लोगों की इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं, मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए लालायित रहती हैं। उन्हें उपभोग के जितने साधन एवं अवसर मिलते हैं, उतनी ही बार वे प्रसन्न होती हैं। बल्कि बाहर से इन्द्रियविषयों तथा सुखसाधनों का त्याग कर देने पर भी अन्तर्मन में उनको पाने और भोगने की लालसा बलवती हो उठती है। फलतः उनका तन-मन भी आराम, सुख-सुविधा और सुख-साधनों के उपभोग की इच्छा करता रहता है। आमोद-प्रमोद, हास्य-विनोद एवं मनोरंजन के आधुनिक साधनों

१. (क) वही, जनवरी १९७८ पृ. ५३/५४
   (ख) तुलना करें—उत्तराध्ययन अ. ५ गा. ५, ६, ७, ८, ९, १०
२. उत्तराध्ययनसूत्र अ. १७ पापश्रमण गाथा २ से २० तक

(टी.वी., रेडियो, संगीत, फिल्म-दर्शन आदि) में उनका जी रमता रहता है।[1] इनके साधनों को एकत्रित करने एवं जुटाने में वे अहर्निश लगे रहते हैं।

पापास्रवपरायण : पुण्यफल की भ्रान्ति के शिकार

प्रतिफल यह होता है कि उन्हें उपभोग-सामग्री एवं सुख-सुविधाएँ प्रचुरमात्रा में तत्काल मिल जाती हैं। उसका नतीजा यह होता है कि फिर वे इन्हीं के लिए सोचते और करते रहते हैं। ऐसा सोचने और करते रहने में ही वे पुण्यफल की प्राप्ति समझते हैं। इस पुण्यफल की तथाकथित भ्रान्ति के फलस्वरूप वे पापास्रवों को छोड़ नहीं पाते और न ही नया पुण्य उपार्जित कर पाते हैं।

वे ऐसा सोचते रहते हैं–साधनों के संग्रह से मिलने वाली अमीरी ही तो पुण्यवानी की निशानी है, इसी से समाज में बड़प्पन, प्रशंसा, प्रतिष्ठा और वाहवाही मिलती है, यश-कीर्ति मिलती है। अन्य व्यक्ति उनकी सराहना ही नहीं खुशामद, गुलामी और चापलूसी भी करते हैं। धन का प्रलोभन देकर किसी को भी आकर्षित किया जा सकता है, उसका उचित-अनुचित सहयोग खरीदा जा सकता है।

यहाँ तक कि धर्मात्मा और भगवद्भक्त का टाइटिल भी धन के बल पर मिल सकता है। पापाचरणपूर्वक धन का संग्रह करने से और थोड़ा-सा निहित स्वार्थी लोगों को दे देने से ही सारा काम बन जाता है। सभी उसके व्यवहार से चकित, भ्रान्त और प्रभावित हो जाते हैं। सारा कुटुम्ब भी उनके उस पापास्रवयुक्त आचरण एवं साधन-सुविधा दे देने के व्यवहार से प्रसन्न, सन्तुष्ट और अनुकूल रहता है। तब फिर पदार्थत्याग की वृत्ति-प्रवृत्ति, तथा पुण्योपार्जन से होने वाले परोक्ष लाभ की आशा रखना व्यर्थ है, प्रत्यक्ष लाभ वाली इस प्रवृत्ति और आशा को छोड़ना मूर्खता है। समाज और कुटुम्बीजन भी तो यही अपेक्षा रखते हैं, मुझसे।

पापास्रवपरायण असुरवर्ग का विकृत चिन्तन

पापास्रव-परायण असुरवर्ग का लगभग इसी प्रकार का चिन्तन रहता है, वे तात्कालिक और प्रत्यक्ष दृश्यमान लाभ को ही महत्व देते हैं। वे भविष्य को उज्ज्वल, सुखशान्तिमय और विकास का चिन्तन यानी पुण्य प्राप्ति के अवसरों का चिन्तन करना निरर्थक समझते हैं। प्रत्यक्ष की उपेक्षा करके परोक्ष की अपेक्षा क्यों की जाए? इस प्रकार के कुतर्क जाल में फंसकर अधिकांश प्राणी लोभ आदि कषायों और मोह से ग्रस्त जीवन जीते हैं। उनकी गतिविधियों पर तुच्छ स्वार्थ, अहंकार, वासना और तृष्णा की तमिस्रा छाई रहती है।[2]

---

१. देखें, दशवैकालिक अ. २, गा. २, तथा गीता अ. ३ श्लो. ६
२. अखण्डज्योति जनवरी १९७८ से साभार भावांश पृ. ५४

पापास्रवपरायण : पुण्य-सम्पदा से वंचित : क्यों और कैसे?

न्याय, नीति तथा अहिंसादि धर्मों के आचरण से, तथा स्वार्थ को गौण करके परार्थ और परोपकारमय जीवन जीने से उन्हें जो पुण्यसम्पदा प्राप्त हो सकती थी और आगे चलकर उसी से सर्वभूतात्मभूत बनने एवं आत्मौपम्य भाव रखने से कर्मों का संवर एवं आंशिक क्षय (निर्जरा) हो सकता था, उससे वे वंचित रहते हैं।[1]

पुण्यास्रव-परायण देववर्ग का आत्मौपम्य मूलक चिन्तन

पुण्यास्रव-परायण देववर्ग का चिन्तन लगभग ऐसा ही है। वे सबके सहयोगी बनते हैं। दूसरों के उपकार के लिए स्वार्थ का त्याग करते हैं, अपने पास प्राप्त सम्पत्ति और साधनों का उपभोग अकेले नहीं, यथायोग्य संविभाग करके करते हैं। सबके साथ मिल-बांट कर जीवन जीते हैं। 'जीओ और जीने दो' का स्वर्णसूत्र उनके तन-मन-वचन में रमा रहता है।

पुण्यास्रवी व्यक्तियों को पुण्यलाभ और परम्परा से सर्वकर्म मुक्ति की उपलब्धि

ऐसे व्यक्तियों को ही वास्तविक पुण्यलाभ मिलता है। उन्हें आत्मौपम्यभाव की मनःस्थिति और स्वर्गीय परिस्थिति का लाभ भी मिलता है। फलतः आगे चलकर भव-बन्धनों से मुक्ति तथा अपूर्णता से पूर्णता की प्राप्ति का मार्ग उन पुण्यात्माओं को मिल जाता है। उन्हें आत्मसन्तोष और आत्मशक्ति की उपलब्धि इस जन्म में तो मिलती ही है, अगले जन्मों में भी संतोष और आत्मशान्ति का वातावरण मिलता है।

प्रबलपुण्य के फलस्वरूप उच्च देवलोकों में उनका जन्म-मरण (गति), शरीर-धारण, परिग्रहवृत्ति, एवं अहंकार आदि कषाय भी मन्द-मन्दतर होता जाता है, बल्कि कई पुण्यशाली व्यक्ति तो बीच में सिर्फ एक देवभव करके फिर मनुष्य-जन्म प्राप्त करके सर्वकर्म-मुक्ति (मोक्ष) उपलब्ध कर लेते हैं।

पुण्यशाली देववर्ग का सूझबूझभरा चिन्तन

पुण्यशाली देववर्ग का तर्क यह है कि इस सुरदुर्लभ मानवजन्म को पाकर भी पुनः उसी संसार की मोहमाया में लिपट कर अपने आपको तथा अपने चरम-लक्ष्य को भूल जाना ठीक नहीं है। इस सुरदुर्लभ सौजन्यभरे अवसर को निःस्वार्थ पुण्य कार्यों में लगाने पर ही जीवन की सार्थकता है। सुखशान्ति की अकांक्षा भी आन्तरिक उत्कृष्टता और स्व-पर-उपकार की साधना के सहारे ही पूरी हो सकती है। सुख-साधनों की मृगतृष्णा में भटकते रहने से थकान, खीज और असन्तुष्टि ही पल्ले पड़ती है। सच्ची समृद्धि उन्नत

---

१. 'सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥' —दशवैकालिक ४/९

मनःस्थिति के आधार पर अपने-आपको शुभभावनाओं के प्रवाह में बहाकर परोपकारार्थ जीवन अर्पण कर देने से बढ़ती है। उसी पुण्यवृद्धि के आधार पर अनुकूल परिस्थितियाँ बनती हैं।

इस तथ्य को पुण्यात्मा दिव्य मानव जब हृदयंगम कर लेता है और तदनुसार आचरण करने लगता है तो उसे सांसारिक विषयसुखों के तथा साधनों के उपभोग की लिप्सा और उन्हें जुटाने की तृष्णा शान्त हो जाती है। वह इस तथ्य को बखूबी जान-मान लेता है कि वासना, तृष्णा और लालसा को बढ़ाते रहने से वे कभी शान्त नहीं होतीं, बल्कि आग में घी डालते रहने की तरह बढ़ती ही रहती हैं। उससे पापास्रव घटता नहीं, बढ़ता ही है।

पापकर्मास्रव शीघ्र प्रविष्ट होने का स्रोत : तात्कालिक क्षणिक प्रलोभन

तात्कालिक लोभ-लालसा के आकर्षण के साथ ही पापकर्मों का आस्रव शीघ्र प्रविष्ट हो जाता है। पापास्रव का यह एक प्रकार का मायाजाल है, जो भोले-भाले मानव को फंसा लेता है। पापास्रव का यह प्रलोभनभरा छलावा चूहे को रोटी का लोभ देकर पिंजरे में फंसाकर उसकी जान लेने जैसा धोखा है।

पुण्यास्रव-परायण और पापास्रव-परायण व्यक्ति में यही अन्तर है कि बुद्धिमान व्यक्ति पापकर्मों के इस मायाजाल में नहीं फंसता और अनायास प्राप्त तथा जीवन में रमे हुए पुण्यास्रव को भी आध्यात्मिक विकास के मार्ग में उत्तरोत्तर बढ़ने के उद्देश्य से अपनाता है जबकि मोहमूढ़ मूर्ख व्यक्ति दूरदर्शितापूर्ण विचार न करके स्वयं को पापकर्मों के प्रलोभनभरे मायाजाल में फंसा लेता है। पापकर्मों में एक बार फंस जाने के कारण फिर उसे सम्बोधि प्राप्त होना अतिदुर्लभ हो जाता है।

बुद्धिमत्ता और मूर्खता की यही कसौटी है कि बुद्धिमान् दूरदर्शी होता है, मूर्ख होता है—अदूरदर्शी। जैसे बंसरी की आवाज सुनकर मृग मोहित हो जाता है, कमल के कोश में बंद होकर भौंरा हाथी के पैरों तले कुचल जाता है, वैसे ही मूर्ख व्यक्ति अदूरदर्शी बनकर लुभावने विषय-वासना के जाल में फंस जाता है। कुव्यसनियों और नशेबाजों की गणना ऐसे ही अदूरदर्शी लोगों में है जिन्हें तात्कालिक मौज-मजा ही सब कुछ लगता है, लेकिन उसी कुचक्र में फंसकर वे जब अपना पैसा, स्वास्थ्य, सम्मान और नीतिधर्म आदि सब कुछ गंवा बैठते हैं, तब उन्हें अच्छे दिन याद आते हैं।

चोर, डाकू, जुआरी और तस्कर को भी तत्काल लाभ ही आनन्दप्रद लगता है, मगर वे उस दुर्दिन को नहीं देखते, जब उन्हें भयंकर राजदण्ड, समाजदण्ड, तिरस्कार, धिक्कार और असहयोग मिलता है। पापास्रव का परिणाम सदैव दुःखद ही होता है, जबकि पुण्यास्रव अन्त में त्याज्य होते हुए प्रारम्भिक भूमिकाओं में अपनाने पर उसे उसके प्रायः सुखद परिणाम ही देखने को मिलते हैं।

पुण्यास्रव और पापास्रव में बहुत बड़ा अन्तर

पुण्यास्रव और पापास्रव में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि पापास्रव से तो कषाय तीव्र से तीव्रतर होता जाता है। सांसारिक पदार्थों की लालसा बढ़ जाने से असन्तोष, अतृप्ति एवं आकांक्षा की आग उसके हृदय को जलाती रहती है। पुण्य के उत्तरोत्तर बढ़ने के साथ ही सद्बुद्धि और दूरदर्शिता भी बढ़ने की सम्भावना रहती है, जिससे व्यक्ति की आकांक्षा, लालसा और अतृप्ति उत्तरोत्तर मन्द-मन्दतर होती जाती है, रागद्वेष से वह कम प्रभावित होता है। फलतः पुण्यशाली के कर्मों की रज अल्पतर होने की संभावना है, जबकि पापी के जीवन में कर्मों की रज उत्तरोत्तर वृद्धिंगत हो जाने की संभावना ही अधिक है।

पुण्य और पाप दोनों आस्रवों में से पुण्य का ही चुनाव करो

इसलिए पुण्य और पाप इन दोनों आस्रवों में से निम्न गुणस्थान की भूमिका वालों को किसी एक का चुनाव करना हो तो पुण्य का ही चुनाव करना चाहिए। इससे भविष्य में आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर चढ़ने का शुभ अवसर पुण्यराशि के धनी को अनायास ही प्राप्त हो सकता है। क्योंकि पुण्य प्रबल होने पर ही मनुष्यजन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, परिपूर्ण अंगोपांग-इन्द्रियाँ, दीर्घआयुष्य, महापुरुषों का सत्संग, धर्मश्रवण, आध्यात्मिक ज्ञान एवं धर्माचरण के पथ पर चलने की प्रेरणा एवं पराक्रमशीलता प्राप्त हो सकती है।

संसारयात्रा में पुण्य का आश्रय लेना और मोक्षयात्र में दोनों का त्याग करना हितकर

मुमुक्षु एवं आत्मार्थी का चरमलक्ष्य तो पुण्य और पाप इन दोनों से मुक्त होकर एकमात्र संवर-निर्जरारूप धर्म एवं मोक्ष में पुरुषार्थ करना है। परन्तु इस लम्बी दीर्घकालीन संसारयात्रा में पुण्यरूपी सुदृढ़ एवं अच्छिद्र नौका के सहारे से वह संसार समुद्र के उस पार न पहुँच जाए, तब तक तो पापरूपी जर्जर एवं सच्छिद्र नौका के सहारे के बजाय, पुण्यरूपी नौका का सहारा लेना ही हितावह है। यदि वह इस दीर्घकालीन संसारयात्रा में पापरूपी नौका की तरह पुण्यरूपी नौका को भी छोड़ देगा तो संसार समुद्र में डूब जाएगा और 'दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम' वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी। अतः संसार समुद्र को पार करने के लिए पापास्रवरूपी जलयान का आश्रय लेने के बदले पुण्यास्रवरूपी जलयान का आश्रय लेना हितकर है। ■

६

पुण्य : कब और कहाँ तक उपादेय एवं हेय?

महावन के महायात्री के समक्ष सुखद और दुःखद दृश्य

अनेक महायात्री हैं। उनका गन्तव्य स्थान बहुत दूर है। उन्हें तीन या फिर अधिक से अधिक चार दिनों में ही अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाना है। परन्तु रास्ते में एक विशाल वन आगया। वन इतना सघन है कि कहीं हरे-भरे पेड़-पौधे हैं, वृक्षों से लिपटी बेलें और घनी झाड़ियाँ हैं, कहीं-कहीं सूखे वृक्षों के ठूँठ खड़े हैं, कहीं ऊबड़-खाबड़ घाटियाँ हैं, कहीं संकड़ी पगडंडी हैं। कहीं हिंस्र जन्तुओं के रहने के खोह और गुफा हैं। कहीं भयंकर गहरा बीहड़ है। कहीं कंटीले झाड़ हैं। सर्पों के बिल भी हैं। वह वन कहीं अत्यन्त रमणीय और फलदार वृक्षों से भरा है, और कहीं वह अत्यन्त सघन तथा दिन में भी घोर अन्धकारमय होने के कारण भयंकर लगता है।

अगर यात्री उस गहन वन में सही पगडंडी न पकड़ कर जल्दी पहुँचने के लोभ में या भ्रान्ति से ऐसी पगडंडी पकड़ लेता है जो उसे घोर वन में भटका देती है। जहाँ उसे कोई भी पथ-प्रदर्शक या हमराही नहीं मिलता। वह उसी वन में भटकता हुआ कभी किसी हिंस्र पशु का शिकार हो सकता है, या भूख और प्यास से पीड़ित होकर अपने गंतव्य से हाथ धो सकता है।

अथवा यदि वह यात्री कहीं वन की नैसर्गिक रमणीयता एवं फलवान् वृक्षों की पंक्ति देखकर थोड़ी देर तक विश्राम लेकर तरोताजा होकर आगे बढ़ने के बदले वहीं ठिठक कर बैठ जाए, वहीं सदा के लिए अपना आसन जमा ले, अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने का भान भूल जाए और वहाँ से आगे बढ़ने का नाम न ले तो उस विपिन-सौन्दर्यासक्त यात्री की दशा भी संकटापन्न हो सकती है।

वहाँ भी धरती पर रेंगने वाले विषैले सर्प, बिच्छू या अन्य जन्तु उसे अपना आहार बना सकते हैं, अथवा नैसर्गिक सौन्दर्य का आनन्द लूटने के लिए रात्रि में विचरण करने वाले सिंह, व्याघ्र, भालू या भेड़ियों का आतंक यदा-कदा उसे भयभीत, चिन्तित और संतप्त कर सकता है, उस पर आक्रमण करके उसे मौत का मेहमान भी बना सकता है।

संसार महारण्य के यात्री के समक्ष भी पुण्य और पाप के दृश्य

ठीक यही बात संसाररूपी महारण्य को पार करके अपने गन्तव्य स्थान (अन्तिम लक्ष्य)–मोक्षनगर में पहुँचना चाहने वाले मुमुक्षु साधक महायात्री के लिये कही जा सकती है। इस संसार-महारण्य में भी हरे-भरे पेड़-पौधों के समान सुखद सुन्दर परिवार या संघ है। कहीं लताओं और झाड़ियों के समान रमणीय रमणियाँ, सुन्दर स्वस्थ पुरुष, सलौने बालक-बालिकाओं का समूह है। कहीं ठूंठ के समान रूखे-सूखे उदासीन अहंकारी मानव मिलते हैं।

संसाररूपी महारण्य में चार गतियों के समान चार उच्चावच घाटियाँ हैं। कहीं-कहीं गन्तव्य स्थान की ओर ले जाने वाली निर्जरा (कर्म-मोक्ष) की सकड़ी पगडंडी है। किन्तु कहीं-कहीं क्रोध, अहंकार, भय, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, क्षोभ, द्रोह, शोक, काम, आदि दोष विकाररूपी हिंस्र जन्तुओं के डेरे हैं। कहीं चिन्ता,उद्विग्नता और बेचैनी की गहरी खाई एवं खोह या बीहड़ है। कहीं-कहीं उसे मर्मस्पर्शी, कलह, निन्दा और अपशब्द भरे कंटीले तीखे अशुभ वचनरूपी वृक्ष भी मिलते हैं। कहीं-कहीं मद तथा दम्भरूपी सर्प के भयंकर विषैले पापस्थान भी मिलते हैं। कहीं पापकर्मरूपी वृक्षों से उसके गन्तव्य स्थान की ओर जाने वाला रास्ता घोर मोह और अज्ञान के कारण अन्धकारमय बन जाता है। सहसा उसकी आँखों के आगे दर्शनमोह और चारित्रमोह का तथा ज्ञानावरण का अंधेरा छा जाता है।

वह भी यथार्थ संवर निर्जरामय मोक्ष महापथ को छोड़कर अव्याबाध सुखस्थान-रूप मोक्ष स्थान में शीघ्र पहुँचने की सफलता की भ्रान्ति में हिंसादि पापों की पगडंडी पकड़ लेता है, जो उसे संसाररूप महारण्य में भटका देती है, जहाँ उसे कोई सद्बोध देने वाला पथ-प्रदर्शक या हमराही नहीं मिलता।

फलतः वह उसी संसार के भयंकर वन में इधर-उधर भटकता हुआ पुनः पुनः काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, मद आदि पापकर्म प्रेरक हिंस्र पशुओं का शिकार हो जाता है। फलतः विषय-वासना रूपी भूख और पर-पदार्थ पिपासारूपी प्यास से पीड़ित होकर अपनी आत्मिक सुख-शान्तिमय जिन्दगी से भी हाथ धो बैठता है।

किन्तु पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप उस महायात्री को कहीं-कहीं संसार वन में रमणीय एवं सुखद पुण्य कर्मतरुओं पर लदे हुए पुण्यफल के दर्शन होते हैं। सभी प्रकार की वैषयिक सुखभोग सामग्री की नैसर्गिक छटा और पुण्य फल परिपूर्ण पुष्प पादपों की छटा प्राप्त होती है।

उस समय यदि वह यात्री थोड़ी देर वहाँ विश्राम लेने और तरोताजा होकर अपने गन्तव्य स्थान की ओर आगे बढ़ने के बदले उस स्थान की रमणीयता पर मुग्ध और आसक्त होकर वहीं आसन जमा ले, उस स्थान को छोड़े नहीं, तो संसार-वन सौन्दर्यासक्त

उस यात्री की दशा पुनः अशुभ कर्मों के संकट से ग्रस्त हो सकती है। उसके परिपार्श्व में रहने वाले रागद्वेष या कामक्रोधादि विषाक्त जन्तु उसे अपना शिकार बनाकर उसके पुण्यमय जीवन का सर्वनाश कर सकते हैं।

संसार-वन सौन्दर्यासक्त पुण्यशाली यात्री को इस प्रमाद, आलस्य और अजागरूकता के कारण पापकर्मरूपी हिंस्र जीवों का आतंक, भय, चिन्ता, मनस्ताप सदैव बना रहता है। इस कारण वह पुण्यशाली भी पापकर्मों का संग्रह कर लेता है। फलतः वह पुनः पुनः जन्म-मरणरूप अनन्त-संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

संसार-महारण्य के यात्री के समक्ष भी पुण्य-पथ और पाप-पथ

निष्कर्ष यह है कि संसाररूपी महारण्य के यात्री के समक्ष पापमय और पुण्यमय दोनों प्रकार के पथ अपने-अपने रूप में आते रहते हैं। पापमय पथ तो अशुभ, कण्टकाकीर्ण और अनेक भयस्थलों से परिपूर्ण है। उस पर यात्रा करना खतरे से खाली नहीं है। अतः सामान्य रूप से व्यवहार धर्म, लौकिक धर्म या सामाजिक धर्म को ही अधिकांश विवेकी और धार्मिक लोग अपनाते हैं। वही शास्त्रीय भाषा में पुण्यमय पथ है।

पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों एक : क्यों और कैसे?

प्रश्न होता है–"पाप जैसे अशुभ होने से हेय माना जाता है, वैसे क्या पुण्य शुभ होने के बावजूद हेय है? क्या पुण्य और पाप इन दोनों में अन्तर नहीं है?"

'तत्त्वार्थसार' में कहा गया है कि "निश्चय दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों ही कर्म हैं और दोनों ही संसार के कारण हैं। इसलिए पुण्य और पाप में कोई विशेषता नहीं है।"

नयचक्र (बृहद्0) में कहा गया है–"कर्म दो प्रकार के हैं– शुभ और अशुभ। ये दोनों द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। उन दोनों को लेकर मोह होता है और मोह से जीव का संसार होता है।"

धवला के अनुसार–"कर्म का बन्ध शुभ और अशुभ परिणामों से होता है।"

प्रवचनसार के अनुसार–"पुण्य रूप पुद्गल कर्म के बन्ध का कारण होने से शुभ परिणाम पुण्य हैं, और पापरूप पुद्गल-कर्म के बन्ध का कारण होने से अशुभ परिणाम पाप हैं।" पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही बन्ध के कारण होने से इन दोनों में भेद नहीं किया जा सकता।

'पंचास्तिकाय' में भी इसी का अनुसरण करते हुए कहा गया है–"जिसके भाव में मोह, राग, द्वेष अथवा चित्त में प्रसन्नता, उसे शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं। अर्थात्– वहाँ प्रशस्तराग व चित्त-प्रसाद से शुभ परिणाम और अप्रशस्त राग द्वेष और मिथ्याभाव से अशुभ परिणाम होते हैं।"

'परमात्म प्रकाश' में पुण्य और पाप दोनों को पारमार्थिक दृष्टि से एक बताते हुए कहा गया है–"बन्ध और मोक्ष का कारण अपना विभाव और स्वभाव-परिणाम है, ऐसा भेद जो नहीं जानता, वही मोहवश पुण्य और पाप इन दोनों को करता है।"

समयसार में भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया–जीव के परिणाम शुभ हों या अशुभ, दोनों ही अज्ञानमय होने से एक हैं। तथा दोनों के कारण में अभेद होने से कर्म एक ही हैं। फिर शुभ और अशुभ पुद्गल-परिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक हैं। अतः उनके स्वभाव में अभेद होने से दोनों एक हैं। तथा उनके अनुभव अथवा स्वाद में अभेद होने से दोनों एक हैं। यद्यपि शुभरूप (व्यवहार) मोक्ष मार्ग केवल जीवमय तथा अशुभरूप बन्ध मार्ग केवल पुद्गलमय होने से दोनों में अनेकत्व है, फिर भी (दोनों ही) कर्म केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग के आश्रित हैं। अतः इन दोनों के आश्रय में अभेद होने से दोनों एक (समान) हैं। इसी की टीका में पं. जयचन्द्रजी ने कहा है–

"पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्ध रूप दुहु मानि।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूं चरण हित जानि॥"[1]

तत्त्वदृष्टि से पुण्य और पाप दोनों ही बन्धकारक संसार हेतु होने से समान

"वस्तुतः सर्वज्ञदेव ने सभी शुभाशुभ कर्मों को सामान्य रूप से बन्ध का कारण कहा है। अतएव उन्होंने समस्त कर्मों को ही निषिद्ध (त्याज्य) बताया है। एकमात्र ज्ञान को ही (कर्म) मोक्ष का कारण कहा है।"

दूसरी बात यह है कि जैसे बेड़ी लोहे की हो या सोने की; दोनों ही बन्धन में बांधती हैं। पाप लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की बेड़ी। अपने द्वारा किये गए शुभ (पुण्य) और

---

१. (क) संसार-कारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः।
न नाम निश्चये नास्ति विशेषः पुण्यः पापयोः। –तत्त्वार्थसार ४/१०४
(ख) असुह-सुह चिय कम्मं दुविहं तंपि दव्वभावभेयगयं।
तं पिय पडुच्च मोहं संसारो तेण जीवस्स॥ –नयचक्र पृ. २९९
(ग) कम्मबंधो हि णामसुहासुहपरिणामेहिंतो जायदे।' –धवला १२/४,२,८,३/२७९
(घ) तत्र पुण्य-पुद्गल-बन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यम्।
पाप-पुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम्॥ –प्र. सा. त. प्र. १८१
(ङ) मोहो रागो दोसो चित्त प्रसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो॥ –पंचास्तिकाय मू. १३१.
(च) बंधहं मोक्खहं हेउणिउ जो णवि जाणइ कोइ।
सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णुवि पाउ वि दोइ॥ –परमात्मप्रकाश २/५३
(छ) समयसार (आत्मख्याति) १४५
(ज) समयसार टीका (पं. जयचन्द्र छावड़ा)

अशुभ (पाप) दोनों प्रकार के कर्म जीव को बंधन में बाँधने वाले हैं।'" वस्तुतः पुण्य और पाप दोनों ही बन्धनकारक एवं जन्म-मरणरूप संसार में भटकाने वाले हैं।

'समयसार' में ही आगे कहा गया है कि "अशुभ कर्म (पाप) कुशील है, और शुभकर्म (पुण्य) सुशील है, ऐसा तुम (व्यवहार दृष्टि से मोहवश) जानते-मानते हो; किन्तु जो संसार में प्रवेश कराता है, वह (पुण्यकर्म) भला कैसे सुशील हो सकता है?"

इसीलिए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्पष्टतः कहा गया–जो पुण्य की इच्छा करता है, वह संसार (परिभ्रमण) को चाहता है, क्योंकि पुण्य भी आखिर सुगति का कारण होने से संसार में ही रखने वाला है, मोक्ष तो पाप के समान पुण्य का भी क्षय होने पर होता है।

निशीथचूर्णि में स्पष्ट कहा गया है–पुण्य भी परमार्थ दृष्टि से मोक्षप्राप्ति में बाधक-विघातक है।[२]

'पंचाध्यायी' (उ.) में भी स्पष्ट कहा गया–"निश्चयनय से शुभोपयोगरूप पुण्य भी संसार का कारण होने से इसे (आत्मा के लिए) शुभ कहा ही नहीं जा सकता।"

प्रवचनसार एवं योगसार में भी कहा है–"तत्त्वदृष्टि से पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, इस तथ्य को मोहाच्छादित तथा मन्दबुद्धिजन मानकर घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है, क्योंकि वह अविनाशी अव्याबाध एवं निराकुल (मोक्ष) सुख को न देखकर, सांसारिक (वैषयिक) सुख-दुःख के करणरूप विशेषता के कारण पुण्य और पाप में भेद (अन्तर) समझता है।[३]

---

१. (क) कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्य विशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं, ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः॥ –स. सा. आ. १५०

(ख) सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीव सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥ –समयसार मू. १४६

२. "पुण्णं मोक्ख-गमण-विग्घाय भवति।" –निशीथचूर्णि ३३२९

३. (क) समयसार मू. १४६ ता. वृ.

(ख) समयसार मू. १४५

(ग) पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्णं सुगई हेदुं, पुण्णाक्खयणे य निव्वाणं॥ –कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४१०

(घ) 'शुभोनाऽप्यशुभा बहाता।' –पंचाध्यायी (उ.) ७६३

(ङ) "णहि मण्णदि जो एवं, अत्थि विसेसोत्ति पुण्ण-पावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।" –प्रवचनसार ७७

(च) सुख-दुःखविधानेन विशेषः पुण्य-पापयोः।
नित्यं सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मन्दबुद्धिभिः॥" –योगसार अ. ४/३९

अज्ञानी मोहवश पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा कहता है, ज्ञानी के लिए दोनों का संसर्ग निषिद्ध

इसी तथ्य को समयसार वृत्ति (आत्मख्याति) में स्पष्ट करते हुए कहा है–"जिस प्रकार कुशील (मनोरम और अमनोरम) हथिनी रूप कुट्टनी के साथ हाथी का राग (मोह) और संसर्ग उसके बन्धन का कारण होता है, उसी प्रकार कुशील अर्थात्–शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग भी बन्धन का कारण है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषों ने शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग करने का निषेध किया है।"[1]

इसी तथ्य को एक रूपक द्वारा समझाया गया है–"शूद्रा के उदर से दो पुत्रों का जन्म हुआ। उनमें से एक ब्राह्मण के यहाँ पला; जबकि दूसरा शूद्र के यहाँ पला। जो ब्राह्मण के यहाँ पला, वह–'मैं ब्राह्मण हूँ', इस प्रकार के ब्राह्मणत्व के अभिमानवश मदिरा को छूता तक नहीं, जबकि शूद्र के यहाँ पला हुआ पुत्र, 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यों मानकर मदिरा को पवित्र मानकर निःसंकोच पीता रहता है। यद्यपि ये दोनों ही साक्षात् शूद्र हैं, तथापि जातिभेद के भ्रमवश दो तरह की प्रवृत्ति करते हैं। उनके अन्तर् में तत्त्वदृष्टि का प्रकाश नहीं है।

इसी प्रकार पुण्य और पाप दोनों ही मोह मदिरा के पुत्र हैं। दोनों में से एक प्रशस्तराग को अपनाता है, दूसरा अप्रशस्त राग को। पहला मोहपुत्र प्रशस्तराग को अपनाकर भी समझता है कि मैं मोहमदिरा से दूर हूँ, जबकि दूसरा तो अप्रशस्त रागवश, मोहमदिरा को छक कर पीता है। इस दृष्टि से (पुण्य और पाप) दोनों ही पूर्वोक्त तत्त्वदृष्ट्या समान हैं, फिर भी मोहदृष्टि के कारण अज्ञानी जीव भ्रमवश इनमें भेद देखकर पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा समझता है।[2]

पुण्य और पाप दोनों ही आकुलता एवं दुःख के कारण हैं

पुण्य और पाप दोनों को दुःख रूप या दुःख के कारण रूप बताते हुए पंचाध्यायी, योगसार, मोक्षमार्ग-प्रकाश एवं समयसार में तत्त्वदृष्टि से विश्लेषण करके कहा है–"कोई भी कर्म का उदय ऐसा नहीं है, जो जीव को आत्मिक सुख प्राप्त कराने वाला हो, क्योंकि स्वभाव से (पुण्य-पापरूप) सभी कर्म आत्मा के स्वभाव से विलक्षण हैं।" "पुण्य और पाप दोनों ही आकुलता के कारण हैं। जहाँ आकुलता है, वहाँ परमार्थतः दुःख है।

---

१. "कुशील शुभाशुभ कर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ, बन्धहेतुत्वात्,
कुशील मनोरमामनोरम करेणुकुट्टनी-राग-संसर्गवत्।" –समयसार (आ.)१४७.

२. एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणात्वाभिमानाद् अन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वाप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः। शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जाति भेद भ्रमेण॥
–समयसार (आ.) १४४ क-१०१

इसलिए पुण्य पाप के उदय को भला-बुरा समझना भ्रम है।" "वास्तव में पुण्य से प्राप्त लौकिक (सांसारिक) सुख परमार्थतः दुःखरूप ही है।" "जिस प्रकार चन्दन की लकड़ी से उत्पन्न अग्नि भी अवश्य जलाती है, उसी प्रकार पुण्य (लौकिक धर्म) से उत्पन्न (सुख) भोग (साधन) भी अवश्यमेव दुःख उत्पन्न करता है।" "आठों ही प्रकार का (शुभाशुभ) समस्त कर्म पुद्गलमय है। उदय में आने पर उन सबका फल दुःखरूप है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।"

इसी तथ्य को उजागर करते हुए समयसार में कहा गया है–नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, ये चारों ही गति के जीव यदि देहोत्पन्न दुःख का अनुभव करते हैं, तो जीवों का वह (अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकार का कैसे हो सकता है? इन्द्र और चक्रवर्ती भी तथाकथित शुभोपयोग मूलक भोगों के द्वारा देहादि की पुष्टि करते हैं, तथा भोगों में रत रहते हुए सुखी जैसे प्रतिभासित होते हैं। किन्तु यदि इस प्रकार से पुण्य नाम की कोई वस्तु विद्यमान भी हो तो भी वह देवों तक में विषय तृष्णा उत्पन्न करती है। जिनकी तृष्णा उदित है, वे जीव विभिन्न तृष्णाओं के कारण संतप्त एवं दुःखी होते हुए मरणपर्यन्त विषय-सुखों की चाह में व्याकुल रहते हैं और अतृप्ति के दुःखों से संतप्त होते तथा दुःखदाह को सहन न करते हुए उन (अपर्याप्त विषयसुखों) का उपभोग करते हैं।" तात्पर्य यह है कि देव आदि के वे विषय-सुख पराश्रित, बाधा पीड़ायुक्त, तथा बन्धन के कारण होने से वास्तव में दुःख रूप ही है।[1]

परमार्थ दृष्टि से पाप की तरह पुण्य को भी हेय माना गया

इस अपेक्षा से परमार्थ (निश्चय) दृष्टि से समयसार आदि आध्यात्मिक एवं कर्म-मुक्ति प्रेरक ग्रन्थों में पुण्य को भी पाप की तरह हेय बताया गया है। पंचास्तिकाय में स्पष्ट कहा है–जिस साधक का किसी भी द्रव्य के प्रति राग, द्वेष और मोह नहीं है जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, उसे न पुण्य का आस्रव होता है न पाप का।[2]

वहाँ कहा गया है कि मोक्षार्थी के लिए जब कर्ममात्र ही त्याज्य है, तब फिर वहाँ पुण्य को अच्छा और पाप को बुरा कहने की बात ही कहाँ रही? क्योंकि समस्त कर्मों का

---

१. (क) 'नहि कर्मोदयः कश्चित जन्तोर्यः स्यात् सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः॥" –पंचाध्यायी (उ.) २५०
(ख) मोक्षमार्ग प्रकाश ४/१२१/२१
(ग) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. ३ पृ. ६२
(घ) धर्मतोऽपि भवो भोगो ददते दुःख-परम्परा।
चन्दनादपि सम्पन्नः पावकः प्लोषते न किम्? –योगसार अ. /९/२५.

२. जस्स ण विज्जदि रागो, दोसो मोहो य सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥ –पंचास्तिकाय १४२

त्याग होने पर ही सम्यग्दर्शन आदि तीनों निज स्व-भावरूप में स्थिर होने से, स्व-स्वरूपरमण एवं स्वभाव परिणमन होने से मोक्ष के कारणभूत अकर्म-अवस्था से प्रतिबद्ध पूर्ण आध्यात्मिकरस से युक्त केवलज्ञान आदि (अनन्तचतुष्टय) स्वयमेव दौड़ा हुआ चला आता है।[1]

उत्तराध्ययन सूत्र के समुद्रपालीय अध्ययन में भी कहा गया है–"समुद्रपाल मुनि पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) दोनों ही प्रकार के कर्मों का क्षय करके (संयम) में निश्चल होकर अथवा निष्कम्प अवस्था को प्राप्त कर सर्वथा कर्मों दुःखों आदि से मुक्त होकर समुद्र के समान विशाल संसार प्रवाह (महाभवौघ) को तैर (पार) करके अपुनरागम स्थान (मोक्ष) में गए।"[2]

ज्ञानी पाप की तरह पुण्य को भी हेय, अनादेय, अनादरणीय समझता है

इसलिए वीतराग जिनेन्द्र प्रभु का यह उपदेश है कि रागी जीव (चाहे वह प्रशस्तरागी हो या अप्रशस्तरागी) कर्म बांधता है, जो विराग सम्पन्न (राग-रहित) होता है, वह कर्म से छूटता है। इसलिए (हे मुमुक्षु !) तू कर्मों में प्रीति मत कर।" तात्पर्य यह है कि "सामान्यतया राग के निमित्त से होने के कारण शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म बन्ध के हेतु बनते हैं। इसलिए वीतराग पुरुष एवं जिनोक्त आगम दोनों ही शुभ-अशुभ दोनों कर्मों को अपनाने का निषेध करते हैं।"

इसीलिए द्रव्यसंग्रह (टी.) में कहा गया है–"सम्यग्दृष्टि जीव के लिए पुण्य और पाप दोनों ही हेय हैं।" अर्थात्–वह पाप की इच्छा तो करता ही नहीं है, पुण्य की भी चलाकर इच्छा नहीं करता।

पंचाध्यायी में इसे और स्पष्ट करते हुए कहा गया–"जैसे सम्यग्दृष्टि के लिए पूर्वोक्त इन्द्रियजन्य सुख और (मिथ्या) ज्ञान आदेय नहीं होते, वैसे ही आत्मप्रत्यक्ष होने के कारण समस्त कर्म भी आदेय नहीं होते।"

इसीलिए उच्चभूमिकारूढ़ ज्ञानी पुरुषों ने पुण्य को हेय बताते हुए तिलोयपण्णत्ति, योगसार, समयसार, मोक्षपाहुड, परमात्म-प्रकाश, नियमसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों में जैन दर्शन की निश्चयनय की दृष्टि से कहा–"परमार्थ से अनभिज्ञ

---

१. संन्यस्तमिदं समस्तमपि तत् कर्मैव मोक्षार्थिना।
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा॥
सम्यक्त्वादि निज-स्वभाव-भवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्।
निष्कर्म्य-प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥ –समयसार (आ.) १६१/क. १०९

२. "दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमे गए॥" –उत्तराध्ययनसूत्र २१/२४

(बाह्य) व्यक्ति पुण्य मोक्ष का हेतु नहीं हैं, अपितु संसार गमन का हेतु है", यह जानते हुए भी अज्ञान एवं मोहवश पुण्य को (मोक्ष प्राप्ति का हेतु मानकर) चाहते हैं। वस्तुतः जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी आत्मा को (भलीभाँति) नहीं जानता, हे जीव ! वही पुण्य और पाप दोनों को मोक्ष के कारण कहकर उन्हें करता रहता है।"

"इष्ट वस्तुओं के संयोग में राग (मोह, ममता या आसक्ति) करने वाला साधु (या सज्जन पुरुष) वस्तुतः अज्ञानी है। ज्ञानी पुरुष इसके विपरीत शुभ व अशुभ कर्म (पुण्य-पाप) के फलस्वरूप प्राप्त इष्ट या अनिष्ट संयोगों में रागद्वेष नहीं करता, अर्थात् वह पुण्य-पाप के फलस्वरूप प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में हर्ष शोक नहीं करता, वह संवरनिर्जरारूप समत्व धर्म में स्थिर रहता है। वह जानता है कि पुण्य से वैभव, वैभव से मद, मद से मतिमोह (मूढ़ता), और मतिमोह से पाप होता है। इसलिए (पाप में प्रवृत्त कराने के हेतुभूत ऐसे) पुण्य को भी त्याज्य समझना चाहिए। ऐसा पुण्य हमें प्राप्त न हो, जो परिग्रह से अथवा परिग्रह की इच्छा से रहित ज्ञानी को भी वैभवादि के परिग्रह में डालता है। इसी कारण वह पुण्य को नहीं चाहता, वह पुण्य (लौकिक धर्म) का परिग्रही नहीं, केवल उसका ज्ञाता-द्रष्टा है।

यद्यपि (सरागी छद्मस्थ के लिए) क्षमादि दशविध धर्म पापकर्म का नाश और पुण्यकर्म का बन्ध करने वाले कहे जाते हैं, परन्तु इन्हें भी पुण्य के लिए नहीं करना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि पुण्य के प्रति आदेय बुद्धि या आदरबुद्धि नहीं होनी चाहिए। नियमसार में तो स्पष्ट कहा है–"समग्र पुण्य भोगीजनों के भोग का मूल है। जिनका चित्त परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात है, उन मुनीश्वरों को संसार से मुक्त होने के लिए उन समग्र पुण्यों (शुभ कर्मों) का त्याग करना चाहिए। अर्थात् वे पुण्योपार्जन या पुण्यफल को मन से भी न चाहें।"[1]

---

१. (क) "रत्तो बंधति कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
पत्तो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥" –समयसार मू. १५०
"सामान्येन रक्तत्व निमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभय कर्माविशेषेन बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति।" –वही (आ.) १५०
(ख) सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्य-पापद्वयमपि हेयम्। –द्रव्यसंग्रह टीका ३८/१५९/७
(ग) 'परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंतो॥" –समयसार १५४
(घ) दंसण-णाण-चरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ।
मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइं करेइ॥ –परमात्मप्रकाश २/५४
(ङ) 'सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू।
सो तेण हु अण्णाणी, णाणी एत्तो हु विवरीओ॥' –मोक्षपाहुड ५४

परम्परा से पापबन्ध का कारणभूत पुण्य अच्छा नहीं

मोक्षमार्ग-प्रकाश में कहा गया है–"जो जीव शुभोपयोग (पुण्य) को मोक्ष का कारण मानकर उसे उपादेय मानते हैं, शुद्धोपयोग को नहीं पहचानते, उनके लिए शुभ और अशुभ दोनों उपयोग, अशुद्धता एवं बन्धकारण की अपेक्षा से समान बताए गए हैं।"

इससे भी आगे बढ़कर 'परमात्म प्रकाश' में कहा है–ज्ञानी जन कहते हैं "हे जीव! पाप का उदय जीव को दुःख देकर शीघ्र ही (मुमुक्षु साधक की) बुद्धि को मोक्षमयी (कर्ममुक्ति पाने योग्य) कर देता है। वह पाप भी (सत्प्रेरक होने से) बहुत अच्छे हैं। किन्तु वे पुण्य अच्छे नहीं, जो जीव को राज्यादि (समृद्धि) दिला कर शीघ्र ही नरकादि के दुःखों को उत्पन्न कर देते हैं।"

इसी दृष्टि से 'योगसार' में कहा गया–"पाप को पाप तो सभी जानते-मानते हैं, किन्तु पुण्य को भी (पूर्वोक्त दृष्टि से पापप्रेरक होने से) पाप कहने वाला विरला ही कोई पण्डित है।"

वस्तुतः पुण्य से प्राप्त भोग एक तरह से पाप के मित्र बन जाते हैं।[1]

मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तो अत्यन्त अनिष्टकर हैं : क्यों और कैसे?

जिसमें मिथ्यात्व से युक्त पुण्य तो और भी अनिष्टकर है। भगवती-आराधना में कहा गया है–अहिंसादि पांच व्रत आत्मा के गुण हैं, किन्तु मृत्यु के समय यदि वे मिथ्यात्व से संयुक्त हो जाएँ तो कड़वी तुम्बी में रखे हुए दूध के समान व्यर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार विष मिल जाने पर गुणकारी औषध भी दोषयुक्त हो जाती है, इसी प्रकार उपर्युक्त गुण (व्रतनियमादि) भी मिथ्यात्वयुक्त हो जाने पर दोषयुक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार एक दिन में सौ योजन चलने वाला व्यक्ति यदि विपरीत दिशा में चलता रहे तो कदापि अपने इष्ट

(च) पुण्णेण होइ विहवो, विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं, बम्हा पुण्णो वि वज्जेओ॥' –तिलोयपण्णत्ति ९/५२

(छ) समयसार मू. २१०

(ज) कार्तिकेयानुप्रेक्षा (मू.) ४०९,४१२

(झ) सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं।
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यास-निष्णातचित्तः। .....भवविमुक्त्यै.....।
–नियमसार ता. वृ. ४१/क. ५९

१. (क) मोक्षमार्ग प्रकाश (पं. जयचन्दजी)

(ख) वर जिय पावइँ संदरहँ णाणिय ताइँ भणंति।
जीवहँ दुक्खहँ जाणि वि लहु सिवमइ जाईं कुणंति॥ –परमात्म प्रकाश ५६

(ग) "जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ विभणइ, सो बुह को वि हवेइ॥' –योगसार (यो.) ७१

स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता। उसी प्रकार भली-भाँति व्रत तप आदि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि कदापि मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।[1]

इसी सन्दर्भ में परमात्म प्रकाश में कहा गया है–"जो जीव सम्यग्दर्शन के सम्मुख हैं, वे अनन्त (आत्म) सुख को प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो जीव सम्यक्त्व-रहित हैं, वे पुण्य करते हुए भी, पुण्य के फल से अल्पसुख पाकर संसार में अनन्त दुःख भोगते हैं।" इसलिए हे जीव ! अपने सम्यग्दर्शन के सम्मुख होकर मरना भी अच्छा है, लेकिन सम्यग्दर्शन से विमुख होकर पुण्य करना अच्छा नहीं है।[2] क्योंकि मिथ्यादृष्टि के वे अहिंसादि गुण (या व्रत) पापानुबन्धी पुण्य होने से स्वल्प इन्द्रिय सुख तो प्राप्त करा देते हैं परन्तु जीव को महारम्भ और महापरिग्रह में आसक्त कराकर मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तीसरे भव में नरक में ले जाते हैं।[3]

निदान (भोग वांछा आदि का इहलोक-परलोक सम्बन्धी संकल्प–नियाणा)-बन्ध से उपार्जित पुण्य से आगामी जन्मों (भवों) (भवान्तर) में राज्यादि विभूति को प्राप्त करके मिथ्यादृष्टि जीव (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह) भोगों का त्याग करने में समर्थ नहीं होता। अर्थात्–वह (पुण्य-प्राप्त) भोग-सुखों में आसक्त हो जाता है। फलतः (पूर्वनिदान-कृत) पुण्य से वह रावण आदि की भाँति नरक आदि के दुःखों को प्राप्त करता है। इस प्रकार शुभकर्म (भाव) भी कथंचित् पापबन्ध के कारण हो जाते हैं। इसलिए ज्ञानीजन पाप की तरह पुण्य को भी हेय समझते हैं।[4]

'इष्टोपदेश' में कहा गया है–"जो मनुष्य किसी भार को शीघ्र ही स्वेच्छा से दो कोस ले जा सकता है, वह उसी भार को आधा कोस ले जाने में कैसे खिन्न हो सकता है? उसी प्रकार जिसे (भाव) मोक्षसुख प्राप्त करा सकता है, उसके लिए स्वर्ग सुख प्राप्त कराना कौन-सा दूर है, यानी कौन बड़ी बात है? जो व्यक्ति कषाययुक्त होकर विषयतृष्णावश पुण्य की अभिलाषा करता है, उससे विशुद्धि और विशुद्धिमूलक पुण्य दूर है। पुण्य की इच्छा करने से पुण्य नहीं होता, बल्कि निरीह (पुण्येच्छा रहित) व्यक्ति को ही उसकी प्राप्ति होती है। ऐसा समझकर हे यतीश्वरो ! पुण्य के प्रति आदरभाव या आदेयभाव मत करो।"[5]

---

१. भगवती आराधना। (मू.) ५७ से ६० तक।
२. परमात्म प्रकाश (मू.) २/५९, २/५८
३. भगवती आराधना (विजयोदया टीका) ५८/१८५/९
४. (क) परमात्म प्रकाश (टी.) २/५७/१७९/८
   (ख) राजवार्तिक ६/३/७
५. इष्टोपदेश ४

पुण्य का निषेध करने का प्रयोजन

पुण्य का निषेध करने या त्याज्य समझने का प्रयोजन या कारण यह नहीं है कि पूर्वकृत पुण्य राशि के फलस्वरूप प्राप्त हुए तन, मन, वचन, इन्द्रिय आदि सामग्री को फेंक दें, किन्तु पुण्य-प्राप्ति की इच्छा से कोई भी प्रवृत्ति न करे; क्योंकि प्रवचनसार के अनुसार–"तात्पर्य यह है कि ये शुभ-अशुभ समस्त परिणाम उपाधि सहित होने से बन्ध के हेतु हैं, बन्धनमुक्ति या कर्मक्षय के हेतु नहीं। ऐसा जानकर बन्धरूप समस्त शुभाशुभ रागद्वेष को नष्ट करने के लिए समस्त रागादि उपाधि से रहित सहजानन्द लक्षणरूप आत्मसुखामृत स्वभावी निज आत्म द्रव्य में भावना करनी चाहिए।"[1]

शुभोपयोगरूप पुण्य कहाँ हेय, कहाँ उपादेय? : सम्यक् विवेचना

जो उच्च भूमिकारूढ़ है अथवा उच्च भूमिका प्राप्त करना चाहता है, ऐसे साधक की अपेक्षा से 'प्रवचनसार' में कहा गया है–"धर्म से परिणतस्वरूप आत्मा जब शुद्धोपयोगरूप परिणति को धारण करती है, तब निर्वाण (मोक्ष) सुख को प्राप्त करती है। और जब धर्म से परिणतस्वरूप आत्मा शुभोपयोग से युक्त होता है, तब वह स्वर्ग-सुख को प्राप्त करता है।"

इस गाथा का आशय स्पष्ट करते हुए जयसेनाचार्य ने तात्पर्य वृत्ति में कहा–गाथा में प्रयुक्त 'शुद्ध-सम्प्रयोग' के द्वारा वाच्य शुद्धोपयोगस्वरूप वीतरागचारित्र है, उससे निर्वाण प्राप्त होता है। अर्थात्–एकान्त शुद्धोपयोगरूप वीतराग चारित्र आत्म-समाधि में अथवा शुक्लध्यान में स्थित परमध्यानी मुनिराज के ही होता है। सराग संयमी अवस्था में मुनिराज के एकान्त शुद्धोपयोग नहीं होता। अतः गृहस्थावस्था में श्रावकव्रती के तो एकान्त शुद्धोपयोग की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

तात्पर्य यह है कि जब सराग संयमी महाव्रती भावलिंगी मुनिवर में भी एकान्ततः शुद्धोपयोग का अभाव है, तब असंयमी अथवा देशसंयमी (श्रावकव्रती) श्रावक के एकान्ततः शुद्धोपयोग का अभाव स्वतःसिद्ध होता है। निर्विकल्प समाधि–(अभेद रत्नत्रयरूप परिणति) रूप शुद्धोपयोग का सामर्थ्य न होने पर जब वह साधक शुभोपयोग (भेद-रत्नत्रयरूप परिणति) रूप सराग चारित्र को धारण करता है, उस समय वह अपूर्व, अनाकुलतास्वरूप परमार्थ (आत्मिक) सुख से विपरीत आकुलता के उत्पादक स्वर्गसुख को प्राप्त करता है। इसके अनन्तर परम समाधि शुद्धोपयोग की सामग्री का लाभ होने पर मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

इसी दृष्टि से अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं–'शुद्धोपयोग उपादेयः' (शुद्धोपयोग उपादेय है) क्योंकि उससे ही निर्वाण-सुख प्राप्त हो सकता है। सविकल्प अवस्थारूप भेद-

१. (क) प्रवचनसार (ता. वृ.) १८०/२४३/१६
(ख) पंचास्तिकाय (ता. वृ.) १२८-१३०/१९५

रत्नत्रयस्वरूप शुभोपयोग से आकुलता का उत्पादक स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है, निर्वाण-सुख नहीं। इसी दृष्टि से कहा गया–'शुभोपयोगो हेयः' अर्थात्–मुनिराज के लिए शुभोपयोग कथञ्चित् हेय है।"[1]

शुद्धोपयोग और शुभोपयोग की उपादेयता-हेयता पर विचार

शुभोपयोग पुण्य है, अशुभोपयोग पाप है और शुद्धोपयोग संवरनिर्जरारूप या आत्मस्वभाव-रमणरूप धर्म है। मुनि-अवस्था में शुद्धोपयोग और शुभोपयोग दोनों होते हैं। इस अपेक्षा से उपादेय और हेय का प्रतिपादन किया गया है। गृहस्थ श्रावक की भूमिका में शुद्धोपयोग की पात्रता ही नहीं है। अतः उसकी अपेक्षा से एकमात्र शुभोपयोग का आश्रय लेना उचित होगा। इस दृष्टि से, शुभोपयोग कथंचित् हेय है, तो कथंचित् उपादेय भी है। निर्विकल्पसमाधि निमग्न वीतराग चारित्री की अपेक्षा शुभोपयोग हेय है, किन्तु उस प्रकार की उच्च शुक्लध्यान-प्राप्ति में असमर्थ मुनिराज के लिए भी शुभोपयोग कथंचित् उपादेय है।

किन्तु गृहस्थ श्रावक के लिए तो शुभोपयोग को सर्वथा हेय नहीं कहा जा सकता। आर्त्त-रौद्रध्यान के जाल में जकड़े हुए गृहस्थ की भूमिका को ध्यान में रखते हुए उसके उद्धार के लिए शुभोपयोग आवश्यक होगा। यदि आरम्भ, परिग्रह, हिंसा आदि पाप-स्थानों के पूर्णत्याग में असमर्थ गृहस्थ के लिए यह विधान किया जाए कि तुम्हारे लिये एकमात्र शुद्धोपयोग ही उपादेय है, शुभोपयोग सर्वथा हेय है; ऐसी स्थिति में वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अशुभोपयोग का ही पल्ला पकड़ेगा, फलतः उसकी दुर्गति होगी; क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने कहा–'अत्यन्तहेय एवाऽयमशुभोपयोगः', अर्थात्–यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। इसलिए सापेक्ष-(अनेकान्त) दृष्टि से हेयोपादेय के विषय में यही विवेक करना उचित होगा–शुद्धोपयोग उपादेय है, उसकी अपेक्षा शुभोपयोग हेय है; किन्तु अत्यन्त हेय अशुभोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग उपादेय है। बुद्धिमान व्यक्ति अत्यन्त हेय अशुभ का त्याग करके शुभ का आश्रय लेता है, क्योंकि ऐसा करना ही अपेक्षाकृत अल्प-दोषरूप है।[2]

कुन्दकुन्दाचार्य ने 'बारसअणुवेक्खा' में इसी तथ्य को अनावृत किया है[3]– शुभ योगों में प्रवृत्ति होने पर अशुभयोग का संवर होता है; तथैव शुद्धोपयोगरूप परमसमाधि

---

१. (क) धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोजुत्तो व सग्गसुहं॥ –प्रवचनसार मू. ११
(ख) प्रवचनसार ता. वृ. (जयसेनाचार्य) का आशय महाबंधो भा.१ प्रस्तावना में देखें, पृ.५९

२. महाबंधो भा. १ प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र जैन दिवाकर) से पृ. ५९, ६०

३. सुहजोगेसु पवित्ति संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोगेण संभवदि।" –बारस अणुवेक्खा ६३

द्वारा शुभयोग का संवर होता है।" अशुभोपयोग तो सर्वथा हेय, पुनःपुनः पापबन्ध-कारक तथा संसार में सतत भ्रमण कराने वाला है। 'प्रवचनसार' में कहा गया है–'अशुभयोग-परिणति के द्वारा आत्मा दीन-दुःखी या नारक, तिर्यञ्च तथा मनुष्य बनकर हजारों दुःखों से पीड़ित होता हुआ सतत् संसार में भ्रमण करता है। तथा अशुभयोग के कारण संचित पापकर्मोदयवश जीव इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा का चिन्तन आदि मलिन सामग्री को पाकर संक्लेश भाव द्वारा पुनः पुनः पापकर्म का आस्रव और बन्ध करता रहता है।[1] जिसका राग प्रशस्त है, अन्तर् में अनुकम्पा की वृत्ति है और मन में कलुषभाव नहीं है, उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है।[2]

शुभ उपयोग (पुण्य) और अशुभोपयोग (पाप) में अन्तर

मोक्षमार्ग प्रकाश में कहा है–शुभ और अशुभ में अन्तर की दृष्टि से विचार करते हैं तो सैद्धान्तिक दृष्टि से शुभभावों (पुण्यों) में कषाय मन्द होते हैं, इसलिए बन्ध अल्प होता है; जबकि अशुभभावों (पापों) में कषाय तीव्र होते हैं, इसलिए बन्ध अत्यधिक होता है। इस प्रकार विचार करने पर कर्मविज्ञान में अशुभ (पाप) की अपेक्षा शुभ (पुण्य) को अच्छा कहा गया है।[3]

संसार भ्रमण की दृष्टि से समान : किन्तु आचारदृष्टि से दोनों में दिन-रात का अन्तर

यद्यपि संसार परिभ्रमण के कारण की अपेक्षा से शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग और उनके द्वारा प्राप्त पुण्य तथा पाप समान हैं, किन्तु दूसरी अपेक्षा से पुण्य और पाप में महान् अन्तर है। जैसे–ब्रह्मचर्यव्रत की अपेक्षा विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि स्वदार-सन्तोष और परस्त्रीगमन, दोनों में स्त्री-सेवनरूपता का सद्भाव है, स्त्रीसम्पर्क का त्याग नहीं है, किन्तु इन दोनों के फलों को देखते हुए दोनों को भिन्न माना जाता है।

जैसे कि शुद्धोपयोग की दृष्टि से विधान है–सत्पुरुष को पूर्ण ब्रह्मचर्य महाव्रत ग्रहण करना चाहिए। किन्तु जिसकी आत्मा अभी पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन में असमर्थ है, उसके लिए स्वदार-सन्तोषव्रती बनने का विधान है। किन्तु अगर वह इस मर्यादा को छोड़कर परस्त्रीसेवन में प्रवृत्ति करता है तो सत्पुरुष उसे महापापी कहते हैं।

यद्यपि परस्त्रीगामी और स्वदारसन्तोषी दोनों ही पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करते तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य की अपेक्षा स्त्रीमात्र का सेवन हेय है, किन्तु पूर्णब्रह्मचर्य पालन में

---

१. प्रवचनसार १/१२ : "असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिभूदो भमिद अच्चंतं॥"

२. रागो जस्स पसत्थो, अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं, पुण्णं जीवस्स आसवदि॥

३. मोक्षमार्ग-प्रकाश ७/३०१/१४

असमर्थ व्यक्ति की अपेक्षा स्वदार सन्तोषी व्यक्ति को शीलवान् कहकर उसकी स्तुति की जाती है एवं परस्त्रीगमन का त्यागी होने से उसे आदरणीय मानते हैं। जैसे सुदर्शन सेठ परस्त्रीगमन से विरत था, और स्वदार-सन्तोषव्रती होने से शीलवान् और आदरास्पद समझा जाता था।

इस उदाहरण के प्रकाश में शुद्धोपयोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के समान परम उपादेय है। शुभोपयोग (पुण्य) स्वदारसन्तोषव्रत के समान कथंचित् उपादेय है, एवं अशुभोपयोग परस्त्रीगमनरूप महापाप के समान सर्वथा हेय है।

स्वदार-सन्तोषी और परस्त्रीगामी, इन दोनों में स्त्री-सेवनरूपता का सद्भाव होते हुए भी स्वदार-सन्तोषी गृहस्थ की अवस्था उपादेय है, मगर परस्त्री-सेवन का कार्य तो सर्वथा निषिद्ध है। यद्यपि शुद्धोपयोगता की अपेक्षा शुभ और अशुभ उपयोग समान हैं, दोनों में अशुद्धोपयोगता है, किन्तु उनमें महान् अन्तर भी है।

इस दृष्टि से स्वदार-सन्तोषी सद्गृहस्थ के लिए शुभोपयोग उपादेय माना गया है और अशुभोपयोग सर्वथा हेय। जो दोनों को एक सरीखे मानकर अशुभ-प्रवृत्ति से विमुख नहीं होता, वह भवभ्रमण एवं दुर्गति का अपार कष्ट पाता है। कुशील परिणाम वाला रावण अशुभोपयोग के कारण नरकगामी बना, जबकि सीता शीलवती (स्वपति-सन्तोषव्रती) होने से स्वर्गगामिनी हुई।

शुभोपयोग और अशुभोपयोग को एक समान मानने वाला चतुर, विवेकी एवं सम्यग्दृष्टि नहीं माना जाता। अध्यात्मशास्त्र में निश्चयनय को प्रधानता दी गई है। इस अपेक्षा से शुद्धोपयोग को आदर्श मानकर अन्य उभय उपयोगों को हेय कहा गया है। किन्तु निर्विकल्प समाधि में असमर्थ व्यक्ति की अपेक्षा से शुभोपयोग और अशुभोपयोग में भिन्नता माननी होगी।[1]

एकान्त निश्चयवादी शुभोपयोग को भी छोड़कर अशुभोपयोग के दूतों के हाथ में

वर्तमान में यह देखा जाता है, कई एकान्त निश्चयवादी व्यक्ति अध्यात्मशास्त्र का पल्लवग्राही पाण्डित्य प्राप्त करके अर्हद्-भक्ति, दान, शील, तप, स्वाध्याय तथा व्रत-नियमादि का आचरण आदि सत्कार्यों अथवा सत्प्रवृत्तियों को शुभोपयोगरूप कह कर उसे एकान्त रूप से त्याज्य प्रतिपादित करते हैं, तथा शुभोपयोग रूप पुण्य के प्रति अनर्गल एवं अमर्यादित आक्षेपपूर्ण शब्दों का प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, वे स्वयं एकान्त शुद्धोपयोग की भूमिका पर आरूढ़ नहीं हैं, और शुभोपयोग को सर्वथा त्याज्य कहकर स्वयं को, तथा इस प्रकार के सिद्धान्त एवं भूमिका की प्रतिकूल बातों से बहकाकर दूसरों को भी चारों विकथाओं, हिंसादि पंच पापों, सप्त कुव्यसनों आदि अशुभपयोग के महान् दूतों के हाथों में सौंप देते हैं।

---

१. महाबंधो भा. १ (प्रस्तावना) (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) से पृ. ६१

उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि शुभोपयोग तभी सर्वथा हेय होता है, जब पूर्णतः शुद्धोपयोग की भूमिका प्राप्त हो जाए। शुभोपयोग की केवल निन्दा करने से या उच्चतम भूमिका प्राप्त किये बिना ही उसे छोड़ देने से वह नहीं रुकेगा, बल्कि जब भी रुकेगा, शुद्धोपयोग के द्वारा ही रुकेगा। निर्विकल्पसमाधिरूप, शुद्धोपयोग एकान्ततः अभेदरत्नत्रय की आराधना से प्राप्त होता है। केवल शुद्धोपयोग तो वीतराग मुनियों को ही प्राप्त होता है, सामान्य मुनियों को नहीं, चाहे वे कितने ही विद्वान् हों, तर्कशास्त्री हों, एवं अध्यात्मपण्डित हों।

हाँ, सुविहित मुनिवरों को शुभोपयोग के साथ-साथ शुद्धोपयोग प्राप्त हो सकता है। किन्तु परिग्रही गृहस्थ को तो उसकी प्राप्ति उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार देव पर्याय वाले जीव को मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। यही कारण है कि भव्यजीवों के कल्याणार्थ जैनाचार्यों तथा जैन मनीषियों ने शुभोपयोग द्वारा पुण्य संचय को प्रशस्त मार्ग बताया है।[1]

शुद्धोपयोग सर्वथा उपादेय है किन्तु किस क्रम से और किस भूमिका में?

यद्यपि शुद्धोपयोग सर्वश्रेष्ठ निधि है, किन्तु विषय-कषायों के कारण जिसकी आत्मा अत्यन्त अशक्त है, वह निर्विकल्पसमाधिरूप अप्रमत्त दशा को सहसा नहीं प्राप्त कर सकता। उसके लिए शुभोपयोग कथंचित् उपादेय है, किन्तु अशुभोपयोग तो दुर्गति का बीज होने से सर्वथा हेय है।

अतः परम आप्त सर्वज्ञ वीतराग महर्षि विषयासक्त एवं कषायपराजित प्रमत्त जीवों की मनोदशा को भलीभाँति जानकर पुण्य के माध्यम से श्रेष्ठ इन्द्रियजनित सुखों एवं अन्य उपलब्धियों की ओर आकर्षित करते हैं फिर उन्हें व्रताचरणरूप व्यवहार धर्म की ओर मोड़ते हैं। तत्पश्चात् विषयसुखों की निःसारता का उपदेश देकर वे संवर-निर्जरारूप कर्ममोक्ष की दीक्षा की ओर उसे मोड़ते हैं और शुद्धोपयोगलीन बनाकर मुक्तिश्री का स्वामी बना देते हैं।[2]

उनकी तत्त्वदेशना की पद्धति का उल्लेख 'समाधिशतक' में आचार्य पूज्यपाद इस प्रकार करते हैं–"असंयमी जीवन द्वारा पाप का संचय होता है। अहिंसादि व्रतों (के ग्रहण) से पुण्य की प्राप्ति होती है। पुण्य और पाप दोनों कर्मों के क्षय हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। अतः मोक्षार्थी मुनि अभेदरत्नत्रयरूप निर्विकल्पसमाधि का आश्रय लेकर अव्रत के तुल्य विकल्पात्मक व्रतों का भी परित्याग कर दे।[3]

---

१. महाबंधो भा. १ प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र जैन दिवाकर) से पृ. ६१
२. वही, पृ. ६४
३. अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोरफलः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ –समाधिशतक ८३

शुद्धोपयोग की अयोग्यता वाले शुभोपयोग को छोड़कर अशुभोपयोगरूप पापपंक में निमग्न

परन्तु जो व्यक्ति अभी हीन प्रवृत्ति को अपना कर पापपंक में फंसा हुआ है, उसे उक्त पाप प्रवृत्ति से विमुख न बनाकर जो सीधे ही शुद्धोपयोग की उच्च-भूमिका पकड़ा देता है, ऐसा करके वह उसे पुण्य प्रक्रियाओं से भी विमुख बना देता है। तो समझिए कि वह उस जीव के कल्याण के प्रति शत्रुता प्रदर्शित करता है। ऐसे व्यक्ति सद्गुरु की शरण न मिलने से शुभोपयोगरूप पुण्य प्रवृत्ति को तो शुद्धोपयोग प्राप्ति के भ्रम में छोड़ बैठते हैं, और वैसी योग्यता न होने से पाप प्रवृत्ति (अशुभोपयोग) को जोर से पकड़े रहते हैं। वे भ्रान्तिवश ऐसा सोचने लगते हैं कि उन्होंने मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लिया है।

उन्हें समाधिशतक में उक्त आचार्य पूज्यपाद द्वारा सूचित त्याग का यह क्रम हृदयंगम करना चाहिए–"सर्वप्रथम प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान (चौर्य), कुशील सेवन एवं परिग्रहासक्तिरूप पाप के कारणों–अव्रतों को छोड़कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप व्रतों में परिपूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। तत्पश्चात् आत्मा के निर्विकल्प रूप में लीन होकर शुक्लध्यान के द्वारा परम समाधि को प्राप्त करते हुए उन पूर्वोक्त विकल्पात्मक व्रतों को भी छोड़कर आत्मा के परमपद (परमात्मपद) को प्राप्त करना चाहिए।"[1]

निष्कर्ष यह है कि वीतराग महर्षियों की देशना-पद्धति यह है कि जो व्यक्ति पापों में निमग्न हो रहा है, उसे सर्वप्रथम उन पापों से विमुख करके पुण्य के सम्मुख करो, फिर पुण्यफल से प्राप्त वैभव तथा पुंण्योपार्जन की वृत्ति को भी त्यागकर आकिंचन्य भावना द्वारा उसे वीतराग-परमात्मपद प्राप्ति की ओर मोड़ो।

भूमिका देखकर ही शुभोपयोग का त्याग कराया जाता है

जैनागमों में सर्वत्र इसी क्रम और विधि का उपदेश किया गया है। जैसे उत्तराध्ययन सूत्र में चित्त-सम्भूति-संवाद में सम्भूति का जीव निदान करके पूर्वकृत पुण्यवश चक्रवर्ती पद प्राप्त कर चुका था, परन्तु चक्रवर्ती बनने के बाद वह (ब्रह्मदत्त) भोगों में इतना आसक्त हो चुका था कि चित्तमुनि के जीव (वर्तमान में वीतरागमार्गी मुनि) ने उसे शुद्धोपयोग के लिए बिलकुल अयोग्य समझकर सर्वप्रथम हिंसादि पापों से विरत करके प्राथमिक शुभोपयोग में स्थिर करने के लिए उपदेश दिया कि–"यदि तू भोगों का त्याग करने में अशक्त-असमर्थ है तो कम से कम आर्यकर्म तो कर जिससे कि धर्म

---

१. (क) महाबंधो भा. १ प्रस्तावना से पृ. ६४
(ख) अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तानपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ –समाधिशतक ८४

(लौकिक और लोकोत्तर धर्म) में स्थिर होकर सर्वप्राणियों पर अनुकम्पाशील बन, जिससे तू इस मनुष्य भव के अनन्तर वैक्रिय शरीरधारी (वैमानिक) देव हो सके।"[1]

इसी प्रकार पार्श्वनाथ शासन के तेजस्वी मुनि केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा की योग्यता-अयोग्यता की जांच-परखकर सीधे ही शुद्धोपयोग का महाव्रताचरण का उपदेश नहीं दिया, बल्कि नैतिक एवं व्यावहारिक जीवन में धर्म (पुण्योपार्जन कारक) का आचरण करने की प्रेरणा की। फलतः वह देशविरत श्रमणोपासक धर्म की अंगीकार करने हेतु स्वयं तैयार हो गया। जब वह विदा होने लगा, तब श्री केशीश्रमण ने उसे कहा–"राजन् ! अब तुम रमणीक (पुण्यशाली) बन गए हो, अतः पुनः अरमणीक (अपुण्यशाली-पापाचारी) मत बनना।[2]

अशुभोपयोग से सर्वथा दूर रहने के लिए शुद्धोपयोग का लक्ष्य रखकर शुभोपयोग में स्थिर होना आवश्यक

परन्तु जो व्यक्ति इससे भी ऊपर उठकर मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए तत्पर एवं योग्य हो गए हैं, उनके लिए भी दशवैकालिक सूत्र में यह स्पष्ट निर्देश है कि तुम अपनी प्रत्येक चर्या करते समय जागरूक और यतनाशील रहो, ताकि पापकर्मों का बन्ध न हो।[3]

इसका मतलब यह हुआ कि शुद्धोपयोग की भूमिका प्राप्त करना चाहने वाले मुनियों को भी सर्वप्रथम अशुभोपयोग (पापकर्म के आस्रव एवं बन्ध) से बचने के लिए शुभोपयोग में स्थिर होने का निर्देश किया है।

स्थानांग सूत्र में संयमी साधु के लिए सम्यग्दर्शनपूर्वक महाव्रताचरण में प्रवृत्त करते समय आठ अभ्युत्थान सूत्रों का निर्देश किया है–"आठ वस्तुओं की प्राप्ति के लिए साधक सम्यक् चेष्टा करे, सम्यक् यत्न करे, सम्यक् पराक्रम करे। इन आठ (संवर निर्जरा-मूलक धर्मों) की प्राप्ति के विषय में जरा भी प्रमाद न करे :–

(१) अश्रुत धर्मों के भलीभाँति श्रवण के लिए जागरूक (उद्यत) रहे। (२) सुने हुए धर्मों को मन से ग्रहण करे, स्मृति में धारण करने के लिए उद्यत (जागरूक) रहे; (३) संयम (संवर) के द्वारा नवीन कर्मों के निरोध के लिए तत्पर रहे, (४) तपश्चरण द्वारा प्राचीन कर्मों के पृथक्करण और विशुद्धिकरण के लिए प्रयत्नशील रहे। (५) असंग्रहीत परिजनों (शिष्यों) के संग्रह करने (संघ में लाने और उन्हें ग्रहण-आसेवन शिक्षा-दीक्षा

---

१. देखें, उत्तराध्ययन सूत्र चित्त-संभूतीय संवाद, अ. १३ गा. ३२

२. "·····से तेणट्ठेण पएसी ! एवं वुच्चइ-मा णं तुमे पएसी ! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि, जहा वणसंडेइ वा ····।" –राजप्रश्नीय सूत्र २७२

३. "जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पाव कम्मं न बंधइ।" –दशवैकालिक सूत्र अ. ४, गा. ८

देने) के लिये अभ्युद्यत रहे। (६) शैक्ष (नवदीक्षित) आचार-गोचर को सम्यक् बोध कराने के लिए उद्यत रहे; (७) ग्लान (रुग्ण, अशक्त एवं अतिवृद्ध) साधु की अग्लानभाव से वैयावृत्य (परिचर्या-सेवा शुश्रूषा) करने के लिए अभ्युत्थित रहे; (८) साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर निष्पक्षत्व एवं मध्यस्थभाव से उसे उपशान्त करने हेतु तत्पर रहे।"[1]

ये आठों ही अभ्युत्थान सूत्र व्यवहार धर्म (पुण्योपार्जनकारी) रूप शुभोपयोग में स्थिर होने, साथ ही अशुभोपयोग (पापवृत्ति-प्रवृत्ति) से दूर रहने के सूचक हैं।

दशवैकालिक सूत्र में एक गाथा द्वारा स्पष्ट बता दिया है कि "अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति (या उत्साह) तथा अपनी श्रद्धा और आरोग्य, को देखकर तथा क्षेत्र तथा काल को विशेषरूप से जानकर फिर स्वयं को उस (भेदरत्नत्रय रूप) धर्म-प्रवृत्ति में नियुक्त करे।"[2]

आचारांग सूत्र में भी विमोक्ष नामक अध्ययन में वस्त्रप्रकल्प, आहारप्रकल्प, वैयावृत्य प्रकल्प आदि में अपनी शक्ति, योग्यता, क्षमता आदि देखकर[3] यथायोग्य संकल्प करने का विधान है, जो शुभोपयोग में स्थिर रखने के हेतु से उपदिष्ट है।

उत्तराध्ययनसूत्र के संयतीय अध्ययन में भी स्पष्टतः कहा गया है–"जो मनुष्य पापकर्ता हैं वे घोर नरक के गर्त्त में गिरते हैं, तथा जो मनुष्य आर्य धर्म (पुण्य) का आचरण करते हैं, वे दिव्य (देव) गति को प्राप्त करते हैं।"

इसी सूत्र के पंचम अध्ययन में संयत, जितेन्द्रिय एवं पुण्यशालियों के मरण को सकाममरण कहकर उसे अनाकुल (अतिप्रसन्न) एवं आघात रहित बताया है। साथ ही सकाममरण वाले दो प्रकार के साधक बताए हैं–(१) सामायिक आदि शिक्षाव्रती सद्गृहस्थ एवं (२) संवृत भिक्षु।

शिक्षाव्रती शुभोपयोगी होता है, अतः उसकी गति देवलोक की तथा संवृत भिक्षु शुद्धोपयोगाभ्यासी शुभोपयोगी होता है, अतः उसकी मरणोत्तर स्थिति दो प्रकार की बताई है–या तो वह सर्वदुःखों से रहित सर्वकर्ममुक्त हो जाता है, या महर्द्धिक देव बनता है।"[4]

---

१. स्थानांगसूत्र स्थान ८ सू. ६१६

२. (क) बलं थामं च पेहाए सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विण्णाय तहऽप्पाणं निउंजए। –दशवैकालिक ८/३२
(ख) जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥ –वही, अ. ८ गा. ३३

३. देखें आचारांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध का विमोक्ष नामक ८वां अध्ययन

४. (क) उत्तराध्ययन १५/२५
(ख) वही, अ. ५ गा. १८
(ग) वही, अ. १/४८

पुण्य और पाप में भिन्नता : व्यवहार दृष्टि से

तत्त्वार्थसार में अमृतचन्द्र सूरि ने इन दोनों की भिन्नता प्रदर्शित करते हुए कहा है–"हेतु (साधन) और कार्य (फल) की विशेषता (भिन्नता) से पुण्य और पाप में भिन्नता है। पुण्य और पाप के कारण पृथक्-पृथक् हैं। पुण्य का कारण शुभ परिणाम है और पाप का कारण है–अशुभ-परिणाम। पुण्य का फल इन्द्रियजनित वैषयिक सुख की उपलब्धि है, जबकि पाप का फल दुःख की प्राप्ति है।"[1]

'मोक्षपाहुड' में कहा गया है–जिस प्रकार छाया और धूप (आतप) में स्थित पथिकों के प्रतिपालक कारणों में बहुत अन्तर है। व्रत, तप आदिरूप पुण्य श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे स्वर्गादि, उत्तम गति की प्राप्ति होती है, इसके विपरीत अव्रत, अतप आदि रूप पाप श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि उससे नरक की प्राप्ति होती है।

इसी सन्दर्भ में, भगवती आराधना में भी कहा गया है–"जब व्रतादिसहित भी मिथ्यादृष्टि संसार में परिभ्रमण करता है, तब फिर व्रतादि से रहित (अशुभोपयोग युक्त) होकर तो दीर्घ-संसारी क्यों न होगा?"[2]

अतः पुण्य हेय ही नहीं, उपादेय भी है : क्यों और कैसे?

अतः पुण्य आध्यात्मिक जीवन की उच्चभूमिका में हेय होते हुए भी सामाजिक, नैतिक, राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जीवन में, इतना ही नहीं, धार्मिक जीवन में भी कथंचित् उपादेय और अशुभोपयोग निरोधक भी है। तन, मन, वचन में संतुलन बनाना, जीवन के संचालन में बाह्य और आभ्यन्तर दृष्टि से समत्व स्थापित करना पुण्य का कार्य है।

आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में–"पुण्य (अशुभ) कर्मों का लाघव है और शुभ कर्मों का उदय है।" अर्थात्–वे पुण्य को अशुभ कर्मों के ह्रास और शुभकर्मों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त बाह्य विकास का, प्रशस्त राग का द्योतक मानते हैं।

कविवर बनारसीदास जी समयसार नाटक में पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं–पुण्य वह है, जिससे भावों की विशुद्धि-पवित्रता हो, आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़े, इस संसार में भौतिक, शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक समृद्धि एवं सुखवृद्धि हो।

---

१. हेतु-कार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः।
हेतु शुभाशुभौ भावौ, कार्ये चैव सुखासुखे। तत्त्वार्थसार–(आश्रव तत्त्व) गा. १०३

२. (क) वरं वयतवेहिं सग्गो वा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठिदमाणं पडिवालंताणं गुरुभेयो॥" –मोक्षपाहुड २५

(ख) जस्स पुण मिच्छादिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणो चावि।
सो मरणे अप्पाणं कहं ण कुणइ दीहसंसारं? –भगवती आराधना मू. ६१

आचार्य अभयदेव का कहना है "पुण्य वह है, जो आत्मा को पवित्र करता है, अथवा जिससे आत्मा पवित्रता की ओर बढ़ता है।" आचार्य की दृष्टि में पुण्य मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है। आध्यात्मिक साधना में भी पुण्य साधक होता है।" "पुण्य मोक्ष यात्रियों की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को संसार-समुद्र से शीघ्र पार करा देती है।" इसका आशय यह है कि पुण्य आत्मा के लिए संसार-समुद्र को पार करने में जलयान के समान उपयोगी है। जैसे–समुद्र की छाती पर तैरते समय नौका उपयोगी एवं उपादेय होती है, परन्तु समुद्र का तट आने पर नौका को छोड़ दिया जाता है, उसे त्यागना आवश्यक हो जाता है, उसी प्रकार संसार समुद्र को पार करते समय पुण्यरूपी नौका उपयोगी और उपादेय होती है, किन्तु संसार समुद्र के किनारे पहुँच जाने पर पुण्यरूपी नौका का आश्रय छोड़ देना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार पुण्य मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में सहायक एवं उपादेय होता है, किन्तु संसार समुद्र पार कर लेने पर मोक्ष में प्रवेश के समय पुण्य को हेय समझकर छोड़ देना होता है। अयोगी केवली गुणस्थान की भूमिका में उसकी उपयोगिता नहीं रहती, वह स्वतः आत्मा से पृथक् हो जाता है।[1]

पुण्य स्वयमेव पापमल को नष्ट करने के साथ आत्मा से पृथक् हो जाता है

इसीलिए कर्मविज्ञान मनीषियों ने कहा कि पुण्य आध्यात्मिक जीवन-जीवी साधक की आत्मा का अंगरक्षक सेवक है, जो मोक्षप्राप्ति के पूर्व तक यानी अयोगी केवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के पूर्व तक–स्वामिभक्त सेवक की तरह उसका पूर्ण सहयोग करता है और अनुकूल साधन जुटाता है।[2]

अमर भारती में इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए एक श्लोक द्वारा कहा गया है–"जैसे मिट्टी बर्तन पर लगे हुए मैल को साफ करके मैल के साथ ही स्वयं दूर हो जाती है, वैसे ही पुण्य पापकर्म का निराकरण (हटा) कर स्वयं दूर हो (हट) जाता है।"

पुण्य को साबुन की उपमा दी जा सकती है। जैसे साबुन वस्त्र का मैल धोकर, स्वयं मैल के साथ ही अलग हो जाता है, वैसे ही पुण्य भी पापमल को साफ करके स्वयं मैल (पापमल) के साथ ही हट जाता है। जिस प्रकार एरण्ड बीज या केस्टर ऑइल आदि रेचक दवा मल के रहने तक उदर में रहती है, मल निकलने पर वह स्वयं भी निकल

---

१. (क) योगशास्त्र ४/१०७
   (ख) समयसार नाटक उत्थानिका २८
   (ग) स्थानांग सूत्र टीका १/११-१२
   (घ) जैनधर्म पृ. ८४
   (ङ) "जैनकर्म सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से पृ. ३८
२. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित–पुण्य-पाप की अवधारणा लेख से पृ. १५२

जाती है, इसी तरह पाप के नष्ट होने के साथ ही, पुण्य भी अपना फल देकर कर्मसन्तति को आगे बढ़ाये बिना निश्चित ही आत्मा से पृथक् हो जाता है।[1]

पूर्वोपार्जित पुण्य सभी प्रकार की अनुकूल परिस्थितियों, संयोगों और शुभ भावों को उपस्थित करता है

जैनदर्शन के अनुसार पुण्यकर्म, वे शुभ पुद्गलों के परमाणु हैं, जो जीवन की शुभ वृत्ति-प्रवृत्तियों एवं शुभ परिणामों तथा शुभक्रियाओं के कारण आकृष्ट होकर जीव के आत्मप्रदेशों के साथ श्लिष्ट हो जाते–बंध जाते हैं और अपने विपाक (फलप्रदान) के अवसर पर जीव को शुभ अध्यवसायों, शुभ परिणामों एवं सत्कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। साथ ही पुण्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं भौतिक अनुकूलताओं और अनुकूल परिस्थितियों के संयोग उपस्थित कर देते हैं। आत्मा की शुभ भावनाएँ, शुभ मनोवृत्तियाँ, तथा सक्रियाएँ भी पुण्य कहलाती हैं, जो स्वतः शुभ पुद्गल (कर्म) परमाणुओं को आकर्षित करती हैं। दूसरी ओर, शुभवृत्तियों तथा सत्कार्यों की ओर प्रेरित करने वाले वे शुभ (पुण्य) के कर्म-पुद्गल-परमाणु अपने प्रभाव से स्वास्थ्य, सुखोपभोग-साधन, सम्पत्ति, सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान, संयम एवं संवर आदि के अवसर उपस्थित कर देते हैं।[2]

अशुभ से सीधे शुद्ध की प्राप्ति नहीं, शुभ के त्याग से ही शुद्ध की प्राप्ति संभव

जैनकर्मविज्ञान के अनुसार अशुभ से सीधे शुद्ध की प्राप्ति नहीं होती, अपितु अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की प्राप्ति होती है। इस दृष्टि से भी पुण्य शुद्ध की प्राप्ति में सहायक होने से शुद्ध की प्राप्ति न होने तक उपादेय मानना युक्ति, सिद्धान्त और तर्क से संगत है।

इसी तथ्य को 'आत्मानुशासन' में गुणभद्राचार्य ने प्रकट किया है–"ज्ञानी पुरुष पुण्य तथा पाप का कारण जीव के परिणाम को ही कहते हैं। अतएव निर्मल परिणामों के द्वारा पूर्वसंचित पाप का विनाश एवं आगामी पुण्य का संचय करना चाहिए।[3]

शुभ का त्याग होने पर पुण्य और इन्द्रियजनित सुख स्वयं दूर हो जायेंगे

इसी प्रकार शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप एवं सुख-दुःख ये तीन युगल (छह) तथ्य हैं, इनमें से आद्य शुभ, पुण्य और सुख तीन (कथंचित्) उपादेय या अनुष्ठेय हैं; तथा शेष

---

१. (क) मलं पात्रोपसंसृष्टमपनीय यथाहि मृत्।
स्वयं विलयतां याति, तथा पापापहं शुभम्॥
(ख) अमरभारती १/७८ पृ.८४

२. जैनकर्म सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययनः (डॉ. सागरमल जैन) से पृ. ३८

३. परिणाममेवकारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञन।
तस्मात्पापापचयः पुण्यापचयश्च सुविधेयः॥" –आत्मानुशासन-२३

अशुभ, पाप और दुःख, ये तीन त्याज्य हैं। तथा पूर्वोक्त शुभ, पुण्य और सुख, इनमें से प्रथम शुभ का त्याग होने पर पुण्य और इन्द्रिय जनित सुख तो स्वयमेव दूर जाऐंगे। तथा रागद्वेष रहित औदासीन्य रूप शुद्ध परिणति प्राप्त हो जाने पर शुभ का त्याग करके जीवन मोक्षरूप उत्कृष्ट पद को पा लेता है।[1]

पुण्य की दो उपलब्धियां : कर्ममुक्त सिद्ध परमात्मा या अल्पकर्मा महर्द्धिकदेव

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन में शुद्धोपयोगाभ्यासी शुभोपयोगी विनीत शिष्य को प्राप्त होने वाली बारह उपलब्धियों में "देहत्याग के पश्चात् एक उपलब्धि यह बताई है कि या तो वह शाश्वत, सर्वथा कर्ममुक्त सिद्ध परमात्मा बनता है, अथवा अल्पकर्मा महर्द्धिक देव बनता है।"[2]

पुण्य से प्राप्त होने वाले महालाभ और उसके उपार्जन की प्रेरणा

पुण्य की महिमा एवं उसके फल का कुरलकाव्य में स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा गया है–"धर्म (पुण्यकार्य–सत्कार्य) मनुष्य को स्वर्गप्रदान करने वाला है, उसी से सुदुर्लभ निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त होता है। अतः धर्म से बढ़कर और सुकृति (नेकी) देहधारियों के लिये नहीं है, और उसे छोड़ देने से या उसे भुला देने से बढ़कर दुष्कृति (बुराई) और कोई नहीं।"

महापुराण में भी पुण्य से प्राप्त होने वाले महालाभ का वर्णन करते हुए कहा है–"पुण्य के बिना चक्रवर्ती के समान अनुपम रूप, सम्पदा (वैभव), अभेद्य शरीर का बन्धन (संहनन), अतिशय उत्कृष्ट निधि, रत्नों की ऋद्धि, हाथी-घोड़े आदि का परिवार तथा अन्तःपुर का वैभव, द्वीप-समुद्रों की विजय, भोगोपभोग, तथा सभी के द्वारा आज्ञाकारिता, ऐश्वर्य आदि सब कैसे प्राप्त हो सकते हैं?"[3]

---

१. (क) शुभाशुभे पुण्य-पापे सुख-दुःखे च षट्त्रयम्।
हितमाद्यं अनुष्ठेयं शेष त्रयमथाहितम्॥२३९॥
(ख) तत्राऽप्याद्यं परित्याज्यं, शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वाऽन्ते प्राप्नोति परमं पदम्॥२४०॥–आत्मानुशासन २३९, २४०

२. स देव-गंधव्व मणुस्स-पूइए, चइत्तु देहं मलं पंक पुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥ –उत्तराध्ययन. अ. १ गा. ४८

३. (क) धर्मात् साधुतरः कोऽन्यो यतो विन्दति मानवाः।
पुण्यं स्वर्गप्रदं नित्यं निर्वाणं च सुदुर्लभम्॥
धर्मान्नास्त्यपरा काचित् सुकृतिर्देहधारिणाम्।
तत्त्यागान्नपरा काचित् दुष्कृतिर्देहभागिनाम्॥ –कुरलकाव्य ४/१-२
(ख) पुण्याद् बिना कुतस्तादृग्रूपसम्पदनीदृशी?
पुण्याद् बिना कुतस्तादृग्-अभेद्य-गात्र-बन्धनश्च॥१४१
पुण्याद् बिना कुतस्तादृङ् निधिरत्नर्द्धिरुजिता।
पुण्याद् बिना कुतस्तादृग् इभाश्वादि-परिच्छदः?"
–महापुराण ३७/१९७ से १९९

पुण्यप्राप्ति का सरल उपाय बताते हुए आचार्य जिनसेन कहते हैं–"जिनेन्द्र भगवान् की अर्चा-भक्ति से प्राप्त होने वाला पुण्य प्रथम है। सुपात्र को दान देने से उत्पन्न पुण्य दूसरा है। तीसरा पुण्य है–व्रतों के पालन से प्राप्त होने वाला। चौथा पुण्य उपवास आदि तप करने से प्राप्त होता है। इस प्रकार पुण्यार्थी पुरुष को जिन-भक्ति, दान, व्रत, और उपवासादि तप के द्वारा पुण्य का उपार्जन करना चाहिए।"

आगे जिनसेनाचार्य कहते हैं–"पुण्य से सर्वविजयिनी चक्रवर्ती की लक्ष्मी प्राप्त होती है। पुण्य से इन्द्र की दिव्यश्री प्राप्त होती है। पुण्य से ही तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है। उसी पुण्य से परमकल्याण रूप मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है। इस प्रकार पुण्य से ही यह जीव चार प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है। अतः सुधीजनो ! तुम लोग भी पूज्य जिनेन्द्रोक्त आगमों के अनुसार पुण्य का उपार्जन करो।"[1]

सर्वमान्य पूज्य का माहात्म्य

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में भी पुण्य का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है–"पुण्य के प्रभाव से अंधा प्राणी भी निर्मल नेत्रों का धारक हो जाता है। वृद्ध भी लावण्ययुक्त हो जाता है, निर्बल भी सिंह-सम बलिष्ठ हो जाता है। विकृत शरीर वाला भी कामदेव-सा सुन्दर हो जाता है। अन्य जो भी प्रशंसनीय एवं दुर्लभ पदार्थ माने जाते हैं, वे सब पुण्योदय से प्राप्त हो जाते हैं।"

इसी ग्रन्थ में आगे कहा गया है–"इस संसार में समस्त दुःखदायक आपदाओं का निवारक तथा प्राणियों का उद्धारक धर्म (पुण्य) रूपी सुहृद् के सिवाय और कोई नहीं है। इसलिए हे विद्वज्जनो ! आप अपनी गति-मति धर्म (पुण्यकार्य) में लगाइए।"

---

१. (क) पुण्यं जिनेन्द्र-परिपूजन-साध्यमाद्यं, पुण्यं सुपात्र-गत-दान-समुत्थमन्यत्।
पुण्यं व्रताचरणादुपवासयोगात्, पुण्यार्थिनामितिचतुष्टमर्जनीयम्॥-महापुराण २८/२३९

(ख) पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैन्द्रीं च दिव्यश्रियं।
पुण्यात्तीर्थकर श्रियं च परमां निःश्रेयसीं चाश्नुते।
पुण्यादिव्य सुभृच्छ्रियां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनम्।
तस्मात् पुण्यमुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याज्जिनेन्द्रागमात्॥
–महापुराण २८/२१९,३०/१२९

(ग) "कोप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्।
निःप्राणोऽपि हरिर्विरूप तनुरप्याद्युस्यते मन्मथः।
उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि नितरामालिंग्यते वै श्रिया॥
पुण्यादन्यऽपि प्रशस्तमखिलं जायेत महदुर्घटम्॥" –पद्मनन्दि-पंचविंशतिका १/१८९

(घ) वही, श्लोक १८८

(ङ) सत्कृत्यं सर्वदा कार्यं यदुदर्के सुखावहम्। पूर्णशक्तिं समाधाय, महोत्साहेन धीमता॥
–कुरलकाव्य ४/३

"वस्तुतः पुण्य और पाप ही इष्टसंयोग और इष्टवियोग के हेतु हैं। अन्य पदार्थ तो केवल निमित्त मात्र हैं। अतः हे पण्डित जनो ! आप पवित्र पुण्यराशि के भाजन बनें, अर्थात् निर्मल पुण्य का उपार्जन करें।"

कुरलकाव्य में तो पुण्य कार्य की अत्यधिक प्रेरणा देते हुए कहा है–"अपनी पूरी शक्ति और पूर्ण उत्साह के साथ सदैव सत्कार्य (पुण्यकार्य) करते रहो।"

अध्यात्म शास्त्र के मार्मिक आचार्य पद्मनन्दि पुण्य संचय की प्रेरणा देते हुए कहते हैं–"पुण्य के होने पर दूर से भी अभीष्ट वस्तु का लाभ हो जाता है, जबकि पुण्य के बिना, अर्थात्–पापोदय होने पर हाथ में रखी हुई वस्तु भी उपभोग में नहीं आ सकती। पुण्य को छोड़कर अन्य सामग्री निमित्त मात्र है। अतः हे विवेकीजनो ! निर्मल पुण्य राशि के पात्र बनो, अर्थात्–पवित्र पुण्यराशि का संचय करो।"

आगे वे कहते हैं–"जो व्यक्ति अपने घर से दूसरे गाँव या परदेश जाते समय बढ़िया पाथेय (भाता) साथ में रखता है वह सुखी रहता है। इसी प्रकार इस जन्म को छोड़कर जन्मान्तर (परलोक) जाते समय भी व्रत और दान से उपार्जित शुभ (पुण्य) साथ में होगा तो, वही एकमात्र सुख का हेतु होगा।"

उनका यह कथन भी है–"हे जीव ! तेरा धन तेरे साथ एक कदम भी नहीं जाएगा। बन्धु वर्ग भी श्मशान तक जाकर लौट आएँगे। तेरे साथ में तो तेरा एकमात्र मित्र पुण्य ही दूर तक साथ जाएगा। अतः उस पुण्य को प्राप्त करो।"[1]

पुण्यफल और पुण्यफल कथा की उपादेयता पर विचार

धवला में पुण्य के फल के सम्बन्ध में एक प्रश्नोत्तरी प्रस्तुत की गई है। प्रश्न उठाया गया है–"पुण्य के उत्कृष्ट फल कौन-कौन से हैं ?" उत्तर दिया गया है–तीर्थंकर,

---

१. (क) "पावोदएण अत्थो हत्थपत्तो वि णस्सदि णरस्स।
दुरादवि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण॥" –भगवती आराधना १७३१

(ख) "दूरादभीष्टमभिगच्छति पुण्ययोगात्।
पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति॥"
अन्यत्परं प्रभवतीह निमित्तमात्रं, पात्रं बुधा ! भजत निर्मलपुण्यराशेः॥
– पद्मनंदि पंचविंशतिका में दानपंचाशत् १०

(ग) ग्रामान्तरं व्रजति यः स्वगृहाद् गृहीत्वा, पाथेयमुन्नततरं स सुधी मनुष्यः।
जन्मान्तरं प्रविशतोऽस्य तथा व्रतेन, दानेन चार्जितशुभं सुखहेतुरेकम्॥
–पद्मनन्दि पंचाविंशतिका २६

(घ) नार्थः पदात्पदमपि व्रजतिस्त्वदीयो व्यावर्तते पितृवनादपि बन्धुवर्गः।
दीर्घे पथि प्रवसतो भवतः सखैकं, पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव॥ –वही, ४३

गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, वैमानिक आदि देवगण एवं विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।[1]

उत्तराध्ययन, उपासकदशांग, ज्ञाताधर्मकथा, अनुत्तरौपपातिक, औपपातिक, राजप्रश्नीय, सुख-विपाक आदि आगमों में यत्र-तत्र पुण्य फल की कथाएँ विस्तृत रूप से दी गई हैं।[2]

भक्तामर स्तोत्र में भी कहा गया है–"आपकी संकथा भी जगत के पापों का नाश करने वाली है।[3]

'जिनसहस्रनाम' में जिनेन्द्र भगवान् के नामों में उन्हें पुण्यगी (पुण्यवाणीयुक्त), पुण्यवाक्, पुण्यनायक, पुण्यधी, पुण्यकृत्, पुण्यशासन आदि भी कहा है।

'दिग्वासादिशतम्' में उन्हें पुण्यराशि भी कहा है।[4]

कल्याण मन्दिर स्तोत्र को भगवान् को 'कारुण्य और पुण्य की निवासभूमि' कहा है।[5]

पद्मनन्दि-पंचविंशतिका में आचार्य ने जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करते समय स्वयं को 'पुण्य का गृह' (पुण्य निलय) कहा है।[6]

इसके अतिरिक्त जिनेन्द्र देव की आराधना-उपासना एवं अर्चा द्वारा पुण्य की प्राप्ति होती है। इस तथ्य को भरतचक्री ने समवसरण में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति

---

१. (प.) काणि पुण्णफलाणि ?
(ङ) तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टी-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहर-ऋद्धीओ।"
–धवला १/१,१२/१८५

२. देखें–उत्तराध्ययन, उपासकदशांग, ज्ञाताधर्मकथा, अनुत्तरौपपातिक, औपपातिक, राजप्रश्नीय, सुखविपाक आदि में विस्तृत रूप से वर्णित पुण्य फल सूचक कथाएँ।

३. त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति। –भक्तामर स्तोत्र काव्य ९

४. गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुणः पुण्यगीर्गुणः।
शरण्यः पुण्यवाक् पूतो वरेण्यः पुण्यनायकः।
अगुण्यः पुण्यधीर्गणः, पुण्यकृत् पुण्यशासनः।
धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्य-निरोधकः॥
शुभयुः सुखसाद्भूता पुण्यराशिरनामयः।
धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्य-नायकः॥ –जिनसहस्रनाम ४,५,१०

५. "त्वं नाथ ! दुःखिजनवत्सल ! हे शरण्य ! कारुण्य-पुण्य-वसते ! वशिनां वरेण्य !
–कल्याण मन्दिर स्तोत्र, काव्य ३९

६. धन्योऽस्मि पुण्यनिलयोऽस्मि निराकुलोऽस्मि, शान्तोऽस्मि नष्टविपदस्मि विदस्मि देव।
श्रीमज्जिनेन्द्र भवतोऽङ्घ्रि युगं शरण्यं, प्राप्तोऽस्मि चेदहमतीन्द्रिय-सौख्य कारि॥
–क्रियाकाण्ड चूलिका

करते हुए कहा है–"भगवन् ! आपके गुण-स्तवन द्वारा मैंने जो पुण्य अर्जित किया है, उसके फलस्वरूप आपके चरणकमलों में सदैव मेरी उत्कृष्ट भक्ति बनी रहे।"[1]

अतः पुण्यफल की कथा विकथा नहीं है, अपितु धर्मकथा का अंग है, जिसे संवेदिनी कथा कहा गया है।"[2]

पुण्योपार्जन की प्रेरणा : क्यों और किस लिए?

आत्मानुशासन में स्पष्ट कहा गया है–प्राज्ञविद्वज्जन निश्चय दृष्टि से आत्मपरिणाम को ही पुण्य और पाप का कारण बताते हैं। इसलिए अपने निर्मल परिणामों द्वारा पूर्वोपार्जित पाप की निर्जरा, नवीन पापों का निरोध तथा पुण्य का उपार्जन करना चाहिए। हे भव्यजीव ! तू पुण्य-कार्य कर, क्योंकि पुण्यवान् जीव को असाधारण उपद्रव भी प्रभावित एवं अभिभूत नहीं कर सकता। प्रत्युत वह विपदा (उपद्रव) ही उसके लिए सम्पदा का साधन बन जाती है। इसलिए योग्यायोग्य कार्य का विचार करने वाले श्रेष्ठ व्यक्ति भली-भाँति विचार करके इहलौकिक कार्यों–सांसारिक कार्यों के विषय में विशेष प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आगामी भवों को श्रेयस्कर बनाने के लिए वे सतत प्रीतिपूर्वक अतिशय प्रयत्न करते रहते हैं।"[3]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा गया है–"हे प्राणियो! धर्म (पुण्य) और अधर्म (पाप) का माहात्म्य विविध प्रकार से प्रत्यक्ष देखकर सदैव धर्म (पुण्य) का आचरण करो और पाप से दूर रहो।"

आगे कहा गया है–"यह जीव लक्ष्मी तो चाहता है किन्तु सद्धर्म (पुण्यकर्मों) के प्रति प्रीति नहीं करता। क्या कहीं बिना बीज के भी धान्य की उत्पत्ति देखी जाती है ? (पूर्वोपार्जित) धर्म (पुण्य) के प्रभाव से उद्यम न करने वाले मनुष्य को भी लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।"[4]

"आत्मानुशासन" में स्पष्ट कहा गया है–"यदि पूर्वोपार्जित पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी, और शरीरादि भी यथेप्सित प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु यदि वह पुण्य अर्जित नहीं है तो स्वयं को अनेक प्रकार से क्लेशित करने (कष्ट देने) पर भी ये सब बिलकुल प्राप्त नहीं हो सकते।"

'अनगारधर्मामृत' में भी कहा है–"पुण्य यदि उदय के सम्मुख है तो तुम्हें सुख के

---

१. भगवंस्तव गुणस्तोत्राद् यन्मया पुण्यमर्जितम्।
तेनाऽस्तु त्वत्पदाम्भोजे पराभक्तिः सदापि मे॥" –महापुराण ३३/१९६

२. महाबंधो भा. १ (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) प्रस्तावना से पृ. ६९

३. आत्मानुशासन २३, ३१, ३७

४. कार्तिकेयाऽनुप्रेक्षा, मू. ४३७, ४२८, ४३४।

अन्य उपाय करने से क्या मतलब है? और यदि वह सम्मुख नहीं है तो भी अन्यान्य सुखोपाय करने से क्या प्रयोजन है?"[1]

सम्यग्दृष्टि का पुण्य ही अभीष्ट एवं उपादेय, मिथ्यादृष्टि का नहीं

पुण्य सदैव प्रशस्तरागवश उपार्जित होता है, किन्तु वह प्रशस्त राग दो प्रकार से फलित होता है। आप्त सर्वज्ञोपदिष्ट तत्त्वों और पदार्थों के प्रति प्रशस्तभूत राग होने पर शुभोपयोग से उपार्जित पुण्य का फल (परम्परा से) मोक्ष प्राप्ति होता है। किन्तु इसके विपरीत अल्पज्ञ छद्मस्थ द्वारा पुण्य यद्यपि उपार्जित होता है–प्रशस्तराग से तथा शुभोपयोग से ही, किन्तु वह प्रशस्त राग मिथ्यात्वपूर्वक दान, शील, तप, व्रत, नियम, स्वाध्याय, ध्यान आदि में होने से स्वर्गादि फल प्राप्ति का कारण बन सकता है, परम्परा से मोक्ष प्राप्ति का नहीं।

'प्रवचनसार' में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है। जैसे–इस जगत् में अनेक प्रकार की भूमियों में पड़े (बोये) हुए बीज धान्य पकने के काल में अनुकूल या विपरीतरूप में फलित होते हैं। उसी प्रकार प्रशस्तराग (द्वारा उपार्जित पुण्य) भी वस्तुभेद से प्रतिकूल या अनुकूल रूप में फलित होता है। सर्वज्ञ आप्त-स्थापित वस्तुओं में (प्रशस्त रागवश) शुभोपयोग का फल पुण्य संचय पूर्वक (परम्परा से) मोक्ष प्राप्ति है। जबकि छद्मस्थ (अल्पज्ञ) स्थापित वस्तुओं में कारण वैपरीत्य होने से मोक्षशून्य केवल पुण्यास्पद (देवत्व या मनुष्य) की प्राप्ति है, यह फल विपरीतता है।"[2]

सम्यग्दृष्टि का पुण्य पुण्यानुबन्धी, मिथ्यादृष्टि का पापानुबन्धी

आशय यह है कि पुण्य दो प्रकार का है–एक सम्यग्दृष्टि का और दूसरा मिथ्यादृष्टि का। पहला परम्परा से मोक्ष का कारण है, जबकि दूसरा केवल स्वर्गसम्पदा का। सम्यग्दृष्टि का पुण्य निदान भोग मूलक धर्म-प्राधान्य से रहित होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि का पुण्य निदान सहित एवं भोगमूलक धर्म के प्रति रुचिवाला होने से वह आगे जाकर नरकादि कुगतियों का कारण होता है।

जैसे–ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का पुण्य निदानयुक्त एवं एकान्त भोगमूलक होने से वह नरक गति का कारण बना। क्योंकि मिथ्यादृष्टि की भोग मूलक धर्म के प्रति श्रद्धा और रुचि होती है। वह मोक्षमूलक धर्म को जानता भी नहीं, न ही जानने-मानने में उसकी रुचि और श्रद्धा होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि का पुण्य पुण्यानुबन्धी होता है; जबकि

---

१. (क) आत्मानुशासन ३७
   (ख) अनगार धर्मामृत १/३७, ६०
२. (क) प्रवचनसार मू. २५५
   (ख) वही, त. प्र. २५६

मिथ्यादृष्टि का पुण्य पापानुबन्धी होता है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य तीर्थंकर प्रकृति आदि के बन्ध का कारण होने से विशिष्ट प्रकार का है।[1]

भोगमूलक पुण्य ही निषिद्ध है, योगमूलक नहीं

पद्मनन्दि पंचविंशतिका में कहा गया है–धर्म (पुण्य), अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन, सुख से युक्त तथा सदा स्थिर रहने वाला है और शेष पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाव वाले हैं। अतएव मुमुक्षु जन के लिए वे त्याज्य हैं। इसलिए धर्म (पुण्य) पुरुषार्थ, जो मोक्ष पुरुषार्थ का साधक होता है, वह हमें अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादि का कारण होता है, उसे विद्वज्जन (एक प्रकार से) पाप ही समझते हैं।

इसलिए कहा गया है कि "यद्यपि व्यवहार धर्म पुण्य प्रधान होता है, तथापि यदि वह निश्चय धर्म (श्रुत-चारित्र धर्म) की ओर झुका हुआ हो तो परम्परा से संवर निर्जरा व मोक्ष का कारण[2] हो जाता है। जब सम्यग्दृष्टि जीव द्वारा पुण्य की सक्रियाएँ (अर्थात् ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि लौकिक एवं व्यावहारिक धर्म के कार्य) अनासक्तभाव (अथवा कषायरहित भाव) से की जाती हैं, तो वे शुभबन्ध या शुभास्रव का कारण न होकर संवर और निर्जरा का (कर्मक्षय का) कारण भी बन जाती हैं।

इसके विपरीत संवर-निर्जरारूप सद्धर्म के कारणभूत संयम और तप की शुद्ध क्रियाएँ भी जब आसक्तभाव से या लोभ, भय, स्वार्थ, प्रशंसा, प्रतिष्ठा या भोगवांछा (निदान) से प्रेरित होकर की जाती हैं, तो वे कर्मक्षय या मोक्ष का कारण न होकर कर्मबन्धक और संसारवर्धक बन जाती हैं।

फिर भले ही उन धर्मक्रियाओं या तपश्चरण-धर्माचरण से पौद्गलिक सुख या सुखभोग सामग्री प्राप्त हो जाए, किन्तु वे द्रव्य से संवर निर्जरा की क्रियाएँ होकर भी भाव से कर्मबन्धक एवं संसारवर्द्धक ही होती हैं।[3]

इसी दृष्टि से आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है–जो आस्रव के कारण हैं, वे परिस्रव (संवर निर्जरा) के कारण हो जाते हैं और जो परिस्रव (संवर निर्जरा) के

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. ३, पृ. ६५

२. (क) "पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः।
शेषास्तद् विपरीत धर्मकालिता हेया मुमुक्षोदतः।
तस्मात्तत्पदसाधनत्व धरणो धर्मोऽपि नो सम्मतः।
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते॥" –पद्मनन्दि पंचविंशतिका ७/२५
(ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. ३, पृ. ६५.

कारण हैं, वे व्यक्ति की दृष्टि, भाव और अध्यवसाय के कारण आम्रव के कारण बन जाते हैं।'

पुण्य की हेयता-उपादेयता पर विहंगावलोकन

निष्कर्ष यह है कि शुद्धोपयोग तो एकान्ततः उपादेय है, किन्तु शुद्धोपयोग की उच्च भूमिका पर आरूढ़ महान् पुरुष के लिए शुभोपयोग उपादेय नहीं है। निर्विकल्प परमसमाधिरूप अप्रमत्त दशा को अप्राप्त, किन्तु सविकल्पदशा युक्त महाव्रती, किन्तु सरागसंयमी मुनि के लिए शुद्धोपयोग का लक्ष्य होते हुए भी शुभोपयोग कथंचित् हेय है, सर्वथा हेय नहीं। अशुभोपयोग तो उसके लिए सर्वथा हेय है। ऐसी स्थिति में प्रमादमूर्ति, परिग्रही अथवा श्रावकव्रती सद्गृहस्थ के लिए शुभोपयोग सदैव उपादेय रहता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अनेक पापों, दुर्व्यसनों आदि में पड़ा है, उसे अशुभोपयोग दशा से छुड़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए और शुभोपयोग में स्थिर करना चाहिए। यही वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा उपदिष्ट आगमों का अभिमत है।

संसार महारण्य के चार प्रकार के महायात्री

प्रारम्भ में हमने महायात्रियों का जो विश्लेषण किया था, उसके अनुसार पूर्वोक्त विस्तृत विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस संसार-महारण्य का जो यात्री पुण्यमय और पापमय आम्रवों के भयंकर वन में भयंकरता और रमणीयता दोनों ही प्रकार के दृश्य देखता है, दोनों ही प्रकार के संयोगों का स्पर्श करता है, किन्तु वह दोनों प्रकार के दृश्यों और संयोगों से आकर्षित और लिप्त न होकर शुद्धोपयोग रूप भावसंवर और भावनिर्जरा (निर्विकल्पसमाधिरूप आत्मभावों में लीन आत्मधर्म) की भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह पुण्य और पाप दोनों को सर्वथा हेय समझकर इन्हें छोड़ देता है, या वे स्वतः छूट जाते हैं।

दूसरे प्रकार का महायात्री अभी उतना समर्थ और सशक्त नहीं है कि कषाय और राग-द्वेषादि का पूर्णतः त्याग कर सके। किन्तु वह भयंकरता परिपूर्ण पापपथ के दृश्यों और संयोगों को तो सर्वथा हेय समझकर छोड़ देता है। रमणीयतापूर्ण पुण्य पथ के दृश्यों और संयोगों में भी वह लिप्त एवं आसक्त नहीं होता, न ही पुण्य का उपार्जन चलाकर करता है। वह पुण्यपथ को भी हेय समझता है, किन्तु संसाररूपी महारण्य को पार करने के लिए उसे सहायक मानकर उन्हें (पुण्य कार्यों को) कथंचित् उपादेय मानकर चलता है और जब अन्तिम मंजिल आ जाती है, तब उसे (पुण्यपथ को) भी सदा के लिए छोड़ देता है। वह सविकल्प अवस्था वाला मन्दकषायी मुनि महायात्री है।

१. (क) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'पुण्य और पाप की अवधारणा' लेख से, पृ. १५२
(ख) "जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।"–आचारांग श्रु. १ अ. ४ उ. २

तीसरे प्रकार का महायात्री चलता तो इसी पुण्यपथ पर है, पापपथ को सर्वथा हेय समझकर, किन्तु उसमें काफी प्रमाद, आत्मिक दुर्बलता और मोह की मात्रा है, जिसके कारण वह पापपथ की तरह पुण्यपथ को भी हेय समझते हुए भी छोड़ नहीं पाता। उसके लिए पुण्य के दृश्य और कार्य तथा संयोग अभी उपादेय एवं सहायक इसलिए हैं कि वह यदि इस पुण्यपथ को भी सदा के लिए छोड़ देता है, तो शुद्ध धर्म के (शुद्धोपयोग के) राजमार्ग पर तो कथमपि आरूढ़ नहीं हो सकता, फलतः वह पापपथ पर ही भटक जाता है, फिर वह संसार के भयंकर बीहड़ और चतुर्गतिक घाटियों में ही परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए तीसरे प्रकार के सद्गृहस्थ श्रावकधर्मी यात्री के लिए सविकल्प व्रताचरणादि रूप पुण्य पथ ही श्रेयस्कर एवं उपादेय है।

परन्तु चौथे प्रकार का महायात्री, जो अभी व्यवहार धर्म (नैतिकता) की भूमिका पर भी नहीं आ पाया है, और भयंकरता से पूर्ण पापपथ को ही श्रेष्ठ समझकर चल रहा है, उसे उस हेय पापपथ को छुड़ा कर पुण्य पथ के लाभ और अल्प कठिनाइयाँ बताकर पुण्य पथ पर लाना अत्यावश्यक है। उसके लिए फिलहाल पुण्य उपादेय है।

पुण्य किसके लिए कब और कब तक हेय या उपादेय है? : निष्कर्ष

स्पष्ट शब्दों में निष्कर्ष यह है कि अध्यात्म के उच्चशिखर पर पहुँचे हुए निर्विकल्पदशायुक्त साधक के लिए पुण्य और पाप दोनों ही एकान्त त्याज्य हैं। इन दोनों से मुक्त होने पर एक मात्र शुद्ध धर्म (आत्मरमण रूप) ही उसके लिए उपादेय होता है। सरागसंयमी विकल्पदशायुक्त मुनि के लिए पूर्वोक्त धर्म (संवरनिर्जारूप) के साथ-साथ सविकल्प महाव्रताचरण तथा द्रव्यतः समिति-गुप्ति, संवर आदि के रूप में प्रशस्तराग-युक्त पुण्य कथंचित् हेय होता है, सर्वथा हेय नहीं। किन्तु सद्गृहस्थ श्रावकव्रती के लिए पाप तो हेय है ही, पुण्य उसके लिए कथंचित् उपादेय होता है, किन्तु वह पुण्य नहीं जो निदानयुक्त हो, सांसारिक विषयभोगों में फंसाने वाला हो या मिथ्यात्व की ओर प्रेरित करने वाला हो।

इन तीनों संवर निर्जरा रूप कर्म मोक्ष लक्ष्यी महायात्रियों के अतिरिक्त जो व्यक्ति अभी पापाचरण में रत हैं, जिन्हें पुण्य (व्यवहार धर्म) का बोध ही नहीं है, उनके लिए सर्वप्रथम पाप का यथाशक्ति त्याग कराकर पुण्य की उपादेयता बताकर उस ओर आकृष्ट करना हितावह है। साथ ही उसे यह समझाना भी आवश्यक है कि इस पुण्य के प्रभाव से प्राप्त सांसारिक सुख साधनों की भूल भुलैयां में न फंसे, ऐसा पुण्य भी उपार्जित न करे जो मिथ्यात्व तथा पापमार्ग की ओर या भोगों के महाजाल की ओर ले जाए। अतः उसके लिए पुण्य उपादेय है।

इस प्रकार पुण्य की हेयता और उपादेयता को अनेकान्तवाद की सापेक्षदृष्टि से समझकर चले तो वह पुण्य और पाप के आस्रव को हृदयंगम करके संवरमार्ग को अपना लेता है, और एक दिन कर्मों से सर्वथा मुक्त हो सकता है। ■

७

आस्रव मार्ग संसारलक्ष्यी और संवरमार्ग मोक्षलक्ष्यी

प्रेयमार्ग और श्रेयमार्ग ही आस्रव और संवर का मार्ग

मनुष्य के समक्ष दो मार्ग सदा से खुले रहते हैं। एक है–प्रेय का मार्ग और दूसरा है–श्रेय का मार्ग। इन्हें ही जैन कर्मविज्ञान की भाषा में कह सकते हैं–आस्रव का मार्ग और संवर का मार्ग। पहला कर्मों के आने का पथ है और दूसरा कर्मों को आने से रोकने का। एक तात्कालिक प्रलोभन का संसारलक्ष्यी मार्ग है, जो परिणाम में कर्मबन्धन के फलस्वरूप विभिन्न गतियों और योनियों में परिभ्रमण कराता है। जबकि दूसरा अपनी शक्तियों को प्रलोभन और तात्कालिक सुन्दर दिखने वाले पतन के फिसलन के रास्ते से बचाकर आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर लगाने का मोक्षलक्ष्यी मार्ग है। पहले में झटपट काम बना लेने, स्वार्थ सिद्ध कर लेने, भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर लेने, तथा कभी-कभी सस्ती प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा और प्रशंसा प्राप्त कर लेने का प्रयास होता है, जो अपनी मानसिक, वाचिक, कायिक शक्तियों को कर्मबन्धन के पाश में बांधकर संसार के रास्ते पर ले जाता है; जबकि दूसरे में, इन सब भयों, प्रलोभनों, तुच्छ स्वार्थों एवं तुच्छ उपलब्धियों के जाल से स्वयं को बचाकर अपने तन, मन और वचन की शक्तियों को इन सबसे विमुख करके निःश्रेयस के–कर्ममुक्ति के पथ पर विचरण करने में लगाया जाता है।

इसमें सर्वप्रथम अहिंसा, सत्य, क्षमा, मार्दव, आर्जव, परीषहविजय, कषाय-विजय, इन्द्रियविजय, मनोनिग्रह आदि का कठिन मार्ग चुना जाता है, और सदैव सावधान होकर अप्रमत्त रहकर चलना होता है।

भगवान् महावीर की भाषा में–प्रत्येक कदम शंकित होकर, पद-पद पर आसक्ति और मूर्च्छा का, भीति और लिप्सा का भयंकर पाश बिछा हुआ है, इस प्रकार मानकर चले, फूँक फूँक कर कदम रखें।"[1]

---

१. 'चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो।" –उत्तराध्ययन अ: ४ गा. ७

इस संवर मार्ग में पहले कठिनाइयों को स्वेच्छा से स्वीकारना पड़ता है, परन्तु बाद में चिरस्थायी सुख-शान्ति की व्यवस्था एवं उपलब्धि होती है। यह मार्ग अनभ्यस्तदशा में पहले कठिन जान पड़ता है, किन्तु अभ्यास होने के बाद यही मार्ग सरलतम और स्वच्छ हो जाता है। व्यक्ति इस मार्ग पर बाद में निःशंक होकर दौड़ लगा सकता है।

इसके विपरीत दूसरे–आम्रवमार्ग में पहले ही सुख-सुविधा, इन्द्रियसुख-लिप्सा, मनचाहा पदार्थ पाने अथवा स्वार्थ सिद्ध करने की आकांक्षा की पहल की जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य कर्मों के आकर्षण, आगमन और बन्धन का रास्ता खोल देता है। जिससे वह बाद में अपने तन-मन-वचन से असुविधा, सहिष्णुता, तितिक्षा और मनोनिग्रह आदि के कठिन मार्ग पर चल नहीं पाता, कठिनाई का मार्ग देखते ही घबरा जाता है। उसके तन-मन-वचन की शक्तियाँ कष्ट-कठिनाइयों को देखते ही पस्तहिम्मत हो जाती हैं। फलतः पतन के गड्ढे में गिरकर वह आध्यात्मिक विनाश के मुख में चला जाता है। वह जन्म-जरा-मरण-व्याधिमय दुःखसंकुल संसार में ही रचा-पचा रहता है। यह है–प्रेय के मार्ग को अपनाने का फल।

जबकि श्रेय का मार्ग अपनाने वाला व्यक्ति अपनी विवेक बुद्धि तथा निर्णायिका एवं स्थिर प्रज्ञा से स्थितात्मा होकर अपनी मानसिक वाचिक कायिक शक्तियों को बहिर्मुखी नहीं बनाकर, अन्तर्मुखी बना लेता है। वह उन्हें सुख-सुविधाओं के फिसलन वाले मार्ग से मोड़कर आत्मा की अनन्तचतुष्टयात्मक उपलब्धि और अक्षयनिधि की ओर लगाता है। श्रेय के श्रेयस्कर पथ को अपनाने के फलस्वरूप वह मोक्ष का अनन्त अक्षय और अव्याबाध आत्मिक सुख (आनन्द) प्राप्त करता है, तथा अनन्तज्ञान-दर्शन और असीम आत्मशक्ति (आत्मवीर्य) को भी उपलब्ध कर लेता है।

अदूरदर्शिता और दूरदर्शिता का मार्ग अपनाने वाले ये प्राणी!

इसे ही वर्तमान युग की भाषा में अदूरदृर्शिता का मार्ग कह सकते हैं। आम्रव का मार्ग अदूरदर्शिता का है, जिसमें भय, शंका, प्रलोभन, लिप्सा, आकांक्षा, आसक्ति, राग-द्वेष और कषाय का, असावधानता का जाल बिछा हुआ है। अदूरदर्शी और भ्रान्त मनुष्य आसान समझ कर इस मार्ग को झटपट पकड़ लेता है; जबकि दूसरा मार्ग दूर-दर्शिता का है जिसमें उत्थान के, राग-द्वेष, काम-क्रोधादि पर विजय पाने के, निर्भयता और निःशंकता के तथा कर्मों को क्षय करने के बिन्दु लगे हुए हैं। दूरदर्शी मानव इसी मार्ग को अपनाता है।

पहले मार्ग का प्रारम्भ प्रलोभन, स्वार्थ और सस्ती एवं क्षणिक सुखप्राप्ति की लिप्सा से होता है, जिसका अन्त आता है–पतन, विनाश और पश्चात्ताप में। कांटे में लगी हुई आटे की गोली के उपभोग की प्राप्ति की आशा में मछली अदूरदर्शी बनकर अपना गला फंसा लेती है। अन्नकणों के लोभ में अदूरदर्शी पक्षी बहेलिये के बिछाये हुए जाल में

फँस जाते हैं। ये दोनों प्रकार के जीव तत्काल और प्रचुर लाभ दीखने वाले प्रलोभन भरे जाल में फँसने को आतुर हो जाते हैं। ऐसे अदूरदर्शी जीव दुष्परिणामों की बात सोच ही नहीं पाते।[1]

इसी प्रकार आस्रव के आसान और सद्यः फलदाता दिखाई देने वाले मार्ग पर अदूरदर्शी और अविवेकी मानव झटपट चलने को आतुर हो उठते हैं। वे अदूरदर्शी मानव उसके दुष्परिणामों और भावी दुःखज्वाला को भी सोच नहीं पाते। चाशनी को देखकर टूट पड़ने वाली मक्खी अपने भावी विनाश और दुर्गति को कहाँ सोचती है ? इसी प्रकार सांसारिक विषयसुखों की चाशनी के उपभोग की आतुरता में अदूरदर्शी मानव भी झटपट आस्रव का–कर्मों के आगमन और बन्ध का मार्ग अपनाकर अपने तन-मन की स्वस्थता को, अपनी वाणी की अमोघ शक्ति को, अपने आत्मबल एवं मानसिक-बौद्धिक शक्तियों को, अपने जीवन के पावनतम धर्म और श्रेष्ठनीति को (पवित्र चारित्र) को नष्ट कर डालते हैं। अपने उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं को दूर ठेल देते हैं।

उन अदूरदर्शी मानवों को दिखाई ही नहीं पड़ता कि सदुद्देश्यपूर्वक श्रेष्ठता की दिशा में संवर का मार्ग अपनाकर चलने वाले लोग भले ही प्रारम्भ में कुछ कष्ट, कठिनाइयाँ और असुविधा उठाते दीखते हैं, किन्तु अन्ततः अभ्यास से वे एक दिन आध्यात्मिक उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचते हैं।

दूरदर्शिता का पथ अपनाने वाले अपना वर्तमान और भविष्य उज्ज्वल बनाते हैं

लोक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि विद्यार्थी, कृषक, व्यापारी, श्रमिक, शिल्पी एवं कलाकार आदि प्रारम्भ में दूरदर्शी बनकर अपने लक्ष्य की दिशा में अनेकों कष्ट-कठिनाइयाँ एवं असुविधाएँ उठाते हैं, किन्तु अन्त में उनका भविष्य उज्ज्वल बनता है, वे अपने परिश्रम को सफल बनाते हैं।[2]

यह तथ्य कर्मविज्ञान की दृष्टि से नहीं, किन्तु लोकव्यवहार में अपनाई जाने वाली दूरदर्शिता से प्रेरणा लेने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यदि इसी प्रकार दूरदर्शी बनकर आस्रव के बदले संवर का पथ अपनाया जाए तो दूरदर्शी नमि राजर्षि की तरह वे जगद्वन्द्य, लोकोत्तम और उज्ज्वल भविष्य के धनी बनते हैं।

संवर पथ अपनाने वाले नमि राजर्षि की दूरदर्शिता की परीक्षा और प्रशंसा

इसके (संवर पथ के) अपनाने से उन दूरदर्शी जनों का केवल भविष्य ही उज्ज्वल नहीं बनता, इहलोक और परलोक दोनों में वे उत्तम सिद्ध होते हैं, और अपने किये हुए

---

१. अखण्ड ज्योति, जनवरी १९७८, पृ. ५२ से
२. वही, पृ. ५२

मोक्ष-पुरुषार्थ को पूर्णतया सफल करते हैं। आम्रव का, यानी प्रेय का पथ छोड़कर, दूरदर्शी बनकर संवर का, यानी श्रेय का श्रेष्ठ पथ अपनाने वाले स्वयं-प्रबुद्ध नमि-राजर्षि की दूरदर्शिता की परीक्षा कर लेने के बाद इन्द्र ने उनकी प्रशंसा में ये ही उद्‌गार निकाले थे–

"आपने क्रोध को जीत लिया है, मान (अहंकार) को पराजित कर दिया है, माया (छल-कपट) को निराकृत कर दिया (दूर ठेल दिया) है, और लोभ को वश में कर लिया है। सचमुच आपकी ऋजुता (सरलता) उत्तम है, आपकी मृदुता भी अद्‌भुत है, और श्रेष्ठ है, आपकी क्षमा भी उत्तम है और उत्तम है आपकी निर्लोभता! भगवन्! आप इस लोक में भी उत्तम हैं और परलोक में भी उत्तम होंगे। (क्योंकि आपने जो संवर का आध्यात्मिक पथ अपनाया है, उससे) आप कर्मरज से रहित होकर लोक के सर्वोत्तम स्थान–सिद्धि-मुक्ति को प्राप्त करेंगे।"[1]

यह है–संवर का श्रेय-पथ अपनाने वाले दूरदर्शी मानव के उज्ज्वल भविष्य का निदर्शन!

यदि नमिराजर्षि प्रारम्भ में ही इन्द्र के कहने के अनुसार संसार की भूलभुलैया में फंस जाते; क्षत्रियवर्ण के अभिमान से प्रेरित होकर अपने राजमहल, अन्तःपुर, अपने माने हुए राज्य, तथा ब्राह्मण परम्परा के अनुसार विविध कर्मकाण्डों, भौतिक यज्ञयागों में फँस जाते और लौकिक प्रशंसा, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़कर प्रेयमार्ग को अपना लेते तो उनका उज्ज्वल भविष्य ही बिगड़ जाता।

उनका वह संसार मार्ग में किया गया पुरुषार्थ उत्तम परिणामदायक न होता, बल्कि यों कहना चाहिए कि वे अपने आध्यात्मिक विनाश को निमंत्रण दे देते और कर्मराशि संचित करके संसार के जन्म-मरण के कुचक्र में ही पड़े रहते। परन्तु उन्होंने उस सुख-सुविधा की, कष्ट-कठिनाई की कोई परवाह नहीं की; प्रलोभनों के जाल में स्वयं को फँसने से बचा लिया और चल पड़े–संवर के श्रेष्ठतम मार्ग पर निर्द्वन्द्व होकर, निश्चिन्त और निर्भय होकर।

आम्रव-पथिक स्वयं को बचाने और संवरपथिक स्वयं को मिटाने के लिए उद्यत

निष्कर्ष यह है–आम्रवमार्ग को अपनाने वाला व्यक्ति स्वयं को–अपने स्वत्व-मोह को, अपने अहंकार को, अपने साथी बने हुए क्रोध, लोभ, काम और कपट को मिटाना

---

१. "अहो! ते निज्जिओ कोहो, अहो! ते माणो पराजिओ।
अहो! ते निरंकिया माया, अहो! ते लोभो वसीकओ॥"
"अहो! ते अज्जवं साहू, अहो! ते साहू मद्दवं!
अहो ते उत्तमा खंती, अहो ते मुत्ति उत्तमा॥"
"इहं सि उत्तमो भंते!, पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं सिद्धिं गच्छसि नीरओ॥" –उत्तराध्ययन अ. ९/गा. ५६-५७-५८

नहीं चाहता। जबकि संवर मार्ग को अपनाने वाला उत्तमार्थ-गवेषक व्यक्ति प्रारम्भ से ही श्रेयपथ में विघ्नकारक–अहंकारादि बाधक तत्त्वों को ठुकरा देता है, इन्द्रियों के लुभावने विषयों के जाल में फँसने से स्वयं को बचा लेता है। वह पहले मिटने को तैयार होता है, कष्ट-कठिनाइयों से स्वयं जूझने को उद्यत होता है, पापकर्मों अशुभास्रवों को तो वह हर्गिज अपनाता नहीं, परन्तु पुण्यकर्मों-शुभास्रवों को भी दूर से ही आते देखकर वह लाल झंडी बता देता है, सावधान होकर आने से रोक देता है। वह अपने तन-मन-वचन को तिल-तिल कर आत्मा की सेवा में गलाने, मिटाने और खपाने को अहर्निश तत्पर रहता है। उसी का प्रतिफल उसे मिलता है–अपने सत्पुरुषार्थ से शाश्वत मुक्ति एवं परमात्मपद की प्राप्ति!

स्वयं को बचाने तथा स्वयं को मिटाने वाले ये बीज!

वही बीज एक दिन विशालवृक्ष बन जाता है, जो दूरदर्शी बनकर धरती माता की गोद में बैठ कर अपने-आपको मिटा देता है, गला देता है। जो बीज अपने आप को गलाना नहीं चाहता, यानी जो बीज इतना साहस नहीं कर पाता, वह कुछ दिन यथावत् रखा भर रहता है, बाद में प्रकृति की प्रक्रिया उसे सड़ा-घुनाकर समाप्त कर देती है। वह अपने बचाव के लिए सीलन में बैठकर थोड़ा-सा फूल जरूर जाता है, परन्तु उस सस्ती प्रगति का दुष्परिणाम और भी शीघ्र सामने आ जाता है। सीलन में फूला हुआ बीज अपना अस्तित्व और भी जल्दी खो बैठता है।

इसके विपरीत दूरदर्शी बीज उत्साहपूर्वक स्वेच्छा से गलते हैं और एक दिन वृक्ष की तरह विशाल बनते हैं। उनकी जड़ों को धरती माता खुराक देती है, मेघ उसको सींचने का अयाचित अनुग्रह करता है, सूर्य उसे ताप और प्रकाश का सुखद स्पर्श कराता है। इस प्रकार धरती माता की गोद में पलता हुआ बीज अंकुरित, पुष्पित, फलित होकर विशाल वृक्ष बन जाता है।

परन्तु जो बीज स्वयं के गलने में हानि और बचने में लाभ के मोहजाल में फँस जाते हैं, वे शीघ्र ही विनाश के मुख में पहुँच जाते हैं। उनकी यह कृपणता अथवा अदूरदर्शिता उन्हें तुच्छता और विनाशशीलता के गर्त्त में गिरा देती है। वे प्रगति की किसी भी दिशा में रंचमात्र भी आगे नहीं बढ़ पाते।[1]

यही बात आस्रवमार्ग और संवरमार्ग को चुनने वालों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। आस्रवमार्ग तात्कालिक लिप्सा-पूर्ति का, अपने भौतिक बचाव का, अदूरदर्शिता का, मूढ़ता का मार्ग है; जबकि संवर का मार्ग, आध्यात्मिक विकास का, भौतिक सम्पदा के प्रलोभनों को ठुकराने का, त्याग और संयम का तथा दूरदर्शिता एवं स्थितप्रज्ञता का मार्ग है।

---

१. अखण्ड ज्योति, जनवरी १९७८ पृ. ५३ से भावांश ग्रहण

आम्रवदृष्टि अदूरदर्शिता की, संवरदृष्टि दूरदर्शिता की दृष्टि

आम्रवदृष्टि अदूरदर्शिता की दृष्टि है। इस दृष्टिवाला व्यक्ति तत्काल लाभ देखकर बिना कुछ भी सोचे-विचारे और दूरगामी दुष्परिणामों का विचार किये बिना, आवेश में आकर या देखादेखी मूढ़ होकर नीति-धर्म-विरुद्ध गलत कार्यों-प्रवृत्तियों को अपना लेता है। किन्तु बाद में उसे लाभ के बदले हानि ही अधिक उठानी पड़ती है। अनेक चिन्ताएँ उसे घेर लेती हैं।

व्यावहारिक जीवन में अदूरदर्शी दृष्टि वाले लोग तात्कालिक लाभ के चक्कर में कर्मों के आगमन (आम्रव) का पथ अपनाते हैं। एक दुकानदार अपना कारोबार प्रारम्भ करते समय तात्कालिक लाभ की दृष्टि से आम्रव मार्ग–बेईमानी और ठगी का मार्ग अपनाता है। वह सस्तेपन का आकर्षण देकर ग्राहकों को लुभाता है, खींचता है। उसे घटिया वस्तुएँ पकड़ाकर या नाप-तौल में कम देकर शीघ्र ही अधिक लाभ उठाने की दृष्टि रखता है। इसी दुर्नीति से वह शीघ्र धनवान बन जाने के स्वप्न देखता है।

उसका व्यवसाय प्रारम्भ में चमकता तो है, परन्तु उसके ग्राहकों से वस्तुस्थिति अधिक दिन तक छिपी नहीं रहती। वास्तविकता उभर कर सामने आए बिना नहीं रहती। लोगों को उसकी चालाकी मालूम हो जाती है। और धीरे-धीरे सस्तेपन के अथवा चापलूसी के प्रलोभन से आकर्षित हुए सारे ग्राहक एक-एक करके टूट जाते हैं। इतना ही नहीं, वे (ग्राहक) अपने परिचितों को उस चालाक दुकानदार से सावधान रहने का संकेत कर देते हैं।

फलतः उस अदूरदर्शी दुकानदार का व्यवसाय ठप्प हो जाता है और शीघ्र धनाढ्य बनने की लिप्सा उसे चिरस्थायी दरिद्रता के गहरे गर्त में धकेल देती है। ऐसा ही अदूरदर्शी आम्रव दृष्टि का परिणाम है।[1]

यदि वह दुकानदार पहले से ही दूरदर्शी संवर दृष्टि अपनाता, सन्तोष और धैर्य से काम लेता, अपनी प्रामाणिकता और ईमानदारी की छाप डालने के दूरगामी सुपरिणाम (स्थायी लाभ) की ओर ध्यान देता तो उसका व्यापार धड़ल्ले से चलता। ग्राहकों का उस पर विश्वास जम जाता और एक दिन वह नीति-धर्म और संतोषरूपी धन से समृद्ध होता।

अदूरदर्शी आम्रवदृष्टि-परायण लोगों की रीति-नीति

अनाचार और कदाचार की नीति आमतौर पर अदूरदर्शी आम्रवदृष्टि वाले लोग इसलिए अपनाते हैं कि उससे तात्कालिक लाभ मिलता है। चोरी, जारी, बेईमानी,

---

१. वही, मार्च १९७८ पृ. २६ से भावांश ग्रहण

ठगी, डकैती एवं लूटपाट जैसे कुकृत्य करने वाले लोग देखते हैं कि थोड़ी-सी चतुरता और हिम्मत रखने से कितना बड़ा आर्थिक लाभ मिल गया। यदि उतना ईमानदारी से कमाया जाता तो अधिक समय लगता और अधिक श्रम करना पड़ता। इस प्रकार अदूरदर्शिता से सोचने पर उस समय तो ऐसा लगता है कि अनाचार और कदाचार अपनाने में लाभ और सदाचार एवं धर्माचरण को अपनाने में हानि है।

जो विद्यार्थी सालभर पढ़ाई में जी नहीं लगाता, अध्ययन से जी चुराता है, इधर-उधर मटरगश्ती करता है, परन्तु परीक्षा के समय वह परीक्षा भवन में नकल करता है, वहाँ गश्त लगाने वाला निरीक्षक जब रोकता-टोकता है, तो वह उसे छुरा दिखाता है, मारने की धमकी देता है। इस प्रकार के कदाचार से वह तिकड़मबाज परीक्षार्थी भले ही तात्कालिक लाभ प्राप्त कर ले। वह पास हो जाय या स्कूल में अच्छा विद्यार्थी माना जाए, घर में व परिवार में भले ही वह स्थूलदृष्टि वाले लोगों की अदूरगामी नजरों में प्रशंसापात्र भी बन जाए; किन्तु नीति, धर्म और अध्यात्म की दृष्टि से– कर्मविज्ञान की दृष्टि से वह विद्यार्थी बालू की नींव पर स्थित अपने जीवन भवन की नींव को कच्ची और खोखली बना देता है। उस पर स्थित इसके जीवन भवन की इमारत शीघ्र ही धराशायी हो जाती है।

इसी प्रकार आस्रव दृष्टि वाला कदाचारी तात्कालिक लोभ और स्वार्थपूर्ति की धुन में पतन और विनाश का मार्ग चुनता है। उसके जीवन की आधारशिला–मानवता कच्ची और खोखली हो जाती है। कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारण वह उस कदाचार के परिणामों को दीर्घकालिक रोग, मुकदमा, गृहकलह, संकट, चिन्ता, दण्डभय आदि के रूप में भोगता है। नतीजा यह होता है कि कर्मविज्ञानसम्मत संवरदृष्टि से अनभिज्ञ व्यक्ति कर्मफल भोगते समय भी प्रायः हाय तोबा मचाता है, आर्त्तध्यान करता है, समभाव से उस कष्ट को भोग नहीं पाता, जिसके कारण वह पुराने कर्मों को पूर्णतः क्षय नहीं कर पाता और नये-नये कर्मों के आगमन को न्यौता दे देता है।

अदूरदर्शी आस्रवदृष्टि और दूरदर्शी संवरदृष्टि व्यक्तियों द्वारा शक्तिव्यय में अन्तर

प्रत्येक मनुष्य में शक्तिकोष संचित है। परन्तु उस शक्ति को अज्ञानता, अदूर-दर्शिता और अन्धश्रद्धा के आवेश में व्यक्ति अधिकाधिक व्यर्थ के कामों में, प्रमाद, आलस्य, गपशप, लड़ाई-झगड़े, विकथा, ईर्ष्या, द्वेष, छल-कपट, क्रोध, अहंकार, लोभ एवं स्वार्थान्धता आदि दुर्गुणों के चक्कर में खर्च कर डालता है।

प्रत्येक बालक को बचपन से ही संयम और संवर की बात समझाई जाए, उसके संस्कारों और आचरण में यदि वह घुलमिल जाए तो उसकी वह संवरदृष्टि आजीवन स्थायी रह सकती है। परन्तु दुःख इस बात का है, कि माता-पिता या अभिभावक स्वयं

अपनी शक्ति का, जो अपनी आत्मा की ही देन है, उपर्युक्त निरर्थक कार्यों में अपव्यय करते रहते हैं।[1]

ऐसे अदूरदर्शी आस्रवदृष्टि वाले लोग बच्चों की संख्या बढ़ाते समय यह नहीं सोचते कि इन बालकों के निर्वाह, शिक्षा, चिकित्सा, स्वावलम्बन, विवाह आदि के लिए कितनी शक्ति धनोपार्जन करने, साधन जुटाने आदि में खर्च करनी पड़ेगी। अधिकांश अदूरदर्शी लोगों का बहुत-सा समय, शक्ति और धन तो इन्हीं व्यर्थ के कार्यों, मौज-शौक, ऐश, आराम और भोगविलास में खर्च हो जाता है।

यदि संवरदृष्टि अपनाकर वे युवावस्था में ही शक्तिकोष को व्यर्थ खर्च न करते, आवश्यकतानुसार उस शक्ति का विवेकपूर्वक उपयोग करते, तो संवरधर्म का भी लाभ प्राप्त होता, शुभ-अशुभ आस्रव से बच पाते। कितने ही लोग अपनी प्रशंसा, वाहवाही और सस्ती प्रतिष्ठा के लिए अपने धन को फूंक देते हैं। अगर वे इन्द्रिय संयम रखते तो उनकी शक्ति में वृद्धि होती, और वृद्धावस्था में पारिवारिक जीवन की गाड़ी को खींचना कठिन न पड़ता, अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्ति भी सुरक्षित रह जाती।

युवावस्था में बरता गया आहार-विहार का संयम, क्रोधादि कषायों पर अंकुश, तथा अपनी मनोवृत्तियों और इन्द्रियों का निग्रह उस समय तो कठोर प्रतिबन्ध-सा असुविधाजनक मालूम होता है, परन्तु बाद में वृद्धावस्था में प्रौढ़ता का आनन्द एवं सुख-शान्ति-सम्पन्न दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन का लाभ मिलता है तब पता चलता है कि दूरदर्शिता की दृष्टि अपनाने में कितना बड़ा लाभ है।[2]

बचपन से ही संवर के प्रशिक्षण-संस्कार जीवन के अन्त तक स्थायी रहते हैं

बचपन से ही संवरदृष्टि की शिक्षा बच्चों को दी जाए कि अभी तो खेल-कूद में समय बिताया जा सकता है, अभिभावकों के सिर पर गुजारा हो सकता है, किन्तु सदा तो यह स्थिति नहीं रहने वाली है। खेलने के दिन लद जाएँगे, तब किसी भी समय कठोर उत्तरदायित्व तुम्हें अपने कंधों पर वहन करने होंगे। इसलिए अभी से प्रत्येक कार्यकलाप में संयम बरता जाए, समय और शक्ति का निरर्थक व्यय न किया जाए, उन्हें बचपन से ही संवर का महत्व समझाया जाए; संवर का अपने साथ-साथ अभ्यास कराया जाए तो किशोर अपनी भावी युवावस्था को ध्यान में रखकर दूरदर्शितापूर्वक अपने समय, शक्ति और क्षमता का उपयोग करेगा। उसी प्रकार की वह तैयारी करेगा। जिस मौजमस्ती में अधिकांश समय और मन लगा रहता है, उस पर अंकुश लगाने की आवश्यकता महसूस होगी।

---

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७८ पृ. २७ से भावांश ग्रहण

२. वही, १९७८ मार्च पृ. २३ से भावांश ग्रहण

यदि किशोरावस्था से ही तात्कालिक खेल-खिलवाड़ों, अल्हड़पन एवं उद्दण्डता तथा मौजमस्ती से मन को सिकोड़ने का अभ्यास किया जाए तो युवावस्था में स्वैच्छिक अंकुश लगाने की आवश्यकता महसूस होगी। इस प्रकार युवावस्था में अपनी इन्द्रियों और मन पर लगाए हुए अंकुश का परिणाम यह होगा कि वृद्धावस्था में वह अपनी जिंदगी संवर-निर्जरारूप धर्माचरण में, तथा अपनी मन-वचन-काया की चंचलता और क्रियाओं का निरोध, क्लिष्ट चित्तवृत्तियों का निरोध करने में अपनी शक्तियों का उपयोग कर सकेगा।

संवर की दूरदर्शी दृष्टि की प्रेरणा

संवर की दूरदर्शी दृष्टि की महामूल्यवान् प्रेरणा देने वाला भगवान् महावीर का यह उपदेश कितना महत्त्वपूर्ण है–"अपनी आत्मा (मन और इन्द्रियों) का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मदमन ही कठिन है। जो अपने आपका स्वयं दमन (अंकुश) कर लेता है, वह दोनों लोकों में सुखी होता है। श्रेयस्कर मार्ग यही है कि स्वयं संयम और तप के द्वारा आत्मा का (उन्मार्गगामी इन्द्रियों और मन को मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में रागद्वेष करने से रोककर) स्वयं विवेकरूपी अंकुश द्वारा उपशमन (दमन) करे।"[1]

संक्षेप में, आस्रवदृष्टि न अपनाकर अथवा दूसरे अपनी इन्द्रियों और मन पर बन्धन और ताड़न से अंकुश (दमन) करें, इसकी अपेक्षा स्वेच्छा से संवरदृष्टि अपनाकर स्वयं इन्द्रियों और मन पर अंकुश लगा ले।

अदूरदृष्टि वाले आस्रवप्रिय व्यक्ति का रवैया

आस्रवदृष्टि वाले व्यक्ति में ऐसी दूरदृष्टि नहीं होती, वह आवेश में, उत्तेजना में, देखादेखी, अविवेकपूर्वक अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहता है। बहुत-से लोग संवरदृष्टि को पूर्णतया न समझ पाने के कारण शुभास्रव में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। वे पुण्य को ही धर्म समझकर पुण्यकार्यों से मिलने वाली सस्ती प्रतिष्ठा, प्रशंसा, वाहवाही और मिलने वाली सुख-सुविधाओं का लाभ उठाने के चक्कर में बड़े-बड़े समारोहों का आयोजन करते हैं, बड़े-बड़े जाति भोज, मृतक (के पीछे) भोज, आदि करते हैं, धर्म प्रचार के नाम पर बड़े-बड़े सम्मेलनों, परिसंवादों, रैली आदि का आयोजन करते हैं। इस प्रकार के थोथे आडम्बर के पीछे सस्ती प्रतिष्ठा पाने और स्वत्व-मोह को पोसने के ही अधिकांश स्वप्न होते हैं। उनके स्वयं के जीवन में संयम, सुखसुविधाओं पर

---

१. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य॥
वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दमंतो, बंधणेहिं वहेहि य॥ –उत्तराध्ययन . अ. १, गा. १५, १६

अंकुश, इन्द्रियादि विषयों पर नियंत्रण, तथा तपस्या एवं कष्ट सहिष्णुता, कषायों पर विजय की मात्रा बहुत ही कम होती है। यह संवरदृष्टि न होने का ही परिणाम है।

सांसारिक अदूरदर्शी लोगों की आम्रवप्रियता

सांसारिक अदूरदर्शी लोग प्रायः आम्रवदृष्टि बने रहना चाहते हैं। इसी में वे अपनी शान-शौकत और गौरव-गरिमा समझते हैं। वे आम्रवलक्ष्यी कार्यों में बेधड़क खर्च करते हैं। यह अदूरदर्शिता का बेहूदा रूप है। ऐसे लोगों की आय चाहे जितनी हो, फिर भी उनकी पूर्ति और तृप्ति नहीं होती। प्राप्त हुए पैसे को शीघ्र से शीघ्र फूंके बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता। उन्हें आवश्यक-अनावश्यक, हितकर-अहितकर, सावद्य-निरवद्य, या शुभ-अशुभ कार्य का कोई विवेक नहीं होता। अंधाधुन्ध खर्च करने और वाहवाही लूटने में ही वे अपनी शान समझते हैं।

ऐसे लोगों का पैसा विलासिता की चीजें खरीदने, रागरंगों का आयोजन करने, अमीरी ठाठबाट दिखाने, नृत्य-गीत-समारोहों में पैसा लुटाने में, धनाधीश होने का रौब जमाने में उनका प्रचुर धन स्वाहा हो जाता है। ऐसे लोग आवश्यक वस्तुओं की कमी पड़ने पर कर्ज लेते हैं, उधार मांगते और बेईमानी करते हैं।

संचित सम्पत्ति को वे अनावश्यक कार्यों में फूंक देते हैं, और परिवार के आवश्यक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए तथा शिक्षा, चिकित्सा, विवाह, रोग, आकस्मिक दुर्घटना जैसे आवश्यक कार्यों के लिए पैसे की जरूरत पड़ती है, तब ऐसे लोग अत्यधिक चिन्तित, असहाय और दीन-हीन बन जाते हैं। न तो वे आवश्यक-अनावश्यक का विवेक कर सकते हैं, न ही अपनी आवश्यकताओं में कटौती, इन्द्रियों और मन की फरमाइशों पर संयम कर सकते हैं। फिजूलखर्ची की इस बुरी आदत के कारण ऐसे लोग जिंदगी भर आम्रवमार्गी ही बने रहना चाहते हैं।[1]

आम्रवमार्गी व्यक्ति अपनी कामवासना एवं कामना पर निरंकुश

ऐसे आम्रवमार्गी अदूरदर्शी व्यक्ति आँखें मूंदकर सन्तानोत्पत्ति में लगे रहते हैं। कामवासना और सुखोपभोग-लिप्सा पर वे कुछ भी अंकुश नहीं लगाते। वे यह नहीं सोचते कि भविष्य में इन बच्चों के निर्वाह, चिकित्सा, शिक्षा, विवाह, अन्न, वस्त्रादि आवश्यक साधनों के लिए कितने धन की आवश्यकता पड़ेगी। उन्हें समुचित धर्मनीति के संस्कार देने और दुलार-प्यार देने में कितना समय लगाने और साधन जुटाने की जरूरत पड़ेगी।

परन्तु जब उन बालकों के लिए आवश्यक साधन जुटाने में अपनी आजीविका एवं योग्यता स्वल्प दीखती है, तब पता चलता है कि कितनी बड़ी भूल हो गई। परन्तु उक्त

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७८ से यत्किंचित् भावांश ग्रहण पृ. २७

अशुभकर्मों के आस्रव का दुःखद फल तो चिन्ता, कर्जदारी, अभावग्रस्तता, निर्धनता, बीमारी, पीड़ा, विपत्ति आदि के रूप में भोगना ही पड़ता है।

यदि दूरदर्शी बनकर पहले ही स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य-पालन का नियम ले लेता तो तन, मन, धन सबसे स्वस्थ एवं समृद्ध रहता। परन्तु आस्रवदृष्टि वाले अदूरदर्शी लोग संवर का सुविचार करते ही कहाँ हैं?

आस्रवदृष्टि अदूरदर्शी समय-सम्पदा को भी व्यर्थ खो देते हैं

धन की तरह समय भी बहुत बड़ी सम्पदा है। समय-सम्पदा का अगर सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य अपनी दैनिक चर्या करते हुए भी आध्यात्मिक एवं धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय, चिन्तन, मनन करके अपनी सद्बौद्धिक विचार-सम्पदा में वृद्धि कर सकता है। व्यावहारिक जीवन में कुशलता प्राप्त करने के लिए समय-सम्पदा का उपयोग मनोविज्ञान, शिक्षा, कला, इंजीनियरी, डॉक्टरी, वैद्यक, व्यवसाय प्रशिक्षण आदि का अध्ययन करके विशेष योग्यता सम्पादन कर सकता है।

परन्तु आस्रवदर्शी व्यक्ति प्रमाद, आलस्य, निन्दा, विकथा, राजनैतिक चर्चा, गपशप, रागरंग, विलासिता, सैरसपाटा, आवारागर्दी, एवं साजसज्जा आदि में अधिकांश समय बर्बाद करके व्यक्ति अवकाश न मिलने का बहाना बनाता है। फलतः विशेषताओं के अभाव में मानव सारहीन, थोथा और असफल रह जाता है।[1]

प्रत्येक सत्कार्य करते समय उसे पहाड़-सा लगता है और वह उसे नहीं कर पाता। सुख-सुविधा और जूए आदि दुर्व्यसनों में पड़कर वे स्वयं को अकर्मण्य बना लेते हैं। अगर संवरवादी होते तो वे प्रारम्भ से अपने जीवन को ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं संयम में पुरुषार्थ करने में अभ्यस्त करते। अपना जीवन प्रमाद, कषाय, निन्दा, विकथा आदि में नहीं व्यतीत करते। परन्तु जो अदूरदर्शी होते हैं, जिन्हें अपने भावी जीवन की चिन्ता नहीं होती, वे भवाभिनन्दी या पुद्गलानन्दी विभिन्न आस्रवों के घेरे में ही अपनी गतिविधि अपनाते रहते हैं।

ऐसे लोग प्रायः जिंदगी के दिन पूरे करते हुए निरर्थक जिंदगी की लाश को ढोते रहते हैं, या फिर वे दुर्भाग्य का रोना रोते हुए संसार से विदा होते हैं। संवर की बात उन्हें जरा भी नहीं सुहाती। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—प्रमाद को ही सभी जिनवरों ने कर्म यानी आस्रव कहा है, और अप्रमाद को अकर्म अर्थात्—संवर।

देवदुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी शुभाशुभ कर्मास्रवों के घेरे में घूमते हैं

देव-जीवन, तिर्यंच-जीवन एवं नारक-जीवन आदि सबसे मनुष्य-जीवन सर्वश्रेष्ठ जीवन है। मनुष्य जीवन की प्राप्ति अति दुर्लभ बताते हुए भगवान् महावीर

---

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७८ से भावांश ग्रहण पृ. २८

कहते हैं–"कालक्रम से कदाचित् (अनन्तजन्मों के पश्चात्) मनुष्यगति निरोधक क्लिष्ट कर्मों का क्षय हो जाने से जीव जब तदनुरूप आत्मशुद्धि को प्राप्त करते हैं, तभी मनुष्यता (मनुष्यजन्म) को प्राप्त कर पाते हैं।"

अदूरदर्शी आम्रवप्रिय व्यक्ति इस सुरदुर्लभ मनुष्यजन्म प्राप्ति के सौभाग्य का महत्व नहीं समझते और इस बहुमूल्य उपहार को पेट, प्रजनन, भोगासक्ति, सुख-सुविधा, प्रमाद आदि पशुप्रवृत्तियों में नष्ट कर डालते हैं। उन्हें कभी यह विचार नहीं आता कि एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यंच आदि पंचेन्द्रिय तक की कितनी लम्बी भवभ्रमण यात्रा करने के पश्चात् मनुष्य जन्म मिला है, उसे संवर मार्ग पर लगाकर अपना भविष्य उज्ज्वलतम बनाना था, परन्तु आम्रवप्रिय व्यक्ति की अदूरदर्शिता की करतूत के कारण प्रस्तुत सर्वश्रेष्ठ उपहार से लाभान्वित होने के बजाय शुभाशुभ कर्मास्रवों की गठरी सिर पर लाद कर वे पुनः उसी अनन्त संसार की परिक्रमा करते रहते हैं।[1]

दो प्रकार की नौका के रूपक द्वारा आम्रवप्रिय और संवरप्रिय की पहचान

एक गहरा समुद्र है। वह लबालब पानी से भरा है। समुद्र को पार करके दो प्रकार के, दो दृष्टि और विचारधारा वाले व्यक्ति उस पार जाना चाहते हैं। उनमें से एक यात्री ऐसा है, जिसकी नौका बहुत ही खूबसूरत है, चारों ओर से विचित्र चित्रों और रंगों से शोभायमान हैं। नौका में आराम से बैठने के लिए स्प्रिंगदार लचीली सीटें लगी हुई हैं। यथास्थान खिड़की, दरवाजे, कीमती पर्दे, आरामदेह गद्दे और हवा के लिए हाथ पंखे भी लगे हुए हैं। परन्तु ज्यों ही वह यात्री नौका को खेना शुरू करता है, त्यों ही देखता है कि उस नौका के पेंदे में अनेक छेद हैं, उनमें पानी तीव्रता से भरता जा रहा है। कुछ ही देर में उन छिद्रों में से प्रविष्ट होता हुआ पानी नौका में प्रचुर मात्रा में भर गया। किन्तु जो यात्री है, वह लापरवाह होकर नौका में भरे हुए पानी को न तो उलीचकर बाहर निकालता है, और न ही नौका को डूबने से बचाने का अथवा छिद्रों के बंद करने का पुरुषार्थ करता है, वह यों ही नशे में धुत्त मनुष्य की तरह अपनी नौका को चलाता जाता है। वह नौका की कोई सार संभाल नहीं करता, किन्तु चाहता है वह समुद्र को पार करना; भला ऐसी स्थिति में छिद्रयुक्त जर्जर नौका को लेकर वह कैसे विशाल समुद्र को पार कर सकता है? पार होना तो दूर रहा, वैसी छिद्रवाली नौका उसे मझधार में ही डुबा देगी! छिद्र वाली नौका कभी पारगामिनी नहीं हो सकेगी।

किन्तु दूसरा समुद्रयात्री बाहोश है, विवेकी है, कष्टसहिष्णु है। उसने रूप-रंग में सुन्दर नौका पसन्द नहीं की। उसने नौका की सुदृढ़ता और उसकी पारगामिनी क्षमता

---

१. (क) कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं॥ –उत्तराध्ययन ३।७
(ख) अखण्डज्योति मार्च १९७८ से भावांश ग्रहण पृ. २८

देखी। साथ ही उसने भलीभांति निरीक्षण-परीक्षण किया कि कहीं नौका में छेद तो नहीं है? मझधार में ही यह धोखा तो नहीं दे देगी? फिर वह नौका में बैठकर उसे खेने लगा। साथ ही वह बार-बार नौका का चेकिंग भी करता रहता था कि इन नौका में कहीं छिद्र तो नहीं हो रहा है? कहीं नौका में पानी तो नहीं भर रहा है? इस प्रकार सावधान होकर वह अपनी नौका समुद्र की छाती पर चलाता है, और एक दिन समुद्र पार कर लेता है।

इसी रूपक के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है–

जो नौका छिद्रयुक्त (फूटी हुई) होती है, वह मनुष्य (नाविक) को (समुद्र के) पार तक नहीं पहुँचा सकती, किन्तु जो नौका छिद्ररहित होती है, वह समुद्र पार पहुंचा सकती है।[1] इसका आशय यह है कि जो व्यक्ति आम्रवप्रिय होता है, उनकी नौका सछिद्र होती है। उसमें कर्मजल तीव्रता से प्रविष्ट होता जाता है। ऐसी आम्रवपूर्ण नौका संसार समुद्र के उस पार व्यक्ति को न पहुँचाकर मझधार में ही डूब जाती है।

इसके विपरीत जिसकी जीवन नौका आम्रव छिद्रों (हिंसादि आम्रवों के छेदों) से रहित होती है, उसमें कर्मरूपी जल बिलकुल प्रविष्ट नहीं हो पाता। ऐसी सुदृढ़ एवं निश्छिद्र संवर नौका होती है, वह उसे सही सलामत संसार समुद्र के उस पार मोक्ष के तट पर पहुँचा देती है।

यह है–आम्रवप्रियता और संवरप्रियता का परिणाम, जिसे भगवान् महावीर के पट्टशिष्य गणधर गौतम स्वामी ने समझाया था। इसका निष्कर्ष यह है कि आम्रवप्रिय व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है, जबकि संवरप्रिय व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

किम्पाकफलसम कामभोगों के सेवन से जीवन का दुःखद अन्त

मानव-जीवन एक गहन वन है। इसमें फूल भी हैं, कांटे भी हैं। कहीं रमणीय रूप और कमनीय सौरभ से परिपूर्ण रसीले मधुर फल भी हैं, किन्तु हैं वे विष से व्याप्त। उन फलों में लुब्ध होकर जो यात्री अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए उतावले होकर उन फलों को खा लेते हैं, उन्हें शीघ्र ही मरण-शरण हो जाना पड़ता है।

इसीलिए इन्द्रियजन्य विषयों के रमणीय कामभोगों को विषाक्त किम्पाकवृक्ष के फल की उपमा देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–"जैसे किम्पाकफल रस और रूप-रंग की दृष्टि से देखने और खाने में मनोरम लगते हैं, किन्तु परिणाम में वे सोपक्रम जीवन का अन्त कर देते हैं, इसी प्रकार कामभोगों के प्रति आसक्ति और उनका उपभोग

१. जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी॥ –उत्तराध्ययन २३/७१

भी आपातरमणीय प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका परिणाम भयंकर कर्मजनित दुःखरूप फलदाता तथा संयममय जीवन विनाशक होता है।"[1]

भोगासक्त कर्माम्रवलिप्त, भोगविरक्त कर्माम्रवरहित

यह आम्रवदृष्टि वाले लोगों की आँखें खोलने के लिए पर्याप्त है। जो लोग आम्रव मार्ग का अनुसरण करके तात्कालिक लाभ की तथा क्षणिक तृप्ति एवं सुखस्वाद की दृष्टि से इन्द्रियविषयों का बेखटके उपभोग करते हैं, उनके लिए भगवान् महावीर ने अपना स्पष्ट मोक्षलक्ष्यी संवर मार्ग का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा है–"जो भोगासक्त है, वह कर्मों से उपलिप्त होता है, और जो भोगों में आसक्त नहीं है, वह कर्मों से लिप्त नहीं होता। अतः भोगासक्त (आम्रवमार्गी) संसार में परिभ्रमण करता है, जबकि भोगों में अनासक्त (संवरमार्गी) संसार से[2] मुक्त होता है।"

आम्रव की पगडंडियों को न खोजें, संवर का राजमार्ग पकड़ें

इसलिए प्रत्येक विवेकवान् एवं आत्मार्थी व्यक्ति को जीवन के गहन वन में यात्रा करते समय अपना जीवन मोक्षलक्ष्यी संवर मार्ग पर आरूढ़ करना चाहिए। हम देखते हैं कि अधिकांश वनों में वन्य पशुओं और वन्यवासियों के जाने-आने से छोटी-मोटी पगडंडियाँ बन जाती हैं। देखने में ये रास्ते आकर्षक, व्यवस्थित और शॉर्टकट प्रतीत होते हैं, किन्तु आगे चलकर ये रास्ते प्रायः लुप्त हो जाते हैं। शीघ्रता और आसानी से गन्तव्य स्थान को पहुँचने के लिए अदूरदर्शी यात्री बहुधा इन अनजानी पगडंडियों को पकड़ लेते हैं और सही रास्ते को छोड़ देते हैं।

जीवन-वन में ऐसी पगडंडियाँ बहुत हैं, जो लुभावनी और आकर्षक लगती हैं, और अदूरदर्शी एवं जल्दबाज लोग ऐसी पगडंडियाँ ही ढूँढ़ते हैं, जो गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँचातीं। बल्कि यात्री उन गलत पगडंडियों को शीघ्र कार्य बनाने के लोभ में पकड़कर भटक जाता है, अथवा बीच में ही कहीं दलदल में फँस जाता है।

पाप और अनीति का मार्ग उसी जंगल की पगडंडी की तरह है जो यात्री को भटका देता है और पापकर्म के दलदल में फंसा देता है–अशुभाम्रव का यह पथ मछली के लिए बंशी और चिड़ियों के लिए जाल के समान है। प्रसिद्धि, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, स्वर्गलिप्सा, या परलोक में भोग साधन लिप्सा, वाहवाही आदि शुभाम्रव के लुभावने आकर्षक मार्ग भी मनुष्य को कर्म की और उसके फलस्वरूप चतुर्गतिक संसार की

---

१. जहा य किंपाकफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एवोपमा कामगुणा विवागे॥–उत्तराध्ययन अ. ३२, गा. २०

२. उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ॥ –उत्तराध्ययन, अ. २५, गा. ४१

दलदल में फँसाने वाले हैं। अभीष्ट कामनाओं की जल्दी से जल्दी अधिक से अधिक मात्रा में पूर्ति हो जाए, इस लालच से लोग जीवन के ध्येयप्रापक संवर का राजमार्ग छोड़कर आस्रव की संसारलक्ष्यी अवांछनीय पगडंडी अपना लेते हैं। इस उतावली और आपाधापी में वे अपने सदुद्देश्य और अन्तिम ध्येय को भूल जाते हैं, जिसके फलस्वरूप विविध शुभाशुभ कर्मों के आस्रवण से वे कर्मों का भारीभरकम बोझ लाद देते हैं।[1]

जीवन-वन का अभीष्ट राजमार्ग : संवर का शुद्धपथ

जीवन-वन का अभीष्ट राजमार्ग है–संवर का शुद्ध पथ। संवर का राजमार्ग अहिंसा, सत्य, समिति, गुप्ति, परीषह सहिष्णुता, तितिक्षा, क्षमादि धर्म के कारण पक्का और वीतराग देवों द्वारा अनुभूत, अभ्यस्त एवं निश्चित पथ है। संवर के राजमार्ग पर चलते हुए अन्तिम लक्ष्य–मोक्ष तक–कर्ममुक्ति तक पहुँचना समय-साध्य तो है, पर उसमें कहीं भटकने, फँसने या अनिश्चितता का भय नहीं है, उसमें कहीं आत्मा के कर्मों से बोझिल होने का जोखिम नहीं है। उस राजमार्ग में अनीति, अधर्म, पाप और कर्मों के आस्रव का वह दलदल नहीं है, और न ही तृष्णा, लालसा और आसक्ति की कंटीली झाड़ियाँ हैं, और न भय और प्रलोभन की ऊबड़-खाबड़ जमीन है। इसलिए इस राजमार्ग में फँसने और जीवन के सदुद्देश्य को भूलने का खतरा भी नहीं है। इसलिए आस्रव की लुभावनी और आकर्षक पगडंडियों को न खोजकर संवर के राजमार्ग को अपनाने की ही अनुभवी वीतराग पुरुषों की प्रेरणा है।

लुभावने आस्रवमार्ग से बचो, संवरनिष्ठ बनो

इसी सन्दर्भ में भगवान् महावीर ने लुभावने आस्रव मार्ग से बचने हेतु संवर- मार्गी साधकों को चेतावनी देते हुए कहा–"कामभोगों के मन्द (कोमल) स्पर्श भी बहुत लुभावने होते हैं। (संवरमार्गी साधक को) तथाप्रकार के उन अनुकूल प्रतीत होने वाले स्पर्शों (इन्द्रिय-विषयों) में मन को जरा भी संलग्न नहीं करना चाहिए। अर्थात्–वह सावधान रहकर उन अनुकूल विषयों के प्रति रागभाव और प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेषभाव जरा भी न करे। इसके लिए वह (आत्मरक्षक संवरनिष्ठ साधक) क्रोध से अपने को बचाए, अहंकार (मान) को हटाए, माया (छल-कपट) का सेवन न करे और लोभ का परित्याग करे।"[2]

इससे भी आगे बढ़कर संवर मार्ग पर चलने वाले साधकों के लिए अध्यात्म-मनीषियों का यह मार्गदर्शन भी कितना अनूठा है?–"हे साधक! तू आत्मबाह्य तथा

---

१. अखण्ड ज्योति फरवरी १९७५ पृ. १ से भावांश ग्रहण

२. मंदा य फासा बहुलोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज रागं, मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं॥ –उत्तराध्ययन अ. ४ गा. १२

सांसारिक पदार्थों के संग (आसक्ति) से विरत हो जा, इनसे दूर रह, कर्मबन्धन में फँसाने वाले प्रपंचों को छोड़ दे। असंयम में गिराने वाले प्रयत्नों का त्याग कर। मोह का विसर्जन कर, और स्वतत्त्व को समझ। अपनी वृत्तियों का बार-बार निरीक्षण कर कि वे किस दिशा में जा रही हैं? अपने आत्मस्वरूप को पहचान और परम शान्तिरूप मोक्ष का आनन्द प्राप्त करने हेतु सत्पुरुषार्थ कर।'[1]

तात्पर्य यह है कि संवरमार्ग पर प्रयाण करने पर देर में सही, थोड़ी ही सही, पर जो सफलता और सिद्धि मिलेगी, वह स्थायी भी होगी और आत्मशान्तिदायक भी।

निष्कर्ष यह है कि आस्रव मार्ग संसार परिभ्रमण कारक है, और संवर मार्ग है– सर्वकर्म-मुक्तिरूप मोक्षप्रापक, परमात्मपद तक पहुँचाने वाला। कर्मास्रवों से मुक्त होने के लिए संवर मार्ग को अपनाना ही श्रेयस्कर है, चाहे वह प्रारम्भ में इष्ट संयोग कारक या सुख-सुविधाजनक न हो। ■

---

१. विरम विरम संगात् मुंच मुंच प्रपंचम्। विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्॥१॥
कलय कलय वृत्तं, पश्य पश्य स्वरूपम्। कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥२॥

८

आस्रव की बाढ़ और संवर की बांध

नदी में बाढ़ को रोकने के लिए बाँध का प्रयोग

नदी में पानी जब चारों ओर से झरनों, नालों आदि से तीव्र गति से आ-आकर मिलने लगता है, तब उसमें बाढ़ आ जाती है। बाढ़ के समय नदी प्रलयंकर और भयंकर बन जाती है। जो नदी पहले वृक्षों, पेड़-पौधों, फसलों, जानवरों और मनुष्यों को जीवन-दान देने वाली थी, वही बाढ़ के आने पर उनके जीवन-विनाश का कारण बन जाती है। हजारों लोग बाढ़ से पीड़ित होकर बेघरबार हो जाते हैं। करोड़ों रुपयों की फसल बर्बाद हो जाती है। करोड़ों रुपयों के माल की बर्बादी हो जाती है। धन-जन की क्षति का भी कोई अनुमान नहीं।

इस भयंकर विनाशलीला को रोकने के लिए शासन-प्रबन्धक लोग चिन्तित हो उठते हैं। और नदी में प्रतिवर्ष आने वाली इस बाढ़ को रोकने के लिए कई जगह बाँध (Dam) बनाये जाते हैं, जिनसे उसके प्रवाह को कई जगह से रोक कर दूसरी दिशा में उस पानी को बहाया जाता है, जिससे लाखों एकड़ खेतों को सींचा जाता है। इस प्रकार के बांधों से नदी की जीवनदायिनी शक्ति का यथार्थ उपयोग किया जाता है।

सांसारिक आत्मनदियों में आई हुई बाढ़ से भंयकर क्षति

सांसारिक आत्मारूपी नदियों में भी प्रतिक्षण शुभाशुभ कर्मों का आगमन (आस्रव) होता रहता है। मुख्यतया तीन बड़े-बड़े नाले हैं–मनोयोग, वचनयोग और काययोग।[1] इन्हीं तीन नालों के साथ तीव्रगति से बहते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय[2] के चार पहाड़ी झरने आकर मिल जाते हैं। यों तो मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात यों कुल पन्द्रह भेद होते हैं,[3] तथा मिथ्यात्व के

---

१. इन पर विस्तृत विवेचन "योग-आस्रव : स्वरूप, प्रकार और कार्य" में देखें। –सं.

२. कषाय के विषय में विशेष विवेचन के लिए देखें–'कर्मों के आने के पाँच आस्रवद्वार' नामक निबन्ध में।

३. योग के इन पन्द्रह भेदों के विशेष विवेचन के लिए 'योग-आस्रव : स्वरूप, प्रकार और कार्य' नामक निबन्ध देखें।

पाँच, दस या पच्चीस प्रकार, अविरति के मुख्य पाँच प्रकार, प्रमाद के पाँच या आठ प्रकार,[1] एवं कषाय के चार, सोलह या पच्चीस प्रकार होते हैं।[2] इसके अतिरिक्त अव्रत, कषाय, इन्द्रिय विषय और क्रिया तथा पूर्वोक्त तीन योग मिलाकर आस्रव के ४२ भेद होते हैं।[3]

परन्तु संसार के प्रत्येक जीव की अनन्त-अनन्त परिणामों की तीव्र-मन्द-मध्यम धाराएँ इनके साथ मिलने से आस्रवों का अनन्तगुना प्रवाह बाढ़ का रूप धारण कर लेता है। सांसारिक जीवात्मारूपी नदियों में कर्मास्रवों की यह भयंकर बाढ़ भी उस-उस आत्मा के स्वामी जीव की अनन्त शक्तियों को मूर्च्छित कर देती है, उसके अनन्तज्ञान एवं अनन्तदर्शन को आवृत और कुण्ठित कर देती है, उसके अनन्तचारित्र एवं तप की शक्ति को भी मोहमूढ़ बना देती है। आस्रवों की यह बाढ़ जीव के आत्मगुणों का चारों ओर से सर्वनाश करने पर उतारू हो जाती है।

कर्मास्रवों की बाढ़ से एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक प्रभावित

आस्रवों की यह बाढ़ सबसे अधिक प्रभावित करती है--वनस्पतिकायिक, अप्कायिक, पृथ्वीकायिक, तेजस्कायिक एवं वायुकायिक, इन पंचविध स्थावर एकेन्द्रिय जीवों को। इनकी चेतना को कर्मास्रवों की यह बाढ़ अत्यन्त मूर्च्छित एवं सुषुप्त कर देती है। इनमें भी पंचेन्द्रिय जीवों के समान ही ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय विद्यमान होते हैं, किन्तु उन पर सघन आस्रवों का आवरण पड़ जाता है। यद्यपि एकेन्द्रिय जीवों के भी लब्धिरूप पाँचों भावेन्द्रिय होती हैं, किन्तु चेतना सुषुप्त होने से उपयोगरूप भावेन्द्रिय इतनी सक्रिय नहीं होतीं; और निर्वृत्ति (रचना) और उपकरण रूप द्रव्येन्द्रियों में भी सिर्फ एक स्पर्शेन्द्रिय होती है। एकेन्द्रिय जीव अपने सुख-दुःख का संवेदन मूर्च्छितचेतनाशील होने से बहुत ही कम कर पाते हैं और न ही अपने सुख-दुःखादि को व्यक्त कर सकते हैं।

इन एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीवों पर कर्मास्रवों की बाढ़ का कुछ कम असर होता है। द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय होने से ये अपनी सुख-दुःख की अभिव्यक्ति अव्यक्त भाषा के रूप में कर पाते हैं। इससे भी आगे बढ़कर त्रीन्द्रिय और फिर चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्तरोत्तर क्रमशः घ्राणेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय अधिक होने से इन

---

१. प्रमाद के आठ प्रकार ये हैं–
(१) अज्ञान, (२) संशय, (३) मिथ्याज्ञान, (४) राग, (५) द्वेष, (६) स्मृति भ्रंश, (७) धर्माचरण में अनादर और (८) योग-दुष्प्रणिधान। –प्रवचनसारोद्धार २०७

२. मिथ्यात्वादि पाँचों के भेद-प्रभेद के विषय में देखें–"आस्रव की आग के उत्पादक और उत्तेजक" शीर्षक निबन्ध।

३. अव्रत आदि पाँचों आस्रवद्वारों के विषय में देखें–'कर्मों का आस्रव : क्या, क्यों, कैसे और कितने प्रकार का?' निबन्ध।

पर पूर्वोक्त एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय की अपेक्षा कर्मास्रवों की बाढ़ का कुछ कम प्रभाव होता है। फिर भी वे अपने सुख-दुःख आदि स्पष्ट भाषा में व्यक्त नहीं कर पाते।

इसके पश्चात् आते हैं–पंचेन्द्रिय जीव।[1] इनके चार प्रकार हैं–नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। नारकीय जीवों के पाँचों इन्द्रियाँ होते हुए भी, तथा उनमें अपनी वेदना को व्यक्त करने की शक्ति होते हुए भी पूर्वजन्मकृत अनन्त पापकर्मों की बाढ़ एवं कर्म बंध के फलस्वरूप असंख्य यातनाओं एवं तीव्र दुःखों से पीड़ित होने के कारण वे उसे रोक नहीं पाते, उन्हें तो भोगना ही पड़ता है। तीव्र वेदना के कारण मिथ्यात्वादि आस्रवों के फलस्वरूप निरन्तर नये-नये कर्मों का प्रवेश और बन्ध भी होता रहता है।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीवों को पाँचों इन्द्रियाँ मिलने पर भी आस्रवों की बाढ़ को रोकने (संवर) की शक्ति न होने से वे भी पीड़ित होते रहते हैं। वह बाढ़ उनकी ज्ञानादि चतुष्टय की अनन्तशक्तियों को मूर्च्छित, कुण्ठित, विकृत, आवृत एवं सुषुप्त कर देती है।

देव भी पंचेन्द्रिय होते हैं। उनमें अवधिज्ञान जन्म से ही होता है, किसी को मिथ्या अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) होता है, किसी को सम्यक् अवधिज्ञान। तथा वैक्रिय शरीर भी उन्हें जन्म से प्राप्त होने के कारण वे वैक्रियशक्ति से नानारूप और आकार-प्रकार बना सकते हैं। फिर भी कर्मास्रवों की बाढ़ को रोकने की पूर्णशक्ति उनमें नहीं होती। यद्यपि सम्यग्दृष्टि देवों में मिथ्यात्व आस्रव द्वार बंद हो जाता है, किन्तु अविरति आदि चार कषायों का सद्भाव तो न्यूनाधिकरूप में उनमें रहता ही है।

उच्च देवलोक के देवों में परिग्रह वृत्ति, अभिमान, लेश्या, कषाय बहुत ही मन्द होते हैं। फिर भी कर्मास्रवों की बाढ़ से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित होने के कारण उन्हें भी जन्म-मरण रूप संसार में आवागमन करना पड़ता है। दीर्घकाल तक पूर्वकृत कर्मों को भोगने के लिए उसी देवयोनि में रहना पड़ता है।

अब रहा मनुष्य! उसमें भी संज्ञीपंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, दोनों प्रकार के मनुष्य होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय मानवों की चेतना मूर्च्छित रहती है, वे द्रव्यमन के अभाव में अपने सुख-दुःख का संवेदन तथा अभिव्यक्तीकरण नहीं कर सकते। पूर्वकृत आस्रवों की बाढ़ की मार इतनी गहरी होती है कि वे उसका निरोध नहीं कर सकते।

किन्तु जो संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा पर्याप्तक (षड्विध पर्याप्तियों से पूर्ण) होते हैं, उनकी पाँचों द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा नोइन्द्रिय (मन, बुद्धि, चित्त हृदयरूप अन्तःकरण) विकसित होती हैं। उन मनुष्यों की चेतना भी अत्यधिक विकसित होती है। वे कर्मास्रवों की बाढ़ को रोकने में समर्थ होते हैं।

---

१. एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक से जीवों के क्रमशः ये इन्द्रियाँ होती हैं–स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्राणि। –तत्त्वार्थ २/२०

फिर भी पूर्वोक्त विवरण के अनुसार अधिकांश व्यक्ति मिथ्यात्वादि चतुर्विध भावास्रव और योगादि द्वारा कर्मपुद्गलरूप में परिणत द्रव्यास्रवों की बाढ़ को रोक नहीं पाते, न ही रोकने का विचार एवं चिन्तन उनमें होता है, न ही रोकने की सम्यक् बुद्धि होती है। फलस्वरूप एकेन्द्रिय से लेकर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों की तरह वे भी आस्रवों की बाढ़ से पीड़ित होते रहते है।[1] उनके जीवन की बहुमूल्य अनन्तज्ञानादि चतुष्टय-सम्पदा बर्बाद होती रहती है। उनके मन, इन्द्रिय, प्राण आदि बहुमूल्य साधनों की शक्तियाँ संवर के द्वारा आत्म-विकास की अपेक्षा आत्मगुणों के विनाश में लगती हैं।

कर्मास्रवों और संवरों का कार्य एक दूसरे से विरुद्ध

कर्मास्रवों का कार्य है–चेतना को मूर्च्छित, मोहित, किंकर्त्तव्यविमूढ़, कुण्ठित एवं विकृत कर देना और संवर (कर्म निरोध) का कार्य है–जागृत एवं सावधान रहकर पूर्वोक्त प्रकार से आते हुए कर्मों को रोकने (संवरण) का और चेतना को अपने स्वरूप में स्थिर रखने का।[2]

कर्मविज्ञान सांसारिक जीवों के इन दोनों रूपों को प्रस्तुत करता है–आस्रव को भी और उसके प्रतिरोधी संवर को भी। एक ओर आस्रव की सेना है, तो दूसरी ओर संवर की भी सुसज्जित एवं आस्रव प्रतिरोधक सेना है।

आस्रव सर्वथा हेय, संवर उपादेय : क्यों और किस प्रकार?

जैन कर्म-विज्ञान के सन्दर्भ में वीतराग अर्हत्परमात्मा की आज्ञा का उल्लेख करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है–भगवन् ! आपकी सदाकाल के लिए हेय और उपादेय विषयक आज्ञा इस प्रकार है कि आस्रव सर्वथा हेय है और संवर उपदेय है।"[3]

यह तथ्य है कि कर्मविज्ञान ने आस्रवों के असंख्य प्रवाहों से तीव्रगति से आती हुई, तथा आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट होती हुई हेयरूप बाढ़ का भी स्वरूप बताया है, और आस्रवों के पूर्वोक्त असंख्य प्रवाहों से आती हुई कर्मास्रवों की बाढ़ को रोकने के लिए संवर के पाँच, बीस, बयालीस या सत्तावन प्रकारों तथा संवरकर्त्ता की अनन्त परिणाम-धाराओं की बाँध का भी उपादेयरूप में उल्लेख किया है। संक्षेप में–जैनकर्मविज्ञान ने मोक्ष (परमात्मपद) के लिए बाधक और साधक, हेय और उपादेय, दोनों तत्त्वों का सांगोपांग निरूपण किया है।

आस्रव और संवर दोनों एक दूसरे के लिए विजातीय हैं। यह निश्चित है कि आत्मा की जागृति, विकास एवं स्वरूप में स्थिरता के लिए उपादेय तत्त्व संवर ही है,

---

१. देखें–उत्तराध्ययन अ. ३/७–३१
२. कर्मवाद से किंचिद् भावांश ग्रहण पृ. ९४
३. आकालमियमाज्ञा ते हेयोपादेयगोचरा।
आश्रवः सर्वथा हेयः, उपादेयश्च संवरः॥' –वीतरागस्तव १९/५

आस्रव नहीं। आस्रव तो आत्मा की जागृति को, उपयोग को, समता को तथा सम्यग्ज्ञान की किरणों को रोकता है। वह आत्मा को अज्ञानान्धकारमय बना देता है। उसमें मूर्च्छा, मोहमूढ़ता एवं विकृति, प्रमत्तता, असंयमवृत्ति उत्पन्न कर देता है।

इसलिए वह आत्मा के लिए वांछनीय, उपादेय या अपेक्षणीय नहीं है। किन्तु जब द्वार खुला होता है तो कोई न कोई विजातीय, अवांछनीय या हेय तत्त्व भी अंदर प्रविष्ट हो जाता है। आत्मा उसे रोक नहीं पाता। पूर्वोक्त प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय (राग-द्वेष) से युक्त अनन्त-अनन्त परिणामों की धारा से तीव्ररूप में प्रविष्ट होता है।

मिथ्यात्व आस्रव की बाढ़ : सम्यक्त्व संवर की बाँध

आस्रव की इस बाढ़ का पहला प्रवाह मिथ्यात्व है। इससे आत्मा का सम्यग्दर्शन लुप्त-प्राय हो जाता है। वह स्व-पर का भेदविज्ञान (विवेक) नहीं कर पाता। अतत्त्व को तत्त्व, अधर्म को धर्म, जीव को अजीव और अजीव को जीव समझने लगता है। आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक आदि लोक-परलोक, कर्म-विकर्म-अकर्म, या पुण्य-पाप, धर्म आदि को कुछ भी नहीं समझता।

परन्तु जब आत्मा में स्व-बोध की जागृति आती है, स्व-पर-पदार्थ या स्वभाव-विभाव का ज्ञान होता है, तब वह मिथ्यात्व-आस्रव की बाढ़ को रोक देता है, सम्यक्त्व-संवर की बांध बनाकर।

मिथ्यात्व का तिमिर बिन्दु लुप्त हो जाता है, जागृति और स्वानुभूति का प्रकाश बिन्दु उभरता है। मूर्च्छा की सघन लहरें, जो आत्मा पर छायी हुई थीं, वे हटने लगती हैं, सम्यक्त्वसंवर का सूर्योदय हो जाता है। राग-द्वेष, कषाय एवं मिथ्यात्वमोह की तीव्र ग्रन्थी टूटने लगती है। जो ग्रन्थी पहले कभी टूटी नहीं थी, पहले ही टूटी है, चित्त पर राग-द्वेष की मलिनता की जो तीव्र पर्त छाई हुई थी, वह चित्तनिर्मलता के रूप में प्रथम बार ही परिणत होती है। मिथ्यात्व का जो सघनतम अन्धकार था, वह पहली बार टूटता है। ज्यों-ज्यों स्वानुभूति आगे बढ़ती है, स्पष्ट होती जाती है, त्यों-त्यों मोह-मूर्च्छा की सघनता कम होती जाती है, सम्यक्त्व संवर अपने समस्त अंगोपांगों के साथ सदलबल आत्मा में मिथ्यात्व की बाढ़ को रोकने के लिए बाँध बन जाता है।

मिथ्यात्व के पाँच, दस या पच्चीस[1] जितने भी प्रकार हैं, तथा उनसे समुद्भूत होने वाले जितने भी मिथ्या-परिणामों के प्रवाह हैं उन्हें सम्यक्त्व संवर रोक देता है। जागृत आत्मा मिथ्यात्व-आस्रव को आगे बढ़ने से रोकने के लिए सम्यक्त्व संवर को अपनाता है।

---

१. (क) पंचविध एवं दशविध मिथ्यात्व के लिए देखें–स्थानांगसूत्र पंचम एवं दशम स्थान।
(ख) पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व के लिए देखें–आवश्यक निर्युक्ति एवं हारिभद्रीय वृत्ति।

अविरति आस्रव की बाढ़ : विरति (व्रत) संवर की बाँध

इसके पश्चात् अविरति या अव्रत (असंयम) आस्रव की बाढ़ मुख्यतया हिंसादि पाँच तथा फिर उनके भेद-प्रभेद एवं उनसे सम्बन्धित परिणामों की असंख्य धाराओं के रूप में आत्मा में प्रविष्ट होने लगती है, तब यदि आत्मा की स्वानुभूति, स्व-पर-भेदविज्ञान, या अनन्तज्ञानादि गुणों का भान (जागृति) अधिक स्पष्ट हो जाती है, तो वह हिंसा आदि अव्रतों को तथा शरीरादि परभावों को स्पष्ट समझने लगता है, उसके राग-द्वेष आदि परिणाम भी मन्द होने लगते हैं, उसकी परवस्तुओं के प्रति ममता, मूर्च्छा, आसक्ति आदि कम होने लगती है, चारित्र में रुचि दृढ़ हो जाती है। तब वह व्रत-महाव्रत, समिति-गुप्ति, क्षमादि दशविध धर्म या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म का पालन करने के लिए तत्पर होता है। अन्तरंग में ज्ञानादि स्वभावों में स्थिरतापूर्वक रमण करने लगता है, ऐसी स्थिति में द्वितीय अव्रत आस्रव-प्रवाह की बाढ़ को जीव विरति रूप या व्रतरूप संवर की उपर्युक्त बाँध द्वारा आने से रोक देता है।

प्रमाद-आस्रव की बाढ़ : अप्रमाद संवर की बांध

किन्तु व्रत-महाव्रत, नियम, त्याग, धर्माचरण, तपश्चरण, समिति-गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, कषायविजय, इन्द्रिय-विषयों के प्रति रागद्वेष-मन्दता आदि व्रत-संवर के रूप में स्वीकार करने पर भी पूर्वकृत मोहकर्मवश, अथवा ज्ञानावरणीय कर्मोदयवश श्रुत चारित्रधर्म के पालन में शैथिल्य, मन्दता, अनिश्चलता, अस्थिरता, मदादि प्रमादवश प्रमत्तता, अजागरूकता आदि प्रमाद-आस्रव के तृतीय प्रवाह की बाढ़ आत्मा में यदा-कदा प्रविष्ट हो सकती है। अजागृत व्यक्ति व्रतादि स्वीकार करने पर भी विभिन्न प्रमादों के प्रवाह में बह सकता है।

किन्तु जब व्यक्ति स्व-भाव एवं स्वरूपाचरणरूप चारित्र में दृढ़ हो जाता है, सदैव जागरूक और सावधान होकर, अपनी समस्त प्रवृत्तियों पर यतना (यत्नाचार – उपयोग) का अंकुश रखता है, राग-द्वेष कषायाविष्ट न होकर ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना की ओर से झुकाव हटाकर एकमात्र ज्ञानचेतना (स्वानुभूति) में लीन रहता है, तब अप्रमाद संवर की बांध से प्रमाद-आस्रव की बाढ़ को रोक देता है, और उसकी आत्मा में अप्रमाद संवर की बांध दृढ़ होती जाती है।

कषाय-आस्रव की बाढ़ : अकषाय संवर की बाँध

इतना हो जाने पर भी अभी कषायों की बाढ़ को पूर्णतया रोकने की स्थिति निर्मित नहीं हुई है। सोलह कषाय और नौ नोकषाय,[1] इन पच्चीस कषायों में से यद्यपि चार संज्वलन के कषाय अभी विद्यमान हैं। किन्तु अप्रमत्त आत्मा अहर्निश जागरूक

१. सोलह कषाय और नौ नोकषाय के लिए देखें 'आस्रव के पांच द्वार' नामक निबन्ध।

रहकर आत्म-भावों में जब अधिकाधिक स्थिर होता जाता है, तब मन्दतम कषाय चतुष्टय की उस बाढ़ को अकषाय संवर की बांध से रोक देता है।

आत्मा दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान में जब पहुँचने को उद्यत होता है, तो क्षपक श्रेणी (मोहकर्म का सर्वथा क्षय करने की परिणाम धारा) पर आरूढ़ होकर पूर्ण प्रकाश की–वीतरागता की भूमिका प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में राग-द्वेषात्मक परिणामों के द्वारा जो कषायास्रव आ रहा था, वह भी सर्वथा समाप्त हो जाता है। आत्मा की पूर्ण स्वानुभूति जागृत हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो आस्रव के मिथ्यात्व आदि चारों प्रवाहों से आने वाली बाढ़ को वह पूर्णतया रोक देता है, अकषाय संवर की बांध से।

योग-आस्रव की बाढ़ : अयोग-संवर की बांध

अब एक मात्र योग-आस्रव शेष रहता है। परन्तु मन-वचन-काया के योगों में जो चंचलता मिथ्यात्वादि के कारण या रागद्वेषदि के कारण थी, वह समाप्त हो गई। अतः अब केवल ईर्यापथिक आस्रव रह गया है, जो जब तक आयुष्य है, यह शरीर है, तब तक केवल कषायादि रहित योग-आस्रव रहते हैं। वे भी नाममात्र के आस्रव हैं। उनसे पहले समय में कर्म का स्पर्श होता है, और दूसरे क्षण में तो वह स्वयमेव झड़ जाता है। वह कर्म अबन्धक है, अकर्म है। इस भूमिका पर आरूढ़ सयोगी केवली आस्रवों की बाढ़ को विशेषतः अवशिष्ट योगास्रवों की बाढ़ को पूर्णसंवर की बांध से सर्वथा रोक देता है। यहाँ आकर संवर-साधना की परिपूर्णता आ जाती है। चार घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है। चार अघातीकर्म शरीर और आयुष्य से सम्बद्ध होने के कारण रह जाते हैं। वे भी उसी जन्म में आयुष्य के अन्त होने के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। वह योगों का सर्वथा निरोधक अयोगी केवली परमात्मा सर्वकर्मविमुक्त होकर अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप पूर्ण परम आत्म-सम्पदा से सम्पन्न हो जाता है।

यह है–आस्रवों की बाढ़ को रोकने के लिए आत्मा के द्वारा किया जाने वाला संवर की बांध का पराक्रम।

पंचविध संवरों की सिद्धि : कैसे और किस प्रकार है

जीतकल्प में संवर का यही लक्षण किया गया है–"मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग का निरोध संवर है।" मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग ये पाँचों भाव-आस्रवों के द्वार हैं।[1]

---

१. (क) 'मिच्छादंसणाविरई-कसाय-पमाय-जोग-निरोहो संवरो।"–जीतकल्पचूर्णि पृ. ५
(ख) पंच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा–मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाय, जोगा।
–समवायांग समवाय ५

कर्मों का आस्रव (आगमन) इन्हीं द्वारों से होता है। आस्रव संसारवृद्धि के कारण हैं और संवर मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत हैं। पुण्य और पाप ये दोनों ही क्रमशः शुभ और अशुभ आस्रव हैं। दोनों आस्रवों के कारण हैं–शुभोपयोग और अशुभोपयोग। संवर इन दोनों आस्रवों तथा उनके शुभाशुभ उपयोगों से आत्मा को हटाकर उसे शुद्धोपयोगरूप धर्म में स्थिर करता है।

इस दृष्टि से संवर का एक लक्षण तत्त्वार्थभाष्य-सिद्धसेनीया वृत्ति में किया गया है–आस्रवद्वारों को ढक देना–बंद कर देना, तथा आस्रवजनित दोषों का परिवर्जन करना संवर है।[1]

इस अपेक्षा से संवर के मुख्यतया ५ भेद प्रतिफलित होते हैं–(१) सम्यक्त्वसंवर, (२) विरति (व्रत) संवर, (३) अप्रमादसंवर (४) अकषायसंवर और (५) अयोग-संवर।[2]

इन पाँचों भावसंवरों का क्रम आध्यात्मिक विकास के क्रम से रखा गया है। वस्तुतः संवर का आन्तरिक स्वरूप इसी प्रकार का पंचास्तिकाय वृत्ति में बताया गया है–जीव के मोह, राग, द्वेष आदि आन्तरिक वैभाविक परिणामों का निरोध करना (भावसंवर है) और उसके निमित्त से योगद्वारों से आत्मा में प्रविष्ट होने वाले कर्मपुद्गलों के परिणामों का निरोध करना (द्रव्य) संवर है।[3]

सम्यक्त्व संवर की सिद्धि

अध्यात्म विकास के क्रम से सर्वप्रथम सम्यक्त्व-संवर होता है। जीव अनादि काल से मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) के गाढ़ तिमिर के कारण आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के गुणों को भूला हुआ है। इसी कारण संसारचक्र में परिभ्रमण करता रहता है। जब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर उसकी प्राप्ति के लिए उद्यत हो जाता है, तब मिथ्यात्व का अन्धकार दूर होते देर नहीं लगती। सम्यक्त्व संवर के प्राप्त होते ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, और आत्मा स्व-पर के यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने स्व-भाव की ओर झुक जाता है। सम्यक्त्व के प्रभाव से अन्तःकरण में संसार से निवृत्तिभाव और विषयों से विरक्तिभाव आ जाता है। फिर वह मोक्ष (परमात्म) पद की प्राप्ति के लिए उद्यत हो जाता है।

---

१. आस्रवद्वाराणां पिधानमाश्रव दोष–परिवर्जनं संवरः।
–तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेनीयावृत्ति ९/७ पृ. २१९

२. पंच संवरदारा पण्णत्ता, तं जहा–सम्मत्तं, विरई, अप्पमत्तया, अकसाया, अजोगया।
–समवायांग समवाय ५

३. मोह-राग-द्वेष-परिणामनिरोधो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां च संवरः।
–पंचास्तिकाय अमृत. वृत्ति पृ. १०८

विरति (व्रत) संवर की सिद्धि

इसके पश्चात् सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा (हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप) पाँच आस्रव द्वारों का निरोध करने का पुरुषार्थ करता है। इसी दृष्टि से दशैवकालिक चूर्णि में प्राणिवधादि पाँच आस्रवों के निरोध करने को संवर कहा गया है।[1]

विरति संवर की साधना करने वाला साधक पाँच सर्वविरति रूप या देश-विरति रूप संवर धर्म को अंगीकार करता है। इससे नये कर्म आने के मार्ग रुक जाते हैं।

अप्रमाद संवर की सिद्धि

विरति-संवर की साधना के सन्दर्भ में साधक के व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, तप, सामायिक, पौषध आदि चारित्र के पालन में कई प्रकार के प्रमाद आ घुसते हैं, वे फिर की-कराई साधना को मटियामेट कर देते हैं। अतः प्रमाद से बचने और जहाँ प्रमाद का प्रवेश होता दिखता हो, उसे रोकने के लिए जागरूक साधक अप्रमाद संवर की साधना करता है, क्योंकि प्रमाद संसार-परिभ्रमण का मूल कारण है। अतः अप्रमत्त संवर की साधना से तथा अप्रमत्तभाव से प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति करने से आस्रवनिरोध हो जाता है।

अकषाय-संवर की सिद्धि

अप्रमत्त-भाव से प्रवृत्ति करने से, मन-वचन-काया तीनों योगों में अप्रमाद एवं जागरूकता रहने से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी ये तीनों प्रकार के कषाय (क्रोधादि चतुष्टय) तो नहीं रहते, किन्तु संज्वलन का सूक्ष्म कषाय रहता है, उसके फलस्वरूप सूक्ष्म प्रशस्तराग देव-गुरु-धर्म-संघ आदि के प्रति अनुराग, धर्मप्रचार का, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा आदि का सूक्ष्म लोभ अन्तरात्मा में जमा रहता है। दसवें गुणस्थान में आकर संज्वलन का लोभ कषाय भी उपशांत हो जाता है। साधक क्रोधादि चारों कषायों से निवृत्त हो जाता है। चारों कषायों से निवृत्त होने से अकषायसंवर सिद्ध हो जाता है। अब तो केवल योग आस्रव ही रह जाता है। राग और द्वेष (जो कषायों के ही प्रकार हैं) का सर्वथा क्षय हो जाने से वीतराग वह सयोगी केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) बन जाता है।

अयोग-संवर की सिद्धि

अब तो उसके जीवन में केवल योग-आस्रव ही रह जाता है। योग आस्रव (ईर्यापथिक आस्रव) के प्रभाव से कर्म आते अवश्य हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण स्वयमेव

---

१. संवरो णाम पाणवहादिणं आसवाणं निरोहो। —दशवैकालिक चूर्णि पृ. १६२

झड़कर अलग हो जाते हैं। कर्म बंधते नहीं, चिपकते नहीं। परन्तु जब तक आयुष्य कर्म शेष है, तब तक वे सयोगी केवली (सदेह परमात्मा) तेरहवें गुणस्थान में होते हैं, मन-वचन-काया के योगों से युक्त होते हैं। जब उनकीआयु अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण शेष रहती है, तब वे चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। फिर क्रमशः योगों का निरोध करके वे शीघ्र ही शैलेशी, निष्प्रकम्प, अयोगी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। यही निर्वाण पद की प्राप्ति का सूचक है। आत्मा अयोगी भाव प्राप्त करके ही मोक्षारूढ़ हो पाता है; और अयोगीभाव प्राप्त होता है, त्रिविध योगों के पूर्णतया निरोध रूप संवर से।

बृहत्कल्प भाष्य में बताया गया है कि 'जैसे-जैसे मन-वचन-काय के योग (स्पन्दन या चापल्य) अल्पतर होते जाते हैं, वैसे वैसे कर्मबन्ध भी अल्पतर होता जाता है। बन्ध अल्पतर होने से पूर्व होने वाला योग-आस्रव भी अल्पतर होना अवश्यम्भावी है। योग चक्र का पूर्णतः निरोध (संवर) होने पर आत्मा में बन्ध का अभाव हो जाता है। जैसे समुद्र में स्थित अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव हो जाता है।[1]

अयोगसंवर प्राप्त होने पर आत्मा आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। आत्मा के चारों निजी गुण सर्वात्मना प्रकट हो जाते हैं। अर्थात् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त अव्याबाध आत्मिकसुख (आनन्द) और अनन्तआत्म-शक्ति--ये चारों आत्मगुण उस विदेह परमात्मा में पूर्णरूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं।

अयोग संवर प्राप्त होते ही पूर्ण संवर की सिद्धि और पूर्ण मुक्ति

सैद्धान्तिक भाषा में कहा जा सकता है, अयोग संवर प्राप्त होते ही पूर्ण संवर प्राप्त हो जाता है। प्रश्न होता है--पूर्ण संवर कैसे प्राप्त होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? ऊपर हमने उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास की साधना के क्रम से पंचविध संवर का क्रम बताया है।

दशवैकालिक सूत्र में भी उत्कृष्ट संवर धर्म प्राप्त करने तक की प्रक्रिया बताई गई है। उसमें जीव-अजीव-पुण्य-पाप-बंध-मोक्ष का सम्यक् ज्ञान, दिव्य एवं मानवीय भोगों से विरक्ति, बाह्य और आभ्यन्तर संयोगों (ग्रन्थियों--ममत्व सम्बन्धों) का त्याग, अनगार धर्म (व्रत संवर) का अंगीकरण, उत्कृष्ट संवर धर्म का स्पर्श, और (अप्रमाद तथा अकषाय संवर के बाद) केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति और तत्पश्चात् त्रिविध योगों का पूर्णतया निरोधरूप शैलेशी अवस्थाप्राप्त अयोग-संवर, जिसके फलस्वरूप पूर्णमुक्ति-सिद्धि। यह क्रम है--पूर्णसंवरसिद्धि का।[2]

---

१. जहा जहा अप्पतरो से जोगो, तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति, अच्छिद्दपोतस्स व अंबुणाधे॥ --बृहत्कल्पभाष्य ३९२६

२. देखें--दशवैकालिक अ. ४ गा. १४ से २५ तक।

संवर की बाँध कैसे बाँधें, कौन-से साधन या साधना अपनाएँ?

प्रश्न होता है--संवर की बांध को बाँधने में कौन-कौन से साधन होने चाहिए? तथा किन-किन साधनों का उपयोग किस-किस प्रकार से करना चाहिए?

एक इंजीनियर जब बाँध बनाता है तो अपनी अनुभवयुक्त बुद्धि से पहले उसका नक्शा बनाता है, फिर उसमें किन-किन साधनों (मिट्टी, पानी, औजार, उपकरण, परिश्रम आदि) की आवश्यकता पड़ेगी, इसकी सारी सूची बनाता है, इस्टीमेट तैयार करता है और अमुक समय में सुदृढ़ बाँध बनाकर तैयार कर देता है, और नदी में आने वाली बाढ़ को रोककर, उसके पानी का मार्गान्तरीकरण कर देता है, उसके बहने के मार्ग को परिवर्तित कर देता है, कहीं-कहीं पानी बहने में रुकावट आती हो, कचरा-गंदगी अधिक हो तो उसका शुद्धीकरण (उदात्तीकरण) भी करता है।

कर्मविज्ञानमर्मज्ञ जागृत आत्मारूपी इंजीनियर आस्रवों की बाढ़ को रोकने के लिए संवर की बाँध बनाते समय ठीक इसी प्रकार की योजना बनाता है। मन में संकल्प करता है, जागृतिपूर्वक संवर की साधना प्रारम्भ करता है।

संवर की दृढ़ साधना से ही मजबूत बांध बन सकेगी

संवर की भी एक साधना है। बिना साधना के संवर की सिद्धि नहीं हो सकती। केवल यह जान लेने से कि आस्रवों का निरोध करना संवर है, अथवा इतना कह देने मात्र से या आस्रवों को केवल जान लेने भर से संवर कहीं हो जाएगा।

संवर की साधना के लिए जब मनुष्य प्रवृत्त होगा, तब सबसे पहले जिन-जिन आस्रवों ने उसके मन, वचन, काया और चित्त, बुद्धि, प्राण और हृदय में जड़ जमा रखी है, जो इन्द्रियाँ आस्रवों को लाने में अभ्यस्त हो गई हैं; उनसे संघर्ष करना पड़ेगा।

संवर की बाँध बनाने के लिए भी पहले आस्रवों को भलीभांति जानना होगा। फिर वे आस्रव कहाँ-कहाँ अपना मोर्चा लगाए हुए हैं? उनका चक्रव्यूह कहाँ-कहाँ किस-किस रूप में काम कर रहा है? इसे भलीभाँति जानना होगा। उनके साथी एवं सहायक कौन-कौन बने हुए हैं? इन सब बातों को जानने के पश्चात् साहसपूर्वक उनको उखाड़ने और हटाने के लिए अथवा उनके साथियों और सहायकों में घुसे हुए दोषों के परिमार्जन के लिए संघर्ष करना होगा। साहस किये बिना संवर का बाँध नहीं बन सकता।

संवर की दृढ़ साधना ऐसे हो सकती है

मन, वचन, काया आदि कर्मों के आगमन (आस्रव) में सहायक हैं, उनके साथ राग, द्वेष, कषाय, मोह, आसक्ति, प्रमाद आदि दोष लगकर उन्हें आस्रवों की बाढ़ को लाने में अभ्यस्त तथा उत्तेजित करते हैं, उनका परिमार्जन करने पर ही संवर की सुदृढ़ बाँध बन सकेगी। इन आन्तरिक अवांछनीयताओं को हटाकर उनके स्थान पर उत्कृष्टताओं की स्थापना करने के प्रयोग का नाम ही साधना है।

जीव नाना योनियों और गतियों में परिभ्रमण करते हुए जिन पाशविक एवं दानवीय वृत्ति-प्रवृत्तियों से अभ्यस्त होता है, उन्हें घटाये-हटाये बिना अप्रमत्त साधक की गरिमा के अनुरूप संवरनिष्ठा की साधना यथार्थरूप से नहीं हो सकती।

वास्तव में, आत्मा जब विभावों और परभावों से दूर रहकर अथवा विभावों और परभावों में अपने मन-वचन, इन्द्रिय, प्राण आदि साधनों को प्रवृत्त होते हुए रोककर (निवृत्त होकर) स्व-भाव में–आत्मस्वरूप में अथवा आत्मा के निजी गुणों में प्रवृत्त होता है, तभी भाव-संवर की साधना हो सकती है।

पुराने जीर्ण-शीर्ण, कच्चे, तथा हवा और प्रकाश से रहित अन्धकारयुक्त अयोग्य मकान के स्थान पर नया सुदृढ़ तथा हवा एवं प्रकाश वाला मकान बनाने के लिए पुराने अन्धकारयुक्त मकान को तोड़ना-गिराना पड़ता है, तथा नये सिरे से नींव खोदनी पड़ती है, पुराने मकान में क्या-क्या दोष या कमी थी, उसे जानना पड़ता है।

इसी प्रकार आम्रवों से विकृत, दुर्बल तथा सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन के प्रकाश-पवन से रहित बने हुए जीवन भवन की मन-वचन-कायरूप दीवारों, छतों आदि को गिराना एवं हटाना आवश्यक है, ऐसा किये बिना संवर का सुदृढ़ जीवन भवन स्थापित नहीं हो सकता।[1]

नैतिक साहसी व्यक्ति दृढ़तम संवरसाधना कर सकते हैं, साहसहीन नहीं

कई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से समर्थ होते हैं, कई बौद्धिक दृष्टि से सक्षम होते हैं, कई मानसिक दृष्टि से सुयोग्य विचारक होते हैं, परन्तु उनमें नैतिक हिम्मत नहीं होने से वे किसी भी महत्वपूर्ण आध्यात्मिक कार्य को करने से कतराते हैं। वे आवश्यक साहस जुटा कर यथायोग्य कदम नहीं उठा पाते। विविध शंका-कुशंकाओं से ग्रस्त रहने तथा वितर्क-कुतर्कों से घिरे रहने से, पद-पद पर उन्हें आध्यात्मिक कार्यों में असफलताएँ और असम्भावनाएँ डराती रहती हैं। जरा-सी कठिनाई अथवा विपत्ति आने पर वे घबराने और डरने लगते हैं। उनके पैर उस महत्वपूर्ण कार्य को करने में लड़खड़ाते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक प्रगति के लिए संवर-साधना का उपयुक्त अवसर सामने आने पर भी उसे खोते रहते हैं और विविध कुकल्पनाओं के जाल बुनते रहते हैं।

इसके विपरीत साहसी और मनोबली व्यक्ति स्वास्थ्य, शिक्षण, साधन एवं उपयुक्त अवसर न होने पर भी साहसपूर्ण कदम उठाते हैं, और भौतिक या लौकिक (व्यावहारिक) क्षेत्र में भी आशातीत सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

इसी प्रकार आध्यात्मिक एवं लोकोत्तर क्षेत्र में भी शारीरिक स्वस्थता, बौद्धिक क्षमता, साधनों तथा उपयुक्त अवसर के अभाव में भी श्रद्धा और निष्ठापूर्वक आम्रवों से

१. अखण्डज्योति जनवरी १९७६ से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण पृ. ७५

जूझकर उन्हें खदेड़ देते हैं, संवर की दृढ़ भूमिका स्थापित कर देते हैं। बाहरी शत्रुओं से लड़ने के लिए जितना साहस, शौर्य, तथा युद्ध-कौशल चाहिए, उतना ही शौर्य, साहस एवं आध्यात्मिक युद्ध कौशल आत्मा में जबरन घुस जाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रमाद, अज्ञान आदि आस्रव के स्रोत रूप आन्तरिक शत्रुओं से जूझने और उन्हें परास्त करके खदेड़ने के लिए आवश्यक है।[1]

संवर साधकों को भ. महावीर का आन्तरिक युद्ध का आह्वान

भगवान् महावीर ने संवरसाधकों को इस आन्तरिक युद्ध के लिए आह्वान करते हुए कहा–(हे साधक !) इसी (कर्म-शरीर या कर्मशत्रु) के साथ युद्ध कर। बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध करने में तुझे क्या मिलेगा ? आन्तरिक (भाव) युद्ध के योग्य (साधन या कौशल) अवश्य ही दुर्लभ हैं। जैसे कि मार्गदर्शन-कुशल (तीर्थंकरों) ने इस (भावयुद्ध) के लिए परिज्ञा और विवेक, (ये दो शस्त्र) बताए हैं।

इसका रहस्योद्घाटन करते हुए वृत्तिकार कहते हैं–"लोकव्यवहार में सिंह के साथ लड़ना, बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध करना, या किसी को पछाड़ना तो सुगम है, किन्तु आन्तरिक शत्रुओं के साथ जूझना बहुत कठिन है।"

भगवान् कहते हैं–"यहाँ पूर्वोक्त प्रकार का बाह्ययुद्ध नहीं करना है, अपितु आन्तरिक युद्ध करना है। यहाँ आत्मा के गुणों को विकृत एवं आवृत करने वाले आन्तरिक शत्रुओं–कर्मों या कर्मशरीर से लड़ना है। यह औदारिक शरीर, जो मन, वचन और इन्द्रियों के शस्त्र लिये हुए है; कषायों और राग-द्वेषों से मिलकर जो तुम्हें संसार परिभ्रमण कराता है, जो विषय-सुखलिप्सु और स्वेच्छाचारी बनकर तुम्हें नचा रहा है, उसके साथ लड़ो, और कर्मों तथा कर्मशरीर के साथ युद्ध करो। वही वृत्तियों के माध्यम से तुम्हें अपना दास बना रहा है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर, माया (छल-कपट) मोह आदि सब कर्मशत्रु की सेना है। इसलिए तुम्हें कर्म-शरीर (कर्म) और स्थूलशरीर के साथ आन्तरिक युद्ध करके कर्मशत्रुओं को परास्त करना है । किन्तु इस भाव-युद्ध के योग्य सामग्री का प्राप्ति होना अत्यन्त दुष्कर है।"

आन्तरिक (भाव) युद्ध के लिये दो शस्त्र बताए हैं–परिज्ञा और विवेक। परिज्ञा से साधक-बाधक वस्तु का सर्वतोमुख ज्ञान करना है और विवेक से उसके (बाधक के) पृथक्करण का दृढ़ साहस एवं दृढ़ मनोभाव करना है।[2]

---

१. अखण्डज्योति जनवरी १९७६ से किंचिद् भावांश ग्रहण, पृ. ७५

२. (क) इमेणं चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ? जुद्धारिहं खलु दुल्लहं। जहेत्थ कुसलेहिं परिण्णा-विवेके भासिते। –आचारांग श्रु. १, अ. ५, उ. ३
(ख) आचारांगसूत्र (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) श्रु. १, अ. ५, उ. ३, सू. १५९ का विवेचन, पृ. १६४-१६५

संवर के लिए भाव-विवेकरूपी शस्त्र

विवेक भी कई प्रकार का होता है। गेहूँ आदि धान्यों से कंकरों को अलग कर देना धान्य-विवेक है। इसी प्रकार धन, धाम, देह, गेह, परिवार, मन, इन्द्रियाँ आदि से आत्मा को पृथक करने का चिन्तन परिग्रहादि विवेक है। कर्म से आत्मा के पृथक्त्व की दृढ़ भावना करना कर्म-विवेक है। ममत्व, राग, द्वेष, कषाय आदि आस्रव-करणों से या विभावों से आत्मा को पृथक् समझना भाव-विवेक है। संवर एक प्रकार का भावविवेक है। भगवान् महावीर ने विवेक में धर्म कहा है।"[1]

परिज्ञा के सूत्र

परिज्ञा के सम्बन्ध में आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत श्रमण सूत्र के कुछ सूत्र ये हैं–

असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपवज्जामि।
अबंभं परियाणामि, बंभ उवसंपवज्जामि।
अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपवज्जामि।
अन्नाणं परियाणामि, नाणं उवसंपवज्जामि।
अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपवज्जामि।
मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपवज्जामि।
अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसंपवज्जामि।
उम्मग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपवज्जामि।

अर्थात्–"मैं असंयम को भलीभांति जानकर उसका परित्याग करता हूँ और संयम का स्वीकार करता हूँ। अब्रह्मचर्य को सम्यक् प्रकार से जानकर उसका परित्याग करता हूँ और ब्रह्मचर्य को, अंगीकार करता हूँ। अकल्पनीय पदार्थ को सम्यक् प्रकार से जानकर उसका परित्याग करता हूँ और कल्पनीय पदार्थ का स्वीकार करता हूँ। अज्ञान को भलीभाँति जानकर कर उसका त्याग करता हूँ और सम्यग्ज्ञान का स्वीकार करता हूँ। अक्रिया (साम्परायिक कुक्रिया) को जानकर उसका परित्याग करता हूँ, और सम्यक् क्रिया (ईर्यापथिक) को स्वीकार करता हूँ। मैं मिथ्यात्व को भलीभाँति जानकर उसका परित्याग करता हूँ और सम्यक्त्व का स्वीकार करता हूँ। मैं अबोधि को सम्यक् प्रकार से जानकर उसका परित्याग करता हूँ और बोधि को अंगीकार करता हूँ। मैं उन्मार्ग (संसार मार्ग) को भलीभाँति जानकर उसका परित्याग करता हूँ और सन्मार्ग (मोक्ष-मार्ग) को अंगीकार करता हूँ।"[2]

---

१. (क) देखें–आचारांग (जैन आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) श्रु. १, अ. ५, उ. १ के सूत्र १६० की व्याख्या, पृ. १६५
(ख) ···· एस महंविवेगे वियाहिते। – वही, अ. ८ उ. १ सू. २०२ पृ. २४५

२. श्रमणसूत्र पंचम।

यह है–आम्रव के सहायकों और संवर में बाधक कारणों को ज्ञपरिज्ञा से सम्यक् जानने और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से परित्याग करने के पश्चात् संवर में सहायक एवं साधक कारणों के स्वीकार का सर्वोत्तम उपाय।

आम्रवों से संघर्ष करके निरस्त करने पर ही संवर की स्थापना

संवर-साधना द्वारा आत्म-स्वभाव में स्थिर होने के लिए जहाँ गुप्ति, समिति, क्षमादि दशविध धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों पर विजय और सामायिक आदि पंचविध चारित्र का पालन-आचरण करना और दृढ़तापूर्वक श्रद्धानिष्ठा के साथ अपनाना जितना अभीष्ट एवं आवश्यक है, वहाँ अव्रत, कषाय, इन्द्रियविषय, क्रिया एवं योग आदि आम्रव सहायक प्रवृत्तियों को उखाड़ फेंकने के लिए अथवा उन्हें रोकने के लिए उतनी ही तत्परता और साहसिकता बरतना भी आवश्यक है।

भगवद्गीता के अनुसार वैष्णव (भागवत) धर्म में अवतार के प्रसिद्ध प्रयोजन मुख्यतया दो बतलाए गए हैं–(१) अधर्म का उन्मूलन और (२) धर्म का संस्थापन।

इन्हें ही दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है–अनाचरणीय को निरस्त करके सदाचरणीय की स्थापना करना।

व्यवहार चारित्र का लक्षण भी यही बताया गया है–अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र समझो। उद्यान को विकसित करने के लिए वृक्षारोपण करने तथा जलसिंचन एवं खाद देने से पूर्व माली को उस जमीन की निराई, गुड़ाई, छंटाई, रखवाली जैसी कठोर सत् प्रवृत्तियाँ अपनानी पड़ती हैं।[1]

संवर में दृढ़तापूर्वक पराक्रम ही साधना को सुदृढ़ बनाने का उपाय

जिसके अन्तःकरण में संवर की दिव्यज्योति का अवतरण करने की अभीप्सा जागृत हो गई है, उसे आम्रवों की अवांछनीयताओं के विरुद्ध लोहा लेने के लिए पराक्रम करना होगा, संवर में साधक–सहायक ५७ प्रकार के कारणों का अभ्यास एवं अभिवर्धन करने में जुटना होगा। ये दोनों प्रयोजन साथ-साथ चलते हैं, और आन्तरिक साहस द्वारा सम्पन्न होते हैं। संवर का कार्य आम्रवों से साहसपूर्वक संघर्ष करके उन्हें हटाना और रोकना है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के लिए पद-पद पर साहसपूर्वक संघर्ष करना होता है। साहसिक मनोभूमि के बिना किसी भी क्षेत्र में अभीष्ट सफलता प्राप्त करना

---

१. (क) स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः। –तत्त्वार्थसूत्र अ. ९/२
(ख) देखें, आम्रव के ४२ भेद, इसी निबन्ध में।
(ग) अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से भावांश पृ. ७६
(घ) गीता ४/७८
(ङ) असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं॥

कठिन है। इसी आन्तरिक समर्थता या आध्यात्मिक साहसिकता को जैनदर्शन में अनन्त (आत्मिक) शक्ति (अनन्त आत्मवीर्य) कहा है। इसी शक्ति का प्रकटीकरण, अथवा 'संयम (संवर) में पराक्रम' करने को भगवान् महावीर ने मनुष्यत्व, धर्मश्रवण और श्रद्धा से भी बढ़कर दुर्लभतम बताया है। इसी आत्मबल के सहारे से व्यक्ति प्राणवान् बनता है, विजय का सेहरा उसी के सिर पर चढ़ाया जाता है। प्राणवान् का अर्थ जीवित रहने वाला ही नहीं, परन्तु साहसी और पराक्रमी भी होता है।

ऐसी साहसिकता अथवा अध्यात्ममार्ग में संवर साधना के लिए पराक्रम आम्रवों को हटाने और रोकने में बाधा डालने वाली कठिनाइयों, भीतियों, शंकाओं और प्रलोभनों को चीरते हुए ही आगे बढ़ना सम्भव होता है। नौका पानी को चीरते हुए ही आगे बढ़ती है। इसी प्रकार संवर साधक को भी आम्रवों को एक बार सम्यक् प्रकार से जान लेने पर उनमें मन-वचन-काया को पिरोये बिना, उनकी ओर उपेक्षा करते हुए झटपट संवरमार्ग पर आगे बढ़ना होता है।[1]

दुर्बलमना साधक जानते हुए भी संवर साधना में पराक्रम नहीं कर पाते

जो व्यक्ति दुर्बल मनःस्थिति के होते हैं, वे संवर को सुदृढ़रूप से स्थापित करने का साहस और पराक्रम नहीं कर पाते। वे अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं को जानते हैं। आम्रवों के कारण आवृत होने वाली आत्मशक्तियों का वे अभिवर्धन करना चाहते हैं, इसके लिए वे आम्रवों को हटाना और रोकना चाहते हैं, परन्तु साहस और पराक्रम के अभाव में आम्रवों के साथ संघर्ष करने और उन्हें हटाने तथा रोकने का उपक्रम नहीं कर सकते।

ऐसे लोग आम्रव का तत्त्वज्ञान बहुत बघारते हैं, आम्रवों के आने के कारणों को भी जानते हैं और समय-समय पर गला फाड़कर जोर-जोर से चिल्लाते भी हैं कि 'आम्रव रूपी चोर आ रहे हैं, घुस रहे हैं, आत्मधन का हरण करने के लिए। पकड़ो इन्हें, भगाओ-खदेड़ो।' परन्तु वे स्वयं आम्रवों से जूझने और उन्हें परास्त करके खदेड़ने का साहस नहीं कर पाते। अन्ततः वे स्वयं को असहाय, असमर्थ एवं हीन अनुभव करते हैं और थक कर संवर के लिए प्रयत्न करना भी छोड़ देते हैं।

संवरों की भीड़ में आम्रव चोर संवररूप में

जैसे घर में घुसे हुए या घुसते हुए चोर को निकल भागते देख दुर्बल मन का मकान मालिक स्वयं चोर को पकड़ने और खदेड़ने के बदले जोर-जोर से चिल्लाता है–

---

१. (क) अखण्ड ज्योति जनवरी १९७५ से भावांश ग्रहण पृ. ७५
(ख) "चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुइसद्धा संजमम्मि य वीरियं।" –उत्तराध्ययन अ. ३ गा. १

"दौड़ो-दौड़ो, पकड़ो पकड़ो, चोर भगा जा रहा है"।[1] चालाक चोर भी उन्हीं शब्दों को दुगुने जोर से दुहराता है–"चोर-चोर, पकड़ो-पकड़ो, वह भागा जा रहा है।" इस प्रकार वह भी दूसरों की ओर चोर होने का इशारा करता जाता है और भले आदमियों की भीड़ में सम्मिलित हो जाता है। ऐसी स्थिति में भीड़ असली चोर को पकड़ने के लिए इधर-उधर भागती रहती है, पर वह किसी की पकड़ में नहीं आता। असली चोर तो चोर को पकड़ते वाले दुर्बलमन वाले सज्जन लोगों की पंक्ति में सिर उठाये खड़ा रहता है।[2]

ठीक इसी प्रकार दुर्बल मन वाले लोग आत्म-धनहर्त्ता आस्रव-चोर को पकड़ने के लिए केवल चिल्लाते हैं, पर स्वयं उसे पकड़ने का साहस नहीं कर पाते। आस्रव-चोर भी अधिकांश लोगों के जीवन में व्याप्त होने पर संवरों की भीड़ में मिल जाता है। असाहसिक लोग उसे ही संवर मानने और कहने लगते हैं। इस प्रकार जब तक अवाञ्छनीय आस्रवों की जड़ें काटने के लिए पराक्रम नहीं किया जाता, तब तक आस्रव किसी न किसी प्रकार से संवरसाधक की दुर्बलता के छिद्र देखकर घुस जाता है।

आस्रवों की जड़ें भी काटनी होंगी

आशय यह है कि संवर की सिद्धि के लिए केवल आस्रव के बाह्य कारणों को रोकने और उन्हें खदेड़ने से काम नहीं चलेगा। उससे आस्रवों के मूल स्रोत बंद नहीं होंगे। मूल स्रोतों को बंद किये बिना आस्रवों की जड़ें नहीं कटेंगी।

भगवान् महावीर ने आस्रव की जड़ों को काटने के लिए साधक को निर्देश किया है–"पहले कर्म का भलीभांति पर्यालोचन करके फिर उसकी जड़ों–(मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय और योगरूप कर्ममूलों) को उखाड़ने के लिए पराक्रम करो। कर्म का मूल हिंसा (उपलक्षण से असत्यादि पंचास्रव) है, उसका भलीभांति निरीक्षण करके परित्याग करो। इन सबको (कर्म और कर्म के मूल और उनको काटने के उपाय आदि को) सम्यक् प्रकार से विवेकपूर्वक ग्रहण कर (जानकर), राग और द्वेष इन दोनों अन्तों (सिरों) से अदृश्य (दूर) होकर रहे। मेधावी साधक कर्मों के आस्रवों को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से संवर में दृढ़तापूर्वक पराक्रम करे, (वैसा पराक्रम करते समय) लोकसंज्ञा (लोकैषणा, विषयैषणा, वित्तैषणा) का परित्याग अवश्य करे।[3]

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त परिज्ञा और विवेक इन दोनों दूरवीक्षण यंत्रों से संवरों की भीड़ में घुसे हुए आस्रवों को भलीभांति जाना जाए और

---

१. अखण्ड ज्योति, मार्च १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. ३०

२. अखण्ड ज्योति मार्च १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. ३०

३. "कम्मं च पडिलेहाए, कम्ममूलं च जं छणं पडिलेहिय, सव्वं समायाय, दोहिं अंतेहिं अविस्समाणे तं परिण्णाय मेधावी विदित्ता लोगं, वंता लोग सण्णं से मेधावी (मतिमं) परक्कमेज्जासि ॥'
'–आचारांगसूत्र श्रु. १ अ. ३ उ. १ सू. १११

उनकी जड़ों को उखाड़ने का पराक्रम किया जाए, गेहूँ के कणों में से कंकरों को निकालने की तरह संवर के साथ घुसे हुए आस्रव को चुन-चुनकर निकालने का अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ किया जाए।

संवरों की भीड़ में प्रविष्ट आस्रवों को ही मनुष्य संवर समझ लेता है। जैसे– आस्रव की एक जड़ है–(मिथ्यात्व) मिथ्या दृष्टि। अधिकांश मानव अपने सम्प्रदाय एवं मत-पंथ की गलत परम्परा को मिथ्या समझते हुए भी, पूर्वाग्रहवश पकड़े रखता है, उसी गलत परम्परा का प्रचार करने में अपने पंथ या सम्प्रदाय का गौरव समझता है। जैनदर्शन में उसे गृहीतमिथ्यात्व कहा है।

जैसे किसी व्यक्ति ने पशुबलि (या बकरे आदि पशु की कुर्बानी) को धर्म समझ लिया, जो कि सरासर हिंसाजनक पाप (अधर्म) है। इस परम्परागत अधर्म को धर्म समझना गृहीतमिथ्यात्व है। परन्तु वह उसे सम्यक् (सम्यक्त्व एवं धर्म) समझकर पकड़े रहता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति अज्ञानता, मूढ़ता या जड़ बुद्धि के वश किसी सत्य बात को ग्रहण ही नहीं करता या ग्रहण ही नहीं कर पाता। वह धर्म क्या है, अधर्म क्या है ? इसे बिलकुल नहीं समझता। इस प्रकार के अगृहीत-मिथ्यात्व को भी कई व्यक्ति नहीं समझने के कारण सम्यक्त्वसंवर को पहचान नहीं पाते।[1]

इसी प्रकार कई लोगों की (आस्रव) असंयम के कार्यों में रति (आसक्ति) होती है, उसको वे संयम (संवर) कार्य समझकर उसमें धड़ल्ले से प्रवृत्त होते हैं। उदाहरणार्थ– किसी की निन्दा करना, किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना, किसी को बदनाम करना, किसी निर्दोष को मारना-पीटना, लड़ना-झगड़ना या सताना हिंसा है, आस्रव है, परन्तु अपने माने हुए सम्प्रदाय, पंथ या मत की उन्नति, जाहोजलाली एवं गौरववृद्धि के लिए दूसरे मत, पंथ या सम्प्रदाय की या उसके अनुयायी की निन्दा करना, मिथ्या आक्षेप या दोषारोपण करना, बदनाम करना या उसे मारना-पीटना, सताना आदि हिंसाजनक आस्रवकार्य को संवर (धर्म) समझकर प्रवृत्ति करना, किन्तु स्वयं धर्म के अहिंसा, सत्यादि अंगों को जीवन में उतारने का जरा भी पुरुषार्थ न करना, असंयम (अव्रत) में रति और संयम में अरति है।

भगवान् महावीर ने अविरति संवर के साधकों को मार्ग निर्देश करते हुए कहा– "वीर (पराक्रमी) पुरुष न तो संयम में अरति को सहन करता है और न ही असंयम में रति को सहन करता है। चूँकि वीर पुरुष विरतिरूप संवर (संयम) के प्रति अन्यमनस्क नहीं होता, इसलिए असंयम (अविरतिरूप आस्रव) में भी अनुरक्त नहीं होता।[2]

१. संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं। –धवला १/११९/गा. १०७
–भगवती आराधना मू. ५६

२. (क) अधम्मे धम्म सन्ना। –स्थानांग स्थान १०
(ख) नारइं सहई वीरे, वीरे न सहई रतिं। जम्हा अविमणे धीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ।
–आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. ६

इसी प्रकार संवर धर्म की साधना करने वाला व्यक्ति प्रतिक्षण जागरूक, सावधान और अप्रमत्त होकर रहता है। जो संवरसाधक प्रमादी होता है, वह सामायिक, प्रतिक्रमण, तपश्चर्या, व्रत, चारित्र आदि संवर कार्यों के साथ यशकीर्ति, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, लौकिक कामना, सांसारिक सुखभोगेच्छा आदि आस्रवों को भी प्रविष्ट होने देता है। फलतः उसकी संवर साधना आस्रवमिश्रित होकर दूषित एवं अतिचारयुक्त हो जाती है। इस प्रकार संवर प्रायः दूषित होता है, साधक के प्रमाद, असावधानी और अविवेक के कारण। भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में साधकों को जागरूक एवं अप्रमत्त रहने का निर्देश देते हुए कहा–"यह अप्रमाद संवर का मार्ग आर्यों (तीर्थंकरों) ने बताया है, संवरसाधना के लिए साधक उत्थित (उद्यत) होकर प्रमाद न करे।"

अप्रमाद संवर के पथ पर चलने के लिए साधक को प्रतिपल एक सजग प्रहरी की भांति सतर्क और सचेष्ट रहना पड़ता है। विशेषतया उसे स्थूल शरीर पर ही नहीं, सूक्ष्म कार्मण शरीर पर विशेष देखभाल रखनी होती है। इसकी प्रत्येक गतिविधि को बारीकी से जांच-परख कर आगे बढ़ना होता है। यदि अष्टविध प्रमाद में से कोई भी प्रमाद जरा भी भीतर घुस आया तो वह आत्मविकास की गति-प्रगति को ठप्प कर देगा।

इसलिए प्रमाद के मोर्चों पर बराबर निगरानी रखनी चाहिए। जैसे-जैसे साधक अप्रमत्त होकर स्थूल शरीर की क्रियाओं तथा उससे मन, वचन और इन्द्रियों पर होने वाले प्रभावों को देखने का अभ्यास करता जाता है, वैसे-वैसे कार्मण शरीर की गतिविधि को देखने की शक्ति भी आती जाती है। यों शरीर के सूक्ष्मदर्शन का दृढ़ अभ्यास होने पर अप्रमाद की गति में वृद्धि होती है और शरीर से प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा की उपलब्धि होने लगती है। यही अप्रमाद संवर साधना का राजमार्ग तीर्थंकरों ने बताया है।[1]

अकषायसंवर की साधना में साधक को बहुत ही जागरूक रहकर क्षमा आदि दश धर्मों का अभ्यास करना चाहिए। यदि साधक क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त नहीं करता है। कोई उसका जरा-सा अपमान कर दे या उसके धर्म सम्प्रदाय के विषय में सुधार की या यथार्थ बात कहता है तो वह झल्ला उठता है, बौखला जाता है और व्यर्थ ही

---

१. (क) देखें–आवश्यक सूत्र में सामायिक के १० मन के, १० वचन के, १२ काया के, यों ३२ दोषों का कथन।
(ख) देखें–आवश्यक सूत्र में १२ व्रतों, संल्लेखना, पौषध, सामायिक आदि के अतिचारों का उल्लेख।
(ग) दशवैकालिक सूत्र अ. ९ उ. ४ में तपःसमाधि और आचारसमाधि के लिए निषिद्ध निर्देश।
(घ) 'एस मग्गो आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए नो पमायए।' –आचारांग श्रु. १, अ. ५, उ. २
(ङ) आचारांग (–आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) श्रु. १, अ. ५, उ. २ के सू. १५२ का विवेचन पृ. १५४

उस पर दोषारोपण करने, उसे बदनाम करने या उससे बदला लेने के लिए उत्तेजित हो जाता है तो अकषायसंवर की साधना में कषाय आस्रवों की भीड़ उसके इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन को कर्मों से कलुषित कर देगी। इसलिए बहुत ही दृढ़ता के साथ चारों कषायों पर विजय प्राप्त करने का पराक्रम करना चाहिए।

और अयोग-संवर का भी दैनिकचर्या में यथाशक्ति अभ्यास करते रहना चाहिए। वचनगुप्ति, मनोगुप्ति और कायगुप्ति, कायोत्सर्ग, इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, मौन, ध्यान, एकाग्रता आदि इसके प्रबल साधन हैं। इनका अभ्यास करते रहना चाहिए। मन, वचन, काय विपरीत मार्ग पर या विषयों के प्रति राग-द्वेष आदि के मार्ग पर जा रहे हों तो तुरंत उनकी लगाम खींच कर प्रतिक्रमण या प्रत्याहार करना चाहिए। कम से कम अशुभयोग से तो मन, वचन, काया को सदैव दूर रखना चाहिए।

योगदर्शन के अनुसार "दीर्घकाल तक निरंतर सत्कार और श्रद्धापूर्वक (संवरसाधना का) सेवन (अभ्यास) करने से (संवर की) दृढ़भूमिका स्थापित हो सकती है।[1]

दूसरी दृष्टि से भी संवर साधना का अभ्यास करके उसकी बांध को सुदृढ़ बनाया जा सकता है। पहले हम आस्रव के ४२ भेदों का[2] निरूपण कर चुके हैं। उन आस्रवों का एक ओर से परिज्ञा और विवेक करें, अर्थात् संवरों के साथ में वे मिले हुए हों तो उन्हें भलीभांति जानकर उनका त्याग करें, उन्हें निकाल कर बाहर करें अथवा उखाड़ फैंकें।

जैसे किसान अंकुरित पौधों के साथ उगे हुए निरर्थक घास, तृण या कंटीले पौधों को उखाड़ फैंकता है तथा उस मिट्टी में मिले हुए कंकर, पत्थर आदि को निकाल कर बाहर करता है, उसी प्रकार आस्रवों को–यानी आस्रव के ४२ कारणों को भलीभांति जानकर उनको निकाल बाहर कर दें। उसमें से कुछ का उन्मूलन कर दें, कुछ को रोक दें। और उनके स्थान पर ५७ भेदों[3] वाले संवर की स्थापना करें।

आस्रव के ४२ भेद इस प्रकार हैं–अव्रत के हिंसादि पांच, कषाय के चार, इन्द्रिय विषय पर रागद्वेष के पांच तथा पच्चीस क्रियाएँ तथा मन, वचन, काय–त्रिविध योग।

---

१. स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।' –योगदर्शन पाद १ सू. १४।

२. देखें–आस्रव के ४२ भेदों का निरूपण–तत्त्वार्थसार ४/७, नवतत्त्व गाथा में–५ इन्द्रिय, ४ अव्रत, २५ क्रिया और ३ योग।

३. (क) समिति-गुत्ति-परिसह जइ-धम्मो-भावणा-चरित्ताणि।
पण-ति-दुवीस-दस-बारस-पंचभेएहि सत्तवन्ना ॥ – नवतत्त्व प्र. गा. ३५

(ख) ५ समिति, ३ गुप्ति, २२ परीषहजय, १० श्रमणधर्म, १२ अनुप्रेक्षाएँ –भावनाएँ और ५ प्रकार का चारित्र, ये सब मिल कर संवरसिद्धि के ५७ भेद हैं।
–जैनतत्त्वकलिका क. ५ पृ. ९८

इनमें मिथ्यात्व को हटा कर सम्यक्त्व पोषक क्रिया की स्थापना करे, मन वचन काया के योगों का निरोध करके पांच समिति तीन गुप्ति की स्थापना करे, कषाय के निरोध के लिए दशविध श्रमणधर्म की स्थापना करे। इन्द्रिय-विषयों के प्रति रागद्वेषरूप आस्रव को हटाने के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं को स्थापित करे। अव्रत के स्थान पर पांच प्रकार के चारित्र की स्थापना करे, व्रत एवं संयम का पालन करे। पच्चीस क्रियाओं के निराकरण के लिए बाईस प्रकार के परीषहों पर विजय तथा द्वादश अनुप्रेक्षाओं से मन वचन काया को भावित करे।

संवर के इन ५७ भेदों का आचरण करने से कर्मों के आगमनों (आस्रवों) की बाढ़ रुक जाएगी और संवर की सुदृढ़ बांध निर्मित हो सकेगी। धीरे-धीरे अभ्यास में वृद्धि होने पर आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त, अयोगी और सिद्ध-बुद्ध हो सकती है।[1] ■

---

१. (क) बाईस प्रकार के परीषह विजय के लिए देखें–उत्तराध्ययन सूत्र अ. २, तथा तत्त्वार्थसूत्र अ. ९/सू. ९ एवं जैन आचार ग्रन्थ

(ख) दशविध श्रमण धर्म–अत्तमः क्षमा मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्माः। – तत्त्वार्थ–९/६

(ग) अनित्याशरण-संसारैकत्वाऽन्यत्वाशुचित्वास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ धर्मस्वाख्यात तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः॥ –वही, ९/७

९

काय-संवर का स्वरूप और मार्ग

काया के प्रति एकांगी और गलत दृष्टिकोण : काय-संवर नहीं

काया का नाम लेते ही हमारे सामने हड्डी-मांस के एक ढाँचे की कल्पना आती है। शरीर को हाड़-माँस का पुतला कहकर बहुत ही नगण्य, तुच्छ और घृणित बताया गया है। कई धर्मशास्त्रियों ने इसे उपेक्षणीय, निन्दनीय एवं घृणाजनक माना है। अनेक पण्डितों ने इस शरीर को हराम का हाड़, अत्यन्त बुरा, त्याज्य, उपेक्ष्य एवं निन्द्य कहकर कोसा है। कई लोगों ने इसे नश्वर और असार तथा व्याधि-मन्दिर कहा है।

कई लोग इतना ही करके नहीं रह गए। उन्होंने शरीर को पाप का आयतन समझकर इसे झंपापात से, विषपान से, अथवा गले में फाँसी लगाकर शीघ्र से शीघ्र समाप्त करने का साहस भी किया है। उन्होंने शरीर को बिना ही किसी उद्देश्य के, किसी प्रकार के विवेक-विचार के बिना यों ही धुन में आकर भूखा रखने, इसे चिमटों या लोहे की मोटी सांकलों से प्रताड़ित करके अत्यन्त दुर्बल बनाने तथा इसका अन्त करने का दुष्प्रयास भी किया है।

ऐसे भी कई लोग हैं—जो शरीर की मूल आवश्यकताओं की बिलकुल उपेक्षा करके उसे गाली देते रहते, उसके विभिन्न अवयवों से कोई अपराध या दोष हो जाता तो उस अवयव को काट डालते, नष्ट कर देते और ऐसा करके वे यह समझते थे कि हमने शरीर के अमुक-अमुक अंग से होने वाले अपराध को समाप्त कर दिया।

कई लोग शरीर के द्वारा हुए अपराधों, पापों और दोषों के परिमार्जन के लिए अमुक-अमुक तीर्थों, नदियों अथवा जलाशयों में उसे नहलाते, शरीर से उसमें डुबकी लगाते और घंटों जलाशय में खड़े रहकर शरीर को स्नान कराते।

परन्तु शरीर के प्रति इस प्रकार की कठोरता अपनाने, उसके अंगोपांग को भंग कर देने या उस पर हद से ज्यादा ज्यादती करने से क्या शरीर से होने वाले पापों की शुद्धि हो गई ? अथवा शरीर से हो जाने वाले अपराधों और दोषों की समाप्ति हो गई ? क्या उपर्युक्त तरीकों से शरीर के प्रति उपेक्षा और घृणा करने से तथा उसकी निन्दा करने मात्र से शरीर का परित्याग हो जाता है ? अथवा शरीर का निरोध हो जाता है ?

मैं समझता हूँ; शरीर के प्रति इस प्रकार का अतिवादी और कठोर दृष्टिकोण अपनाने से शरीर का निरोध तो क्या होगा प्रत्युत उससे जो तप, जप, व्रताचरण, यम-नियम, तितिक्षा, परीषहजय आदि की साधना की जा सकती थी उसमें अवरोध उत्पन्न हो जाएगा।

चार्वाकादि मत समर्थक अतिभोगवादी दृष्टिकोण : काय-संवर से विपरीत

दूसरी ओर प्रत्यक्षवादी चार्वाक, नास्तिक, भोगी, विलासी एवं कामुक तथा पापाचरण परायण, आलसी एवं मूर्ख लोगों का दृष्टिकोण यह है कि इस शरीर से जितनी भी मौज-शौक कर सको करो, किसी प्रकार का कष्ट मत दो इसे। इसे खूब नहलाओ, धुलाओ, शृंगार और साजसज्जा के साथ इसे रखो। इसे अच्छे-अच्छे पौष्टिक पदार्थ खिलाओ, पिलाओ, कामभोगों का यथेष्ट सेवन करो। इस शरीर के नष्ट होने के बाद फिर कहीं न जाना है और न आना है। इसलिए शरीर को खूब मोटा-ताजा बनाओ और सुख से रहो। शरीर के प्रति इस प्रकार का एकान्त भोगवादी दृष्टिकोण भी एकांगी और भ्रान्तिपूर्ण है।

हीनताग्रस्त लोगों का काया के प्रति अति-असमर्थतामूलक दृष्टिकोण

कुछ लोग हीनभावना, कुण्ठा और दीनता की दृष्टि से शरीर को देखते-समझते हैं। वे लोग काया को हीन, दीन, पराश्रित, परसहायापेक्ष, नश्वर, आनन्द से रहित, घृणित और धरती के लिए भारभूत समझते हैं। उनका कहना है कि शरीर क्या है ? वह कष्ट, चोट, भूख-प्यास, शीत, ताप आदि से पद-पद पर व्याकुल हो जाता है। अपनी सहायता और सुरक्षा के लिए अन्न, वस्त्र, मकान, चिकित्सा, सेवा, सहायता, शिक्षण-संस्कार, आदि पर निर्भर रहने वाला शरीर कितना असहाय और असमर्थ है ? इस शरीर की हंसी-खुशी और प्रगति दूसरों की कृपा पर ही तो निर्भर है।

जिस शरीर को जीवित रखने के लिए स्वयं को सदैव पराश्रित, दीन, दुर्बल रखा जाता है। इसी शरीर के तीन पड़ाव होते हैं—बचपन, जवानी और बुढ़ापा ! बाल्यावस्था खेलकूद में और युवावस्था रंगीन विषयोन्माद में तथा चंचलता और अतृप्ति में बीतती है। फिर आ जाती है, शरीर की वृद्धावस्था। इसमें शरीर की, अंगोपांगों की और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती है। बुढ़ापे में शरीर की स्थिति निरर्थक और उपेक्षित हो जाती है। इस जराजीर्ण वृद्ध काया पर आँखों में मोतियाबिंद, कमर और घुटनों में दर्द, खाँसी और अनिद्रा जैसी व्याधियाँ घायल गधे पर उड़कर कौए द्वारा बार-बार चोंच मारने की तरह आक्रमण करने लगती हैं। अपाहिज और अपंग की तरह इस जीर्ण-शीर्ण शरीर को लेकर जिन्दगी काटना कितना भयावह है ! शरीर का यह घिनौना और डरावना रूप देखकर रोम-रोम काँपने लगता है।

अगर यह शरीर परमात्मा का निवासस्थान होता तो इतना पराश्रित, दुर्बल, असहाय, घृणित और असमर्थ कैसे होता है ? इसमें न तो कोई स्थायित्व का निश्चय है, अर्थात् यह नश्वर है, क्षणभंगुर है, किसी भी समय नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है, समाप्त हो सकता है ! और न ही इस शरीर में कोई आनन्द, उल्लास, संतोष, शान्ति और चैन है।

चार्वाक आदि नास्तिकों के प्रतिपादन के अनुसार पंचभूतों से बना हुआ यह शरीर पानी के बुलबुले की तरह उत्पन्न होकर नष्ट होने वाला और फिर विस्मृति के गर्त में समा जाने वाला है। न तो इसके पीछे का कोई अता-पता रहेगा और न आगे का। यदि ऐसा ही यह शरीर है तो यह गर्व या गौरव किया जाने वाला कोई तत्त्व नहीं है, प्रत्युत अपने और इस धरती के लिए भारभूत है ! फिर पवित्र अन्न को खाकर घृणित मल में परिवर्तित करते रहने वाले कोटि-कोटि छिद्रों वाले इस कलेवर से दुर्गन्ध और मलिनता बिखेरने वाला यह अस्पृश्य और घिनौना शरीर किस काम का ?

जिस सुन्दर शरीर पर मोह करके उसे अच्छा-अच्छा खिलाया-पिलाया, सुन्दर-वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित किया, सुगन्धित पदार्थों से सुवासित किया, सौन्दर्य प्रसाधनों से प्रसाधित किया, और तो क्या, जिस शरीर के प्रति पूरी तरह मानव समर्पित हो गया, जिसके साथ घुल-मिल गया, वही पालित-पोषित शरीर मौत के एक ही थपेड़े में कितना निरर्थक, घृणित, कुरूप और विकृत हो जाता है ! इसे देखकर रोमांच हो जाता है।[1]

ऐसा ही नाशवान्, अन्तवान् शरीर है, जिसका परिणाम अकस्मात् मृत्यु है; जो तेजी से आँधी-तूफान की तरह उमड़ती-घुमड़ती चली आ रही है ! और मृत्यु के बाद इस शरीर को घर से हटा देने, नहीं-नहीं, सदा के लिए इस शरीर का अस्तित्व मिटा देने के लिए उससे सम्बन्धित परिजन-स्नेहीजन आतुर हो उठते हैं।

हाय ! यह मृत काया अब कैसी दयनीय, मलिन एवं घिनौनी बनी जमीन पर डाल दी जाती है। अब तो यह पलंग और बिस्तर पर सोने का भी अधिकार खो बैठती है। अब कोई चिकित्सक इसका इलाज करने को तैयार नहीं होता। कोई बेटा-पोता अब गोदी में नहीं आता। पत्नी छाती-माथा तो कूटती है, पर पास आने से डरती है। इस शरीर से सम्बद्ध जो भी धन, साधन, अधिकार, सम्मान और अपनापन था, वह सब छिन जाता है। मेरे कहलाने वाले लोग भी शरीर के नष्ट होते ही दुर्गति के साथ घर से निकाल देते हैं, सर्वस्व छीन कर। इस शरीर से सम्बद्ध परिवार, घर, तथा मान-सम्मान के लिए जितने भी अरमान संजोए थे, जितना भी पुरुषार्थ किया था, वह सब मिट्टी में मिल जाता है !

---

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७२ में प्रकाशित लेख : "क्या मैं शरीर ही हूँ, उससे भिन्न नहीं ?" से भावांश ग्रहण पृ. ३, ४, ५

जिस शरीर को लेकर मनुष्य बड़े अरमानों के साथ जीता है, शरीर और शरीर से सम्बद्ध जीवन और परिवार के लिए बहुत कुछ संजोता-संभालता है, पर शरीर मृत होते ही वह सारी दौड़धूप निरर्थक हो जाती है। काया तक भी उसका साथ नहीं देती। जिस काया के सुख-दुःख को शरीरधारी अपना सुख-दुःख समझता है, वह अपनी काया भी उसके लिए पराई हो जाती है। जब देहधारी की अभिन्न सहचरी काया भी साथ छोड़कर चली जाती है, तब माया और अन्य सब सम्बन्धित नर-नारी भी साथ छोड़ दें, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

काया का अन्त होने पर कुछ अर्से तक उसकी छवि (फोटो) के रूप में उसे याद किया जाता है। श्राद्ध, तर्पण आदि का सिलसिला भी कुछ अर्से तक चलता है। दो-तीन पीढ़ी तक बेटे-पोतों को इस शरीर का नाम याद रहता है। फिर स्मृति धुंधली हो जाती है। फिर इस शरीर का नाम-निशान भी मिट जाता है।[1]

ऐसी असमर्थता एवं हीनता से ग्रस्त लोग शरीर से कुछ भी संवर संयम नहीं कर पाते

ऐसे हीन-भावनाग्रस्त लोग शरीर की असमर्थता, अक्षमता और दीन-हीनता का रोना रोकर इस प्रकार के एकांगी दृष्टिकोण के कारण जिंदगीभर कुछ नहीं कर पाते और यों ही शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं के प्रति मोह-ममत्व, अहंकार-ममकार तथा सांसारिक पदार्थों की लालसा-तृष्णा की मृग-तृष्णा में भटकते हुए सदैव अतृप्त, असन्तुष्ट एवं असमर्थ बने रहते हैं।

ऐसे एकांगी दृष्टिकोण वाले लोग जिंदगीभर अपने दुःख-दौर्भाग्य का रोना रोते रहते हैं, मरते समय तक शरीर से किसी प्रकार का त्याग, तप, नियम-व्रतपालन, तितिक्षा, धर्मपालन के लिए कष्ट सहन, संवर और संयम नहीं कर पाते। वे आजीवन शरीर को लेकर मोह-ममत्व, लालसा-तृष्णा के झूले में झूलते रहते हैं।

शरीर के प्रति अध्यात्म साधकों का काय-संवर मूलक स्पष्ट दृष्टिकोण

इन सभी अतिवादी और एकांगी दृष्टिकोणों के अतिरिक्त अध्यात्म-साधकों का शरीर के प्रति अनेकान्तवादी तथा संवरमूलक एक स्पष्ट दृष्टिकोण है। उन्होंने कहा—शरीर धर्म-पालन के लिए प्रथम साधन है।[2] यही परमात्मा-शुद्ध आत्मा के विराजमान होने का पवित्र स्थान है; पवित्र प्रभु-मन्दिर है।

आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों को प्रकट करने के लिए, तप, संयम, संवर, क्षमा, दया, मृदुता, ऋजुता आदि धर्मों के आचरण द्वारा अध्यात्मविकास के लिये शरीर एक

---

१. वही, मार्च १९७२ में प्रकाशित लेख से, पृ. ४

२. 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।'

उत्तम साधन है। शुभ और शुद्ध (अबन्धक) कर्म करने के लिए भी शरीर श्रेष्ठ माध्यम है।

इसलिए अध्यात्म मनीषियों ने कहा–"इस शरीर को न तो केवल कष्ट देकर या अंगों को तोड़ना-फोड़ना या अत्यन्त कृश करना चाहिए और न ही इस पर आसक्ति करके इसका अत्यन्त लाड़-प्यार करना चाहिए और न इसे अत्यन्त सुकुमाल एवं सुखसुविधा भोगी तथा नाजुक बनाना चाहिए।[1]

शरीर जब तक है तब तक अनिवार्य प्रवृत्ति तो करनी ही पड़ती है, उसके बिना कोई चारा नहीं, परन्तु शरीर से खाने, पीने, उठने, बैठने, सोने-जागने, मल-मूत्र-विसर्जन करने, चलने-फिरने (साधु के लिए भिक्षाचरी, विहार, प्रवचन, प्रतिलेखन, वार्तालाप, आदि चर्या करने तथा गृहस्थ के लिए आजीविका) आदि प्रवृत्तियाँ काया से करनी पड़ती हैं। परन्तु उसमें भी यतनाचार, विवेक[2] सभी जीवों के प्रति आत्मौपम्य भाव, सन्तुलन रखा जाए तो पापकर्म का बन्ध नहीं होता, और तीव्र आत्मलक्ष्यी प्रवृत्तियाँ संयमपालन के हेतु की जाएँ तो उसे उन प्रवृत्तियों से कर्मक्षय करने (निर्जरा) का लाभ भी मिल जाता है, और शुभाशुभ उभय कर्मों के निरोध (संवर) का लाभ भी अनायास ही मिल जाता है।

आवश्यक निर्युक्ति में बताया गया है कि संयम रक्षा के लिए देह धारण किया जाता है। यदि संयम और जीवन रक्षा दोनों में कोई द्वन्द्व उपस्थित हो तो संयमवृद्धि के निमित्त देहरक्षण करना अभीष्ट है।[3]

यही कारण है कि भगवान् महावीर ने शरीर से एकान्तरूप से प्रवृत्ति करने की बात को ठीक नहीं कहा, और न ही एकान्त रूप से निवृत्ति की बात को उचित बताया। उन्होंने छद्मस्थ की भूमिका वाले साधक के लिए कहा कि यदि शरीर अशुभ यानी पापकर्म में, अनिष्ट कृत्यों में, हिंसा आदि सावद्य एवं गर्हित कार्यों में प्रवृत्त हो रहा हो तो उसे वहीं रोक दो, और कदाचित् प्रमादवश अहिंसादि में तथा क्षमादि दशविध धर्मों में एवं समिति-गुप्ति की साधना में प्रवृत्ति करने से कतराता हो, आलसी बनकर सुख-सुविधा पाना चाहता हो, या निश्चेष्ट होकर साधना में आलस्य करता हो, खा-पीकर सुख से सोना चाहता हो तो उसे ऐसी निवृत्ति से दूर रखकर सावधानी पूर्वक संयममार्ग में प्रवृत्त करो। व्यवहार चारित्र के लिए काया, प्रवृत्ति-निवृत्ति का यही सापेक्ष मार्ग उन्होंने

---

१. न केवलमयं कायः कर्षणीयो मुमुक्षुभि : ।.....
२. (क) जयं चरे जयं चिट्ठे .....पावकम्मं न बंधइ । –दशवैकालिक अ. ४
   (ख) विवेगे धम्ममाहिए। –आचारांग श्रु १
३. संजमहेउं देहो धारिज्जइ, सो कओ उ तदभावे।
   संजम काइ-णिमित्त देहपरिपालणा इट्ठा ॥ –आवश्यक निर्युक्ति ४७

बताया। इसका आशय भी शरीर को केवल संयममार्ग में प्रवृत्त कराना है, असंयम पथ में प्रवृत्त होते हुए को अथवा संयमपथ से निवृत्त होते हुए को रोकना है।[1]

उन्होंने शरीर के लिए होने वाली सहज प्रवृत्ति—भूख, निद्रा आदि का एकान्तरूप से निषेध नहीं किया। बल्कि साधक को ६ कारणों से शरीर के लिए आहार करने का और ६ कारणों से आहार के त्याग करने का विधान किया है।[2]

प्रवृत्ति-निवृत्ति-कर्ता शरीर को मारना नहीं, शरीर से संवरधर्म पालना है

भगवान् महावीर का आशय यह नहीं है—शरीर प्रवृत्ति करता है तो उसे मार कर समाप्त कर दो। उसे किसी तरह खत्म कर दो। शरीर अपने आप में तो जड़ है, स्वयं मरा हुआ है, उसे मारने की जरूरत ही नहीं है। वह जो कुछ भी प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है, वह शरीर में सर्वत्र विराजमान (व्याप्त) आत्मा के इशारे से भी नहीं, किन्तु मन के संकेत पर प्रवृत्त या निवृत्त होता है। मन और आत्मा ये दोनों हमें दिखाई नहीं देते। आत्मा तो अमूर्त होने के कारण अव्यक्त है ही, वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है, किन्तु मन भी सूक्ष्म पुद्गलों द्वारा निर्मित होने से परोक्षज्ञानी द्वारा ग्राह्य नहीं है। अतः शरीर को मारना नहीं है, अपितु संवरधर्म की साधना में अभ्यस्त करना है।

सर्वप्रथम शरीर का संवरसाधना की दृष्टि से अनुप्रेक्षण

सर्वप्रथम हमें शरीर की उपयोगिता-अनुपयोगिता का यथार्थ मूल्यांकन कर लेना चाहिए। शरीर का मूल्यांकन अथवा शरीर प्रेक्षण लोग भिन्न-भिन्न दृष्टि से करते हैं।

एक स्थूल दृष्टि वाला व्यक्ति शरीर का मूल्यांकन या अनुप्रेक्षण शरीर के सौन्दर्य-असौन्दर्य, सौष्ठव-असौष्ठव या दुबलेपन-पतलेपन या मोटेपन से करता है।

चिकित्सक भी रोगी के शरीर को देखता-जाँचता है। वह भी शरीर के प्रत्येक अवयव को ठोक-बजाकर देखता है। उसका दृष्टिकोण है—शरीर के स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य की जाँच करना और उसकी चिकित्सा करना।

एक व्यभिचारी भी किसी रमणी के शरीर को देखता है, वह उसके रंग-रूप, आकार-प्रकार और डीलडौल को कामुकता की दृष्टि से अवलोकन करता है।

परन्तु एक अध्यात्मसाधना-परायण व्यक्ति के द्वारा शरीर को देखने और पूर्वोक्त व्यक्तियों के द्वारा देखने में महान् अन्तर है। साधक कर्मों के आम्रव और संवर दोनों

---

१. असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं .....। —उत्तराध्ययन ३१/२

२. वेयण-वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए।
आयंके-उवसग्गे-तितिक्खया बंभचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं सरीरवोच्छेयणाट्ठाए॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २६/३३-३५

दृष्टियों से शरीर का नाप-तौल करता है। वह अनुप्रेक्षण करता है कि शरीर के द्वारा क्या-क्या अच्छाइयाँ हो सकती हैं, कौन-सी बुराइयाँ पनप सकती हैं ? अध्यात्मसार में ठीक ही कहा है–

"येनैव देहेन विवेकहीनाः संसारमार्गं परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाजः संसारमार्गं परिशोषयन्ति ॥"[1]

जिस शरीर से अविवेकीजन (विविध आस्रवों का सेवन करके) संसार मार्ग को परिपुष्ट करते हैं, उसी शरीर से विवेकीजन (संवर की साधना करके) संसारमार्ग का परिशोषण करते हैं, अर्थात् ह्रास करते हैं।

शरीर एक : प्रेक्षण-अनुप्रेक्षण के दृष्टिकोण अनेक

इस प्रकार एक ही शरीर का अनेक प्रकार से, विभिन्न दृष्टियों से प्रेक्षण-अनुप्रेक्षण हो सकता है। स्थूल दृष्टि वाले व्यक्ति के द्वारा शरीर-प्रेक्षण सौन्दर्य, सौष्ठव आदि दृष्टि से होता है, वह स्थूल प्रेक्षण है। दूसरा उससे सूक्ष्म प्रेक्षण है, वह चिकित्सक आदि द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से शरीर के अंगोपांगों एवं इन्द्रियों एवं उनके कार्यों की जाँचपड़ताल करना है। तीसरा सूक्ष्मतम प्रेक्षण है। वह एक आध्यात्मिक साधक के द्वारा शरीर से साधना के विभिन्न दृष्टिकोणों, पहलुओं तथा साधकता बाधकता के विविध तथ्यों की दृष्टि से अत्यन्त बारीकी से किया गया निरीक्षण-अनुप्रेक्षण है।[2]

कायसंवर की दृष्टि से ही यहाँ शरीर का अनुप्रेक्षण अपेक्षित

कर्मविज्ञान में शरीरसंवर के परिप्रेक्ष्य में अध्यात्म-साधक द्वारा किया गया सूक्ष्मतम शरीर प्रेक्षण ही विवक्षित एवं ग्राह्य है। यद्यपि कर्मविज्ञान में शरीर प्रेक्षण पर संवर के अतिरिक्त नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीय कर्म आदि के माध्यम से, काययोग के विभिन्न प्रकारों एवं पहलुओं के माध्यम से भी चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, जो शरीर-शास्त्र, गर्भशास्त्र, आहारशास्त्र, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, आदि के साथ भी मेल खाता है; तथापि प्रस्तुत प्रकरण में हमें काय-संवर की दृष्टि से चर्चा-विचारणा करना अपेक्षित है।

शरीर का हमें संवर साधना की दृष्टि से अनुप्रेक्षण-पर्यवेक्षण करना है, क्योंकि साधना (संवर-निर्जरा) की दृष्टि से शरीर आध्यात्मिक विकास के लिए बहुत उपयोगी है। यही हमारी सारी आत्मशक्ति का अधिष्ठान, केन्द्र, आयतन या पावरहाउस है। इतना

---

१. अध्यात्मसार (उपाध्याय यशोविजयजी)
२. चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांश ग्रहण पृ. ३८

ही नहीं, हमारे मन, वाणी, इन्द्रिय, प्राण आदि की सभी शक्तियों का केन्द्र शरीर है। आत्मा की शक्ति, ज्ञान, आनन्द आदि की अभिव्यक्ति इसी के माध्यम से होती है।

संवरसाधना की दृष्टि काय-अनुप्रेक्षण : किस-किस आधार पर ?

हमें यहाँ संवर-साधना की दृष्टि से शरीर का विभिन्न पहलुओं से प्रेक्षण-अनुप्रेक्षण करना है, विशेषतः यही देखना है कि शरीर के द्वार से कर्म कैसे-कैसे आते हैं और कैसे-कैसे उन्हें आने से रोका जा सकता है ? अर्थात् आस्रव और संवर की दृष्टि से यहाँ शरीर पर हमें अपनी अनुभूति के बल पर प्रेक्षण करना है, शास्त्रीय व्याख्याओं के आधार पर अनुप्रेक्षण करना है और विभिन्न युक्तियों के आश्रय से, अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में शरीर का आध्यात्मिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करना है। अतः युक्ति, सूक्ति और अनुभूति के बल पर हम शरीर-संवर पर चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करें तो अवश्य ही शरीर-संवर के परमार्थ को हृदयंगम कर सकते हैं।

सभी क्रियाओं का मूल आधार शरीर

जितनी भी क्रियाएँ हैं वे शरीर के द्वारा होती हैं। यदि शरीर में से प्राण निकल गये हों अथवा वह निष्प्रकम्प हो गया है तो उससे कोई भी क्रिया नहीं होगी। मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, वाणी प्रभृति किसी के भी द्वारा क्रिया हो उनका मूल आधार शरीर ही है। शरीर के अभाव में उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

यह सहज ही प्रश्न हो सकता है—मन और वाणी का तो स्वतन्त्र अस्तित्व है पर हम जब गहराई से चिन्तन करते हैं तो मन और वाणी का मूल आधार शरीर ही है। यों जैन दर्शन में मनोयोग, वचनयोग और काययोग ये तीन योग बताये हैं। परन्तु मन और वचन का योग काययोग के ही अन्तर्गत आ जाता है। यह दोनों काय योग के ही उपभेद हैं। मन और वचन इन दोनों का निर्माण काया के द्वारा ही होता है। अपर शब्दों में यों कह सकते हैं—बुद्धि, चित्त, हृदय आदि अन्तःकरण के लिए जिन-जिन पुद्गलों की आवश्यकता होती है उनका आकर्षण काया के द्वारा ही होता है और वाणी के लिए भी जिन पुद्गलों की आवश्यकता होती है उसका आकर्षण भी काया ही करती है।

शास्त्रीय मान्यता है कि मनन, चिन्तन, अध्यवसाय से पूर्व मन नहीं होता। 'मन मन्यमान' होता है। तो उसे दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं मनन आदि करने से पहले और उसके पश्चात् मन का अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार बोलने से पहले और बोलने के पश्चात् भाषा नहीं रहती। भाषा बोलने के क्षणों तक ही रहती है। "भाष्यमाणा भाषा" कहा गया है। सार यह है— मनोयोग और वचनयोग इन दोनों का अस्तित्व काययोग पर आधृत है। काया की प्रवृत्ति से ही ये दोनों प्रवृत्तियाँ सम्पन्न होती हैं।

काय-संवर कायिक प्रवृत्ति निरोध : क्यों और कैसे ?

श्रमण भगवान् महावीर ने कर्मों के संवर की प्रेरणा दी। संवर में भी सर्वप्रथम संवर काया का है। यदि काया का संवर नहीं होगा तो मन और वचन का संवर भी नहीं हो सकेगा। मन और वचन–इन दोनों का संवर भी कायसंवर के साथ ही संयुक्त है। ये दोनों काया के द्वारा ही संचालित हैं। स्वतः संचालित नहीं हो सकते।

सैद्धान्तिक दृष्टि से चिन्तन करें तो स्थूल शरीर ही मनोवर्गणा के पुद्गल को तथा भाषा वर्गणा के पुद्गल को ग्रहण करता है। मन के पुद्गलों को मन स्वयं ग्रहण नहीं करता और न वाणी के पुद्गलों को वाणी ग्रहण कर पाती है। ये सारे पुद्गल काययोग ही ग्रहण करता है। यों देखा जाय तो समस्त प्रवृत्तियों का मूल केन्द्र काय योग है। काया-संवर होने के पश्चात् ही वचन संवर और मन-संवर होता है। शास्त्र में जो तीन योगों की चर्चा है वह सापेक्ष है। जब काया में चंचलता होगी तो श्वांस, वाणी और मन शान्त कैसे रह सकेंगे ? उनमें भी चंचलता पैदा होगी।

एक रूपक है। एक संन्यासी रेगिस्तान की यात्रा कर रहा था। उसे बड़ी जोर से भूख और प्यास सताने लगी। उसने इधर-उधर देखा। एक लता पर सुन्दर फल लगा हुआ है। उसने फल को तोड़ा। चखने पर उसका मुँह कड़वाहट से भर गया। उसके पश्चात् उसने पत्ते और फूल तोड़कर चखे वे भी उसे कड़वे लगे। अन्त में उसने जड़ उखाड़ कर चखी। वह भी उसे कड़वी लगी। उसके मन में यह दृढ़ निश्चय हो गया कि जिसकी जड़ कड़वी है उसके पत्ते, फल और फूल मीठे नहीं हो सकते।[1] संवर साधना का मूल काया है। यदि काया में कड़वाहट–चंचलता, कम्पन, स्पंदन आदि की कटुता है तो श्वास, मन और वाणी में भी उक्त कड़वाहट होगी ही।

बौद्ध धर्म ने काया की चंचलता को मिटाने के लिए और उसमें स्थैर्य लाने के लिए काय विपश्यना की पद्धति प्रस्तुत की। जैसे डॉक्टर प्रत्येक अंग का विश्लेषण करके समझाता है वैसे ही बौद्धाचार्यों ने कहा कि प्रस्तुत शरीर में यह मांस है, यह रक्त है, यह मज्जा है, यह मेद है, यह हड्डी है। यह शरीर इनसे भरा हुआ है। फिर इस काया के प्रति इतनी माया ममता क्यों ? आसक्ति क्यों ? जब साधक को काया की वास्तविक स्थिति का परिज्ञान हो जाता है तब उसका मन शरीर को लेकर राग-द्वेष में नहीं जाता। वह चिन्ता, शोक, तनाव, रोग आदि किसी भी कारण को नहीं अपनाता।

अशुचित्वानुप्रेक्षा से शरीर के प्रति विरक्ति

ज्ञाता धर्मकथा में वर्णन है कि मेघकुमार ने अपने माता-पिता के समक्ष जब दीक्षा का संकल्प प्रस्तुत किया तो उन्होंने भुक्तभोगी बनकर दीक्षा लेने की प्रेरणा प्रदान की। तब

१. जवाहर किरणावली (आचार्य जवाहरलाल जी म. भाग ९)

उत्तर में मेघकुमार ने शरीर की अशुचिता, अनित्यता का निरूपण करते हुए कहा–यह शरीर अशुचिमय है। उसमें वात, पित्त और कफ शुक्र-शोणित प्रधान है। वह मल-मूत्र और पीव से परिपूर्ण है। वह सड़ने, गलने और विध्वंस होने वाला है। वह नष्ट होने वाला है। इस अनित्य अशुचिमय अशाश्वत शरीर से क्षणिक दुख बीज रूप सुख की आशा करना निरर्थक है।[1] शरीर की वास्तविकता का परिज्ञान हो जाने पर उसमें आसक्ति नहीं होती। शरीर की चंचलता दूर हो जाने से वह संवर साधना में दत्तचित्त से लग सकता है।

भगवान् महावीर के साधनामय जीवन का निरूपण आचारांग में है। वे कभी ऊर्ध्वदिशा में मुँह रखकर ध्यान करते थे। कभी मध्यलोक की ओर दृष्टि कर ध्यान करते थे और कभी अधोलोक को लक्ष्य में रखकर ध्यान करते थे। इस प्रकार कायसंवर की साधना उन्होंने की।[2]

उन्होंने शरीर को भी तीन भागों में विभक्त किया था। गर्दन से ऊपर का हिस्सा ऊर्ध्वलोक और नाभि तक मध्यलोक और नाभि के नीचे का हिस्सा अधोलोक है।

नाभि के नीचे काम केन्द्र है। यदि नीचे की ओर चिन्तन धारा प्रवाहित होती है तो चेतना का अधोऽवतरण हो जाएगा और ऊपर की ओर प्रवाहित होने पर चेतना का ऊर्ध्वारोहण होगा। कायसंवर की साधना में साधक काया के द्वारों से आने वाले कर्मों के आस्रव को निहारता है और उसका निरोध करता है। जैसे नौका में छिद्र हो जाने से उसमें जल प्रविष्ट हो जाता है और वह नौका डूब जाती है। कुशल नाविक उन छिद्रों को बन्द कर देता है, वैसे ही काय संवर की साधना करने वाला साधक उन आस्रव द्वारों को रोक देता है। एतदर्थ ही आचारांग में कहा गया है–पाप कर्मों के बाह्य (परिग्रह आदि) तथा अन्तरंग (राग-द्वेष, मोह आदि) स्रोतों को बन्द करके इस संसार में मरणशील प्राणियों के बीच तुम निष्कर्मदर्शी (कर्ममुक्त अमृतदर्शी) बन जाओ।[3]

संवर साधना से ममता आदि का व्युत्सर्ग

इस प्रकार कायानुप्रेक्षण द्वारा संवर साधना करने पर शरीर के प्रति ममता, आसक्ति प्रभृति का व्युत्सर्ग हो जाता है। जब तक शरीर के प्रति आसक्ति मूर्च्छा बनी रहेगी तब तक चंचलता मिट नहीं सकती और स्थिरता आ नहीं सकती। पावापुरी के अन्तिम प्रवचन में भ. महावीर ने शरीर को नौका कहा है और जीव को नाविक।[4] नौका

---

१. ज्ञाताधर्मकथांग अ. १, सू. १२४

२. अविझाति से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणं समाहिय पडिण्णे॥ –आचारांग १/९/४

३. आचारांग १/४/४/१४५

४. शरीरमाहु नावित्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ। –उत्तराध्ययन २३/७३

में जब छेद हो जाते हैं तब उसमें हिंसा आदि या कषाय आदि आस्रवों का आगमन प्रारम्भ हो जाता है। सछिद्र नौका रूप शरीर आस्रवद्वार है। द्वार खुला रहने पर उसमें कुछ भी आ सकता है– आँधी, कचरा, गंदगी, धूल। अवांछनीय व्यक्ति भी खुले द्वार में प्रविष्ट हो जाता है। आस्रव रूपी पानी के भरने से वह भारी हो जाती है जिससे डूबने का भय रहता है। कुशल नाविक आस्रव रूपी छिद्रों को बन्द करता है और पूर्व जो आस्रव रूपी जल आ गया है उसे तप और संयम से उलीचकर बाहर फैंक देता है। जिससे नौका पुनः शान्त और स्थिर होकर तैरने लगती है।

अकुशल अविवेकी जीव रूपी नाविक सावधान और अप्रमत्त नहीं रहता। शरीर-नौका में छेद हो जाने से आस्रव जल भरने लगता है। शुभाशुभ कर्म रूपी जल तीव्रगति से शरीर रूपी नौका में प्रविष्ट होता है जिससे नौका भारी होकर डूबने लगती है। कायसंवर साधक कुशल नाविक की तरह शरीर-नौका के छिद्रों को दूर करता है। आस्रवों को अनास्रव करता है और एक दिन वह संसार समुद्र को पार कर लेता है।

जब शरीर की क्रिया सूक्ष्म और स्थिर हो जाती है, तब शुद्ध ध्यान हो सकता है। शरीर जब शान्त और स्थिर होता है तब मन भी शान्त और स्थिर हो जाता है। शरीर में स्थिरता आ जाने से ऊर्जा, शक्ति और उष्मा बढ़ जाती है। ध्यान की क्षमता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है जिससे अर्जित संस्कार विनष्ट हो जाते हैं।

जिस प्रकार जलती हुई आग में घास डालने से वह क्षण मात्र में जलकर भस्म हो जाता है, गर्म तवे पर जल बिन्दु डालने से वह सूख जाती है वैसे ही आस्रव छिद्रों को बन्द करने से आस्रव युक्त क्रियाओं पर नियन्त्रण करने शरीर स्थिर हो जाती है और स्थिर अवस्था में पूर्वोपार्जित संस्कार जलने लगते हैं। तप और संयम से वे कर्मनष्ट हो जाते हैं।

समस्त क्रियाओं, प्रवृत्तियों या स्पन्दनों, कम्पनों का मूल उद्गम स्थान काया है। यदि काया का अस्तित्व नहीं है तो कोई भी क्रिया, प्रवृत्ति या शक्ति चाहे वह शरीर की हो, मन की हो, प्राणों की हो या अंगोपांगों के हलन-चलन की हो अथवा वाणी या बुद्धि की हो, नहीं हो सकेगी। काया की क्रिया जितनी तीव्र तीव्रतम होगी उतने ही संस्कारों का निर्माण भी तीव्रतम होगा। कम्पन के द्वारा ही संस्कार निर्मित होते हैं। अक्रिया में कम्पन का अभाव होता है इसलिए उसमें परिवर्तन भी नहीं होता। काया व्युत्सर्ग का अर्थ है– 'शरीर सम्बन्धी मोह और ममत्व का हट जाना।'

जैन सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाए तो काया के साथ हमारी चेतना और प्रवृत्तियों का बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। काया के अणु-अणु में चेतना व्याप्त है। चेतना के बिना काया की कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। चेतना की अभिव्यक्ति भी काया से ही होती है। चेतना की अभिव्यक्ति का सबसे प्रथम और निकटवर्ती साधन स्थूल शरीर है।

इस निकटता और तादात्म्यता की स्थिति के कारण ही आचार्य कुन्दकुन्द[1] ने शरीर को चेतन भी कहा है।

भ. महावीर से जब पूछा गया 'मन और वाणी चेतन है या अचेतन ?' उन्होंने कहा–अचेतन।

पुनः जिज्ञासा शरीर के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गयी तो उन्होंने कहा–वह चेतन भी है और अचेतन भी।

पूर्वोक्त कारणों से उन्होंने शरीर को कथञ्चित् सजीव बतलाया। अतः काया को जो निर्देश दिया जाता है वह निर्देश चेतना को प्राप्त होता है क्योंकि काया के अणु-अणु में चेतना है। यही कारण है कि वह हमारे निर्देश को स्वीकार कर लेता है और तदनुसार करने को भी प्रस्तुत हो जाता है। यदि शरीर को योग्य निर्देश दें या अभ्यास करें तो उसमें आश्चर्यजनक स्थिरता आ जाती है। जब कायोत्सर्ग सम्यक् प्रकार से सध जाता है तो मन और वचन स्वतः स्थिर हो जाते हैं। जहाँ काया में चंचलता होगी वहाँ मन में भी चंचलता होगी।

स्थूल शरीर में चंचलता क्यों होती है और वह कैसे दूर हो ?

प्रश्न है–स्थूल शरीर में चंचलता क्यों होती है ? वह कब तक रहती है और कब मिटती है ? उत्तर में जैन कर्मविज्ञान का मन्तव्य है– शरीर के साथ जब चेतन करन्ट का योग होता है तब उसमें चंचलता पैदा होती है।

शरीर को काया रूपी मशीन के साथ जोड़ना काययोग है। काययोग होते ही काया चंचल और प्रकम्पन युक्त हो जाती है। यह चंचलता तब तक बनी रहती है जब तक पूर्वोक्त रीति से कायसंवर के द्वारा काया की प्रवृत्ति का निरोध नहीं होता। जैसे पानी में मिट्टी मैल या कचरा मिला हुआ है तो वह जल चंचल होगा। उस जल में तरंगें उठेंगी। यदि जल को निर्मल और निस्तरंग या स्थिर बनाना है तो चंचलता मुक्त होना होगा।

शरीर की चंचलता को दूर करने के लिए उसके द्वारा होने वाली प्रवृत्तियों का निरोध करना होगा। जब शरीर स्थिर होता है तो वाणी और मन भी स्थिर हो जाते हैं। जब इन सबकी चंचलता मिटती है तब आत्मदेव के दर्शन होते हैं। प्रश्नव्याकरण और उत्तराध्ययन आदि में निर्जरा के पूर्व संवर की साधना बतायी है। प्रथम संवर साधना के द्वारा कर्मों के आगमन पर नियन्त्रण होगा। उसके पश्चात् ही कर्मों को निर्जरित किया जा सकता है।

प्रश्न है–किस कारण से स्थूल शरीर में चंचलता उत्पन्न होती है। उत्तर में निवेदन

---

१. ववहार णओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
णु दु णिच्छयस्स जीवो, देहो य कदावि एक्कट्ठो॥ –समयसार २७

है–हमारे पास तीन वस्तुएँ हैं (१) आत्मा–शुद्ध आत्मा का अस्तित्व, (२) कर्म शरीर, (३) स्थूल औदारिक और वैक्रिय शरीर।

स्थूल शरीर में चंचलता उत्पन्न करने का मूल कर्मशरीर है जो बहुत ही सूक्ष्म है। वह कर्म शरीर ही स्थूल शरीर में और मन और वाणी में चंचलता समुत्पन्न करता है। इसी कर्मशरीर से स्थूल शरीर का निर्माण होता है।

आत्मा तो शुद्ध चेतन है और शरीर अचेतन है। चेतन अचेतन शरीर का निर्माण नहीं कर सकता। अगर चेतन द्वारा अचेतन सृष्टि का निर्माण होने लगे तब तो सचेतन ईश्वर रूप उपादान द्वारा उपादान के विपरीत अचेतन सृष्टि का कर्तृत्व भी मानना होगा। पर यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि चेतन से अचेतन का सृजन होता है।

कर्मशरीर जिसे कार्मण शरीर कहते हैं वह सूक्ष्मतम है, अचेतन है। उसी से स्थूल शरीर का निर्माण होता है और उसी के अन्तर्गत मन और वाणी का भी निर्माण होता है। कर्मशरीर के द्वारा ही स्थूल शरीर का निर्माण होता है। कर्मशरीर अचेतन है तो औदारिक शरीर आदि भी अचेतन है। अतः अचेतन के द्वारा ही अचेतन का सृजन होता है। सूक्ष्मतम कर्मशरीर और स्थूल शरीर प्रवृत्तियों के प्रेरक और कर्ता होने से कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारण बनते हैं। आत्मा नहीं चाहता कि कोई उसकी शक्ति को कर्म रूपी पिंजरे में आबद्ध करे। स्थूल शरीर की प्रवृत्तियों के कारण सूक्ष्म शरीर–कार्मण शरीर चंचलता और प्रकम्पन पैदा करता है, यही आस्रव द्वार है। बन्धन का कारण है।

भ. महावीर ने आचारांग सूत्र[1] में संवरशील साधकों को प्रेरणा देते हुए कहा–ऊपर (ऊर्ध्वलोक में) कर्मों के आगमन के स्रोत हैं। नीचे (अधोलोक में) कर्मों के आने के स्रोत है। मध्यलोक में कर्मास्रव के स्रोत हैं। ये स्रोत ही आस्रव द्वार है जिनके द्वारा समस्त प्राणियों को विषय सुखों में आसक्ति समुत्पन्न होती है। ऐसा तुम देखो।

सार यह है कि कर्मशरीर के कारण ही हमारे मन, वाणी और शरीर में चंचलता पैदा होती है। आत्मा यही चाहता है कि उसे सूक्ष्म शरीर से छुट्टी मिले, पर सूक्ष्मशरीर उसे छोड़ना नहीं चाहता। वह अपने अस्तित्व को बरकरार रखना चाहता है और इसीलिए उसने यह चक्रव्यूह रच रखा है जिसे बाह्यशक्ति सहसा भेदन नहीं कर पाती। स्थूल शरीर भी सूक्ष्म शरीर का सम्पोषण कर रहा है। स्थूल शरीर की प्रवृत्ति से ही सूक्ष्म शरीर टिका हुआ है और स्थूल शरीर के कारण ही मन और वाणी की प्रवृत्ति चल रही है। यदि स्थूल शरीर की प्रवृत्ति बन्द हो जाए तो मन, वाणी और कर्मशरीर का अस्तित्व भी समाप्त हो जाए।

---

१. उड्ढं सोता, अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया ।
एते सोया वियक्खाया जेहिं संगेति पासहा ॥ –आचारांग १/५/६

यही कारण है कि भ. महावीर ने स्थूल शरीर की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण करने के पक्ष में बल दिया है। यदि स्थूल शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध हो जाएगा तो सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहेगा। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर ये दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। आत्मदर्शन के इच्छुक साधकों को राग-द्वेष और मोह-ममत्व आदि से दूर रहने का संदेश दिया है। कायसंवर की साधना के बिना आत्मदर्शन नहीं हो सकता। जब आत्मदर्शन होगा तो व्यक्ति का शरीर, मन और वाणी तीनों ही शान्त हो जायेंगे। क्योंकि आत्मा इन तीनों से अतीत है, अक्रिय है। अतः आत्मदर्शन भी शरीररहित और अक्रिय बनकर ही किया जा सकता है।

स्थूल शरीर की रक्षा : क्यों और किस प्रकार?

कायसंवर के लिए भगवान ने कहा–स्थूल शरीर मन वाणी प्रभृति साधनों का धर्मपालन के लिए और पूर्वकृत कर्मों का क्षय करने के लिए, नवीन आते हुए कर्मों का निरोध करने हेतु रक्षा करे। शरीर की साल सम्भाल रखे। साधनों से साध्य प्राप्ति का उद्देश्य विस्मृत होकर उसका दुरुपयोग न करे। शरीरादि उपकरण जो आत्मा को मिले हैं, उससे शुभ या शुद्ध कर्म करे किन्तु दुरुपयोग न करे। शारीरिक शक्तियों को भी छिपाने का उपक्रम न करे। यदि आत्मा प्रबुद्ध हो जाए, उसे यह भान हो जाए कि मेरा शरीर सेवक है, मैं स्वामी हूँ, शरीर आदि से मुझे मोक्ष साध्य को प्राप्त करना है, शरीर साध्य है इसलिए इसकी सुरक्षा करना आवश्यक है। साधक प्रतिपल प्रतिक्षण यह चिन्तन करता है–आत्मा और है और यह शरीर और है, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि कामभोग जड़ हैं और मैं शुद्ध आत्मा हूँ।

शरीर सभी शक्तियों का अधिष्ठान : पॉवर हाउस उत्पादक यन्त्र

जितनी भी संवर और निर्जरात्मक साधना है उसके लिए शरीर है। वह शरीर के बिना सम्भव नहीं। शरीर ही हमारी शक्तियों का आयतन है, अधिष्ठान है, पॉवर हाउस है। आत्मा की सभी शक्तियों की अभिव्यक्ति शरीर के द्वारा ही होती है। शरीर हमारी शक्तियों का उत्पादक यन्त्र जेनरेटर है। वही उर्जा शक्ति को समुत्पन्न करता है और विभिन्न अवयवों में और इन्द्रियों में वह उर्जा प्रवाहित होती है। आचार्य संघदासगणि ने बृहत्कल्प भाष्य[1] में लिखा है–शरीर का बल ही वीर्य है और उसी के अनुसार आत्मा के शुभाशुभ भावों का तीव्र या मन्द परिणमन होता है। गीर्वाणगिरा के एक यशस्वी कवि ने लिखा है–

'बलवति शरीरे बलवान् आत्मा निवसति'

---

१. देहबलं खलु वीरिये बलसरिसो चेव होति परिणामं। –बृहत्कल्पभाष्य ३९४८

बलवान् शरीर में ही बलवान् आत्मा का निवास होता है।

आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति– ये चार निज गुण हैं, स्वभाव हैं। इन गुणों की अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही होती है। कर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने कहा है कि उत्तम संहनन यानि वज्रऋषभनाराच संहनन वाला व्यक्ति ही ध्यान साधना का अधिकारी है। शरीर में हड्डी ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वही पराक्रम का मूल है। जिसकी हड्डियाँ सुदृढ़ होती हैं वह व्यक्ति आत्म-सन्तुलन रखने में समर्थ हो सकता है। जिसकी हड्डियाँ सुदृढ़ हैं, वह लम्बे समय तक साधना में स्थिर रह सकता है।

हमारे शरीर में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है रीढ़ की हड्डी का, जिसे पृष्ठरज्जू भी कहते हैं। उसी में आनन्द केन्द्र से सम्बद्ध अनाहत चक्र, हृदय चक्र हैं, जिससे सारा आनन्द प्रकट होता है। यह शरीर महान् शक्तियों का पुञ्ज है। इसमें निहित शक्तियों का पूरा उपयोग और प्रयोग किया जाये तो ज्ञानादि आत्म गुणों को हम प्रकट कर सकते हैं। हमारी बहुत सी शक्तियाँ सुषुप्त हैं। शरीर का यथार्थ अनुप्रेक्षण करने से उन शक्तियों को जागृत कर सकते हैं। काया के द्वारा ही तप, जप, मनःसंयम, परीषहजय, कषायजय और संवर की साधना की जा सकती है। बुराइयों से बच सकते हैं और अच्छाइयाँ प्रगट कर सकते हैं। तपस्या, इन्द्रिय-निग्रह, मनःसंयम, परीषहजय, कषायविजय आदि संवरों की साधना भी काया से हो सकती है, बशर्ते कि कायिक शक्ति का सही ढंग से उपयोग किया जाए।

काय संवर साधक महर्षियों की अर्हताएँ

कायसंवर करने वाले महर्षियों या त्यागी साधकों की अर्हताओं का प्रतिपादन करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–"जो ऋजुदर्शी (सरलात्मा) धीर निर्ग्रन्थ हैं, वे पाँच विध आस्रवों के परिज्ञाता (ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनके त्यागी) होते हैं, तीन गुप्तियों से युक्त तथा षट्कायिक जीवों के प्रति संयत एवं पंचेन्द्रिय निग्रह करने में कुशल होते हैं। ऐसे सुसमाधिवान् (सुसमाहित) संयमी मुनि ग्रीष्म ऋतुओं में आतापना लेते हैं, तथा हेमन्त आदि शरद ऋतुओं में अपावृत (प्रावरणरहित) तथा वर्षा के दिनों में प्रतिसंलीन हो जाते हैं। वे ही परीषह-शत्रु का दमन करने वाले, मोहमहामल्ल को कम्पित कर देने वाले जितेन्द्रिय महर्षि समस्त दुःखों को नष्ट करने के लिए अहर्निश पराक्रम करते रहते हैं।[1]

१. पंचासवपरिण्णाया तिगुत्ता छसु संजमा।
पंचनिग्गहणा धीरा निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥
आयावयंति गिम्हेसु हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा संजया सुसमाहिया ॥
परीसहरिऊदंता, धुयमोहा जिइंदिया।
सव्व दुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ॥ –दशवैकालिक अ. ३ गा. ११, १२, १३

शरीर : तितिक्षा, परीषह-सहन कायोत्सर्ग आदि : कायसंवरोपयोगी साधना के लिए उपयोगी

इसके अतिरिक्त विचारशील लोग शरीर को तितिक्षा, परीषह, उपसर्ग आदि का समभावपूर्वक सहकर कायोत्सर्ग अथवा काय विवेक को कायसंवर की सुदृढ़ साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी मानते हैं। यों देखा जाए तो शरीर अगणित सामर्थ्यों का पुंज है। उसमें संवरसाधना में प्रगति और सुदृढ़ता की सभी सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। यदि उन शक्ति स्रोतों को समझ लिया जाए और प्रयत्नपूर्वक संवर-साधना में उसे नियोजित किया जाए तो एक दिन आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर पर साधक पहुँच सकता है।

यह एक रहस्यमय तथ्य है कि शरीर में जहाँ संवरसाधना में प्रगति एवं सुदृढ़ता की अगणित सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, वहाँ इसमें अवरोधों, उपसर्गों, प्रतिकूलताओं एवं परीषहों को सहन करने की असीम क्षमता भी मौजूद है। यदि साधक कायसंवर साधना के लिए कटिबद्ध हो जाए तो साधारण आघात, अवरोध, परीषह या उपसर्ग उसे कथमपि स्वीकृत धर्मपथ से विचलित नहीं कर सकते। इसीलिए संवरसाधकों को भगवान् महावीर आदि ज्ञानीपुरुषों ने कुछ विशिष्ट निर्देश दिये हैं–

"ग्रीष्म ऋतु में आतापना लो, सुकुमारता का त्याग कर दो, काम-भोगों की वासना-कामना से ऊपर उठ जाओ, क्योंकि कामभोग जीवन के लिए दुःखदायक हैं। प्रतिकूल वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्वेष का उच्छेद कर दो और अनुकूल (मनोज्ञ–अभीष्ट) के प्रति राग (मोह या आसक्ति) को भी मन से हटा दो, ऐसा करने पर ही तुम इस संसार में सुखी हो सकोगे।"[1]

वास्तव में, हिम्मत के धनी एवं धैर्यवान् साधक ही मानसिक सन्तुलन बनाये रख सकते हैं। वे ही समागत संकटों और कष्टों को हँसते-हँसते सहन करके उन्हें पार कर लेते हैं। इसीलिए 'दशवैकालिक सूत्र' में उन संवरसाधकों के लिए कहा गया है–"जो दुष्कर कार्यों को (प्रसन्नतापूर्वक) करके तथा दुःसह (परीषह– उपसर्गादि के) संकटों व कष्टों को (समभावपूर्वक) सह लेते हैं; वे कतिपय साधक (कुछ कर्म अवशिष्ट रहने के कारण) देवलोकों में जाते हैं और कई कर्मरज से सर्वथा रहित होकर सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाते हैं।"[2]

---

१. आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥ –दशवैकालिक अ. २ गा. ५

२. दुक्कराई करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य।
केइऽत्थ देवलोएसु केइ सिज्झंति नीरया। –दशवैकालिक अ. ३ गा. १४

शरीर को अनित्य और अशुचि जानकर इससे धर्माचरण में जरा भी प्रमाद न करो

जो लोग शरीर पर अत्यधिक ममता-मूर्च्छा करके शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओं की आसक्ति में अहर्निश निमग्न रहते हैं, उन्हें सावधान करते हुए भगवान् ने कहा–"इस शरीर के अन्दर अशुचि भरी है; इसे देखो। जैसे अशुचि से भरा मिट्टी का पड़ा भीतर से अपवित्र (गंदा) रहता है, उसके छिद्रों में से प्रतिक्षण अशुचि झरती रहती है, इसी प्रकार शरीर भी भीतर से मल-मूत्रादि अशुचि से भरा है, उसके रोम-कूपों तथा अन्य द्वारों (अंगोपांगों) से अशुचि प्रतिक्षण बाहर झर रही है। पण्डित साधक शरीर के तमाम अशुचि स्रोतों को भलीभाँति देखें। शरीर की बाहर भीतर की अशुचिता (गंदगी) को देखकर विद्वान् साधक इसके सौन्दर्य या सौष्ठव के प्रति राग, मोह, ममत्व को दूर करें।" "अनिष्ट एवं असार कामभोगों में शरीर से प्रवृत्त न हों।" "यह शरीर जैसा अन्दर में असार है, वैसा ही बाहर में असार है। जैसा यह बाहर में असार है, वैसा ही अन्दर में असार है।"

शरीर की क्षणभंगुरता का निरूपण करते हुए 'आचारांग' में कहा है–"यह प्रिय लगने वाला शरीर पहले या पीछे (एक न एक दिन) अवश्य छूट जाएगा। इस रूपसन्धि–देह के स्वरूप को देखो। छिन्न-भिन्न और विध्वंस होना इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसमें चय-उपचय (घट-बढ़) होता रहता है। विविध परिवर्तन होते रहना, इसका स्वभाव है।"

अप्रमाद के पथ पर चलने वाले साधक को एक सजग प्रहरी की भाँति सचेष्ट और सतर्क रह कर, खासतौर से शरीर पर–स्थूल शरीर पर ही नहीं अपितु सूक्ष्म कार्मण शरीर पर भी विशेष देखभाल रखनी पड़ती है। इसकी हर गतिविधि को बारीकी से जाँच-परख कर आगे बढ़ना होता है तथा समय रहते इस शरीर से सारभूत पदार्थ (संवर-निर्जरारूप धर्म) की साधना कर लेनी चाहिए।

जैसे-जैसे साधक अप्रमत्त होकर स्थूल शरीर की क्रियाओं और उनसे मन वाणी पर होने वाले प्रभावों को गहराई से निरीक्षण करने का अभ्यास करता जाता है, वैसे-वैसे उसमें कार्मण शरीर की गतिविधि को देखने की शक्ति भी आती जाती है। शरीर के सूक्ष्म प्रेक्षण का इस प्रकार दृढ़ अभ्यास होने पर अप्रमाद की गति बढ़ती है और शरीर से प्रवाहित होने वाली चैतन्य धारा की उपलब्धि होती जाती है।

इसी तथ्य के सन्दर्भ में भावपाहुड में कहा गया–"बुढ़ापा जब तक आक्रमण नहीं करता, जब तक रोग रूपी अग्नि तुम्हारी देहरूपी झौंपड़ी को नहीं जलाती है, जब तक इन्द्रियों की शक्ति विगलित–क्षीण नहीं होती, तब तक आत्महित के लिए (संवरादि धर्मसाधना में) प्रयत्न कर लो।"[1]

---

१. उत्थडइ जा ण जरओ, रोगग्गी मा ण उहइ देहडि।
इंदिय बले न विगलाइ, ताव तुम्मं कुणइ अप्पहियं॥ –भाव पाहुड १३२

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया–"बुढ़ापा जब तक पीड़ित नहीं करता, जब तक शरीर में कोई व्याधि नहीं बढ़ती, जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं हो जातीं, तब तक (उससे पहले-पहले) धर्माचरण कर लें।"[1]

सूत्रकृतांग सूत्र में तो स्पष्ट कहा गया है–"आयु और जवानी प्रतिक्षण व्यतीत होती जा रही है।" "वृद्ध हो जाने पर वह मनुष्य न तो हास-परिहास के योग्य रहता है, न ही क्रीड़ा के, न रति के और न शृंगार के योग्य रहता है।"[2]

इसलिए अगर मनुष्य यौवन वय या किशोरावस्था से ही संवरनिर्जरा रूप धर्मसाधना में लग जाए तो वह इन्द्रियों, मन, तन आदि संवरसाधना करने में अभ्यस्त हो जायेगा, थकेगा या घबराएगा नहीं। और यह तभी हो सकता है, जब व्यक्ति अपने स्थूल शरीर का सदुपयोग करे, परीषहों और उपसर्गों को भी इस सामर्थ्य पुंज शरीर से समभावपूर्वक सहन करे।

आचारांग में शरीर-संवर साधना के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है–"साधक शरीर का मोह-ममत्व सर्वथा छोड़ (व्युत्सर्ग कर) दे। और किसी भी परीषह के आने पर विचार करे कि मेरे शरीर में परीषह है ही नहीं; कहाँ है ?" "ज्ञानी के लिए क्या दुःख (अरति) है, क्या सुख (आनन्द) है ? कुछ भी नहीं।"[3] जो भी कष्ट हो, उसे प्रसन्नमन से सहन करे, कोलाहल न करे।

(कर्म) शरीर को आत्मा से पृथक् जान कर उसे कृश करे

आत्मा को शरीर से पृथक् जान भोगलिप्त शरीर को धुन डालो। अर्थात् यहाँ (अर्हत्प्रवचन में) आज्ञाकांक्षी पण्डित शरीर एवं कर्मादि के प्रति अनासक्त

---

१. (क) अंतो-अंतो मति देहंतराणि पासति पुढो वि सवं वाई। पंडिते पडिलेहाए। तथा इसकी व्याख्या।
(ख) देखें–"जहा अंतो, तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।", इसकी व्याख्या भी।
–आचारांग १/२/५
(आगमन प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित) आचारांग सूत्र प्रथम श्रु. अ. २, उ. ५ सू. ९२ की व्याख्या
(ग) देखें–"से पुव्वंपेतं भेउर धम्मं विद्धंसण धम्मं अधुवं अणितियं असासयं चयोवचइयं विप्परिणाम धम्मं। पासह एयं रूवसंधिं।"
–आचारांग १/५/२ सू. १५३ तथा इसकी व्याख्या, पृ. १५४
(घ) "जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे ॥" –दशवैकालिक ८/३६

२. (क) जओ अच्चेति, जोव्वण च। –आचारांग श्रु १, अ. २ उ. १
(ख) "से ण हासाए ण कीड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए।" –आचारांग १/२/१
(ग) "के अरइ, के आणंदे ?" –आचारांग १/३/३
(घ) "वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा !" –आचारांग १/८/८/२१
(ङ) "सुमणे अहियासेवना, न य कोलाहलं करे।" –सूत्रकृतांग १/९/३१

(स्नेहरहित) होकर एकमात्र आत्मा की संप्रेक्षा करता (देखता) हुआ शरीर (कर्मशरीर) को प्रकम्पित कर डाले, (तपश्चरण द्वारा) अपनी कषायात्मरूप कर्मशरीर को कृश कर डाले, जीर्ण कर डाले। जैसे आग जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला डालती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला व्यक्ति अनासक्त (निःस्पृह) होकर प्रकम्पित, कृश एवं जीर्ण हुए कषायात्म-रूप कर्मशरीर को (समिति, गुप्ति, परीषहजय, तप, ध्यानरूप अग्नि से) शीघ्र जला डालता है।'"

कुछ लोगों का कहना है कि भगवान् महावीर दीर्घतपस्वी थे, उन्होंने लम्बी-लम्बी तपस्याएँ की थीं। तथा कायक्लेश, अभिग्रह आदि तप भी करते थे। इस प्रकार का कठोर और दीर्घकालिक तप करके वे शरीर को कष्ट देते थे, तब कैसे कहा जाए कि "उन्होंने काया की सुरक्षा की, अथवा काया को शीघ्र समाप्त करने का उपक्रम नहीं किया ?"

भ. महावीर की काय-संवर साधना : काया को समाप्त करने के लिए नहीं, साधने के लिए थी

हमारी दृष्टि से ऐसे स्थूल दृष्टि वाले लोग भगवान् महावीर को और उनकी साधना तथा चर्या को समझने में भूल करते हैं। उन्होंने जो कुछ भी तपश्चरण, कायोत्सर्ग, कायक्लेश या कायगुप्ति-पालन आदि किया, वह संवर और निर्जरारूप धर्म के पालन की दृष्टि से किया है। तपस्या आदि करते समय भी उन्होंने शरीर पर से मोह, ममत्व, आसक्ति को हटाने एवं शरीर को आत्म-साधना के योग्य बनाने की दृष्टि रखी है।

अगर उन्हें शरीर का शीघ्र त्याग करना होता तो, वे लम्बी बाह्य तपस्या के पश्चात् भी पारणा नहीं करते, न ही शरीर को चलने फिरने, अपनी संयमचर्या करने, या विहारादि करने लायक रखते, औपपातिकसूत्र में वर्णित बालतपस्वियों की तरह शरीर को पापकर्मों का आयतन समझकर पंचाग्नि तप आदि से या अन्य किसी उपाय से शीघ्र ही समाप्त कर डालते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया है, और न ही अपने अनुगामी साधकों को ऐसा करने का निर्देश दिया है।

शरीर जहाँ तक तपस्या आदि में साथ दे सकता है, वहाँ तक उन्होंने शरीर को उपवासादि तपस्या में साथ लिया, परन्तु जब शरीर साथ देने में अक्षम होने लगा, तब उन्होंने शरीर को आहार-पानी भी दिया है, विश्राम भी दिया है। उन्होंने देखा कि शरीर को बिलकुल छोड़ना या तोड़ना भी नहीं है, न ही इसे मूर्खतापूर्ण ढंग से, आर्त्तध्यान करते

---

१. (क) देखें–एगमप्पाणं संपेहाएं धुणे (कम्म) सरीरगं।
(ख) "कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं।"
(ग) जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहोपमत्थइ, एवं अत्त समाहिए अणिहे।
–आचारांग १/४/३ तथा इनकी व्याख्या, पृ. १३४

हुए छोड़ना है, अपितु इसे समाधिपूर्वक रखना है। तो उन्होंने थोड़ा-सा उसे सहारा भी दिया, ताकि वह टूटे नहीं,[1] किन्तु चंचलता और प्रवृत्ति के प्रेरक सूक्ष्म शरीर (कर्मशरीर) से उसका सम्बन्ध टूट जाए।

भगवान महावीर को कायसंवर की साधना द्वारा सूक्ष्म (कार्मण) शरीर को तोड़ना था। महावीर का तप शरीर को भूखा रखकर समाप्त कर देने के लिए नहीं था।

काय-निरपेक्ष कायोत्सर्ग भी कायसंवर की साधना के लिए

वे जब कायोत्सर्ग करते थे, तो उस दौरान काया का बिलकुल विचार नहीं करते थे; क्योंकि कायोत्सर्ग द्वारा कायसंवर करने में कोई भी साधक न तो खाता-पीता है, न खाने-पीने का विचार करता है, न ही चलने, बोलने, लेटने-सोने आदि की बात सोचता है।

कायसंवर करने की दृष्टि से उन्होंने एकमात्र आत्मा का ही चिन्तन, ध्यान और दर्शन किया था। इसी आत्मदर्शन की पद्धति से उन्होंने स्थूल काया के प्रति मोह, ममत्व, राग-द्वेष, आदि का जो सम्बन्ध सूत्र था, उसे तोड़ दिया। शरीर शान्त, स्थिर और प्रवृत्ति रहित हो गया, उसके साथ ही उनके वचन और मन भी शान्त और स्थिर हो गए।

उन्होंने देखा कि आत्मा शरीर, मन, वाणी आदि से अतीत है, पृथक् है। विशुद्ध आत्मा-परमात्मा के दर्शन करने हों तो शरीरादि से ऊपर उठकर ही शान्त, निश्चल और स्थिर होकर ही कर सकते हैं। अक्रिय आत्मा के दर्शन अक्रिय होकर ही किये जा सकते हैं। तभी कायसंवर की यथार्थ साधना होगी।[2]

कायसंवर की साधना के दौरान काया की विस्मृति : क्यों और कैसे ?

वस्तुतः कायसंवर की साधना के दौरान शरीर के कष्ट, भूख, प्यास, निद्रा या विश्राम का विचार या चिन्तन बिलकुल नहीं किया जाता। यही कारण है कि भगवान् महावीर छह महीने की तपश्चर्या के दौरान भी आत्मसमाधि, आत्मतृप्ति, आत्मरमणता, आत्मसन्तुष्टि एवं आत्मानन्द की मस्ती में लीन रहे, उन्हें शरीर की आवश्यकताओं या अपेक्षाओं का विचार ही नहीं आया।

भगवान् ऋषभदेव के युग का बाहुबलिमुनि का ज्वलन्त उदाहरण इस विषय में

---

१. देखिये आचारांग (१/९/४) में भ. महावीर द्वारा कायसंवर साधना के परिप्रेक्ष्य में की गई साधना के पाठ/यथा–"णो से, साति॰जति तेगिच्छं। संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं सिणाणं च। संबाहणं ण से कप्पे, दंतपक्खालणं परिण्णाए॥" "रायोवरायं अपडिण्णे, अन्नगिलायमेगया भुंजे॥ छट्ठेणं एगया भुंजे, अदुवा अट्ठमेण दसमेणं। दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे॥"
–आचारांग श्रु. १, अ. ९, उ. ४, गा. ८३६, ८३७, ८४१, ८४२

२. 'महावीर की साधना का रहस्य' से यत्किंचित् भावांश ग्रहण पृ. ५३

प्रसिद्ध है कि बारह वर्ष तक वे कायोत्सर्ग में शरीर को निश्चेष्ट बनाकर खड़े रहे। उन्हें भूख-प्यास, निद्रा आदि के कष्ट का जरा भी अनुभव नहीं हुआ।[1]

कष्ट शरीर को होता है, आत्मा को नहीं

कई तार्किक एवं बुद्धिवादी लोग कह देते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है कि इतनी दीर्घ तपस्या, कायक्लेश या परीषहों–उपसर्गों के दौरान भी उन्होंने शरीर का बिलकुल विचार न किया हो ?

इसके प्रमाण के लिए हम सिंगापुर के एक भारतीय योगी का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसका उल्लेख "ए वण्डर बुक ऑफ स्ट्रेञ्ज फेक्ट्स" में भी है। वैसे तो शरीर में एक नन्ही-सी सुई चुभ जाती है तो बड़ा कष्ट होता है, किन्तु सिंगापुर के इस भारतीय योगी ने अपने शरीर में ५० भाले आर-पार घुसेड़ लिये और इस अवस्था में भी वह सबसे हंस-हंसकर बातचीत करता रहा।

लोगों ने उससे कहा–"यदि आपको कष्ट नहीं हो रहा हो तो थोड़ा चल कर दिखाइए।" इस पर उक्त योगी ने तीन मील चलकर भी दिखा दिया।

कष्ट की अनुभूति न होने का रहस्य पूछने पर उक्त योगी ने बताया कि कष्ट दरअसल शरीर को होता है, आत्मा को नहीं। यदि मानव अपने आपको आत्मा में स्थिर कर ले तो जिन्हें सामान्य लोग यातनाएँ कहते हैं, वह कष्ट भी साधारण खेल जैसे लगने लगते हैं।"[2]

तितिक्षा के दृढ़ अभ्यास से शरीर को कष्टों की अनुभूति से बचाया जा सकता है

"इसका एक उदाहरण विन्ध्याचल के योगी गणेशगिरि ने प्रस्तुत किया। उन्होंने एक बार अपने होठों के आगे ठुड्डी वाले समतल स्थान में थोड़ी-सी गीली मिट्टी रखकर उसमें सरसों बो दिये। जब तक सरसों उगकर बड़े नहीं हो गए, और उनकी जड़ों ने वहाँ की खाल चीरकर अपना स्थान मजबूत नहीं कर लिया, तब तक वे धूप में (अपने आत्मध्यान में लीन रहकर) चित्त लेटे रहे।"

बंगाल में सन् १९०२ में 'अगस्तिया' नामक एक हठयोगी ने ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि "वह दस वर्ष तक अपना बांया हाथ ऊपर उठाये ही रखेगा, नीचे नहीं गिरायेगा।" अपनी प्रतिज्ञानुसार वह लगातार १० वर्ष तक बिना हिलाये अपना हाथ ऊंचा ही किये

---

१. देखें "भगवान् ऋषभदेव : एक अनुशीलन" (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि) में बाहुबलि मुनि का प्रकरण।
तुलना करें–
"योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म-निर्वाणं, ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥" –भगवद्गीता ५/२४

२. अखण्ड ज्योति, नवम्बर १९७३ में प्रकाशित लेख से पृ. ५५

रहा। एक पक्षी ने उसकी हथेली पर अपना घोंसला भी बना लिया और अण्डे भी दे दिये। उक्त योगी का कहना था कि इससे उसे कोई कष्ट नहीं हुआ।

यद्यपि ऐसी यौगिक साधनाओं के पीछे कोई दर्शन या विशिष्ट उद्देश्य नहीं है। इनका तात्पर्य यही है कि मनुष्य चाहे तो तितिक्षा पूर्ण अभ्यास के द्वारा शरीर से होने वाले कष्टों की अनुभूति से स्वयं को बचा सकता है।[1]

परन्तु भगवान् महावीर ने तो कायसंवर की साधना के उद्देश्य से आत्मा का ही चिन्तन किया था, शरीर पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। उन्हें न तो इस प्रकार की उपलब्धि या सिद्धि प्राप्त करके, लोगों में अपना प्रदर्शन करना था, न ही प्रसिद्धि, प्रशंसा या प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने ऐसा किया था।

कायसंवर की साधना की परिपक्वता के लिए कायगुप्ति

उन्होंने कायसंवर की साधना को परिपक्व करने के लिए कायगुप्ति का पालन करने का निर्देश दिया। 'कायगुप्ति के द्वारा जीव क्या प्राप्त करता है ?', यह पूछे जाने पर उन्होंने कहा–'कायगुप्ति से जीव संवर को प्राप्त होता है, और संवर से पापास्रव का निरोध कर देता है'।[2]

कायसंवर में कायगुप्ति के द्वारा स्थूल शरीर का द्वार बन्द करना अभीष्ट

कायसंवर में काया के द्वार को बन्द करना अनिवार्य है। अन्यथा जैसे गृह-द्वार खुला रहने पर कोई भी अच्छा या बुरा आदमी प्रवेश कर सकता है। हवा के साथ धूल, कचरा और गन्दगी भी आ सकती है; वैसे ही काया का द्वार खुला रहने पर पुण्य-आस्रव या पापास्रव कोई भी प्रविष्ट हो सकता है। स्थूलशरीर के माध्यम से प्रविष्ट होने वाले पुण्य या पाप दोनों ही कर्मशरीर को पोषण देने वाले टॉनिक हैं। उसको तो यही खुराक चाहिए।

इसीलिए भ. महावीर ने कायसंवर के लिए कायगुप्ति का आश्रय लिया। उन्होंने काया का आस्रवद्वार बन्द कर लिया, एकमात्र आत्मध्यान में लीन रहे; वे देहाध्यास से ऊपर उठकर एकमात्र आत्मकेन्द्रित हो गए, जो कि कायगुप्ति की साधना का मुख्य उपाय है। उन्होंने बताया कि काया का द्वार बन्द न करने से पापास्रव का पोषक परिणाम भी आएगा और पुण्यास्रव का पोषक भी। दोनों ही कर्मशरीर की पुष्टि और वृद्धि करने

---

१. वही, नवम्बर १९७३ में प्रकाशित लेख से, पृ. ५५

२. "कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
कायगुत्तयाए संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥"
–उत्तराध्ययन सूत्र २९/५५

वाले हैं। कर्मशरीर ही आत्मा का सबसे बड़ा बाधक और मोक्षमार्ग में विघ्नकर्ता है। इसे हटाने के लिए स्थूलशरीर का द्वार कायगुप्ति के द्वारा बन्द करो।[1]

स्थूलशरीर का देहाध्यास कैसे समाप्त हो ?

जब आत्मदर्शन की तीव्रता, आत्मरमणता की तड़फन अथवा आत्मानन्द की गहरी अनुभूति होने लगेगी, तब स्थूलशरीर का भान या देहाध्यास समाप्तप्राय हो जाएगा। मनुष्य जितना-जितना देहाध्यास, या शरीर का ध्यान या भान करता है, उतनी-उतनी चंचलता बढ़ती जाएगी, स्थिरता एवं शान्ति कम होती जाएगी। जब उसका ध्यान आत्मा में केन्द्रित हो जाएगा, वह आत्मा में तन्मय हो जाएगा, तब उसकी शरीर के प्रति पकड़, या शरीरासक्ति क्षीण एवं मन्द होती चली जाएगी।

अपना ध्यान आत्मकेन्द्रित करने के लिए वह आचारांग सूत्र के एकत्वानुप्रेक्षा के निर्देशानुसार यह चिन्तन करे कि "मैं अकेला हूँ। मेरा कोई नहीं है, और न ही मैं भी किसी का हूँ।" इस प्रकार वह अपनी आत्मा को एकाकी समझे। सामायिक पाठ के अनुसार–"मेरी आत्मा सदैव एकाकी और शाश्वत है, वह विनिर्मल (विशुद्ध) है, ज्ञानदर्शनादि स्वभाव वाला है, दूसरे समस्त पदार्थ आत्मबाह्य हैं, वे (शरीरादि) कर्मों से प्राप्त और अशाश्वत हैं।

इस प्रकार शरीर और आत्मा दोनों को भिन्न समझकर अपने (आत्मा के) अस्तित्व पर ध्यान टिकाया जाएगा, तो वह आत्मा और शरीर दोनों को तलवार और म्यान की तरह पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले समझने लगेगा। आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व उसके मन मस्तिष्क में जम जाएगा, तब देह के प्रति अहंकार, ममत्व, आसक्ति या मूर्च्छा स्वतः क्षीण होती जाएगी, फलतः चंचलता भी विदा होने लगेगी।[2]

यद्यपि आत्मा और शरीर दोनों मिले हुए प्रतीत होते हैं, शरीर आत्मा के अत्यन्त निकट और दृश्यमान है, तथापि भेद-विज्ञान हृदय में जागृत होने पर गेहूँ में से कंकर की तरह आत्मा को शरीर से पृथक् करना मन से निकाल देना, कोई कठिन नहीं है। भगवान्

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से किञ्चित् भावांश ग्रहण पृ. ५३

२. (क) वही पृ. ५४

(ख) एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न वाऽहमवि कस्सइ।
एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा ॥ –आचारांग १/५/६/२२२

(ग) एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

(घ) शरीरतः कर्तुमनन्त शक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्त दोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः ॥
–अमितगतिः सामायिक पाठ,

ने इसके लिए विवेक प्रतिमा बताई है। यह विवेक होने पर ही व्युत्सर्ग होगा। शरीर जड़ (चेतन) है और आत्मा चेतन है, ऐसा स्पष्ट विवेक हो जाने पर व्युत्सर्ग बहुत ही आसान हो जाएगा।

यह ठीक है कि भगवान् ने कायसंवर को सर्वप्रथम मुख्यता दी परन्तु संवर के साथ निर्जरा सहज में ही होती जाती थी। इसीलिए तपस्या को संवर भी कहा है, निर्जरा भी। तप से कायसंवर भी होता है, कर्म का आंशिक क्षय (निर्जरा) भी। अतः कायसंवर के लिए सर्वप्रथम पूर्वोक्त विवेक व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) तथा दृष्टि सम्यक् होना अनिवार्य है। इनके बिना कायसंवर केवल कायचेष्टा निरोध होगा, उससे वाणी और मन की प्रवृत्ति का निरोध नहीं होगा।

कायसंवर का ज्यों-ज्यों अभ्यास दृढ़ होता जाएगा, त्यों-त्यों सम्यक्त्वसंवर सहित, व्रतसंवर, अप्रमादसंवर, योगसंवर आदि का भी विकास होता जाएगा। केवल व्रत ले लेने मात्र से व्रतसंवर नहीं हो जाएगा। हिंसा न करने का व्रत अंगीकार कर लिया, लेकिन कायसंवर नहीं होगा तो हिंसा के लिए हाथ-पैर आदि प्रवृत्त होते रहेंगे। कायसंवर हुए बिना काया के प्रति ममत्व कैसे छूट जाएगा ? अतः सर्वप्रथम काय-संवर को ही कर्मविज्ञान मर्मज्ञों ने मुख्यता दी है।[1] ■

१. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. ५५

१०

वचन-संवर की महावीथी

काया के बाद वाणी कर्मों के आने का दूसरा द्वार है। वाणी के द्वारा कर्म कैसे आते हैं और उन्हें आने से कैसे रोका जा सकता है ?, इसका विस्तृत वर्णन जैनागमों, कर्मग्रन्थों तथा कर्मविज्ञान का गहराई से विश्लेषण करने वाले धवला, महाबंधो, पंचसंग्रह आदि में मिलता है। अतः हमें यहाँ समझ लेना है कि वाणी क्या है ?, उसके द्वारा कर्मों का आत्म-प्रदेश में आगमन या प्रवेश कैसे होता है ? तथा कर्मों के आने को रोकने के लिए वाक्-संवर कैसे-कैसे किया जा सकता है ?

वाणी का प्रयोग क्यों और किस लिये?

मानव जाति ने अपने दैनन्दिन व्यवहारों में परस्पर विचार-विमर्श करने तथा विचारों और कार्यों का आदान-प्रदान करने के लिए वाणी का उपयोग या प्रयोग प्रारम्भ किया। भाषा वाणी का ही परिष्कृत रूप है। इसका आविष्कार भी मानव-पूर्वजों ने इसीलिए किया था कि प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के मनोभावों को, कार्य की गतिविधि को और कर्तव्य-अकर्तव्य के महापुरुषों के निर्देश को स्पष्ट रूप से समझ सके।

आज हमें तीर्थंकरों और महाज्ञानियों की अनुभूति का अलभ्य लाभ इसी (भाषा या जिनवाणी) के कारण ही तो मिल रहा है। अन्यथा, हम उनकी अनुभूतियों को, उनके द्वारा बताये गए जीवों के आध्यात्मिक विकास-ह्रास को, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप आदि के रूप-स्वरूप को कैसे समझ पाते ?

यह वाणी ही है, जिसके माध्यम से मंत्रों का विविध आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं नैतिक धार्मिक प्रगति के लिए प्रयोग कर सकते हैं। यह वाणी ही है, जिसके जरिये हम दूसरे को शत्रु भी बना सकते हैं, मित्र भी, अपना भी बना सकते हैं और पराया भी, दूसरों का कल्याण और हित भी कर सकते हैं और अहित भी।

वाणी और उसके अन्य समानार्थक लाभ

वाणी शब्दों का प्रकटरूप में उच्चारण है। जो शब्द व्यक्ति के मन में पड़े रहते हैं, उन्हीं को विविध प्रयोजनों के लिए अभिव्यक्त करना वाणी के प्रयोग से ही होता है। विविध प्रयोगों की दृष्टि से वाणी के अनेक रूप हैं। 'अमर कोश' में वाणी के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए कहा गया है–

"ब्राह्मी तु भारती भाषा, गीर्वाग वाणी सरस्वती।"

अर्थात् वाणी ब्राह्मी है–ब्रह्मरूपी है, भारती है, अर्थात् अन्तःकरण में स्थित ज्ञान की प्रभा में रमण कराने वाली है, भाषा है बोलचाल में, भाषण-सम्भाषण में बोली के रूप में प्रयुक्त की जाने वाली है। गिरा है–वचनेन्द्रिय-जिह्वा से प्रसूत है, अभिव्यक्त होने वाली है। वाक् है–अर्थात् वचनरूप है, वाक्यों का निर्माण करने वाली है, जिह्वा से प्रकट होने वाली स्पष्ट वाचा है। वाणी है–अर्थात् वाण की तरह प्रयुक्त की जाने पर दूसरे पर सीधी असर करने वाली है, या तो वह विरक्ति पैदा कर देती है, या अनुरक्ति या आसक्ति पैदा कर देती है। शीघ्र ही राग-विराग को प्रादुर्भूत कर देती है। और सरस्वती भी है यह। अर्थात्–समस्त विद्याओं, कलाओं, ज्ञान-विज्ञानों एवं शिक्षण-प्रशिक्षणों की जननी है।

वाणी की महिमा और गरिमा

वाणी बहुत ही महान् एवं व्यापक तत्त्व है। वाणी को कागजों पर, भोजपत्रों पर या ताड़पत्रों आदि पर अंकित करके दूसरों को अपनी विचारधारा या भावना व्यक्त करने के लिए लिपि का आविष्कार हुआ। युगादि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने उस युग की यौगलिक जनता को बोध देने के लिए ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया, जिसका सर्वप्रथम प्रशिक्षण अपनी पुत्री ब्राह्मी को दिया। उसी के नाम पर इस लिपि को 'ब्राह्मी लिपि'[1] कहा गया। ब्राह्मी वाणी का भी पर्यायवाचक शब्द है। जिसका व्यञ्जनार्थ भी यही होता है–ब्रह्मा–आदियुग के समाजस्रष्टा ऋषभदेव से समुद्भूत अर्थात् आविष्कृत वाणी।

वाणी पर भारतीय मनीषियों और तत्त्वद्रष्टाओं ने पर्याप्त मनन-चिन्तन किया है। जितना मनन-चिन्तन 'मन' पर हुआ है, उससे भी कहीं अधिक मनन-चिन्तन वाणी पर–वचनतत्त्व पर हुआ है।

चूँकि शब्दों का व्यवस्थित सार्थक समूह वाणी है। इस दृष्टि से वाणी को ब्राह्मी, ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कराने का साधन तथा 'परमब्रह्मरूपा' कहा गया है। 'भागवत्' के छठे स्कन्ध में वाणी की महिमा-गरिमा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–"शब्द ब्रह्म है, वही परब्रह्म है, ये दोनों मेरे (भगवान्) शाश्वतदेह के रूप में विराजमान हैं।"[2] तीर्थंकर आज हमारे समक्ष विद्यमान नहीं है, और न ही विभिन्न महाज्ञानी ऋषि-महर्षि या गणधर हैं, किन्तु उनकी वाणी–जिनवाणी अक्षरदेह के रूप (अक्षर–शाश्वतरूप) में विद्यमान है। इस दृष्टि से भी उनकी वाणी को ब्राह्मी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं। 'शतपथ

---

१. ब्राह्मी लिपि के विषय में विस्तृत विवेचन के लिए देखें–भगवान् ऋषभदेव : एक अनुशीलन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि)

२. "शब्दब्रह्म परब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू।" –श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ६ अ. १६

ब्राह्मण' में कहा गया है-'शब्द निश्चय ही ब्रह्म है।'[1] क्योंकि वह ब्रह्माण्डव्यापी है, जैनदृष्टि से चौदह रज्जू परिमित समग्रलोक व्यापी है।

आचार्यों ने यहाँ तक कहा कि जैसे ब्रह्माद्वैतवाद एक दर्शन है, वैसे ही शब्दाद्वैतवाद भी एक दर्शन है। शब्दाद्वैतवाद में शब्द को ही ब्रह्ममय बताकर यह निरूपण किया गया है कि विश्व में शब्द ही सब कुछ है। जो प्रत्यक्ष दृश्यमान् जगत् है, वह शब्दमय ही है, शब्दों का ही प्रपंच है। जगत् का मूल शब्द है, वही ब्रह्म है, और उसी से यह वृहत् संसार व्याप्त है। यह था-शब्दाद्वैतवाद।[2]

एक जैनाचार्य द्वारा 'वाणी ब्रह्मा' नाम का प्रभावशाली मांत्रिक स्तोत्र भी रचित है। सांसारिक जीवों द्वारा कष्टहरण के लिए उसका पाठ किया जाता है।

संसार के समस्त व्यवहारों का मूलाधार वाणी

वाणी के बिना संसार का, एक भी व्यवहार नहीं चल सकता। क्या लेन-देन, क्या शिक्षा-दीक्षा, क्या राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और क्या पारिवारिक सभी क्षेत्रों में वाणी का व्यवहार चलता है। दूसरी ओर हम यह भी अनुभव करते हैं कि हमारा जाना-माना हुआ सारा विश्व शब्दमय है। वह शब्द चाहे व्यक्त रूप में हो, चाहे अव्यक्त रूप में, सर्वत्र निरन्तर ध्वनियाँ प्रवाहित हो रही हैं। रेडियो, टेलिविजन, टेलीफोन, वायरलेस, ट्रांजिस्टर, टेपरेकार्डर, सिनेमा, वीडिओ, विविध मशीनें, कारखाने, मिल आदि के संचार के कारण सारी दुनिया शब्दमय-कोलाहल-संकुल हो रही है।

संसार में कहीं वीणानाद हो रहा है, कहीं संगीतसभा जुड़ी हुई है, कहीं पुत्रादि के वियोग के कारण हाहाकार हो रहा है। कहीं पुत्र-जन्म या पुत्रविवाह के मंगलमय गीत गाये जा रहे हैं। कहीं किसी आकस्मिक संकट के कारण रुदन और विलाप हो रहा है। कहीं लोग मदोन्मत्त होकर परस्पर कलह कर रहे हैं। कहीं वाद-विवाद या शास्त्रार्थ हो रहा है। इस प्रकार संसार का समग्र चित्र प्रायः शब्दमय है, ध्वनिमय है।[3]

शब्दों से प्रकम्पन उत्पन्न होते हैं। ध्वनि तरंगें उछलती हैं। जहाँ-जहाँ तरंग है, प्रकम्पन है, कोलाहल है, वहाँ-वहाँ शब्द हैं, ध्वनियाँ हैं।[4]

---

१. "शब्दो वै ब्रह्म।" -शतपथ ब्राह्मण
२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. ९०
३. "क्वचिद् वीणानादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितम्।
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी, क्वचिदपि च सुरामत्त कलहः।
क्वचिद्रम्या रामा, क्वचिदपि जराजर्जरतनुः।
न जाने संसारे किममृतमयं किं विषमयम्?॥" -भर्तृहरि, वैराग्यशतक
४. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. ९०

वाणी केवल शब्दोच्चारण नहीं, विभिन्न प्रेरणाओं से परिपूर्ण है

अतः वाणी केवल शब्दों का उच्चारणमात्र ही नहीं है, अथवा केवल किसी वस्तु की जानकारी देना मात्र ही नहीं है, अपितु उसमें वक्ता की–बोलने वाले, शब्दोच्चारण कर्त्ता की अनेकानेक भाव-अभिव्यञ्जनाएँ, संवेदनाएँ, प्रेरणाएँ एवं शक्तियाँ भी निहित हैं। यदि ऐसा न होता तो वाणी में मित्रता एवं शत्रुता, वत्सलता और आत्मीयता तथा वैर-विरोध एवं द्वेष-घृणा उत्पन्न करने की सामर्थ्य न होती।

आगमों में हम पढ़ते हैं कि अमुक महापुरुष की एक बार की वाणी (प्रवचन) सुनकर अमुक व्यक्ति को संसार से विरक्ति हो गई, वह सांसारिक विषय-सुखों एवं गार्हस्थ्य प्रपंचों से तथा आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होने के लिए तत्काल प्रतिबुद्ध हो गया। उसके अन्तर् में वैराग्य लहराने लगा। उसका मन मयूर अध्यात्म विकास के लिए उछलने लगा। यदि वाणी केवल शब्दों का उच्चारण ही होती तो उसका उपयोग दूसरों को उठाने और गिराने में न हो पाता।

कटु वाणी सुनते ही मनुष्य कोपाविष्ट हो जाता है, झल्ला उठता है, उसकी स्थिति न कहने योग्य को कहने और न करने योग्य को करने की बन जाती है। इसके विपरीत कोमल, मृदु और वात्सल्यमयी प्रोत्साहक वाणी सुनते ही व्यक्ति में सत्कार्य को करने का उत्साह जाग जाता है; धर्म, समाज और राष्ट्र के लिए, पीड़ित मानव जाति के लिए अपने प्राणों का बलिदान देने की भावना लहराने लगती है।[1]

इसीलिए पाणिनि व्याकरण के महाभाष्य में कहा गया है–एक शब्द भी सम्यक्रूप से ज्ञात (सम्यक् अर्थज्ञान) हो जाने पर तथा सम्यक्रूप से प्रयुक्त किये जाने पर स्वर्ग में तथा इहलोक में कामधेनु के समान मनश्चिन्तित सकल सुमनोरथों की पूर्ति करने वाला होता है।'[2] इससे अंदाजा लग सकता है कि वाणी की शक्ति का जीवन में कितना अधिक योगदान है।

यह सत्य है कि तर्क, तथ्य, उत्साह एवं भावुकता से परिपूर्ण शब्द प्रवाह देखते ही देखते जनसमूह का विचार बदल देता है और उक्त प्रभावोत्पादक जोशीले भाषण से मुग्ध होकर असंख्य मनुष्य कुशल प्रवक्ता के वचनों का अनुसरण करने लगते हैं। द्रौपदी ने 'अंधे के पुत्र अंधे ही होते हैं' इस प्रकार के थोड़े से ही व्यंगभरे अपमानजनक शब्द दुर्योधन को लक्ष्य में करके कहे थे। उसका घाव दुर्योधन के मन में इतना गहरा हो गया था कि महाभारत के संग्राम के रूप में उसकी भयंकर प्रतिक्रिया सामने आई और अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो गया।

---

१. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. ५७

२. एकः शब्द सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।
–नवाह्निक भाष्य में शब्दशक्तिवाद

सम्राट् कोणिक की रानी पद्मावती के थोड़े-से उत्तेजक बोल–"यह हार और हाथी तो आपके पास ही शोभा देता है", भयंकर रूप में कोणिक के हृदय में प्रविष्ट हो गए और वह हलविहल्लकुमार के अधिकार में प्राप्त हार और हाथी को हथियाने के लिए अपने मातामह गणराज्याध्यक्ष चेटकराज के साथ भयंकर युद्ध छेड़ बैठा। उस संग्राम में एक करोड़ अस्सी लाख व्यक्ति मारे गए। कितना भयंकर था वह वाक्यवाण![1]

इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है–"लोहे के कांटे तो केवल मुहूर्तभर दुःखदायी होते हैं, बाद में तो वे भी उस अंग में से सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं, किन्तु वाणी से निकले हुए दुर्वचनरूपी काँटे कठिनता से निकाले जा सकने वाले तथा वैर की परम्परा बढ़ाने वाले और महाभयकारी होते हैं।[2]

वाणी की सर्वतोमुखी प्रभाव-क्षमता

इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वाणी का कार्य केवल जानकारी करा देना भर नहीं है, अपितु शब्द-प्रवाह के साथ-साथ उनके जो प्रभावोत्पादक प्रेरक तत्त्व भी जुड़े रहते हैं, वे ध्वनि कम्पनों के साथ घुल-मिल कर जहाँ भी टकराते हैं, वहाँ विद्युत् की तरह चेतनात्मक हलचल पैदा कर देते हैं।

पदार्थ-विज्ञान की कसौटी पर शब्द को कसा जाए तो उसे केवल भौतिक तरंग या स्पन्दन मात्र कहा जा सकता है, किन्तु चेतना को प्रभावित करने वाली उसकी संवेदनात्मक क्षमता की यथार्थ व्याख्या भौतिक विज्ञान द्वारा नहीं हो सकती। उसे अध्यात्म-विज्ञान के मनीषियों एवं तत्त्वचिन्तकों ने विशुद्ध आध्यात्मिक बताया है।[3]

वाणी की आध्यात्मिक शक्ति से दिव्यगुणद्रोही तत्त्ववेध

'अमरकोश' में बताए गए वाणी के पूर्वोक्त समस्त रूपों को सम्यक्रूप से प्रयुक्त एवं अभिव्यक्त करने पर ब्रह्मज्ञानी (विप्र) स्व-पर के दिव्यगुणद्वेषी तत्त्वों (जैन दृष्टि से पापास्रवों) का भेदन करता है; इसी तथ्य को "अथर्ववेद' में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है–"जिह्वा जिसकी प्रत्यंचा है; उच्चारण किया हुआ शब्द जिसका बाण है, संयम जिसका बाणाग्र है, तप से जिसे तीक्ष्ण किया जाता है, आत्मबल जिसका धनुष है; ऐसे वाणी के विविध शस्त्रों से युक्त ब्रह्मज्ञानी अपने वाक्रूपी मंत्रबल से समस्त दिव्यगुण-द्रोही तत्त्वों को वेध (भेदन कर) डालता है।"[4]

---

१. देखें–निरयावलिका सूत्र में कौणिक अधिकार

२. मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया अयोमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥ –दशवैकालिक ९/३/७

३. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. ५७

४. तीक्ष्णेषवो ब्राह्मण हेतिमन्तो, यामस्यन्ति शरव्यां नसा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युनाधोत् दूरादेव भिन्दत्येनः॥

वाणी की शक्ति और उपलब्धि का महत्व

वाणी की शक्ति का जीवन के उत्कर्ष और अपकर्ष में कितना स्थान है, अथवा योगदान है?, इसकी जानकारी किसी गूंगे और ओजस्वी वक्ता की स्थिति की तुलना करके देखने से मिल सकती है। भावना का आदान-प्रदन कितना प्रभावशील, उपयोगी एवं व्यवहार्य है?, इसका पता इसलिए नहीं चल पाता कि मनुष्य उस ढर्रे पर सहज अभ्यासवश चलता रहता है और उससे वह कुछ विशिष्ट निष्कर्ष नहीं निकला पाता। यदि वह मानव किसी मूक योनि का प्राणी रहा होता और बातचीत का आनन्द एवं परस्पर विचारों के आदान-प्रदान से लाभ लेने वाले मानव की सुविधा का हिसाब-किताब रखता तो[1] पता चलता कि वाणी की उपलब्धि कितनी बड़ी और महत्वपूर्ण है।

उपासनारूप दिव्यवाणी : क्या और कैसी?

भावनापूर्ण श्रद्धा और भक्ति के साथ जब ताल-लय युक्त संगीतबद्ध या पद्यबद्ध वाणी का प्रयोग होता है, तब वह वाणी उपासना का रूप ले लेती है। ऐसी वाणी के प्रयोग के समय साधक के अन्तःकरण में मस्ती छाई रहती है। वह वाणी प्रखर भी होती है और प्रभावशाली भी। इसमें वक्ता की वाणी में प्रौढ़ता, सुविचारकता, सुविज्ञ मस्तिष्क की ज्ञान-सम्पदा भी जुड़ी हुई होती है। इसमें परिष्कृत व्यक्तित्व के साथ जुड़ी रहने वाली उच्चस्तरीय भाव-संवेदना का समावेश होता है। इसे हम दिव्यवाणी कह सकते हैं।

यह वाणी बेगार काटने की व तोतारटन की तरह नहीं होती, किन्तु भाव-तरंगों में लहराते हुए उसे गाया या गुनगुनाया जाता है। इसमें उपासना प्रक्रिया निहित मंत्राच्चार के साथ श्रद्धाभरी अनन्य तन्मयता होती है, और होती है क्रमबद्ध, तालबद्ध, लयबद्ध एवं स्वरबद्ध गुनगुनाहट या शब्दोच्चारण क्रिया। इस प्रकार की वाणी में इसके साथ एकाकार होने की तत्परता एवं भक्तिभावना होती है। ऐसी वाणी आध्यात्मिक जीवन को परिष्कृत और विकसित करती है।[2]

वर्ण-विन्यास की कुशलता-अकुशलता पर शुभाशुभ परिणाम

वर्ण-विन्यास की कुशलता पर शब्द शक्ति का चमत्कार निर्भर है। शब्दों का संयोजन इस प्रकार का होता है कि सुनने वाले पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसे भी प्रिय लगता है और सुनकर प्रसन्नता पैदा होती है; जबकि एक शब्दावली-संयोजन इस प्रकार का होता है, जो सुनने वाले को भी प्रिय नहीं लगता, न ही उसे प्रसन्नता होती है,

---

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाक् नाडीका दन्तास्तपसाभि दग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्, हृद्बलेर्धनुभिर्देवजुतेः। —अथर्ववेद ५/१८/९-८

१. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. ५७
२. वही, मार्च १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. ९

और न स्वयं (शब्दवली संयोजक) को प्रसन्नता और संतुष्टि होती है। गलत एवं दग्धाक्षर का प्रयोग आदि में या अन्त में हो जाने से उस शब्दावली का अनिष्ट परिणाम भी आता है।[1]

शब्दशक्ति का चमत्कार : अक्षरयोजक की कुशलता पर निर्भर

मंत्र क्या है? अमुक वर्णों का सुव्यवस्थित संयोजन ही मंत्र है। यह संयोजक की कुशलता और अनुभूति है कि मंत्र की शब्दावली के संयोजन में उसने प्राण भर दिये हैं तो निश्चित ही उस मंत्र जप से उद्देश्य पूर्ण होगा। अन्यथा, जो व्यक्ति अक्षरों का संयोजन करने में समर्थ या निपुण नहीं है तो मंत्र प्राण शक्ति भरने के बदले प्राण-हरण भी कर लेता है।

वैसे तो भारतीय संस्कृति के एक उन्नायक ने कहा है–'कोई भी अक्षर ऐसा नहीं है, जो मंत्र न हो, प्रत्येक अक्षर में मंत्र की शक्ति निहित है। कोई भी मूल (जड़ी) ऐसी नहीं है, जो औषध न बन सके। कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है, जो योग्य न हो। वास्तव में इनका संयोजक ही दुर्लभ है।

योगिराज आनन्दघन जी ने रुष्ट हुए राजा की रानी को इतना-सा लिखकर दिया था कि "राजा रानी से रुष्ट हो तो आनन्दघन को क्या, और राजा रानी से तुष्ट हो तो आनन्दघन को क्या?" रानी मंत्र समझकर श्रद्धाभाव से ले गई और उसका कार्य सफल हो गया। राजा रानी से प्रसन्न हो गया। किन्तु वह रहस्य को जानने के लिए आनन्दघनजी के पास आया। वह कागज खोला तो उसमें उपर्युक्त दो वाक्य लिखे मिले। परन्तु यह मंत्रसंयोजक की कुशल प्रज्ञा और चारित्र का चमत्कार ही था।"[2]

वर्णों के शुभाशुभत्व के आधार पर प्रश्नों के उत्तर

ज्योतिष की एक पद्धति ऐसी है, जो वर्णमाला के आधार पर विकसित हुई है। इसमें ज्योतिर्विद् प्रश्नकर्ता से कहता है–अपना प्रश्न लिख कर दो। प्रश्नकर्ता ने किस वर्ण से प्रश्न प्रारम्भ क्रिया है और किस वर्ण से प्रश्न पूरा हुआ है? अर्थात् आदि, मध्य और अन्त के वर्णों में शुभ वर्णों की बहुलता है या अशुभ वर्णों की; इसके आधार पर उत्तरदाता सभी प्रश्नों का उत्तर देता है।[3]

जपयोग के आध्यात्मिक प्रभाव

जपयोग में शब्दशक्ति के इसी आध्यात्मिक प्रभाव को छान कर काम में लाया जाता है। जिस प्रकार नींबू का रस निचोड़कर उसका छिलका एक ओर रख दिया जाता

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. १०८
२. (क) वही, पृ. १०९
   (ख) "अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्तिमूलमनौषधम्। अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्रदुर्लभः॥"
३. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. १०९

है, तथैव दूध से घी निकाल कर छाछ को महत्वहीन समझ कर एक ओर रख दिया जाता है, उसी प्रकार जपयोग से ऐसी चेतन शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, जो जपकर्ता के तन-मन-वचन में विचित्र प्रकार की हलचलें उत्पन्न कर देती है, इतना ही नहीं, अनन्त आकाश में व्याप्त होकर विशिष्ट विभूतियों को आकर्षित करने तथा विशिष्ट परिस्थितियों एवं वातावरण के निर्माण करने का कार्य भी करती है।[1]

मंत्रजप द्वारा शब्दशक्ति के चमत्कार

अभिप्राय यह है कि किसी भी आध्यात्मिक प्रयोजनात्मक मंत्र की प्रतिक्रिया दोहरी होती है। एक होती है–भीतर और दूसरी बाहर होती है। अग्नि जहाँ जलती है उस स्थान को तो गर्म करती ही है, साथ ही वायुमण्डल में भी ऊष्मा फैलाती है, और अपने प्रभाव क्षेत्र को भी उष्णता प्रदान करती है। इसी प्रकार विधिवत् लगातार अनवरत किया गया विशिष्ट चयनकृत शब्दों का मंत्रजप भी परिपार्श्व में प्रकम्पन उत्पन्न करता है, उससे जिस प्रकार की ध्वनि तरंगें पैदा होती हैं वे जपकर्ता के स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर बहुत बड़ा प्रभाव डालती हैं।

वास्तव में मंत्रजप का अविच्छिन्न ध्वनि प्रवाह नीचे समुद्र की गहराई में चलने वाली जलधाराओं की तरह तथा ऊपर आकाश में छितरा कर उड़ने वाली वायु की पर्तों की तरह अपनी हलचल उत्पन्न करता है। उसके कारण शरीर में सन्निहित अनेक चक्रों और उपत्यिका[2] ग्रन्थियों में विशिष्ट स्तर का शक्ति संचार होता है। नियमित क्रम से एक-सी चलने वाली हलचलें ही ऐसा रहस्यमय प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

एक टन वजन का लोहे का गार्डर किसी छत के बीचोबीच लटका कर लोग जब पाँच ग्राम वजनदार कार्क की लगातार चोट लगाना शुरू कर देते हैं तो थोड़े ही समय में वह सारा गार्डर कांपने लगता है।

जिस प्रकार लगातार एक गति से आघात क्रम से उत्पन्न होने वाली शब्दशक्ति का यह चमत्कार है, इसी प्रकार मंत्रजप भी अविच्छिन्न रूप से विधिवत् निरन्तर एक गति से किया जाए तो उसका परिणाम भी ऐसा ही आता है। जप का शब्द प्रवाह भी सूक्ष्म शरीर (जैनदृष्टि से तैजस शरीर) में अवस्थित चक्रों और ग्रन्थियों को अपने ढंग से प्रभावित करता है और उससे उत्पन्न हुए प्रकम्पन उनकी मूर्च्छना दूर करके जागृति का नया दौर पैदा करते हैं। मंत्रजपकर्ता को ग्रन्थिभेदन एवं चक्र जागरण का अपूर्व लाभ प्राप्त होता है। जागृत हुए दिव्य संस्थान भी साधक में आत्मबल का संचार करते हैं। इस नवीन उपलब्धि से उसे अपने भीतर प्रत्यक्ष लाभ दृष्टिगोचर होने लगते हैं, उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मुझमें अभूतपूर्व शक्ति संचार हो रहा है।

---

१. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. ५७
२. वही, जनवरी १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. ५८

टाइपराइटर की तरह क्रमबद्ध मंत्रोच्चारण भी सूक्ष्म चक्रों को जगा देता है

जैसे टाइपराइटर में अंगुलियों से चाबियाँ दबाई जाती हैं, तब कागज पर वे तीलियाँ गिरकर अक्षर छापने लगती हैं, उसी प्रकार टाइपराइटर की कुंजियों के स्थान में जो मुख में संलग्न उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले कलपुर्जे हैं, मंत्रोच्चारण-अंगुलि से उसे दबाना है। यहाँ से उत्पन्न शक्ति प्रवाह नाड़ीतन्तुरूपी तीलियों के सहारे सूक्ष्मचक्रों और दिव्यग्रन्थियों तक पहुँच जाता है और उन्हें झकझोर कर जगाने और उठाने में संलग्न होता है। अक्षरों का छपना यहाँ वह उपलब्धि है, जो जागृत चक्रों द्वारा रहस्यमयी सिद्धियों के रूप में साधक को मिलती है।

क्रमबद्ध मंत्रजप से अलौकिक शक्तियों के जागृत होने का चमत्कार

पुलों पर से गुजरती हुई सेना के लेफ्टराइट के क्रम से जब तालबद्ध पैर पड़ते हैं तो उक्त ध्वनिप्रवाह की एकीभूत शक्ति उत्पन्न होती है। उस अद्भुत शक्ति के प्रहार से मजबूत पुलों में भी दरारें पड़ सकती हैं और भारी नुकसान हो सकता है। इसी प्रकार मंत्रजप में भी क्रमबद्ध लगातार उच्चारण करने से उसी प्रकार का तालक्रम उत्पन्न होता है, जिसके कारण शरीर के अन्तःसंस्थानों में विशिष्ट प्रकम्पन (हलचलें) उत्पन्न होते हैं। ये हलचलें उन अलौकिक शक्तियों की मूर्च्छना दूर करते हैं। उन शक्तियों के जागृत होने पर सामान्य मनुष्य को भी ये असामान्य चमत्कारों से समृद्ध कर सकती हैं।

डायनेमो का पहिया लगातार घूमने से बिजली उत्पन्न होती है, इसी प्रकार जप में शब्द प्रवाह के बार-बार गतिशील होने से घर्षण और विद्युत पैदा होती है। स्थूल शरीर उत्तेजित हो जाने से सूक्ष्म शरीर (तैजस् शरीर) में भी उत्तेजना पैदा होती है। ऊर्जा शक्ति बढ़ जाती है। उस तेजोमयी आन्तरिक विद्युत् की वृद्धि से मूर्च्छित पड़ा हुआ अन्तर्जगत् नवजागरण का अनुभव करता है। वह जागृति केवल उत्तेजना ही नहीं होती, उसके साथ-साथ अन्य अनेक उपलब्धियों की सम्भावना भी जुड़ी रहती है।[1]

गायत्री मंत्र के क्रमबद्ध उच्चारण की प्रक्रिया भी शरीर में संलग्न सूक्ष्म शक्ति स्रोतों की मूर्च्छना जागृत कर प्रखरता और आवश्यक गतिशीलता समुत्पन्न करती है। प्रस्तुत गतिशीलता भी एक नहीं अपितु अनेक दिव्य उपलब्धियों के रूप में परिलक्षित हो सकती है। तैत्तिरीयसंहिता में यही बात इन शब्दों में कही गयी है कि—गायत्री मंत्रों का उच्चारण मुख से लेकर नाभि पर्यन्त अपना प्रभाव विस्तीर्ण करता है।[2]

---

१. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से साभार भावांश ग्रहण, पृ. ५९

२. "जानुदघ्नं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानो गायत्रियवेयं लोकमभ्यारोहति नाभिदघ्नं चिन्वीत॥"

—तै. सं. ५/६/८

शब्दशक्ति की व्यापकता

हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे शब्द हमारे सन्निकट प्रकम्पन्न समुत्पन्न करते हैं। उन ध्वनि तरंगों का हमारे पर बहुत गहरा असर होता है। पूना के डक्कन कालेज में मैंने स्वयं देखा है– ध्वनि का ज्यों ही उच्चारण होता है त्यों ही वे शब्द बिजली की चमक की तरह रेखाएँ बनाते हैं। उन शब्दों की गति बहुत ही चपल होती है। जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

हमारे शब्दशास्त्रियों ने वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार रूप प्रतिपादित किये हैं। प्राणमयी वाणी या ध्वनि 'परा' है। मनोमयी वाणी या ध्वनि 'पश्यन्ती' है। ध्वनि की व्यञ्जक ध्वनि 'मध्यमा' है और जो स्थूल ध्वनि या वाणी है वह 'वैखरी' है। ये क्रमशः सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म और स्थूल हैं। हम जो वार्तालाप करते हैं, वह बेखरी ध्वनि या वाणी है।

मंत्रों के चमत्कार

मंत्र विज्ञान के चमत्कार की अनेक किंवदन्तियाँ सुनने को मिलती हैं। अमुक यति ने मन्त्र प्रयोग से अमावस्या की रात्रि को पूर्णिमा में परिवर्तित कर दिया। अमुक आचार्य ने मंत्र की शक्ति से ताले तोड़ दिये। मकान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा दिया। ये सारी बातें सुनते हैं या पढ़ते हैं तब असम्भव जैसी लगती हैं पर आधुनिक विज्ञान ने आज सूक्ष्म ध्वनियों का विकास करके यह सिद्ध कर दिया है कि ध्वनि तरंगों में बहुत ही अद्‌भुत शक्ति है। स्थूल उपकरणों के अभाव में भी बड़े-बड़े कार्य सहज रूप से निष्पन्न किये जा सकते हैं।[1]

सूक्ष्म ध्वनि से आश्चर्यजनक कार्य

नवनीत पत्रिका में पढ़ा था कि सूक्ष्म ध्वनि से अनेक आश्चर्यजनक कार्य किये जा सकते हैं। रोगी का ऑपरेशन बिना औजार के किया जा सकता है। सूक्ष्म ध्वनि तरंगें यन्त्र चलाकर रोगी के ऑपरेशन स्थल पर डाली जाती हैं, वे ध्वनि तरंगें निश्चित वर्तुल में आती हैं जिससे स्वतः ऑपरेशन हो जाता है। इस प्रकार ध्वनि तरंगों से ऑपरेशन के प्रयोग सफल हुए हैं। ध्वनि तरंगों से हीरा जो बहुत ही कठोर है वह भी काटा जा सकता है और अन्यान्य कार्य भी ध्वनि तरंगों से होते हैं। यह है शब्द शक्ति का चमत्कार।

मैंने यह भी पढ़ा है कि शब्दों से पानी का नल स्वतः चालू हो जाता है और स्वतः बन्द भी हो जाता है। शब्द ध्वनि से इस प्रकार का प्रकम्पन पैदा होता है कि कार का द्वार भी खुल जाता है और बन्द भी हो जाता है।

---

१. मंत्र शक्ति के चमत्कार (चमनलाल गौतम) पृष्ठ १०

टाइपराइटर की तरह क्रमबद्ध मंत्रोच्चारण भी सूक्ष्म चक्रों को जगा देता है

जैसे टाइपराइटर में अंगुलियों से चाबियाँ दबाई जाती हैं, तब कागज पर वे तीलियाँ गिरकर अक्षर छापने लगती हैं, उसी प्रकार टाइपराइटर की कुंजियों के स्थान में जो मुख में संलग्न उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले कलपुर्जे हैं, मंत्रोच्चारण-अंगुलि से उसे दबाना है। यहाँ से उत्पन्न शक्ति प्रवाह नाड़ीतन्तुरूपी तीलियों के सहारे सूक्ष्मचक्रों और दिव्यग्रन्थियों तक पहुँच जाता है और उन्हें झकझोर कर जगाने और उठाने में संलग्न होता है। अक्षरों का छपना यहाँ वह उपलब्धि है, जो जागृत चक्रों द्वारा रहस्यमयी सिद्धियों के रूप में साधक को मिलती है।

क्रमबद्ध मंत्रजप से अलौकिक शक्तियों के जागृत होने का चमत्कार

पुलों पर से गुजरती हुई सेना के लेफ्टराइट के क्रम से जब तालबद्ध पैर पड़ते हैं तो उक्त ध्वनिप्रवाह की एकीभूत शक्ति उत्पन्न होती है। उस अद्भुत शक्ति के प्रहार से मजबूत पुलों में भी दरारें पड़ सकती हैं और भारी नुकसान हो सकता है। इसी प्रकार मंत्रजप में भी क्रमबद्ध लगातार उच्चारण करने से उसी प्रकार का तालक्रम उत्पन्न होता है, जिसके कारण शरीर के अन्तःसंस्थानों में विशिष्ट प्रकम्पन (हलचलें) उत्पन्न होते हैं। ये हलचलें उन अलौकिक शक्तियों की मूर्च्छना दूर करते हैं। उन शक्तियों के जागृत होने पर सामान्य मनुष्य को भी ये असामान्य चमत्कारों से समृद्ध कर सकती हैं।

डायनेमो का पहिया लगातार घूमने से बिजली उत्पन्न होती है, इसी प्रकार जप में शब्द प्रवाह के बार-बार गतिशील होने से घर्षण और विद्युत पैदा होती है। स्थूल शरीर उत्तेजित हो जाने से सूक्ष्म शरीर (तैजस् शरीर) में भी उत्तेजना पैदा होती है। ऊर्जा शक्ति बढ़ जाती है। उस तेजोमयी आन्तरिक विद्युत् की वृद्धि से मूर्च्छित पड़ा हुआ अन्तर्जगत् नवजागरण का अनुभव करता है। वह जागृति केवल उत्तेजना ही नहीं होती, उसके साथ-साथ अन्य अनेक उपलब्धियों की सम्भावना भी जुड़ी रहती है।[1]

गायत्री मंत्र के क्रमबद्ध उच्चारण की प्रक्रिया भी शरीर में संलग्न सूक्ष्म शक्ति स्रोतों की मूर्च्छना जागृत कर प्रखरता और आवश्यक गतिशीलता समुत्पन्न करती है। प्रस्तुत गतिशीलता भी एक नहीं अपितु अनेक दिव्य उपलब्धियों के रूप में परिलक्षित हो सकती है। तैत्तिरीयसंहिता में यही बात इन शब्दों में कही गयी है कि–गायत्री मंत्रों का उच्चारण मुख से लेकर नाभि पर्यन्त अपना प्रभाव विस्तीर्ण करता है।[2]

---

१. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से साभार भावांश ग्रहण, पृ. ५९

२. "जानुदघ्नं चिन्वीत प्रथमं चिन्वानो गायत्रियवेयं लोकमभ्यारोहति नाभिदघ्नं चिन्वीत॥"
–तै. सं. ५/६/८

जहाँ दृश्य और श्रव्य का समावेश है, वहाँ दृश्य पहले दीखेगा और उस घटना के साथ जुड़ी हुई श्रव्य आवाज कान तक पीछे पहुँचेगी।[1]

इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक तरंगों का चमत्कार

रेडियो-प्रसारण में एक छोटी-सी आवाज को विश्वव्यापी बना दी जाती है। उसे १ लाख ८६ हजार मील प्रति सैकिण्ड की गति से चलने योग्य बना देने में इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक तरंगों (Waves) का ही चमत्कार होता है। रेडियो मैकेनिक 'इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक वेव्ज' पर साउण्ड (आवाज) का सुपर कम्पोज कर देते हैं, जिससे पलक मारते ही वह आवाज सारे संसार की परिक्रमा कर लेने जितनी शक्तिशाली बन जाती है।

इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक तरंगों की शक्ति से चिकित्सा क्षेत्र में चमत्कार

वर्तमान में इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक तरंगों की शक्ति से अन्तरिक्ष में भेजे गए राकेटों की उड़ान को इस धरती पर से नियंत्रित करने, उन्हें दिशा निर्देश देने, संकेत देने एवं यांत्रिक खराबी को दूर करने का प्रयोजन पूरा किया जाता है।

ये किरणें (तरंगें) जब 'लैसर' स्तर की बन जाती हैं, तब इनकी शक्ति अपार हो जाती है। एक फुट मोटी लोहे की चद्दर में सूराख कर देना उनके बाँये हाथ का खेल है। ये किरणें इतनी बारीक (पतली) होती हैं कि आँख की पुतली के लाखवें हिस्से में खराबी होने पर मात्र उतने ही हिस्से का निर्धारित गहराई तक ही सीमित रहने वाला सफल ऑपरेशन कर देती है। अब इन किरणों का उपयोग चिकित्साक्षेत्र में भी बहुत होने लगा है। कैंसर, आंत्र-शोथ, यकृत की विकृति, गुर्दे की सूजन, हृदय की धड़कन जैसी बीमारियों की चिकित्सा में भी इनका सफल उपयोग होने लगा है। यह है शब्द शक्ति का अद्भुत चमत्कार![2]

जपक्रिया के द्वारा सुपरसौनिक तरंगों का उत्पादन

इन सुपरसौनिक तरंगों का जप-प्रक्रिया के द्वारा उत्पादन और समन्वय संभव है। जप के समय उच्चारण किये गए शब्द के साथ आत्मनिष्ठा, संकल्प और श्रद्धाशक्ति का समन्वय होने से वैसी ही क्रिया सम्पन्न हो सकती है, जो रेडियो-स्टेशन पर बोले गए शब्द विशिष्ट विद्युत् शक्ति के साथ मिलकर अत्यन्त शक्तिशाली हो जाते हैं और क्षण भर में समस्त भूमण्डल में अपना दृश्य या श्रव्य सन्देश प्रसारित कर देते हैं।

जप-प्रक्रिया में एक विशेषता यह भी है कि उससे न केवल समग्र संसार का वातावरण प्रभावित होता है, अपितु जप-साधक का व्यक्तित्व भी जगमगाने और उत्साहपूर्वक झनझनाने लगता है, जबकि रेडियो-स्टेशन से प्रसारण करने में दूरस्थ लाभ

---

१. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. ५९
२. वही, जनवरी १९७६ से भावांश उद्धृत पृ. ६०

तो होता है, किन्तु प्रसारणकर्ता को कोई लाभ नहीं होता। लैसर रेडियम किरणें फैंकने वाले यंत्रों में कोई निजी प्रभाव नहीं देखा जाता, वे तो उन्हीं स्थानों को प्रभावित करते हैं, जहाँ उनका लक्ष्ययुक्त आघात लगता है। जप प्रयोग में साधक को तथा वातावरण को प्रभावित करने की दुहरी क्षमता मौजूद है।'

शब्दवेधी वाण प्रयोग की तरह शब्दवेधी मंत्रप्रयोग प्रयोक्ता के पास वापस लौटते हैं

प्राचीनकाल में शब्दवेधी वाण चलते थे, वे लक्ष्य से टकराते थे, लक्ष्यवेध करते थे और वापस लौटकर उसी (प्रयोग के) तरकश में आ घुसते थे। ऐसे अस्त्रों को काल्पनिक किंवदन्ती मानने की आवश्यकता नहीं। उसका एक स्थूलरूप अभी भी आस्ट्रेलिया के आदिवासी लोगों में मौजूद है, वे ऐसे अस्त्र का प्रयोग करते हैं, जिसका नाम है–बूमरेंग। मंत्र-साधना में भी विशिष्ट शब्द रचना के आधार पर बने तथा विशेष मनःस्थिति में, विशेष विधि-विधान के साथ जिस मंत्रशब्दावली को अनवरत दोहराया जाता है, वह निश्चित ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते हुए मूल मंत्र प्रयोक्ता के पास वापस लौट आती है और उसके लिए अतिमहत्वपूर्ण सत्परिणाम उत्पन्न करती है।"[२]

वाकसंवर की आवश्यकता क्यों और किसलिए?

ये सब हुईं वाणी, ध्वनि या स्वर के विविध प्रयोगों से लाभ-अलाभ की बातें! भौतिक लाभ होने पर जहाँ आध्यात्मिक, सामाजिक या व्यक्तिगत लाभ बहुत ही कम होता है, वहाँ वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो शब्दशक्ति से आध्यात्मिक लाभ या सामाजिक, नैतिक या धार्मिक लाभ बहुत ही नगण्य है। वाक्संवर की आवश्यकता पहले जितनी नहीं थी, उतनी आज है, क्योंकि कोलाहल शोर-शराबा, बमों के धमाके, फेक्टरियों और कारखानों की आवाज, विमानों की अधिकाधिक ध्वनि, वाहनों की खड़खड़ाहट आदि अत्यधिक घढ़ गई हैं।

शोर प्रदूषण का तन-मन-जीवन पर दुष्प्रभाव

शरीरविज्ञानियों के अनुसार शोर का मनुष्य के तन-मन एवं जीवन पर अत्यधिक दुष्प्रभाव पड़ता है। कानों को तो क्षति पहुँचती ही है। प्रायः अत्यधिक शोर से कान बहरे हो जाते हैं। कई दफा कान के पर्दे फट जाते हैं। अत्यधिक तेज शोर से धमनियां सिकुड़ने लगती हैं, पाचनक्रिया मन्द हो जाती है, ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है, श्वसन क्रिया अनियमित हो जाती है। इससे आंतों पर असर होता है। अधिक तीव्र शोर से आँखों की रोशनी मन्द पड़ जाती है। रात में देखने में कठिनाई होने लगती है। रंगों का अन्तर का पाना कठिन हो जाता है। दूरी का तथा धरातल के ऊँचे-नीचे होने का सही अनुमान लगाना कठिन हो जाता है।

---

१. वही, जनवरी १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. ६०
२. वही, नवम्बर ७६ से भावांश ग्रहण पृ. ५६

अधिक शोर से थकान, उदासी और ऊब पैदा होती है, विचारों की शृंखला टूट जाती है। मस्तिष्क की विद्युत् तरंगों में गड़बड़ी होने लगती है। इससे उत्तेजनापूर्ण तथा वाक्-कलहयुक्त जीवन की ओर झुकाव बढ़ सकता है, तथा हिंसा की भावना बल पकड़ सकती है। अत्यधिक शोर का हमारे शरीरतंत्र पर तथा कई हारमोनों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है। पिच्युटरी ग्रन्थी, एड्रनिल कोर्टेक्स, थायरायड ग्रन्थी तथा प्रजनन ग्रन्थियों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। हृदयरोग तथा मस्तिष्क की शक्ति का ह्रास इसी अत्यधिक शोर की देन है।

इस दृष्टि से सोचे तो शोर भी पर्यावरण प्रदूषण का एक कारण है। शोर से होने वाले प्रदूषण को ध्वनि-प्रदूषण कहते हैं। इससे मनुष्य की शान्ति, सन्तुष्टि, धैर्य और स्थिरता भंग हो गई है। अधिकांश लोग आज शान्त, एकान्त वातावरण में रहना चाहते हैं, परन्तु उन्हें इस ध्वनि प्रदूषण से छुटकारा नहीं मिलता। उनका एकान्त और मौन भंग हो गया, नींद हराम हो गई, स्वास्थ्य चौपट हो गया। इसलिए आज स्वयं वाणी पर रोक लगाने के साथ-साथ इन अतिशय तीव्र कोलाहलों से मुक्ति पाना आवश्यक है। बोलते-बोलते मनुष्य ने ऐसी-ऐसी ध्वनियों का आविष्कार कर लिया कि वे स्वयं मानव के लिए अतिघातक बन गई हैं।

कानों से श्रवणयोग्य ध्वनि कितनी डेसीबेल?

प्रसिद्ध वैज्ञानिक ग्राहमबेल ने शोर का अनुसन्धान करके ध्वनि को मापने की पद्धति का आविष्कार किया। शोर नापने की इकाई का नाम ग्राहमबेल के नाम पर 'बेल' रखा है। बेल का दशमांश है–डेसीबेल। जहाँ से ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, उसे कहते हैं–शून्य डेसीबेल। सामान्यतया मानव के प्रशान्त वातावरण में भी २५ डेसीबेल घड़ी टिकटिक करती है, कोई धीरे से बोलता है तो उससे मनुष्य की निद्रा में कोई बाधा नहीं पहुँचती। पत्तों की मर्मर ध्वनि या हल्की-सी हलचल लगभग २५ डेसीबेल होता है। अतः वाक्संवर की दृष्टि से हमारी जीवनयात्रा ध्वनि से अध्वनि, शब्द से अशब्द तथा स्वर से अस्वर की ओर गति-प्रगति करनी चाहिए।[1]

वाक्संवर की दिशा में जाने के लिए कुछ संयम सूत्र

कोलाहल की इस पर्यावरण प्रदूषणता एवं जन-व्याकुलता के कारण वर्तमान युग में मौन का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। क्या समाज, क्या परिवार, क्या राष्ट्र, क्या राजनीति, क्या धर्म सम्प्रदाय सभी क्षेत्रों में सर्वत्र अत्यधिक बोलने की बीमारी लग गई है।

---

१. (क) अखण्ड ज्योति फरवरी १९७७ पृ. १८

२. (ख) महावीर की साधना का रहस्य से किंचित् भावांश ग्रहण पृ. १०२

इसीलिए भगवान् ने वाग्गुप्ति के परिप्रेक्ष्य में कहा–"बहुत मत बोलो, न ही बहुत बातें करो।" "दो व्यक्ति बात कर रहे हों, उसके बीच में न बोलो, बिना पूछे कुछ भी मत बोलो।" जहाँ वाद-विवाद के द्वारा कलह, संघर्ष, पारस्परिक वैर-विरोध, ईर्ष्या, द्वेष एवं मनोमालिन्य बढ़ने की आशंका हो, वहाँ साधक को मौन रखने अथवा वाग्गुप्ति करने का निर्देश भी वाणी के संवर का प्रकार है।

इसी प्रकार वाणी-संवर के अभ्यास में क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर लौटना अत्यावश्यक है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने के लिए भगवान् ने निम्नोक्त आठ प्रकार की भाषा बोलने का निषेध किया है–(१) कर्कशकारी, (२) कठोरकारी, (३) निश्चयकारी, (४) हिंसाकारी, (५) छेदकारी, (६) भेदकारी (समाज में फूट डालने वाली), (७) सावद्य (पापयुक्त) भाषा एवं (८) मिथ्या भाषा।

कई लोग निरर्थक गपशप करने, व्यर्थ ही अंटसंट बोलने, दूसरे की हंसी-मजाक करने तथा परनिन्दा एवं चुगली करने में अपने समय, शक्ति, नैतिकता एवं धर्म को नष्ट करते हैं। कई लोग हर बात में अपनी बड़ाई और दूसरे की निन्दा करते रहते हैं। यह आत्मप्रशंसा और परनिन्दा भी वाक्संवर के लिए अत्यन्त घातक है। नीच प्रकृति के लोग कलह, बकवास, निन्दा-चुगली एवं निरर्थक हास-परिहास में अपना समय खोते हैं।

"प्रिय, हित, मित, सत्य वचन सदैव सन्तोषकारक एवं दूसरों में अपने प्रति आत्मीयता जगाने वाले होते हैं। वस्तुतः कुशल वचन बोलने वाला ही समिति (भाषा समिति) और वाग्गुप्ति का पालन करता है।" "हित, मित और विचारपूर्वक बोलना ही वस्तुतः वाणी विनय है।" पहले बुद्धि से परख-विचार कर फिर बोलना चाहिए। अंधा व्यक्ति जिस प्रकार पथप्रदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है। प्रियवचन मन्द कषाय के लक्षण हैं। ऐसा व्यक्ति दूसरों को उपालम्भ देते समय भी मधुर वचन बोलता है, किन्तु बहुत ही नपे-तुले शब्दों में अपनी बात कहता है। स्थूल से सूक्ष्म ध्वनि की ओर जाने के लिए इस प्रकार का अभ्यास करना अत्यावश्यक है।[1]

---

१. (क) बहुयं मा य आलवे? –उत्तराध्ययन १/४०
(ख) नापुट्ठो वागरे किं चिं। –उत्तरा. १/१४
(ग) ···· अदुवा गुत्ती वइगोयरस्स। –आचारांग श्रु. १ अ. ८ उ. १ सू.२०१
(घ) देखें– ठाणांग स्था. ८
(ङ) किच्चा परस्स, णिंदं जो अप्पाणं ठवेदु मिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए॥ –भगवती आराधना २७१
(च) सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारे ते विउस्सिया॥ –सूत्रकृताँग १/१/२/२३
(छ) हिदमिद वयणं भासादि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं। –कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३३४
(ज) हिय मिय अफरुस वाई, अणुवीइभासि वाइयो विणओ। –दशवैकालिक निर्युक्ति ३२२

वाणी के प्रयोग के दो प्रमुख कारण

जैनाचार्य पूज्यपाद ने वाणी के प्रयोग के दो कारण बताए हैं। उन्होंने यह विश्लेषण किया है कि मनुष्य को बोलने की आवश्यकता किसलिए होती है? इसके दो कारण मुख्य हैं--एक कारण तो यह है कि जब मन में चंचलता होती है। मानसिक विकल्प या कल्पनाएँ इतनी अधिक उग्र हो जाती हैं कि व्यक्ति अपनी बात को कहे बिना नहीं रह सकता तब वह बरबस वाणी को मुख से बाहर फेंक देता है।

आपने देखा होगा कि कई व्यक्ति अपने या अपने सम्प्रदाय, मत या पक्ष के विरुद्ध कोई बात सुन लेते हैं, तब वे बिना बोले रह ही नहीं सकते, एकदम उछल पड़ते हैं। कई बार तो वे बिना बुलाए ही टपक पड़ते हैं और आवेश में आकर तीव्रगति से बोलने लगते हैं। दो अधिकृत व्यक्ति परस्पर वार्तालाप कर रहे हों, उस समय भी तीसरा व्यक्ति बिना बुलाए ही बीच में बोलने लगता है और उनके मधुर वार्तालाप को कटु और उत्तेजनामय बना देता है।

प्रायः यह भी देखा जाता है कि कई व्यक्ति मानसिक आवेगों के तीव्र हो जाने पर उसके साथ दूसरा कोई बात करने वाला न भी हो तब भी वे अपने ही आप बोलने लगते हैं, कुछ न कुछ बुदबुदाते रहते हैं। वे अपने मनोगत भावों को आवेश में आकर बाहर फेंकने लग जाते हैं। यह होता है--स्वगत वार्तालाप।

बोलने का दूसरा प्रयोजन है--'जनेभ्यो वाक्' अर्थात् जन सम्पर्क। जब व्यक्ति दूसरे के सम्पर्क में आता है तब उसे वाणी का प्रयोग करना पड़ता है। दो परिचित व्यक्ति मिलते हैं तो शिष्टाचारवश कुछ न कुछ बोलते ही हैं। व्यवहार के धरातल पर जो लोग जीते हैं वे यदि शिष्टाचारवश न बोलें तो उसे अच्छा नहीं मानते। यदि वह व्यक्ति मौनी है तो भी आशीर्वादात्मक मुद्रा से अपने हृदय के भाव व्यक्त करता है।

मन्त्रविज्ञों का मानना है मन्त्रों का जाप जितना सूक्ष्म ध्वनि से होगा उतना ही वह अधिक प्रभावोत्पादक होगा। जाप व्यवस्थित रूप से करने पर ही लाभप्रद होता है। नाभि, हृदय, तालु और अर्धचन्द्रनाद इस क्रम से होता है तो वह ग्रन्थियों का भेदन कर देता है। सूक्ष्म उच्चारण से ग्रन्थियाँ सुलझ जाती हैं। आज्ञा चक्र तक पहुँचते-पहुँचते जब उच्चारण सूक्ष्म से सूक्ष्मतम हो जाता है तब ग्रन्थियों का भेदन चालू हो जाता है, ऐसा अनुभवियों का अभिमत है।

(झ) कुसलवयं उदीरंतो जं वइमुत्तो वि सण्णोहि--बृहत्कल्प भाष्य ४४५१ निशीथ भाष्य ३७

(ञ) पुव्वि बुद्धीए पासेत्ता, ततो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओव नेयारं बुद्धिमन्नेसए गिरा। --व्यवहार भाष्य पीठिका ७६

(ट) सव्वत्थ वि पियवयणं, दुप्पवयं दुज्जणस्स विरत्त करणं।
सव्वेसिं गुणगहण मंदकसायण दिट्ठेणम्॥ --कर्मार्घप्रेक्ष्या ९१

(ठ) गिरा हि संवरजुया विसंसती अत्थयता होइ असाहुवादिणी। --बृहत्कल्पभाष्य ४११८

यह स्मरण रखना होगा कि वाक् संवर की परिपूर्णता के लिए उच्चारण स्थूल से सूक्ष्मातिसूक्ष्म होना चाहिये। स्थूल उच्चारण में ग्रन्थिभेदन की उतनी क्षमता नहीं होती जितनी सूक्ष्म उच्चारण में है। ज्यों-ज्यों उच्चारण सूक्ष्म होता चला जाएगा त्यों-त्यों उसमें शक्ति की अभिवृद्धि होती चली जाएगी।

सूक्ष्मतम उच्चारण से वाक्संवर सिद्धि

जैन दार्शनिकों ने सूक्ष्म से सूक्ष्मतम उच्चारण की प्रतिक्रिया पर गहराई से चिन्तन किया है। जितना सूक्ष्म उच्चारण होगा उतनी ही वाणी स्थिर होगी। कर्मास्रवों के प्रवेश और आगमन पर नियन्त्रण होगा। इस प्रकार की वाचा-शून्यता निर्विकल्पता और निर्वाचारिता संप्राप्त होगी, जो वाक्संवर की पूर्णता का रूप है। सूक्ष्म उच्चारणों से ग्रन्थियों का भेदन होने से सहज रूप से संवर की स्थिति प्राप्त हो जाती है। साधक सम्यक्त्व की दृष्टि, व्रत की दृष्टि, अप्रमाद और अकषाय की दृष्टि विकसित करता है और एक दिन अयोग संवर की स्थिति तक पहुँच जाता है।

हम यह अनुभव करते हैं, कितने ही व्यक्ति द्रुतगति से उच्चारण करते हैं तो कितने ही व्यक्ति मन्द स्वर में उच्चारण करते हैं। कितने ही व्यक्ति मध्यम गति से उच्चारण करते हैं तो कितने ही व्यक्ति मन्दतर स्वर में विलम्बित गति से उच्चारण करते हैं। इन चारों प्रकार के व्यक्तियों के उच्चारण में काफी अन्तर है। स्थूल उच्चारण की अपेक्षा सूक्ष्म उच्चारण अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

योगदर्शन के अभिमतानुसार सुषुम्ना नाड़ी का सम्बन्ध ब्रह्म-रन्ध्र से है। ब्रह्म-रन्ध्र से एक रस का स्राव होता है। जो व्यक्ति बहुत तेजी से और शीघ्रता से उच्चारण करता है उस समय सुषुम्ना से अमृत बिन्दु के नौ बिन्दु स्रावित होते हैं। जो व्यक्ति मध्यम गति से उच्चारण करता है उस व्यक्ति के बारह बिन्दु स्रावित होते हैं और जो व्यक्ति शनैः शनैः विलम्बित गति से उच्चारण करते हैं उनके सोलह अमृत बिन्दु स्रावित होते हैं। यह स्राव जितना अधिकतम होता है उतना लाभप्रद समझा जाता है।

सारांश यह है उतावली से, तेजी से बोलने की अपेक्षा धीमे-धीमे और लम्बी मात्रा के साथ बोलने पर उसकी शक्ति में अत्यधिक परिवर्तन आ जाता है। विलम्बित उच्चारण से शक्ति में अभिवृद्धि होती है। जितनी ध्वनि सूक्ष्मतम होगी वह उतनी ही अधिक लाभप्रद होगी। सूक्ष्मतम ध्वनि प्राण में पहुँच जाती है और उससे अधिक लाभ होता है। जप के जो तीन प्रकार हैं–भाष्य, उपांशु और मानस, उनमें मानस जाप सर्वोत्कृष्ट है।

न बोलने से अनेक लाभ

कहावत है–'न बोल्या मां नव गुण' न बोलने से नौ गुण प्राप्त होते हैं। पहला लाभ यह है कि वाक्कलह उत्तेजना आदि नहीं होता। दूसरा लाभ है गाली, निन्दा, अपशब्द, असत्य आदि से बच जाता है। तीसरा लाभ यह है कि बोलने से जो शक्ति व्यय होती है वह

नहीं होती। एक वैदिक विद्वान् ने लिखा है–'वचनपातः वीर्यपाताद् गरीयान्' वचनपात् वीर्यपात् होने से भी बढ़कर है। बोलने से तनाव पैदा होता है। शक्ति का अत्यधिक व्यय होता है। न बोलने से वह शक्ति बच जाती है।

अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प का निरोध ही वाक्संवर

वाक्संवर की पूर्णता केवल बहिर्जल्प तक ही सीमित नहीं है। अन्तर्जल्प भी आवश्यक है। जब बाहर और भीतर दोनों ओर का बोलना बन्द हो जाता है। वाक्संवर का अर्थ है–वाणी के प्रयोग का सर्वथा निरोध करना। मौन का अर्थ केवल वाणी से न बोलना इतना ही नहीं है अपितु मन में भी विचार, वर्ण या विकल्प का प्रयोग न करना, संकेत करना भी अव्यक्त शब्दों का उच्चारण ही है।

श्रमण भगवान् महावीर से एक जिज्ञासु ने पूछा–भंते! वाक्गुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है? उत्तर में उन्होंने कहा–वाक्गुप्ति से जीव को निर्विचारिता निर्विकारिता प्राप्त होती है। निर्विकार या निर्विचार जीव वाणी संवर से युक्त होकर अध्यात्म योग साधना में विचरण करता है।

वचनगुप्ति का निर्विचारिता से गहरा सम्बन्ध है। उसे कुछ चिन्तकों ने काष्ठमौन कहा है। प्रस्तुत मौन में व्यक्ति न आँखें मटकाता है, न हाथ आदि से संकेत करता है और न किसी प्रकार की मुद्रा आदि बनाकर भावों का प्रदर्शन करता है। यदि किसी ने मौन किया है पर मन में विकल्पों के ताने-बाने गूँथ रहा है। चित्त में चिन्तन का प्रवाह अजस्र रूप से प्रवाहित है। बुद्धि के चूल्हे पर विविध प्रकार की योजनाओं की खिचड़ी पक रही है तो वस्तुतः वह मौन नहीं है। वह तो मौन का नाटक है। निर्विचार मौन से जितना लाभ होता है उतना लाभ विचारयुक्त मौन से नहीं होता।

यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है–व्यक्ति जितना मन से बोलता है उतना वचन से नहीं। वक्ता के हाव-भाव आकृति को निहारकर श्रोता उसके भाव को पकड़ लेता है। यही कारण है कि नीतिकार ने इस सत्य को इस प्रकार उजागर किया है–आकार, इंगित, गति, चेष्टा, भाषण, नेत्र और मुँह के विकारों से मानव के अन्तर्मन को परिलक्षित किया जाता है। जो बालक बोल नहीं पाता उसके हाव-भावों और चेष्टाओं को निहारकर माता समझ जाती है कि बालक क्या कहना चाहता है। वह किस वस्तु की माँग कर रहा है।[1]

जब मन अत्यधिक सशक्त और एकाग्र हो जाता है तब मुँह से कहने की आवश्यकता नहीं होती। भाषा के आलम्बन की आवश्यकता जब होती है कि मन की शक्ति अल्प हो। जैन सिद्धान्त के अनुसार देवों के भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति ये दोनों

---

१. आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र-वक्त्र विकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ –पंचतंत्र

पृथक्-पृथक् नहीं होती। सम्भव है इसका सार यह है कि उनका मन इतना शक्तिशाली है कि उन्हें भाषा के आलम्बन की भी आवश्यकता नहीं। वे अपनी बात मन के द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं।

भगवती सूत्र में वर्णन है–अनुत्तर विमान वासी देवों के अन्तर्मानस में यदि कोई जिज्ञासा समुत्पन्न होती है तो उन्हें मानव लोक में विशिष्ट आत्मज्ञानी के पास आने की आवश्यकता नहीं। वे वहीं से अपने विचारों को सम्प्रेषित करते हैं। मानव लोक में रहे हुए केवलज्ञानी उनके जिज्ञासागत भावों को पकड़ लेते हैं और बिना बोले ही मन से ही उन्हें उत्तर प्रदान करते हैं। जिससे उन देवों की जिज्ञासा का सम्यक् समाधान हो जाता है। यह है समीन विचार सम्प्रेषण। न प्रश्नकर्ता को बोलने की आवश्यकता है और न उत्तर-प्रदाता को।

शब्दों की शक्ति बहुत ही सीमित है। यों प्रत्येक शब्द में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। अनंत धर्मात्मक शब्द सर्वज्ञ के अनन्त धर्म में युगपत् दृष्टिगोचर होता है, पर वाणी से उन अनन्त धर्मों को एक साथ नहीं कह सकते। इस तथ्य को श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है–

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान् जो।
ते स्वरूप ने अन्य वाणी ते शुं कहे?,
अनुभव गोचरमात्र रह्यु ते ज्ञान जो ॥

अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्याद्वाद के द्वारा एक शब्द से उसके अनन्तवें हिस्से का ही कथन किया जा सकता है। अतः तत्त्वज्ञानी शब्द के माध्यम को छोड़कर दूसरे माध्यम को विकसित करता है। तीर्थंकर प्रभु को वचनातिशय होता है जिससे देव, मानव-दानव, पशु-पक्षी आदि सभी अपनी-अपनी भाषा में तीर्थंकर की कही हुई बात को समझ लेते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यालय में ट्रांसलेटर यन्त्र लगे हैं उसके माध्यम से एक भाषा में कही हुई बात को विभिन्न राष्ट्रों से आये हुए व्यक्ति अपनी-अपनी मातृभाषा में समझ सकते हैं। वह यन्त्र एक भाषा का विभिन्न राष्ट्रों की भाषा में उसी क्षण अनुवाद कर देता है।

अतीतकाल में विचार सम्प्रेषण पद्धति अध्यात्मयोगियों में प्रचलित थी। गुरु हजार कोस दूर बैठे हुए शिष्य को अपनी बात मानस भाषा के द्वारा पहुँचा देता था और शिष्य भी अपने गुरु के पास अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत कर देता था। दोनों ही एक दूसरे के मन की बात को पकड़ लेते थे। आधुनिक युग में विचार सम्प्रेषण के लिए टैलीपैथी के प्रयोग चल रहे हैं। परामनोविज्ञान विशेषज्ञ उसमें पर्याप्त मात्रा में सफल भी हुए हैं।

यह स्मरण रखना होगा कि हम जिसे अपने मन की बात कहना चाहते हैं सामने वाला व्यक्ति ग्रहणशील है या नहीं। यदि दोनों ओर से ग्रहणशीलता और विधिवत् एकाग्रतापूर्वक प्रेषणशीलता होती है तो एक ही क्षण में उस मानस भाषा को ग्रहण कर

लेते हैं। एक ही प्रकार की शब्दावलि दोनों के अन्तर्मन में आ जाती है। मौन की भाषा अत्यन्त सशक्त और स्पष्ट होती है। शब्दों के माध्यम से हृदय की बात अच्छी तरह समझी जा सकती है और नहीं भी समझी जा सकती है पर अन्तःसम्प्रेषित बात को यथार्थरूप से समझा जा सकता है। अतः वचनसंवर के लिए मौन भाषा या मानस भाषा का विकास आवश्यक है।

वाक्गुप्ति से निर्विकारिता

वाक्गुप्ति से निर्विकारिता सहज रूप से प्राप्त होती है। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि विकारों से बच जाता है। जब वह वाणी का प्रयोग ही नहीं करता तब प्रगट रूप में इन विकारों के आने की कोई गुंजाइश ही नहीं। वाक्गुप्ति ही वाक्संवर का पूर्णरूप है। जिसका उद्देश्य निर्विचारता, निर्विकल्पता, निर्वचनता या शब्दातीत अवस्था तक पहुँचना है। उसके लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

हिमालय की उत्तुंग एवरेस्ट की चोटी पर पहुँचने के लिए तेन सिंह और हिलेरी जैसे पर्वतारोहियों को चिरकाल तक अभ्यास करना पड़ा था। इसी तरह वाक्संवर के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने हेतु प्रथम भाषा-समिति का अभ्यास करना चाहिये। उसके पश्चात् जप, ध्यान, मौन–इंगित मौन, काष्ठमौन और निर्विचार मौन की भूमिका तक पहुँचा जा सकता है। निर्विचार अवस्था जो विचार या चिन्तन करते-करते प्राप्त होती है यही विचारातीत, शब्दातीत, विकल्पातीत अखण्डमौन की स्थिति ही वाक्संवर है। कोई भी विचारशून्य व्यक्ति निर्विचारता की स्थिति तक नहीं पहुँच सकता। इस अवस्था तक पहुँचने के लिए प्रथम विचार, वितर्क, विकल्प, चिन्तन अथवा शब्द को माध्यम बनाना ही पड़ता है। शुक्लध्यान के चार चरणों में से एकत्व वितर्क अविचार नामक द्वितीय चरण है।[1]

धर्मध्यान के अन्तर्गत जो पदस्थ ध्यान है उसकी भी यही प्रक्रिया है। उसमें साधक एक पद लेता है उस पर चिन्तन प्रारम्भ करता है। चिन्तन करते-करते अचिन्तन की भूमिका तक पहुँच जाता है।

निष्कर्ष यह है वाक्संवर का प्रारम्भ पहले कम बोलकर फिर मौन रखकर अवांछनीय वाणी प्रयोगों से बचकर करना है। उसके पश्चात् दूसरे किसी से न बोलकर किसी पद का वाचिक जप करना फिर उपांशु जप करना और फिर मानस जप करना चाहिये। धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अभ्यास क्रमशः बढ़ाना चाहिये। 'बैखरी' ध्वनि से 'मध्यमा' 'पश्यन्ती' ध्वनि तक पहुँचकर अन्त में 'परा' ध्वनि-प्राणमय सूक्ष्मतम ध्वनि तक पहुँच जाना है।

---

१. स्थानांग स्था. ४ उ. १ सू. ६९ में देखें शुक्लध्यान के ४ पाद

जिस प्रकार वेदमन्त्रों के अक्षरों के साथ-साथ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के क्रम से सस्वर उच्चारण करने का विधान है। यह विधान मंत्र जप का अभीष्ट उद्देश्य पूरा करके शक्ति प्रवाह समुत्पन्न करने की दृष्टि से किया गया है। उसी प्रकार वाक्संवर की दिशा में शक्ति सम्वर्द्धन की दृष्टि से वाणी का प्रयोग विवेक पूर्वक सम्भल-सम्भल कर करना चाहिये। अष्ट प्रकार की सावध भाषाओं का प्रयोग निषिद्ध समझकर निरवद्य शास्त्रविहित भाषा का प्रयोग करने से भी वाक्संवर की दिशा में प्रगति हो सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विधि-निषेधों को स्मरण में रखकर केवल वाणी का संवर होगा। उसके पश्चात् मौन, ध्यान प्रभृति द्वारा आगे बढ़ते-बढ़ते मनःसंवर के साथ वाणी संवर होगा। यों मनोगुप्ति और वचनगुप्ति दोनों ही साथ-साथ चलती है और पूर्ण वाक्संवर तक पहुँचा देती है। वाक्संवर होने से वाणी में स्थिरता, शान्ति, निर्विकारता समुत्पन्न होगी और वाणी से होने वाले कर्मास्रवों का निरोध हो जाएगा। ऐसा साधक अध्यात्मयोग के साधनों से युक्त हो जाता है। बिना जिह्वा से बोले ही अपनी बात दूसरों को समझा देता है। दूसरों के अन्तःकरण में अपनी बात को स्फुरित कर देता है। इस प्रकार वाक्संवर का साधक आत्म-साधना की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है। ■

११

इन्द्रिय-संवर का राजमार्ग

इन्द्रियों का व्युत्पत्त्यर्थ, स्वरूप और कार्यक्षमता

सांसारिक आत्मा कर्मों से आवृत होने के कारण स्वयं पदार्थों का ग्रहण (ज्ञान) करने में असमर्थ होती है। आत्मा को पदार्थों की उपलब्धि में अगर कोई माध्यम, द्वार या कारण (लिंग) होती हैं तो इन्द्रियाँ ही। यह स्पष्ट है कि पदार्थों के सावयव रूप को सांसारिक छद्मस्थ आत्मा कर्मों से आवृत होने के कारण नहीं पहचान सकती। उसके लिए उसे किसी अन्य की सहायता लेनी पड़ती है। आत्मा पदार्थों के सावयव रूप को पहचानने-जानने के लिए जिनसे सहायता लेती है, वे इन्द्रियाँ ही हैं।

इसीलिए इन्द्रिय शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'जीवाभिगमसूत्र' की टीका में किया गया है–'इन्द्र अर्थात् आत्मा का जो लिंग यानी चिन्ह है, वह इन्द्रिय है'। अथवा दूसरी दृष्टि से इन्द्रिय का निर्वचन किया गया है–"इन्द्र अर्थात्–आत्मा को जानने का जो लिंग (साधन या चिन्ह) है, वह इन्द्रिय है।"[1]

तीसरा निर्वचन गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में किया गया है–"अहमिन्द्र देवों के समान इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में अहमिन्द्र स्वतंत्र हैं। वे अपने विषय को ग्रहण करने में दूसरी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखतीं।[2] 'तत्त्वार्थ वार्तिक' में इसका निर्वचन इस प्रकार किया गया है–आत्मा कर्म के कारण ही चतुर्गतिक रूप संसार में परिभ्रमण करती है। अतः वह समर्थ 'कर्म' ही इन्द्र है, और इस कर्मरूपी इन्द्र के द्वारा जो सृष्ट–रचित है, वह इन्द्रिय है। अर्थात्–इन्द्रियों की रचना नामकर्म विशेष के कारण होती है। इसका एक आशय यह भी है कि अनन्त ज्ञानादि की स्वामी आत्मा कर्म-परतन्त्र होने के कारण विविध कर्मों के बन्ध, उदय और विपाक के अनुसार संसार में कार्य

---

१. जीवाभिगमसूत्र (प्रथम खण्ड) सू.९ की टीका पृ.७३ (पूज्य घासीलाल जी म.) (राजकोट १९७१ में प्रकाशित)

२. (क) "अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमंहनि मण्णंता।
ईसंति एकमेकं इंदा एवं इंदियं जाणे।" –पंचसंग्रह (प्रा.) १/६५
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) सू.१६४
(ग) धवला १/१/१,४/८५

करती है; जन्म-मरणादि नाना दुःख-सुख भोगती है, आत्मा के कर्मानुसार गति-विधि या प्रवृत्ति करने में जो सहायक होती हैं, वे इन्द्रियाँ हैं। अर्थात्–सहायक की भूमिका निर्वाह करने हेतु इन्द्र–कर्म द्वारा इन्द्रियों की रचना हुई है।[1]

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार इन्द्रिय शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार है–इन्द्र अर्थात्–ज्ञानादि ऐश्वर्य सम्पन्न आत्मा, किन्तु मतिज्ञानावरणीय कर्म के कारण स्वयं पदार्थों को जानने असमर्थ होने से उसे पदार्थों का ज्ञान कराने में जो लिंग अर्थात्-निमित्त होता है, वह इन्द्रिय है। अथवा इन्द्र–आत्मा को जो लीन अर्थात् गूढार्थ का ज्ञान कराता है, वह लिंग है। अर्थात्–इन्द्र (आत्मा) का लिंग–गूढ़ार्थ का ज्ञान कराने वाला इन्द्रिय है। इसका एक तात्पर्यार्थ यह भी है जैसे धुँआ अग्नि का ज्ञान कराने में कारण (निमित्त) होता है, वैसे ही जो सूक्ष्म (अमूर्त) आत्मा के अस्तित्व का बोध कराने में लिंग अर्थात्–कारण होता है, वह इन्द्रिय है।"[2]

प्रकट रूप में ज्ञान कराने के कारण इन्द्रियाँ अक्ष तथा प्रत्यक्ष कहलाती हैं

इस सब का निष्कर्ष यह है कि जीवों के अंग जो उन्हें विविध पदार्थों को प्रकट रूप से ग्रहण–ज्ञान करने में अथवा बाह्य अनुभूतियों को ग्रहण करने में सक्षम होते हैं, वे विविध इन्द्रिय हैं।[3]

सामान्यरूप से इन्द्रियाँ उन्हें ही कहा जाता है, जो देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद लेने और छूने (स्पर्श) करने में सहायक होती हैं।[4]

इसीलिए धवला में इन्द्रिय शब्द का निर्वचन किया गया है–जो प्रत्यक्ष में प्रवृत्ति करती हैं; उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। प्रत्येक अक्ष अर्थात् इन्द्रिय की विषय प्रवृत्ति प्रत्यक्ष होती है। इन्द्रियों के विषय अथवा इन्द्रियों का बोध रूप व्यापार प्रत्यक्ष (प्रकट) में होता है। इस दृष्टि से इन्द्रिय अपने-अपने विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान करती-कराती हैं।[5]

---

१. (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक २/१५/१/९ (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य सम्पादित) पृ.१२९
(ख) "यदिन्द्रस्यात्मनो लिंगं, यदि वा इन्द्रेण कर्मणा सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं वेति तदिन्द्रियः॥"
–गोम्मटसार (जीवकाण्ड) (जीव प्र.) १६५ में उद्धृत

२. इन्द्र आत्मा, तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरण क्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धि लिंगं तदिन्द्रियस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते। अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिंगम्। आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिंगमिन्द्रियम् यथा धूमोऽग्नेः।''''''अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते। तेनसृष्टमिन्द्रियमिति। –सर्वार्थसिद्धि १/१४/६-८/३

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. १ में 'इन्द्रिय' शब्द, पृ. ३१४

४. श्रमणोपासक १० दिसम्बर १९९० में प्रकाशित –जैनदर्शन में इन्द्रिय-अवधारणा, लेख से

५. "प्रत्यक्ष-निरतानीन्द्रियाणि अक्षाणीन्द्रियाणि, अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षविषयोऽक्षजो बोधो वा। तत्र निरतानि व्यापृत तानि इन्द्रियाणि।" –धवला १/१,१,४/१३५-१३६/६

इन्द्रियों द्वारा होने वाला ज्ञान : सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष

इन्द्रियों द्वारा जो भी बोध होता है, वह प्रत्यक्ष (प्रकट) रूप में होता है। जैसे–कान से प्राणी सुनता है, आँखों से देखता है, नाक से सूँघता है, जीभ से चखता है, और त्वचा से स्पर्श करता है। ये सब प्रत्यक्ष हैं, स्थूल दृष्टिगोचर हैं, प्रकट में अनुभव-सम्पृक्त हैं।

यद्यपि जैनन्याय में इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहा गया है; जबकि अन्य दर्शनों ने पदार्थों के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। इस प्रकार नैयायिकों एवं दार्शनिकों के साथ प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में विवाद उपस्थित होने पर बाद के जैन नैयायिकों ने इन्द्रिय-नोइन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और सीधा आत्मा से जो इन्द्रिय-निरपेक्ष ज्ञान होता है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा।

इसी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की दृष्टि से सुनने, देखने, सूंघने, चखने और स्पर्श करने का ज्ञान प्रकट रूप में होता है, इसीलिए इन्द्रियों को 'अक्ष' कहा गया है। स्थूल रूप से इन्द्रियों द्वारा पांच प्रकार का ज्ञान भी होता है, क्रिया भी। पहले इन्द्रियों के द्वारा सुनने, देखने आदि की क्रिया होती है, तदनन्तर उनके द्वारा विषय या वस्तु का बोध होता है।[1]

इन्द्रियों की संख्या और सांसारिक प्राणियों की इन्द्रियों में तारतम्य

इसीलिए जैनदर्शन ने पांच प्रकार की इन्द्रियां बताई हैं–श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय।[2] इन्हीं पांचों इन्द्रियों द्वारा प्राणी जगत् से सम्पर्क स्थापित करता है। आत्मा (जीव) जगत् के सजीव-निर्जीव पदार्थों का बोध इन्द्रियों की सहायता से करता है। मन को नोइन्द्रिय कहा गया है। वैदिक दर्शनों में इन पांचों के अतिरिक्त ५ कर्मेन्द्रियाँ तथा कहीं-कहीं मन के सहित ११ इन्द्रियाँ मानी गई हैं। परन्तु जैनदर्शन ने कर्मेन्द्रिय को अलग न मानकर १० बलों (प्राणों) की धारणा में वचन बल प्राण, कायबल प्राण और श्वासोच्छवास बल प्राण में समाविष्ट कर लिया है।

संसार में सभी प्राणी पांचों इन्द्रियों वाले नहीं होते। कई एक इन्द्रिय वाले, कई दो इन्द्रिय वले, कई तीन और कई चार इन्द्रिय वाले होते हैं। पांच इन्द्रियों वाले सभी प्राणियों की इन्द्रियाँ एक सरीखी कार्य नहीं करतीं, वह भी उनके अपने-अपने मति-श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार तथा चेतना के विकास-अविकास के अनुसार विषयों का ग्रहण और बोध कर सकती हैं। सभी प्राणियों के द्वारा समान बोध और वस्तुओं का या विषयों का समान रूप से ग्रहण नहीं होता, इसके अन्य कारण भी हैं।

---

१. देखें–अनुयोगद्वार, प्रमाण-नय-तत्त्वालोक, तथा तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्त मुक्तावली आदि ग्रन्थों में प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण का विवरण।

२. (क) स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि । पंचेन्द्रियाणि, द्विविधानि।
–तत्त्वार्थसूत्र अ. २ सू. २०, १५, १६

(ख) देखें–प्रज्ञापना सूत्र का १५वाँ इन्द्रियपद।

एक समान इन्द्रिय-धारक प्रणियों को भी समान रूप से तथा प्रामाणिक रूप से विषयों और वस्तुओं का बोध और ग्रहण नहीं होता, इसका मूल कारण तो ज्ञानावरणीय आदि कर्म हैं, उन कर्मों के क्षयोपशम की दृष्टि से भी प्राणियों द्वारा विषयों का पदार्थों के बोध एवं ग्रहण में तारतम्य होता है। इन्द्रियों की रचना और लब्धि (शक्ति) में भी अन्तर पाया जाता है। जैनागम प्रज्ञापना सूत्र के इन्द्रियपद तथा अन्य आगमों और व्याख्या ग्रन्थों में इस पर सम्यक् विश्लेषण किया गया है।

द्रव्येन्द्रिय के दो उप-विभाग : निर्वृत्ति और उपकरण

इसी कारण जैनागमों तथा तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में पूर्वोक्त पांच इन्द्रियों के दो-दो प्रकार बताए गए हैं–द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय[1]। किसी भी इन्द्रिय की बाह्य और आन्तरिक रचना को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रियाँ पुद्गलमय–जड़मय होती हैं, क्योंकि इनकी संरचना पुद्गल-परमाणुओं से होती है। इन पांचों द्रव्येन्द्रियों के प्रत्येक के निर्वृत्ति और उपकरण के रूप में दो-दो उपविभाग होते हैं। शरीर पर दिखाई देने वाली इन्द्रियों की पुद्गल-स्कन्ध-विशिष्ट रचना रूप आकृतियाँ निर्वृत्ति हैं। तथा निर्वृत्ति इन्द्रिय का जो उपकारक हो, वह उपकरण-इन्द्रिय है।

निर्वृत्ति-इन्द्रिय के भी दो-दो प्रकार हैं–आभ्यन्तर-निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति। इन्द्रियाकार में अवस्थित विशुद्ध आत्म प्रदेशों का जो इन्द्रियाकार परिणमन है, वह आभ्यन्तर-निर्वृत्ति है। तथा इन्द्रियव्यपदेश को प्राप्त हुए उन्हीं आत्मप्रदेशों पर नामकर्म के उदय से इन्द्रियाकार परिणत जो पुद्गल-प्रचय है, वह बाह्य निर्वृत्ति है। जैसे–कान आदि की जो झिल्ली है, वह बाह्य-निर्वृत्ति है और नामकर्म के उदय से जिसकी रचना हो, वह आभ्यन्तर-निवृत्ति है।

द्रव्येन्द्रिय का दूसरा प्रकार है–उपकरण। यह निर्वृत्ति का उपकारक-सहयोगी है, इसलिए इसे उपकरण कहा जाता है। इसके भी दो-दो प्रकार हैं–बाह्य उपकरण और आभ्यन्तर उपकरण। जैसे–आँख में काला और सफेद मटेना आदि आभ्यन्तर उपकरण हैं, तथा आँख की बरोनी, भौंहें तथा पलकें, आदि बाह्य-उपकरण हैं। चक्षुरिन्द्रिय को अपने विषय का ग्रहण और बोध करने में ये दोनों ही अपेक्षित हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के बाह्य-आभ्यन्तर उपकरण के विषय में समझ लेना चाहिए।

भावेन्द्रिय का स्वरूप और प्रकार

इन्द्रियों का दूसरा रूप है–भावेन्द्रिय; जो जीव के आत्मिक परिणाम रूप इन्द्रिय

---

१. (क) "द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति"–तत्त्वार्थवार्तिक २/१६/४/१३०,
(ख) प्रज्ञापनासूत्र पद १५ टीका पृ. ७४
(ग) तत्त्वार्थसूत्र २/१६
(घ) सर्वार्थसिद्धि २/१६/१७५

हैं। भावेन्द्रियाँ शरीर पर प्रत्यक्ष (प्रकट रूप) में दिखाई नहीं देतीं। जैसे–विद्युत् का बाह्य रूप प्रकाश ताप आदि दिखाई देता है, किन्तु उसको प्रेरित करने वाली आन्तरिक शक्ति (Power) नहीं दिखाई देती। इसी प्रकार इन्द्रियों का बाह्य रूप, रचना, आकृति आदि के रूप में दिखाई देता है, किन्तु उनकी आन्तरिक शक्ति तथा बोधादि रूप (व्यापार) प्रवृत्ति, प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती।

भावेन्द्रिय के भी दो प्रकार हैं–लब्धि और उपयोग। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम लब्धि रूप, भावेन्द्रिय है। जिसके सान्निध्य से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापृत (प्रवृत्त) होता है, ऐसा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला आत्मा का परिणाम (ज्ञानादि व्यापार) उपयोग रूप भावेन्द्रिय है।[1]

द्रव्येन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सम्पर्क करके भावेन्द्रियों को प्रभावित करती हैं। और भावेन्द्रियाँ जीवात्मा की शक्ति (लब्धिविशेष) होने के कारण चेतना (आत्मा) को प्रभावित करती हैं।

पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होने पर उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति

द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के पूर्वोक्त स्वरूप को देखते हुए कहा जा सकता है–कि भावेन्द्रियाँ कारण रूप हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कार्यरूप हैं।

यही कारण है कि लब्धि-इन्द्रिय होने पर ही निर्वृत्ति-इन्द्रिय सम्भव है। तथा निर्वृत्ति-इन्द्रिय के बिना उपकरण इन्द्रिय भी नहीं होती। तात्पर्य यह है कि लब्धि प्राप्त होने पर निर्वृत्ति, निर्वृत्ति प्राप्त होने पर उपकरण, तथा निर्वृत्ति और उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग सम्भव है। पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होने पर उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति होती है।[2]

पांचों इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् कुल मिलाकर २३ विषय

इन पांचों इन्द्रियों के अपने-अपने पृथक्-पृथक् विषय हैं, जिनमें ये प्रवृत्त होती हैं। संक्षेप में, श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द-संवेदन है, चक्षुरिन्द्रिय का रूप-संवेदन है, घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध-संवेदन है, रसनेन्द्रिय का विषय रसास्वादन है और स्पर्शेन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभूति है। यों पांचों इन्द्रियों के कुल २३ विषय हैं, जिनका वे ग्रहण, बोध एवं उपभोग (सेवन) करती हैं।

---

१. (क) "निर्वृत्त्युपकरणं द्रव्येन्द्रियम्, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।"–तत्त्वार्थसूत्र २/१७,१८,१९,
(ख) सर्वार्थसिद्धि २/१७/१७५
(ग) तत्त्वार्थसार २/४०-४६
(घ) जीवाभिगमसूत्र सटीक पृ. ७४

२. देखें–तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (पं. सुखलालजी संघवी) वाराणसी १९७६

श्रोत्रेन्द्रिय के तीन विषय हैं–जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। चक्षुरिन्द्रिय के पांच विषय हैं–काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। घ्राणेन्द्रिय के दो विषय हैं–सुगन्ध और दुर्गन्ध। रसनेन्द्रिय के पांच विषय हैं–कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और मधुर। तथा स्पर्शेन्द्रिय के आठ विषय हैं–शीत, उष्ण, रूक्ष, चिकना, भारी, हलका, कर्कश (खुर्दरा) और कोमल। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों के कुल मिलाकर (३+५+२+५+८=)२३ विषय हैं।[1]

पंचेन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, बोध, सेवन तथा आत्मा को आकर्षणकरण

सामान्यतया सांसारिक छद्मस्थ आत्मा इन पांचों इन्द्रियों की सहायता से विषयों का ग्रहण, बोध एवं सेवन (उपभोग) करता है। 'भगवद्गीता' भी इसी तथ्य का समर्थन करती है–"शरीर में स्थित रहकर यह जीवात्मा श्रोत्र, नेत्र और त्वचा (स्पर्श) के, तथा रसना, नासिका और मन के आश्रय से, अर्थात्–इन सबके सहारे से विषयों का सेवन (उपभोग) करता है।" "प्रज्ञापनासूत्र" के इन्द्रियपद (१५वें पद) तथा अन्य भगवती आदि आगमों और जैनग्रन्थों में विस्तार से निरूपण किया गया है कि इन्द्रियाँ किस प्रकार अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, सम्बन्ध स्थापित करती हैं" और सांसारिक छद्मस्थ आत्मा को अपने-अपने विषयों के प्रति कैसे आकर्षित और प्रभावित करती हैं।[2]

इन्द्रियाँ सांसारिक पदार्थों और विषयों से आत्मा को जोड़ती हैं

वस्तुतः इन्द्रियों के माध्यम से जीवात्मा विषयों का ग्रहण एवं उपभोग करता है। इन्द्रियों का प्रथम कार्य है–विषयों की ओर गति करना। उसके पश्चात् वे विषयों का ग्रहण और बोध करती/कराती हैं। अगर इन्द्रियाँ न होतीं तो सांसारिक मनुष्य का बाह्य पदार्थों और जगत् के विषयों से कोई सम्पर्क न होता। आत्मा अकेली होती। दूसरे किसी भी व्यक्ति या विषय से, पदार्थ से या जगत् की हलचल से मनुष्य का कोई वास्ता न रहता। आत्मा को बाह्य जगत् एवं जगत् के सजीव-निर्जीव पदार्थों से तथा विभिन्न विषयों से जोड़ने वाला कोई सम्पर्क सूत्र नहीं होता।[3] इन्द्रियों के न होने, या विकल अथवा क्षतविक्षत होने की स्थिति में मनुष्य को इन्द्रियों की महत्ता और उपयोगिता का पता लगता है।

---

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. ४६९

२. (क) वही, पृ. ४६९

(ख) श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ –गीता अ. १५, श्लो. ९

३. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ७८

इन्द्रियाँ विषयों के प्रवेश के लिए द्वार हैं, झरोखे हैं, खिड़कियाँ हैं

इन्द्रियाँ एक प्रकार से दरवाजे हैं, जिनमें से होकर आत्मा की चैतन्य-रश्मियाँ, भावोर्मियाँ, आत्मा की ज्ञान, दर्शन, सुख और शक्ति की किरणें बाहर आती हैं, और बाह्य जगत् तथा जगत् के सजीव-निर्जीव पदार्थों के साथ सम्पर्क स्थापित करती हैं। इन्द्रियों के ये द्वार खुले हों तो मनोज्ञ या शुभ विषय भी प्रवेश कर सकता है और अमनोज्ञ या अशुभ विषय भी। इन्द्रियों का मुख्य कार्य है–उन्हें अवकाश देना, रास्ता दे देना। इन्द्रियों के द्वार से कोई भी आ जाए। (पंचेन्द्रिय) विषयवासना की उर्मियाँ आएँ या चैतन्य की रश्मियाँ, इन्द्रियों के द्वार सबके लिए खुले रहते हैं।[1]

वस्तुतः इन्द्रियाँ एक प्रकार से खिड़कियाँ या झरोखे हैं, आत्मा के लिए बाह्य विषयों से सम्पर्क करने के, उन्हें ग्रहण करने के तथा उनका बोध करने के। 'गणधरवाद' में कहा गया है–"जिस प्रकार देवदत्त अपने प्रासाद की खिड़कियों से बाहर के पदार्थों और जीवों को देखता जानता है, और उनके प्रति प्रीति-अप्रीति करता है, उसी प्रकार सांसारिक कर्मावृत जीव[2] इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों से सम्पर्क करता है। उन्हें जानता-देखता है। अतः इन्द्रियों के द्वारा ही प्राणी जगत् से सम्पर्क स्थापित करता है और अपने कर्त्तव्य तथा अधिकार का विवेक भी करता है।

इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाने से अनेक प्रकार के लाभ

इन्द्रियाँ जब इतनी उपयोगी हैं, उनके द्वारा बाह्य जगत् के दृश्य पदार्थों और जीवों के साथ सम्पर्क किया जा सकता है, और उनके स्वभाव, कार्य में उपयोगिता, सहयोग आदि लेकर उन्हें कार्यक्षम बना दिया जाए तो उनसे संसार के अनेक निजी सुख-सुविधाओं से लेकर अन्य व्यक्तियों से सहयोग लेने तथा कई अध्यापकों, आचार्यों, गुरुओं, विद्वानों, विचारकों आदि के सहयोग और सहचारिता से उनके ज्ञानविज्ञान और अनुभवसिद्ध वचनों को श्रवण करके लाभ उठाया जा सकता है।

जैसे–श्रोत्रेन्द्रिय का अत्यधिक विकास कर लिया जाए तो कानों से दूर की, व्यवहित शब्दों की, पर्दे के पीछे या दीवार के उस पार के, हजारों कोस दूर के, अतीत-अनागत के शब्दों को सुना जा सकता है।

इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय भी बहुत ही उपयोगी इन्द्रिय है। उसकी कार्यक्षमता भी सर्वविदित है। यदि चक्षुरिन्द्रिय की दृश्यप्रेक्षण शक्ति का विकास किया जाए तो मनुष्य उन चमत्कारों को भी इन्हीं आँखों से देख सकेगा, जो भूतकाल में अध्यात्मविज्ञानियों के लिए ही सम्भव थे। संजय ने अपनी दिव्य दृष्टि से घर बैठे महाभारत के दृश्य देखे थे और

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ७९
२. गणधरवाद में देखें–भगवान् महावीर और वायुभूति का संवाद।

सारा घटनाक्रम धृतराष्ट्र को सुनाया था। इस सम्भावना की टेलीविजन ने पुष्टि कर दी और अब रही-सही कसर 'होलोग्राफी' ने पूरी कर दी है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य अगर चाहे तो अपनी नेत्रेन्द्रियों को त्राटक साधना तथा दूरवीक्षण साधना आदि यौगिक साधनाओं से अतीत, अनागत तथा वर्तमान की तथा दूरस्थ एवं व्यवहित घटनाओं को इन आँखों से तो नहीं, परन्तु भाव-नेत्रेन्द्रियों–ज्ञानचक्षुओं-दिव्य दृष्टियों से प्रत्यक्षवत् देख सकता है।

घ्राणेन्द्रिय का महत्त्व भी मनुष्य के लिए कम नहीं है। घ्राणेन्द्रिय को विकसित करके मनुष्य न केवल शारीरिक और मानसिक शक्ति ही विकसित कर सकते हैं, वरन् आत्मबल भी प्रचुर मात्रा में बढ़ा सकते हैं। योग साधना में नासिका के द्वारा स्वरविज्ञान की साधना बताई गई है, जिसके द्वारा महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। भविष्य की घटनाओं का ज्ञान स्वरविद्या की सहायता से हो सकता है। मनुष्य की अपेक्षा कुत्ते, बिल्ली, चूहे, दीमक, चीटियाँ, मधुमक्खियाँ आदि जानवरों की घ्राण-शक्ति अत्यधिक विकसित है। वे सूँघ-सूँघ कर अनेक वर्तमान, भूत और भावी घटनाओं का पता लगा लेते हैं। मनुष्य भी चाहे तो योग साधना के द्वारा घ्राणशक्ति की क्षमता को बढ़ा सकता है। किन्तु मनुष्य ने इसकी उपेक्षा करके घ्राणेन्द्रिय को दुर्बल बना दिया है। नेतिकर्म, स्वरविद्या, प्राणायाम, सोऽहं साधना, नासिकाग्र पर ध्यान आदि का विधिवत् अभ्यास करके घ्राणेन्द्रिय को सुविकसित किया जा सकता है और उससे अनेक आध्यात्मिक उपलब्धियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं। अतः घ्राणशक्ति और गन्धविज्ञान पर नये सिरे से शोध करने की आवश्यकता है; ताकि इस महत्वपूर्ण आधार के जरिये मानव अपनी दिव्य शक्तियों और बोध-क्षमता का अधिकाधिक विकास कर सके।

रसनेन्द्रिय की क्षमता में भी अभूतपूर्व वृद्धि की जा सकती है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध वेत्ता धन्वन्तरि आदि आचार्यों ने जिह्वा से चख-चखकर अनेक औषधियों का आविष्कार लोकहित के लिए किया। उन्होंने प्रत्येक जड़ी-बूटियों को परखा और उसके गुण-धर्मों का विवरण प्रस्तुत किया। जिह्वेन्द्रिय के वशीकरण एवं खेचरीमुद्रा आदि के द्वारा विविध आध्यात्मिक शक्तियाँ उपलब्ध की जा सकती हैं।

स्पर्शेन्द्रिय की क्षमता में वृद्धि करके मानव अनेक दुःखित पीड़ित रोगियों को स्पर्शमात्र से निरोग कर सकता है। किसी भी व्यक्ति की किसी वस्तु या अंग को छूकर उसके भूत, भविष्य की घटना का ज्ञान कर सकता है। स्पर्शेन्द्रिय की क्षमता बढ़ा कर योग-साधक शक्तिपात करके दूसरे व्यक्ति को अध्यात्म शक्ति सम्पन्न बना सकता है।[1]

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७२, पृ. ३५, मई १९७४/९ पृष्ठ तथा अक्टूबर १९७३/३५ पृष्ठ से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण।

इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाने के बदले इनका निरोध और संवर क्यों?

जब इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाकर अनेक प्रकार की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं तब इन्द्रियों का दमन, निग्रह, निरोध या संवर करने की बात को क्यों अधिक महत्व दिया जाता है? इन्द्रिय-संवर के विधान का क्या रहस्य है?

इसका समाधान करते हुए सभी भारतीय धर्म एवं दर्शन एकस्वर से कहते हैं– "इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाना कोई बुरा नहीं, बुरा है इनका दुरुपयोग, अत्यधिक तथा मर्यादाविरुद्ध स्वच्छन्द उपयोग; क्योंकि ऐसा करने से इन्द्रियों की क्षमता बढ़ने के बजाय अधिकाधिक घटती है।

पाश्चात्य देशों में इन्द्रियों का निरंकुश उपयोग करने वालों की शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियाँ क्षीण हो गईं। आध्यात्मिक शक्ति से तो वे कोसों दूर हो गए। मगर भौतिक एवं पौद्गलिक सुखाभिलाषी मानव इस तथ्य की उपेक्षा करता है। वह इस सत्य को नहीं पहचानता कि इन्द्रियों की क्षमता किन कारणों से घटती है, कैसे बढ़ती है और परिवृद्ध क्षमता का सदुपयोग कैसे करना चाहिए जिससे कर्मों के आस्रव के बदले कर्म-संवर करके आत्मिक शक्तियों को अनावृत किया जा सके।

भौतिकदृष्टिप्रधान व्यक्ति चाहे पौष्टिक पदार्थ खा लें, चाहे योगाभ्यास कर लें, चाहे अमुक टॉनिक या दवा खा लें, परन्तु जब तक वे इन्द्रियों की स्वच्छन्द एवं अनिष्ट विषयों में प्रवृत्ति तथा उनके उपयोग पर संयम नहीं करेंगे, तब तक इन्द्रिय क्षमता नहीं बढ़ सकती, और न ही इन्द्रिय-संवर की साधना की जा सकती है, और न आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियों का जितना हाथ आत्मा के विकास में है, उतना ही आध्यात्मिक ह्रास या आत्मशक्तियों के विनाश में भी है।

इन्द्रियों का सहज स्वभाव भी निरोध या निग्रह से ही बदला जा सकता है

इन्द्रियाँ द्रव्य और भावरूप से दो प्रकार की हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे विषयों और पदार्थों का केवल ग्रहण और सेवन ही नहीं करतीं, अपितु अनुकूल विषयों में सुख का और प्रतिकूल विषयों में दुःख का भी अनुभव करती हैं। अतः अनुकूल विषयों के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल विषयों के प्रति विकर्षण–इन्द्रियों का सहज स्वभाव है। यही कारण है कि अपने-अपने अनुकूल एवं सुखद विषयों में प्रवृत्ति और प्रतिकूल तथा दुःखद विषयों से निवृत्ति सहज ही होती है।

जीव को विषयासक्ति में फंसाकर आस्रव और बन्ध में आदि निमित्त इन्द्रियाँ बनती हैं

दूसरी बात यह है कि इन्द्रियाँ जब बहिर्मुखी होकर स्वच्छन्द विचरण करती हैं, तब जीव भी बाह्य विषयों की ओर आकर्षित होकर बार-बार उनका उपभोग करना

चाहता है। वह बाह्य अनुकूल पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है, बार-बार उनमें प्रवृत्त होता है और प्रतिकूल पदार्थों और विषयों से बचना चाहता है। कठोपनिषद में कहा गया है कि "इन्द्रियों को बहिर्मुखी कर देने के कारण जीव बार-बार बाह्य विषयों की ओर ही देखता है, अन्तरात्मा की ओर नहीं।"[1]

जीव की इसी रुचि को वासना, कामना, आसक्ति, काम-भोग-लिप्सा, राग, मोह या तृष्णा कहते हैं। जिससे वासना आदि की पूर्ति हो, उसे सुख तथा जिससे वासना आदि की पूर्ति में विघ्नबाधा उत्पन्न हो, उसे दुःख माना गया। अतः सामान्य प्राणी अनुकूल विषयों को सुख रूप और प्रतिकूल विषयों को दुःखरूप मानने लगा।

जीव की इस प्रकार की रुचि के कारण इन्द्रियाँ भी उसे सुखद माने जाने वाले विषयों की ओर बार-बार खींचकर ले जाने लगती हैं। फिर वह सुखद विषयों के प्रति राग और आसक्ति तथा दुःखद विषयों के प्रति द्वेष और घृणा करता है। परन्तु यह सब होता है—इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने पर। तभी सुखद अनुभूतियों को पुनः-पुनः पाने का और दुःखद अनुभूतियों से बचने का विकल्प उठता है।

इस प्रकार की जीव की कामना, वासना, काम या मोह आदि से राग और द्वेष उत्पन्न होता है। राग और द्वेष इन्द्रियों के निमित्त से पैदा होता है, उन्हीं की ये आकर्षणात्मक और विकर्षणात्मक शक्तियाँ हैं। स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ इस प्रकार से जीव को विषयों से सम्पर्क कराती हैं, तभी जीव के मन में विषयों के प्रति संस्कारवश अनुकूल और प्रतिकूल भाव जाग्रत होते हैं। जिनसे रागद्वेष का जन्म होता है। राग-द्वेष से क्रोधादि कषायों का प्रादुर्भाव होता है, और फिर कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है। इस दुश्चक्र की आदि निमित्त इन्द्रियाँ बनती हैं। इसलिए इनका निग्रह या निरोध करना आवश्यक माना गया।

विषय-सम्पर्क होने पर भी मन में राग-द्वेष न हो तो आस्रव-बन्ध नहीं होता

इस पर से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर भी मन में यदि राग-द्वेष की, अनुकूल-प्रतिकूल को ग्रहण-त्याग की वासना उत्पन्न न हो तो प्राणी का अधःपतन नहीं होता। जैनदृष्टि से कहें तो राग और द्वेष के कारण कर्म परम्परा का बीजारोपण न होता और न ही आस्रव और बन्ध का, और कर्मों के कारण संसार परिभ्रमण (जन्म-मरण के चक्र में पर्यटन) का कारण बनता।

कर्मास्रवों का मूल कारण इन्द्रियाँ नहीं, मन या आत्मा स्वयं है

इस पर से यह भी स्पष्ट है कि कर्मास्रवों का मूल कारण इन्द्रियाँ नहीं, मन या आत्मा स्वयं ही है। फिर इन्द्रियों का संवर या निरोध क्यों आवश्यक माना गया?

---

१. (क) कठोपनिषद् २/१/१
(ख) जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. ४६६

इन्द्रियों को खुराफात की जड़ क्यों मानी गईं?

हम देखते हैं कि अधिकांश भारतीय धर्मों और दर्शनों ने इन्द्रियों को ही सारी खुराफात की जड़ माना है। उन्हें चोर, अपहर्त्री, छली तथा आत्मा के लिए हानिकारक, रागद्वेष या काम, कोध आदि विकारों की उत्तेजक व प्रेरक मानकर गालियाँ दी हैं। इन्द्रियों के प्रति अत्यन्त आक्रोश और रोष भी प्रकट किया है, मानो इन्द्रियों से बढ़कर आत्मा का कोई शत्रु नहीं।

कतिपय हठवादियों का इन्द्रियों के प्रति गलत दृष्टिकोण

कुछ हठवादियों ने तो इससे भी आगे बढ़कर प्रतिपादन किया कि अगर आँख बुरा देखती है तो आँख को फोड़ दो, कान बुरा सुनते हैं तो उनके पर्दे फाड़कर बहरे बना दो, जीभ बुरा बोलती या अनिष्टकारक चखती है तो उसे भी काट डालो या मुँह को सीं दो, ताकि उसमें से खाद्य-पेय का प्रवेश न हो सके या वह बोल ही न सके।

इस प्रकार इन्द्रियों को आत्मा के शत्रु मानकर इन्हें विकृत एवं खण्डित करने का प्रयास भी कई लोगों ने किया है। स्पर्शेन्द्रिय के अन्तर्गत हाथ, पैर भी आ जाते हैं। विश्वामित्र के उद्यान से फल तोड़ने के अपराध में लिखित ने अन्य प्रायश्चित्त न लेकर शंख राजा से जिन हाथों द्वारा चोरी हुई है, उन हाथों को काट डालने का दण्ड स्वीकार किया। इसी प्रकार बिल्वमंगल को आँखों से किसी सुन्दरी को देखकर काम वासना उत्पन्न हुई इस कारण उन आँखों में ही अग्नि में तप्त गर्म सलाइयाँ उसने घुसेड़ कर आँखें फोड़ दीं। महात्मागाँधी के सेवाग्राम आश्रम में भणसाली भाई रहते थे। उन्होंने गलत न बोला जाए और खाद्य पदार्थों का रसास्वादन होने से आसक्ति न हो जाए, इसके लिए बोलने और खाने के प्रवेशद्वार होठों को ही तार से सीं लिया।[1]

इन्द्रियों को तोड़ने-फोड़ने आदि से इन्द्रिय-संवर नहीं

प्रश्न होता है, क्या इस प्रकार इन्द्रियों को तोड़ने-फोड़ने, विकृत करने और उनसे काम लेना बंद कर देने मात्र से इन्द्रिय-संवर हो जाता है, या इन्द्रिय-निरोध का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है? क्या इन्द्रिय-संवर का यह सही तरीका है? क्या कोई भी प्राणी इस उपाय से इन्द्रियविजयी, दान्त (दमितेन्द्रिय) या जितेन्द्रिय हो जाता है?

यह इन्द्रिय-संवर या इन्द्रिय की साधना का सही मार्ग नहीं है। यदि यह मार्ग यथार्थ होता तो जो व्यक्ति गूंगा, बहरा, अन्धा, लूला-लंगड़ा, अंग-विकृत या किसी इन्द्रिय से हीन है, उसे अनायास ही जितेन्द्रियता या इन्द्रियसंवर की सिद्धि प्राप्त हो जाती तथा जो व्यक्ति जन्म से ही अन्धा, बहरा या गूँगा जन्मा, वह इन्द्रियसंवर या इन्द्रियविजय

---

१. (क) महावीर की साधना का रहस्य से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण पृ. ७८-७९
(ख) अखण्ड ज्योति अप्रैल १९७६ से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण, पृ. ५१

की साधना किये बिना ही कृतार्थ हो जाता। अथवा जो प्राणी पाँचों इन्द्रियों वाले नहीं हैं, जिन्हें केवल स्पर्शेन्द्रिय मिली है, या दो, तीन या चार इन्द्रियाँ ही प्राप्त हुई हैं, जो विकलेन्द्रिय प्राणी हैं, उन्हें जो इन्द्रियाँ उपलब्ध नहीं हुईं, क्या वे उन्हें संवृत करने या उन पर विजय पाने में सफल हो गए?[1]

एक इन्द्रिय का कार्य दूसरी इन्द्रिय से हो सकता है

यह भी अनुभवसिद्ध तथ्य है कि एक इन्द्रिय बंद या स्व-विषयग्रहण में अक्षम हो जाने पर भी दूसरी इन्द्रिय से वही कार्य हो जाता है। संसार के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। इंग्लैण्ड में मोंटगुमरी नामक एक जन्मान्ध व्यक्ति पोस्टमैन पद पर नियुक्त हुआ और उसने पूरे ३५ वर्ष तक यह नौकरी की। इस बीच एक भी घटना ऐसी नहीं हुई कि उसने किसी का पत्र, किसी दूसरे को दे दिया हो। वह चिट्ठियों के कोनों पर छेद उभार कर ऐसी पहचान कर लेता था कि पढ़ न सकने या व्यक्ति को आँखों से देख न सकने पर भी पत्रों को यथास्थान पहुँचा देता था। वह नेत्रेन्द्रिय का कार्य स्पर्शेन्द्रिय से कर सकता था। परन्तु इस पर से उसे चक्षु इन्द्रिय संवर का साधक नहीं कहा जा सकता।[2]

अगर ऐसा हो जाता तो इन्द्रिय संवर या इन्द्रिय विजय की साधना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। परन्तु पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी दार्शनिकों ने इन्द्रिय निग्रह के लिए या इन्द्रियों को वश में करने के लिए साधना को अनिवार्य माना है। साधना के बिना किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं मिलती। आवश्यक मलयगिरि वृत्ति में कहा गया है–इन्द्रियों और नोइन्द्रिय (मन) का गोपन करना, उनका आस्रवों से रक्षण करना-संवर है।[3]

क्या इन्द्रियों को नष्ट या विकृत कर देने से इन्द्रिय-संवर या इन्द्रिय-निग्रह सम्भव है?

जो लोग इन्द्रियों को वश में करने या इन्द्रिय-निरोध करने के लिए नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को नष्ट करने या विकृत करने का प्रतिपादन करते हैं, उनसे पूछा जाए कि उनके उक्त विकार या अपराध का मूल कहाँ था? वह तो मन में था। मन को तो उन्होंने वश में किया नहीं, और केवल इन्द्रियों पर बरस पड़े, इससे 'दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम' वाली कहावत ही चरितार्थ होती है।

वे इन्द्रियों की शक्ति का संवर्धन करके उन्हें आध्यात्मिक विकास में, या संवर-निर्जरारूप धर्म के आचरण में, स्पष्ट कहें तो अहिंसा, दया, क्षमा, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सत्य, अस्तेय, संयम, तप एवं कष्ट सहिष्णुता या परीषह-विजय के रूप में इन्द्रियों को

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण पृ. ७९
२. अखण्ड ज्योति दिसम्बर १९७६ में प्रकाशित घटना से, पृ. ७
३. (क) संवरः इन्द्रिय-नोइन्द्रिय गोपनम्। –आवश्यक मलयगिरिवृत्ति
(ख) संवरः इन्द्रिय नोइन्द्रियगुप्तिः। –आवश्यक हारि. वृत्ति पृष्ठ ८७२

प्रयुक्त करके संवर साधना कर सकते थे, उसके बदले वे इन्द्रियों को ही नेस्तनाबूद करके उनसे होने वाले महालाभ से वंचित रहे। इन्द्रियों का शुभ कार्यों में उपयोग करके वे पुण्योपार्जन भी कर सकते थे, जो उनके आध्यात्मिक विकास में सहायक बनता, उसके बदले उन्होंने इन्द्रियों को विकृत और नष्ट करके बाहर से जितेन्द्रिय कहलाने का दम्भ एवं दिखावा किया, और मन ही मन विषयों का चिन्तन, विषय-प्राप्तिकामना एवं लालसा करके अथवा हिंसा, असत्याचरण, ठगी या पदार्थों के संरक्षण की चिन्ता आदि करके पाप कर्मों का आस्रव व बन्धन किया।

गीता में स्पष्ट कहा गया है–"जो व्यक्ति बाहर से कर्मेन्द्रियों अथवा चेष्टाओं (कर्मों) और इन्द्रियों को नियंत्रित (बंद) कर लेता है, परन्तु अन्तर् में मन ही मन उन इन्द्रिय-विषयों या पदार्थों की प्राप्ति के लिए चिन्तन-स्मरण रहता है, वह विमूढात्मा मिथ्याचारी (दम्भी) कहलाता है।"[1]

इसीलिए आराधनासार में कहा गया है–मन को मारने–वश में करने का प्रयत्न करो। मनरूपी राजा के मर जाने पर, इन्द्रियाँ रूप सेना तो स्वतः मर (नष्ट या पलायित हो) जाती है।"[1]

मगर इन्द्रिय-संवर या इन्द्रिय-निरोध का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों की शक्ति या क्षमता को सर्वथा नष्ट या अवरुद्ध कर दिया जाए। इन्द्रियों का सर्वथा अवरोध या कर्तृत्व अथवा निरिन्द्रियत्व तो अध्यात्म की सर्वोच्च भूमिका (चौदहवें गुणस्थान) पर पहुँचने पर स्वतः हो जाता है।

इन्द्रिय-विजय या इन्द्रिय-संवर का फलितार्थ

वस्तुतः इन्द्रियों पर विजय या इन्द्रिय-संवर का फलितार्थ है–इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने पर जो राग-द्वेष, मोह, घृणा, आसक्ति या अनुकूल-प्रतिकूल के प्रति वासना उत्पन्न होती है, उसे रोकना, उस पर नियंत्रण करना। चूँकि वासना, आसक्ति या राग-द्वेष आदि अव्यक्तभाव हैं, वे सहसा, प्रत्येक व्यक्ति की पकड़ में नहीं आते। इन सबके मूल में, अथवा विषयों की ओर प्रवृत्ति करने में पहल करने वाली, विषयों में सर्वप्रथम प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियाँ ही हैं। वे भावेन्द्रिय या मन से प्रेरित होकर अपने-अपने विषयों की पूर्ति के प्रयास में प्रवृत्त होती हैं। इसलिए साधारणरूप से यह माना गया कि इन्द्रियों और मन का निरोध कर दिया जाए।

जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं–"इन्द्रियों पर काबू किये बिना रागद्वेष और

---

१. (क) कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।" –गीता ३/६
(ख) मण-णरवइए मरणे, मरंति सेणाइं इंदियमयाई॥ –आराधनासार ६०

कषायों पर विजय पाना सम्भव नहीं होता।[1] इन्द्रियों की शक्ति और कार्यक्षमता का सम्यक् उपयोग करना तथा उनका प्रयोग करते समय राग-द्वेष या वासना न आ जाए, इसकी निरन्तर चौकसी रखना कि इन्द्रियाँ और मन राग-द्वेषादि में प्रवृत्त हो जाए वस्तुतः इन्द्रिय-संवर की साधना का पहला अभ्यास पाठ है।

वैदिक ब्रह्मपुराण में इन्द्रियवशीकरण का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है– "इन्द्रियों को वश करने वाला (इन्द्रियजयी) मनुष्य जहाँ-जहाँ भी निवास करता है, वहीं कुरुक्षेत्र, प्रयाग तथा पुष्कर आदि तीर्थ बन जाते हैं।"[2]

इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत्त न होना शक्य नहीं, रागद्वेष का त्याग करना हितावह

यही कारण है कि आचारांगसूत्र में इन्द्रिय-संवर या इन्द्रियवशीकरण के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है–'यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ। अतः कर्णेन्द्रिय (श्रवणेन्द्रिय) का नहीं, किन्तु श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत शब्दों के प्रति जागृत होने वाले राग-द्वेष का परित्याग करना चाहिए।' "यह भी शक्य नहीं है कि आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाए, अतः नेत्रेन्द्रिय का नहीं किन्तु नेत्रों द्वारा गृहीत रूप के प्रति जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का परित्याग किया जाए।" "यह शक्य नहीं है कि नाक के समक्ष आए हुए सुगन्धित या दुर्गन्धित पदार्थ सूँघने में न आएँ। अतः घ्राणेन्द्रिय का नहीं किन्तु नासिका द्वारा ग्रहण किये जाने वाली गन्ध के प्रति उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए।" "यह भी शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आए, अतः जिह्वेन्द्रिय का नहीं, किन्तु जीभ के ऊपर चढ़े हुए (गृहीत) रस के प्रति जगने वाले राग-द्वेष को परिवर्जित करना चाहिए।" "यह शक्य नहीं कि शरीर (त्वचा) से स्पृष्ट होने वाले अच्छे या बुरे (अष्टविध) स्पर्श की अनुभूति न हो। अतः स्पर्शेन्द्रिय का नहीं, किन्तु स्पर्शेन्द्रिय के सम्पर्क में समागत स्पर्श के प्रति मन में उदित होने वाले राग-द्वेष का परित्याग करना चाहिए।"

भगवद्गीता में भी स्पष्टतः कहा गया है कि "प्रत्येक इन्द्रिय के विषय (अर्थ) के साथ राग और द्वेष स्थित हैं-सुषुप्त हैं। इन राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए, ये ही इस (इन्द्रिय-संवर-साधना) के प्रतिपक्षी या शत्रु हैं।"[3]

---

१. योगशास्त्र प्रकाश ४, श्लोक २४

२. इन्द्रियाणि वशे कृत्वा यत्र-यत्र वसेन्नरः।
तत्र-तत्र कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करं तथा। –ब्रह्मपुराण

३. (क) आचारांगसुत्र श्रु. २ अ. ३ उ. ५, सूत्र १३१ से १३५ तक
(ख) इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्नवशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
–गीता अ. ३ श्लोक ३४

इन्द्रिय-संवर इसलिए भी आवश्यक है

इन्द्रिय-संवर इसलिए आवश्यक है कि अगर साधक इन्द्रिय द्वारा विषयों में बार-बार प्रवृत्त होते समय सावधान न रहे तो वे उसे बलात् पतन के मार्ग पर ले जाकर साधना से भ्रष्ट कर देती हैं, इसलिए इन्द्रियों पर निरोध (संयम) करना आवश्यक बताया है।

साधक को इन्द्रियों का उपयोग करते समय सतत इन पर चौकसी रखनी चाहिए। अन्यथा, इन्द्रियाँ अपने-अपने मनोनीत विषय की पूर्ति और लालसा के प्रयास से साधक को घोर अधःपतन में ले जाती हैं। पापास्रवों में प्रवृत्त कर देती है, क्योंकि इन्द्रिय-विषयों के प्रति रागद्वेष कर्म-आस्रव या बन्ध के कारण (बीज) हैं, कर्मपरम्परा के कारण मोह, और तृष्णा उत्पन्न होती है, जिससे बद्ध कर्म जन्म-मरण चक्र को गतिमान करते रहते हैं, और जन्म-मरण ही अनेक दुःखों का कारण है।

इन्द्रिय-संवर न करने वाले अथवा इन्द्रियों द्वारा विषयों के प्रति गतिमान् होते समय सावधान न रहने वाला साधक किस प्रकार रागद्वेष के वशीभूत होकर हिंसादि पापास्रवों में प्रवृत्त होकर अपना अधःपतन करते हैं और दुःख परम्परा बढ़ाते है, इसका सजीव चित्रण उत्तराध्ययन में प्रस्तुत किया गया है—

"रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय है और उसका ग्राह्य विषय रूप है। प्रिय रूप राग का और अप्रिय रूप द्वेष का कारण है। रूप में जो तीव्र गृद्धि (आसक्ति) करता है, वह उसी प्रकार अकाल में ही विनाश के प्राप्त होता है, जिस प्रकार प्रकाश के रूप में अत्यासक्त होकर पतंगा अकाल में ही मरण-शरण हो जाता है। इसी प्रकार जो कुरूप वस्तुओं को देखकर तीव्र द्वेष या घृणा करता है, वह भी तत्काल दुःख पाता है, वह अज्ञानी रूप-लोलुप जीव दुःखों से परिपूर्ण पीड़ा पाता है। रूप की आशा (लालसा) में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, उन्हें संताप देता है और पीड़ित करता है। रूप में आसक्त जीव उस परिग्रह के उत्पादक एवं रक्षण की, संयोग एवं वियोग की चिन्ता में अहर्निश संतप्त रहता है। उसे सुख कहाँ है? वह तो उन विषयों का या पदार्थों के उपभोगकाल में भी अतृप्त रहता है। इसलिए रूपासक्त मनुष्य को जरा भी सुख नहीं होता। रूपवान् पदार्थों में अतृप्त जीव उन पदार्थों में आसक्त परिसक्त होकर लोभवश दूसरों के पदार्थों के चुराता है, असत्याचरण करता है। उसे जरा सा भी सुख नहीं होता। वह दुःख ही पाता है। इतना करने के बावजूद भी वह उन रूपवान पदार्थों के उपभोग के समय नितान्त दुःख पाता है। इस प्रकार वह नाना कर्मों से बद्ध होकर जन्ममरणादि दुःख परम्परा बढ़ाता है।"

"श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ग्रहण करने वाली इन्द्रिय है। शब्द उसका ग्राह्य विषय है। मनोज्ञ शब्द राग का और अमनोज्ञ द्वेष का कारण होता है। जिस प्रकार राग में आसक्त

मृग मारा जाता है, उसी प्रकार शब्दों में मूर्च्छित जीव अकाल में ही नष्ट हो जाता है। मनोज्ञ शब्द की लोलुपता के वश भारी कर्मी जीव अज्ञानवश त्रस और स्थावर जीवों की विविधरूप से हिंसा करता है, उन्हें परिताप उत्पन्न करता है, पीड़ित करता है। शब्द में आसक्त जीव मनोज्ञ शब्द या शब्द वाले पदार्थों के ग्रहण, उत्पादक, रक्षण एवं वियोग की चिन्ता में संलग्न रहता है। वह उपभोग काल में भी अतृप्त रहता है, फिर उसे सुख कहाँ है? शब्दासक्त जीव लोलुपतावश अतृप्ति के कारण चोरी करता है, झूठ कपट की वृद्धि करता है। इतना करने के बावजूद भी वह अतृप्त रहता है, नाना पापकर्म बाँधकर जन्म-मरणादि दुःखपरम्परा से छुटकारा नहीं पाता।"

"गन्ध को नाक ग्रहण करती है। नासिका (घ्राणेन्द्रिय) का ग्राह्य विषय गन्ध है। सुगन्ध राग और दुर्गन्ध द्वेष (घृणा) का कारण है। जिस प्रकार सुगन्ध में आसक्त सर्प ज्यों ही अपनी बांबी से बाहर निकलता है, त्यों ही मारा जाता है, उसी प्रकार गन्ध में अतीव आसक्त जीव अकाल में ही काल का ग्रास बन जाता है। मनोज्ञ गन्ध के वशीभूत होकर अज्ञानी जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, उन्हें दुःखित और परितप्त करता है। फिर सुगन्ध में आसक्त जीव सुगन्धित पदार्थों की प्राप्ति संरक्षण, व्यय और वियोग से जनित चिन्ता में ग्रस्त रहता है। वह सुगन्ध के संभोगकाल में भी अतृप्त रहता है, अतः उसे चैन कहाँ? वस्तुतः गन्ध में आसक्त जीव को किसी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं होता। सुगन्ध के उपभोग के समय भी वह दुःख और क्लेश ही पाता है।"

"जिह्वेन्द्रिय रस को ग्रहण करती है। उसका ग्राह्य विषय रस है। मनोज्ञ रस (स्वाद) राग का और अमनोज्ञ रस द्वेष (घृणा) का कारण होता है। जिस प्रकार मांस खाने के लोभ में मछली कांटे में फंसकर मारी जाती है, उसी प्रकार रसों में तीव्ररूप से आसक्त जीव अकाल में ही काल कवलित हो जाता है। रसासक्त जीव कुछ भी सुख नहीं पाता, बल्कि रसास्वादन के समय वह दुःख और क्लेश ही पाता है। इसी प्रकार अमनोज्ञ रसों पर द्वेष (घृणा) करने वाला जीव भी दुःखों की परम्परा बढ़ाता है और कलुषित मन से कर्मों के आस्रव और बन्ध का उपार्जन करके दुःखदायक फल भोगता है।

स्पर्श को शरीर (त्वचा) ग्रहण करता है और स्पर्शेन्द्रिय का ग्राह्य विषय स्पर्श है। सुखदायक स्पर्श राग का और दुःखदायक स्पर्श द्वेष का कारण है। जो जीव सुखद स्पर्शों में गाढ़ आसक्त होता है, वह वन्यसरोवर के शीतल जल में पड़े हुए और मगरमच्छ द्वारा ग्रसे हुए भैंसे की तरह अकाल में ही मौत का मेहमान बन जाता है। सुखद स्पर्श की लालसा में पड़ा हुआ भारी कर्मी जीव अनेक त्रस स्थावर जीवों की नाना प्रकार से हिंसा करता है, उनका अपहरण करता है, उन्हें दुःख और परिताप देता है। सुखद और गुदगुदे कोमल स्पर्शों में गृद्ध जीव उन (सुखद स्पर्श वाले) पदार्थों की पाने, रखने, व्यय होने तथा वियोग हो जाने की चिन्ता में ही मग्न रहता है। स्पर्शों के उपभोग के समय भी वह

दुःखित होता है, संक्लिष्ट होता है, फिर उसे सुख कहाँ? सचमुच, स्पर्श में आसक्त कुछ भी सुख नहीं पाते। इतने दुःख और क्लेश से सुखद स्पर्श जनित वस्तु प्राप्त होने के बावजूद भी उसके उपभोग के समय अतृप्ति, कर्मबन्ध एवं जन्ममरणादि के दुःखों की परम्परा ही बढ़ती है।[1]

इन्द्रियों का संवर या निरोध न करने के दुष्परिणाम

पाँचों इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय का संवर या निरोध न करने पर जीव की कितनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक हानि होती है, इस तथ्य को अनावृत करते हुए योगशास्त्र में कहा गया है–"स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी, रसनेन्द्रिय के वश में होकर मत्स्य, घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर भौंरा, चक्षुरिन्द्रिय के वशीभूत होकर रूपासक्त पतंगा और कर्णेन्द्रिय के वशीभूत होकर मृग मृत्यु का ग्रास बन जाता है। जब एक-एक इन्द्रिय विषय में आसक्ति मृत्यु का कारण बनती है तो फिर पाँचों इन्द्रियों के विषयोपभोग में आसक्त मनुष्य की क्या गति होगी? इसीलिए संवर का एक लक्षण वहाँ किया गया है–इन्द्रियों और मन का विषयों से निवृत्त होना संवर है।[2]

इन्द्रिय-विषयों में सुखाकांक्षायुक्त प्रवृत्ति अन्ततः दुःखकारी है, क्यों और कैसे?

निष्कर्ष यह है कि जीव जितना-जितना इन्द्रियों के वशीभूत होकर विषयों में प्रवृत्त होता है, उतना-उतना उसे सुख के बदले दुःख ही मिलता है। इसी तथ्य को 'प्रवचन सार' में स्पष्ट करते हुए कहा गया है–"इन्द्रियों से जो (कल्पित) सुख प्राप्त होता है, वह पराश्रित, बाधायुक्त, विच्छिन्न (नाशवान्-क्षणिक) एवं आम्रव व बन्ध का कारण तथा विषम होने से वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है।"

इन्द्रिय-विषयों में सुख ढूँढने वाले, वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्तियों को दृष्टि सम्यक् करने की प्रेरणा देते हुए 'प्रवचनसार' में कहा गया है–"जिसकी दृष्टि ही स्वयं अन्धकार को नष्ट करने वाली है, उसे दीपक क्या प्रकाश देगा? इसी प्रकार जब आत्मा स्वयं (अनन्त अव्याबाध) सुखरूप है, तब इन्द्रिय विषय उसे क्या सुख देंगे"[3]

परन्तु इन्द्रिय-संवर की सम्यक् दृष्टि से विहीन अविकसित मनःस्थिति वाले लोग इन्द्रिय-विषयों में सुख ढूँढते हैं। सुख की आकांक्षा में भटकते हुए वे लोग यही सोचते हैं

---

१. (क) उत्तराध्ययन अ. ३२ गा. २३,२४, २७, २८,३२
   (ख) वही अ. ३२ गा. ३६,३७,४०,४१,४३
   (ग) वही, अ. ३२ गा. ४९, ५०, ५३, ५४, ५८
   (घ) वही, अ. ३२ गा. ६३-७१
   (ङ) वही, अ. ३२ गा. ७२, ७६, ७०, ८०, ८४

२. (क) योगशास्त्र प्र. १ श्लो. १३-१४
   (ख) संवरश्चाक्षमनसो विषयेभ्यो निवर्तनम्। –योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति १/१३

३. प्रवचनसार १/७६, १/६७

कि सुख इन्द्रियजन्य है और अमुक-अमुक पदार्थों, साधनों और व्यक्तियों से मिलता है। फिर वे सारी जिंदगीभर उन्हीं कल्पित विषय साधनों को ढूँढने-संजोने में लगे रहते हैं। सुखाकांक्षा की तृप्ति के लिए अभीष्ट पदार्थ जुटाते हैं। उन्हें तृप्ति के क्षण सुखद लगते हैं। किन्तु इससे पूर्व और पश्चात् बेचैनी, जलन (ईर्ष्या), पश्चात्ताप एवं ग्लानि की मनःस्थिति बनी रहती है।

जैसे–जिह्वा से स्वाद लेने में सुख मानने वाले लोगों को जब तक मनचाही स्वादिष्ट वस्तुएँ नहीं मिलतीं, तब तक उनके मन में बेचैनी और ललक बनी रहती है, उन वस्तुओं की प्राप्ति की प्रतीक्षा और उत्सुकता भी उभरती रहती है। जिन क्षणों में वे स्वादिष्ट वस्तुएँ खाई जाती हैं, उतनी देर क्षणिक सन्तोष रहता है। पेटभर खा चुकने के बाद अरुचि हो जाती है, परोसने वाले के आग्रह को अस्वीकार करना पड़ता है। स्वादलिप्सावश मात्रा से अधिक खा लेने पर पेट गड़बड़ाता है, अजीर्ण और गैस की शिकायत हो जाती है। जिह्वेन्द्रियसंवर (संयम) की दृष्टि होती तो न तो वह विषयों में आसक्त होता, न सुख मानता और न ही उनकी प्राप्ति, तृप्ति और पश्चात्ताप के लिए होने वाला दुःख उठाता।[1]

अविकसित एवं असम्यक्दृष्टि वाले लोगों की यह सुखलिप्सा जिन उपायों-आधारों को अपनाने के लिए बाध्य करती है, वे सभी थोथे और पापस्रव के मार्ग सिद्ध हुए हैं। उनका आरम्भ जलन, अतृप्ति और अशान्ति से होता है, और अन्त ऐसी स्थिति में होता है, जिसे निराशा, खीज, पश्चात्ताप एवं ग्लानि का नाम दिया जा सकता है। इन्द्रियजन्य सभी सुखों की ऐसी ही स्थिति है।

जब वे कुलबुलाते हैं तो अज्ञानी मानव यह नहीं समझ पाता कि इनका सिर्फ शरीर से सम्बन्ध है, आत्मा से नहीं। वह उन्हें स्वजन समझकर उनकी तृष्णा बुझाने लग जाता है, जिससे संवर के बदले पापास्रव में और अवनति में आत्मा को धकेलता रहता है।

इन्द्रियसुखलिप्सा का दूसरा चरण है, काम-सुख, जो जननेन्द्रिय की तृप्ति से जनित माना जाता है। उसका भी यही हाल है। मुद्दत पहले से काम-सुख की तृप्ति के रंगीन सपने संजोये जाते हैं, और सुन्दरी के मिलने के उमंगें छाई रहती हैं। वह बेचैनी, आतुरता और प्रतीक्षा का समय है। संयोग के कुछ क्षण मादक भी हो सकते हैं। पर इसके पश्चात् शरीर और मन में शिथिलता और ग्लानि आती है। उन्माद का आवेश उतर जाने पर ऐसा पश्चात्ताप भी होता है कि जीवन रस की मात्रा को इस प्रकार नष्ट कर देने से असमय में ही वृद्धता, रुग्णता और अकालमृत्यु का वरण करना होगा।

---

१. अखण्ड ज्योति अक्टूबर १९७३ से भावांश ग्रहण पृ. ३

कभी-कभी पत्नी का स्वास्थ्य खराब करने और बच्चों का अनावश्यक भार लादने की बात भी सूझती है। फलतः मन धिक्कारता है। ऐसी भी आत्मग्लानि उत्पन्न होती है कि पत्नी का स्वास्थ्य बिगाड़कर तथा बढ़ी हुई गृहस्थी के उत्तरदायित्व वहन करने में जो आर्थिक और मानसिक कठिनाइयाँ पैदा करके तथा पापास्रव अर्जित करके कौन-सा सुख पाया? ये सब बातें विषय सुख के कुछ क्षणों की तुलना में बहुत ही महंगी और भारी पड़ती हैं।

नेत्रेन्द्रिय सुख की आकांक्षा भी उन आस्रवप्रिय लोगों को ठाठबाट की, सजधज की खर्चीली अमीरी की तथा कार, कोठी, फर्नीचर तथा अन्य अनावश्यक वस्तुएँ इकट्ठी करने की विडम्बनाएँ रचने को बाध्य करती हैं। ताकि लोग हमारी इज्जत करें, वे हमें धनवान, सुसम्पन्न, पुण्यवान और धर्मात्मा समझकर प्रभावित हों। हमसे दबे रहें। परन्तु यह नेत्रेन्द्रिय विषय सुख की तृप्ति कितनी महंगी, कष्टदायक, दूसरों के दिलों में ईर्ष्यात्पादक एवं खर्चीली सिद्ध होती है?

इसी प्रकार की अन्य इन्द्रिय विषयजन्य सुखाकांक्षा और आसक्ति की दुःखगाथा है। चिन्तन, निर्णय और दृष्टिकोण में विकृति भरी रहने के कारण इन्द्रियजन्य सुखाभिलाषा की पूर्ति के लिए किये गए समस्त कार्य प्रायः दुःखदायक ही सिद्ध होते हैं। सरल, स्वाभाविक, इन्द्रिय संयम प्रधान जीवन का आनन्द चौपट हो जाता है।[1]

इन्द्रिय विषयों में असावधानी से पतन और दुःख

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियों का स्वभाव अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होना है। वे अपने संस्कारवश अनुकूल विषयों में बार-बार प्रवृत्त होती हैं, प्रतिकूल विषयों में कम। उस समय साधक का मन सावधान न रहे तो वह अनुकूल प्रतिकूल के प्रति राग और द्वेष करता है। उसी के कारण कर्मास्रव कर्मबन्ध होते हैं। जिनके फलस्वरूप जीव का पतन होता है, वह अनेक प्रकार से दुःख पाता है, पापास्रव एवं बन्ध के फलस्वरूप वह जन्म-मरणादि संसार चक्र को बढ़ाता है।

इसी तथ्य को 'धम्मपद' में व्यक्त किया गया है—"जो मनुष्य इन्द्रिय विषय में असंयत रहता है, उसे मार (काम) उसी प्रकार (पतन की खाई में) गिरा देता है, जिस प्रकार कमजोर वृक्ष को हवा गिरा देती है। इसके विपरीत जो मनुष्य इन्द्रियों के प्रति सुसंयत रहता है, उसे मार (काम) साधना से उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकता, जिस प्रकार सुदृढ़ पर्वत को वायु विचलित नहीं कर सकता।"

विषयों के चिन्तन से सर्वनाश तक का चक्र गीता द्वारा प्रस्तुत

अगर साधक इन्द्रियों के द्वारा विषयों में प्रवृत्ति करते समय सावधान न रहे तो

---

१. वही, अक्टूबर १९७३ से, पृ. ४-५

उसकी बुद्धि विषयों के प्रति भ्रष्ट हो जाती है और अन्त में उसका विनाश निश्चित होता है। उत्तराध्ययन की तरह भगवद्गीता भी इन्द्रिय विषयों के सुखाकांक्षा पूर्वक चिन्तन से सर्वनाश की परम्परा का चित्र प्रस्तुत करती है--"इन्द्रिय-विषयों का ध्यान (एकाग्रतापूर्वक चिन्तन) करने से उनमें आसक्ति पैदा होती है, आसक्ति से काम (प्राप्ति की ललक), काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह (विवेकमूढ़ता), सम्मोह से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है।"

इस प्रकार इन्द्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष-मोहरूप विष चक्र इस जन्म में तथा जन्मान्तर में भी जन्म, जरा, मृत्यु व्याधिरूप दुःख समूह प्राप्त कराता है, क्योंकि इन्द्रिय विषयों के प्रति असावधान साधक रागद्वेषवश शीघ्र ही पापकर्मों का आस्रव और बन्ध कर लेता है, उनके फलस्वरूप दुःख, पीड़ा और संताप पाता है। इसीलिए उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा गया है–इन्द्रियों के विषयभोग क्षणभर के लिए सुख देते हैं, किन्तु बदले में चिरकाल तक दुःखदायी होते हैं।[1]

इन्द्रियाँ असावधान मानव को कैसे विषयों के घेरे में फंसाती है?

अखण्ड ज्योति में एक रूपक द्वारा बताया गया है कि इन्द्रियाँ किस प्रकार मूढ़ मनुष्य को विषयों के मायावी घेरे में फंसा लेती हैं–"अमेरिका के दक्षिणी भागों में पानी में पाया जाने वाला कछुए की-सी आकृति का एक जलचर जीव होता है–'एलीगेटर स्नैपर'। वह अपनी जीभ को बाहर निकालकर आगे-पीछे, दांये-बांये इस प्रकार लपलपाता है कि देखने वाले को यह जीभ स्वतंत्र जीव की-सी लगती है। उसे देखकर कई मछलियाँ उसे खाने के लिए दौड़ पड़ती हैं। ज्यों ही वे उसके पास पहुँचती हैं, 'एलीगेटर स्नैपर' उन्हें दबोच कर खा जाता है।"[2]

ठीक यही स्थिति शरीरस्थ इन्द्रियों में बसे विषयों की लपलपाहट से भ्रान्त एवं मूढ़ जीव की है। वह उसकी तृप्ति के लिए भाग-भाग कर आता है और बार-बार काल के द्वारा अथवा मायावी विषय-सुखों के द्वारा दबोच लिया जाता है। कुछ ही ऐसे बुद्धिमान्, जागरूक और विवेकी लोग होते हैं, जो इन्द्रियों के विषय-सुखों के प्रति आसक्ति को आत्मा का नहीं, शरीर का विषय मानते हैं और उनसे दूर रहकर अपनी सुरक्षा कर पाते हैं।

नदियों में पाया जाने वाला घड़ियाल भी जितना क्रूर होता है, उतना चतुर भी। शिकार की टोह में वह नदी के किनारे जाकर इस तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है, मानो

१. (क) धम्मपद गा. ७, ८
(ख) भगवद्गीता अ. २, श्लोक ६२,६३
(ग) खणमित्त सुक्खा बहुकालदुक्खा। –उत्तराध्ययन १४/१३

२. अखण्ड ज्योति, अक्टूबर १९७८, पृ. १२ से

कोई चट्टान या निर्जीव वस्तु हो। ज्यों ही कोई मूर्ख मछली उसके पास पहुँचती है, त्यों ही वह उसे पकड़कर उदरस्थ कर लेता है।

यही स्थिति मनुष्य की इन्द्रियों की है। सामान्यतया वे मूढ़ मानव को निर्जीव मालूम होती हैं। पर वे इतनी धूर्त और चालाक होती हैं कि मूढ़ मानव विषयों के सेवन के समय सावधान और जागरूक नहीं रह पाता। ज्यों ही आहार, विहार, खान-पान, तथा काम-भोगों आदि की मर्यादाजन्य भूलें हुईं कि ये निष्प्राण प्रतीत होने वाली इन्द्रियाँ उत्तेजित होकर उसे अपने चंगुल में फंसा लेती हैं। फिर उसके चंगुल से निकल पाना कठिन होता है।[1]

इन्द्रिय-संवर के साधको! सावधान!

इसीलिए भगवद्गीता में इन्द्रिय-संवर के साधकों को सावधान करते हुए कहा गया है–"जिस प्रकार पानी में नौका को वायु खींच ले जाती (हर लेती) है, उसी प्रकार विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में से जिस इन्द्रिय के साथ मन संलग्न हो जाता है, वह एक ही इन्द्रिय इस (असावधान साधक) की बुद्धि का हरण कर लेती है।" साधना में प्रयत्नशील (यतनावान्) बुद्धिमान् व्यक्ति के मन को भी ये प्रमथन-स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात् उसे (विषयासक्ति की ओर) हर (खींच) लेती हैं और संवर-पथ से च्युत कर देती हैं।"

"जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ सब प्रकार से इन्द्रिय-विषयों सहित वश में की हुई होती हैं, उसी की प्रज्ञा (संवर में) स्थिर होती है।"[2]

व्यवहारसूत्र भाष्य में इस सम्बन्ध में निरूपण किया गया है कि–"इन्द्रियों के विषय एक सरीखे होने पर भी एक उसमें आसक्त हो जाता है, और दूसरा विरक्त रहता है। जिनेश्वरदेवों ने बताया है कि इस सम्बन्ध में व्यक्ति का अन्तर्मन ही प्रमाणभूत है, न कि इन्द्रियों के बाह्यविषय।[3]

रागद्वेष रहित होकर विषयोपभोग करने से इन्द्रियाँ वश में, चित्त भी स्वच्छ

यही कारण है कि आचारांगसूत्र और उत्तराध्ययनसूत्र में निर्दिष्ट मन्तव्य के समान भगवद्गीता में भी इन्द्रिय-निग्रह या इन्द्रिय-संवर की साधना में सीधे इन्द्रियों के दमन, विषयों के निरोध की अपेक्षा इन्द्रिय-संवर के साधक पर विशेष उत्तरदायित्व डाला है कि वह अपने मन को राग-द्वेष से सम्पृक्त न होने दे। सावधान अप्रमत्त (विधेय) आत्मा इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन (उपभोग) करता हुआ भी अगर उन्हें (इन्द्रियों

---

१. वही, (अखण्ड ज्योति) अक्टूबर १९७८ पृ. १२
२. भगवद्गीता अ. २ श्लो. ६७, ६०, ६८
३. व्यवहार सूत्र भाष्य २/५४

को) रागद्वेष से रहित रखता है तो अपने वश में कर लेता है। ऐसा (इन्द्रियजयी) साधक चित्त की प्रसन्नता (स्वच्छता-निर्मलता) को प्राप्त होता है और चित्त की प्रसन्नता (निर्मलता) के होने पर (इन्द्रिय-संवर सिद्ध होने से) उस साधक के समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। उस प्रसन्नचित्त साधक की बुद्धि समभाव में स्थिर हो जाती है।[1]

'समयसार' में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है कि "(इन्द्रिय-संवर का) ज्ञानी साधक आत्मा (अन्तर् में रागादि का अभाव होने के कारण) विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता। इसके विपरीत अज्ञानी आत्मा (इन्द्रिय विषयों के प्रति रागादि का भाव अन्तर् में होने से) विषयों का सेवन नहीं करता हुआ भी, सेवन करता है।" दशवैकालिक निर्युक्ति में भी इन्द्रिय-संवर एवं इन्द्रिय-आस्रव के लिए साधक को विशिष्ट आधार बताते हुए कहा गया है–"जिस साधक का चित्त शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में न तो अनुरक्त होता है, और न द्वेष करता है, उसी का इन्द्रिय-निग्रह प्रशस्त होता है।" "इसके विपरीत जिस साधक की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, (असावधानी से) उन्मार्गगामिनी हो गई हैं, वह दुष्ट घोड़ों के वश में पड़े हुए सारथि के समान उत्पथ में भटक जाता है, (इन्द्रियों के वश में हो जाता है)।"[2]

इन्द्रिय विषयों में आसक्त बहिरात्मा इन्द्रिय-संवर नहीं करता

जैनदर्शन में आत्मा के तीन रूप बताए हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इसमें से बहिरात्मा का फलितार्थ बताते हुए मोक्ष पाहुड में कहा गया है–'इन्द्रियों (के विषयों में) में रमण करने वाला (आसक्त) व्यक्ति बहिरात्मा है'।[3] वस्तुतः जिस साधक को स्व-पर का, हित-अहित का, आस्रव-संवर का, श्रेय-पाप का बोध नहीं होता, वह अज्ञानी साधक इन्द्रियों को स्थूलरूप से बंद करके निश्चेष्ट होकर बैठ जाए, उससे वह इन्द्रियनिग्रह या इन्द्रिय-संवर को सिद्ध नहीं कर सकता।

इसीलिए शीलपाहुड में कहा गया है–"इन्द्रिय विषयों से विरक्ति ही शील (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, सदाचार, तप, जीवदया आदि) है। और शील (सम्यक् आचार) के बिना इन्द्रियों के विषय व्यक्ति के ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।"[4]

द्रव्य-इन्द्रिय द्वारा हुआ बोध प्रामाणिक और यथार्थ नहीं, क्यों और कैसे?

वस्तुतः द्रव्य इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं, उन्हें सुख-दुःख का, हानि-लाभ का, श्रेय-

---

१. भगवद्गीता अ. २, श्लो. ६४, ६५
२. (क) समयसार १९७
   (ख) दशवैकालिक निर्युक्ति २९५, २९८
३. मोक्षपाहुड ३५
४. शीलपाहुड ४०, १९, २

अश्रेय का अपने आप में कोई बोध नहीं होता। अतः इन्द्रियों के सहारे जो भी पदार्थों का ज्ञान किया जाता है, वह प्रामाणिक ही है, यथार्थ ही है, यह नहीं कहा जा सकता।

उदाहरणार्थ–आँखों की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता, उनकी प्रामाणिकता भी मानी जाती है, प्रत्यक्ष दर्शन की बात यथार्थ मानी जाती है। परन्तु इतने भर से यह नहीं कहा जा सकता कि आँखें, जो कुछ, या जैसा कुछ देखती हैं, वह सही है। मृगमरीचिका, इन्द्रधनुष आदि आँखों से दिखाई देने पर भी प्रायः भ्रम ही सिद्ध होते हैं।

टी. वी., सिनेमा के पर्दे पर दिखाई जाने वाली वस्तुएँ वास्तव में अचल होती हैं, पर वे दीखती हैं चलती-फिरती, क्योंकि जिस तेजी से फिल्मों की रील घूमती है, उतनी तेजी से नेत्रों के ज्ञानतन्तु मस्तिष्क तक सही सूचना पहुँचा सकने में असमर्थ होते हैं। फलतः फिल्में (चलचित्र) अचल होती हुई भी चलती-फिरती दिखाई देती हैं।

जब सामान्य घटना क्रमों के सम्बन्ध में यह बात है तो आत्मा और आत्मा से सम्बद्ध आस्रव, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों का, परमात्मा का, तथा संसार का, एवं जीवन का तत्त्व एवं दर्शन इन चर्म-चक्षुओं से कैसे ज्ञात हो सकता है, वह भावचक्षुओं (ज्ञाननेत्रों) से ही सम्भव है।

यही कारण है कि संसार के विभिन्न प्राणी और मानव प्राणी भी, अपनी इन्द्रिय शक्ति के सहारे अपने सम्पर्क में आने वाले पदार्थों और प्राणियों के बारे में विभिन्न मत निर्धारित करते हैं। कई बार तो वे एक दूसरे की अनुभूतियों में तनिक भी समानता नहीं होती।[1]

ऊँट नीम की पत्तियों को स्वादपूर्वक खाता है, पर मनुष्य को वे कड़वी लगती हैं। इसलिए इन्द्रियों की रचना के आधार पर वस्तुओं की तथा जीवों की उपस्थिति की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं, इसमें मस्तिष्क की बनावट और प्राणियों की वंशपरम्परागत अनुभूतियाँ भी बहुत बड़ा कारण हैं। प्राणी किस वस्तु को किस रूप में समझे और उससे क्या अनुभव ले, यह पदार्थ पर नहीं, प्राणियों की अपनी संरचना पर निर्भर है।

दृष्ट पदार्थों के बोध के साथ द्रष्टा की दृष्टि और भावना जुड़ती है

मोटे तौर से तो आँख के सहारे से पदार्थों का स्थूल स्वरूप तथा घटनाओं का विवरण ज्ञात होता है, परन्तु गहराई में उतरने पर पता चलता है कि दृष्ट पदार्थों के बोध के साथ द्रष्टा की भावनाएँ–विचारधारा भी जुड़ती हैं, उसी के अनुसार बोध होता है। एक युवती को देखकर कामुक की, बालक की तथा संत की दृष्टि अलग-अलग होती है। किसी का धन वैभव देखकर चोर की और हितैषी की दृष्टि में अन्तर होता है। एक की दृष्टि में यह संसार भवबन्धन है, दूसरे की दृष्टि में है–माया-मिथ्या, और तीसरे की दृष्टि

१. अखण्ड ज्योति, मई १९७८ पृ. १२ से भावांश ग्रहण

में है—विलासिता का प्रांगण। अतः किसी भी वस्तु या व्यक्ति को देखने में वस्तु या व्यक्ति की आकृति एक-सी होते हुए भी उससे उत्पन्न संवेदनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं।[1]

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा पदार्थ बोध में भी श्रोता की दृष्टि, भावना, संवेदना भी कारण

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय से भी सुनने से जो बोध होता है, वह भी प्रत्येक प्राणी का, यहाँ तक कि प्रत्येक मनुष्य की श्रवणेन्द्रिय की रचना में, उसके द्वारा श्रवण करने की क्षमता में, संवेदना एवं भावना में, दृष्टि में एवं उसकी ज्ञानचेतना की तीव्रता, मन्दता, मति-श्रुत ज्ञानावरणीय क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण श्रवण की हुई वस्तु के स्वरूप और कार्य के बोध में बहुत अन्तर आ जाता है।

इसलिए श्रवणेन्द्रिय बहरे को छोड़कर होती तो सभी मनुष्यों के है, परन्तु कोई उसका उपयोग कर्मों के आस्रव को बढ़ाने वाली बातों को सुनने में करते हैं, और कोई उसका उपयोग आस्रव-वृद्धिकारी बातों को छोड़कर संवर-प्राप्तकारी महत्त्वपूर्ण, आत्मा से सम्बद्ध तथा परमात्मपद-प्राप्तिकारी बातों के श्रवण, अध्ययन, मनन आदि में करते हैं।

श्रवणेन्द्रिय द्वारा अध्यात्मज्ञान उपार्जन के लिए आवश्यक साधन, सुविधा तथा उसे ग्रहण करने के लिए मस्तिष्कीय प्रखरता होने पर भी बहुधा मनुष्य उस ज्ञान सम्पदा से वंचित रह जाता है। इसमें श्रोत्रेन्द्रिय का दोष नहीं, वह तो शब्दों को ग्रहण करने का माध्यम है। उन शब्दों का सामान्य अर्थबोध भी ग्रहण करा देती है, किन्तु उनका गहराई से सम्यक् अर्थबोध करने में श्रोता की दृष्टि, भावना, संवेदना आदि भी मुख्य कारण हैं।

मनोयोगपूर्वक श्रवण के बिना श्रोत्रेन्द्रिय से लाभ नहीं उठाया जा सकता

अध्यात्मज्ञान की चर्चा भी ध्यानपूर्वक सुनने से बहुत-सी सारगर्भित बातें ज्ञात हो जाती हैं। किन्तु उपेक्षापूर्वक, अरुचिपूर्वक अन्यमनस्क होकर सुनने से, जो शब्द कान में पड़ते हैं, उनका एक चौथाई हिस्सा भी पल्ले नहीं पड़ता, न ही सुना हुआ तथ्य गले उतरता है। उस श्रवण का प्रभाव भी श्रवण काल में ही समाप्त हो जाता है। मनोयोगपूर्वक सुने बिना श्रवणेन्द्रिय से भी कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता।[2]

इन्द्रियों से विशेष ज्ञान कर्मक्षयोपशम, संवेदन आदि पर निर्भर

निष्कर्ष यह है कि पांचों इन्द्रियाँ अपने आप में वे सम्पर्क में आने वाले पदार्थ या प्राणी का यथार्थ अर्थबोध करा सकने में असमर्थ होती हैं। इन्द्रियों के सहारे से पदार्थों का सामान्य ज्ञान अवश्य हो जाता है, किन्तु वास्तविक एवं यथार्थ ज्ञान तो व्यक्ति की अपनी दृष्टि, कर्मों का क्षयोपशम, भावना, संवेदना आदि पर निर्भर है। इन्द्रिय संवर के रहस्यों

---

१. अखण्ड ज्योति मई १९७८ से भावांश ग्रहण, पृ. ९३
२. वही, मई १९७८ से भावांश ग्रहण, पृ. १४

को समझने में और उसका आनन्द प्राप्त करने के लिए ज्ञानचेतना की अविच्छिन्न धारा जीवन में होनी आवश्यक है, ताकि रागद्वेष की या कषायों की संवेदना की छाया इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थों पर न पड़े। तभी इन्द्रियों से आस्रव के स्थान में साधक संवर की साधना कर सकेगा। दूसरे शब्दों में कहें तो इन्द्रियों से सम्यक् अर्थबोध के लिए राग-द्वेष से रहित ज्ञानचक्षु–विवेकदृष्टि अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा की आवश्यकता है। यही इन्द्रिय-संवर का मुख्य उद्देश्य है।

इन्द्रिय द्वारों पर बैठकर साधक पहरेदारी रखे

फलितार्थ यह है कि इन्द्रियों के द्वार से जो-जो पदार्थों और विषयों का ग्रहण और ज्ञान होता है, वहाँ साधक के द्वारा पहरेदारी की जानी चाहिए, ताकि बाहर से अवांछनीय अथवा कर्मास्रव में फंसाने वाला विषय न आए। मानलो, कोई अनिष्ट शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आ जाए, इष्ट शब्दादि न आए तो भी इन्द्रियों के द्वार पर बैठा हुआ जागरूक साधक शीघ्र ही द्वेष या राग, घृणा या आसक्ति, अप्रीति या प्रीति की संवेदना-भावना या दृष्टि का तार उसके साथ न जोड़ दे। इसीलिए 'मरणसमाधि प्रकीर्णक' में कहा गया है–ज्ञान की लगाम से नियंत्रित होने पर इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार लाभकारी हो जाती हैं, जिस प्रकार लगाम से नियंत्रित तेज दौड़ने वाला घोड़ा।[1]

इन्द्रियों का वशीकरण : इन्द्रियों और मन के द्वार पर पहरा देने से

यह भी अनुभूत सत्य है कि यदि पांचों इन्द्रियों को मन और अन्तरात्मा विषयों में प्रवृत्त होने की खुली छूट दे दें तो वे प्रायः अपने अभीष्ट विषयों को ही बार-बार ग्रहण करने और उनमें सुख की कल्पना करने में अभ्यस्त हो जाती हैं, फिर आस्रवप्रिय मानव भी आत्मा के लिए अनिष्ट उन्हीं आवांछनीय विषय सुखों को आसक्ति पूर्वक अपना कर उन्हीं में रमण करता है।

साधक की इस असावधानी के कारण आँखें रूप की प्यासी रहती हैं, जीभ रस की पिपासा में आकुल रहती है, नासिका सुगन्ध को पसंद करती है। कान मधुर ध्वनि सुनने के इच्छुक रहते हैं। जहाँ कहीं भी मधुर शब्द, संगीत या वाद्य हो रहा हो, मन उधर ही चल पड़ता है। आँखें वस्तुओं का सौन्दर्य देखते ही रम जाना चाहती हैं, फिर वह सौन्दर्य वस्तुओं का हो, स्थान का हो, या नर-नारियों के शरीर का हो। स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श सुख की अनुभूति करते ही पुलकित हो उठती है।

व्यक्ति जितना ही इन विषय-सुखों में रमण करता है, उतना ही इन्द्रियों के वशीभूत होता जाता है। इन्द्रिय-सुखों में आसक्त व्यक्ति का तन-मन भी दुर्बल, क्षीण, निस्तेज होता जाता है। इन्द्रिय-संवर से ऐसा व्यक्ति कोसों दूर हो जाता है।

---

१. हुंति गुण कारगाइं सूयरज्जूहिं घणियं नियमियाइं।
नियगाणि इंदियाइं, जइणो तुरंगा इव सुदंता॥ –मरण समाधि ६२२

इसलिए इन्द्रिय-संवर के साधक को इन्द्रियों के द्वार पर पहरा देने के साथ-साथ मन के द्वार पर भी पहरा देना अनिवार्य है। अतः जो भीतर ही भीतर छिपा बैठा है, उस अन्तर्मन का द्वार बन्द कर देना चाहिए।

इन्द्रिय द्वार बन्द करने हेतु मन का भीतरी द्वार भी बंद करना जरूरी

इन्द्रियों का दरवाजा तो कदाचित् आसानी से बंद किया जा सकता है, परन्तु मन का दरवाजा बंद करना बहुत ही कठिन है। मन का दरवाजा बाहर ही नहीं, भीतर भी है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों–पदार्थों के ग्रहण करने के साथ-साथ अन्तर् में स्थित मन (अज्ञात मन) से जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि विकारों की जो किरणें आ रही हैं, उन गृहीत विषयों पर अच्छे-बुरे, प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, रुचिकर-अरुचिकर की छाप लगाने के लिए।

तन्त्रग्रन्थों में कहा गया है कि "इन्द्रियों की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर मन का प्रभुत्व है, वही इनका संचालन या निरोध करने में समर्थ है। मन अवरुद्ध हो जाए तो इन्द्रियाँ भी अवरूद्ध हो सकती हैं। इन्द्रियों की चंचलता मन की चंचलता पर निर्भर है। अतः मन के द्वार को बंद कर देने से इन्द्रियों के द्वार बन्द हो सकते हैं।[1]

मन और कषायों को जीत लेने पर इन्द्रियाँ स्वयं जीत ली जाती हैं

उत्तराध्ययन सूत्र में केशी और गौतम का लम्बा संवाद उल्लिखित है। आत्मा, मन, कषाय और इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने के विषय में पूछने पर गौतम स्वामी ने यह नहीं कहा कि पहले इन्द्रियों को जीतो। बल्कि उन्होंने कहा कि "एक मन (या आत्मा) को जीत लेने पर चार कषाय सहित पांच शत्रु जीत लिये समझो। और कषाय सहित मन को जीत लेने पर यानी मन के स्थिर और शान्त होने के साथ ही कषाय भी शान्त हो गए और कषायों के शान्त होते ही पांचों इन्द्रियाँ भी जीत ली गईं यानी मन और चार कषाय सहित पांचों इन्द्रियाँ, अर्थात्–वे दसों ही जीत लिये गए।[2]"

भगवद्गीता में भी स्थितप्रज्ञ (इन्द्रिय-संवर-साधक) के लक्षण के सन्दर्भ में बताया गया है कि "जिस प्रकार कछुआ (बाह्य संकट का आभास होते ही) अपने अंगों को सर्वथा समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष (इन्द्रिय-संवर साधक) अपनी इन्द्रियों को सब ओर से इन्द्रिय-विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि (संवर धर्म में) स्थिर हो जाती है।"[3]

---

१. (क) अखण्ड ज्योति, नवम्बर १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. २०
(ख) महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ८३

२. एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तू जिणामहं॥ –उत्तराध्ययन आ. २३ गा. ३६

३. यदा संहरते चाऽयं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
–गीता २/५८

आजीवन इन्द्रिय द्वार बन्द करना शक्य नहीं

इसी दृष्टि से इन्द्रिय-संवर के लिए पहला विधान किया गया–इन्द्रियों के द्वार बन्द कर दो, यानी इन्द्रियों के जो ५ विषय हैं–शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, इन्हें ग्रहण ही मत करो। परन्तु आचारांग सूत्र के पूर्व कथनानुसार शरीरधारी के लिए इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सर्वथा और सर्वदा–सदाकाल के लिए ग्रहण न करना शक्य नहीं है। शरीरधारी का समग्र जीवन–शैशवावस्था से लेकर मृत्यु-पर्यन्त–इन्द्रियों द्वारा विषयों के अग्रहण पर चल नहीं सकता। विषयों के अग्रहण की बात कुछ समय तक के लिए ठीक हो सकती है, किन्तु जिंदगीभर के लिए उच्चतम गुणस्थान की भूमिका तक न पहुँच जाए तब तक हर समय के लिए यह शक्य नहीं है।

अतः आचारांग सूत्र में स्पष्ट प्रतिवाद किया गया कि विषयों का सर्वथा-सर्वदा अग्रहण संभव नहीं है, किन्तु जो विषय अनायास ही प्राप्त हों, उनके प्रति राग और द्वेष का त्याग कर दो। चलाकर विषयों को ग्रहण मत करो, न ही उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करो। इसका फलितार्थ हुआ कि विषयों के साथ रागादि युक्त मन को मत जोड़ो। रागद्वेष का मेल विषयों के साथ जोड़ता है–मन। इसलिए दूसरा विधान हुआ–"मन का दरवाजा बन्द करो, उस पर पहरा रखो।"[1]

इन्द्रिय-संवर के लिए इन्द्रिय कषायादि को कृश करना है, शरीर को नहीं

कई धर्म-प्ररूपकों का कहना है कि मन को दुर्बल करने या मारने के लिए शरीर को खूब तपाओ, इसे कठोर तप करके एकदम कृश कर दो, तभी इन्द्रियाँ भी क्षीण हो जाएँगी; किन्तु इस तथ्य को युक्तिहीन बताकर प्रतिवाद करते हुए निशीथभाष्य में कहा गया–"हम साधक के केवल अनशन आदि से कृश (दुर्बल) हुए शरीर के प्रशंसक नहीं हैं, वस्तुतः इन्द्रिय (वासना), कषाय और अहंकार को ही कृश (क्षीण) करना चाहिए।" मरणसमाधि, अध्यात्मसार आदि ग्रन्थों में भी इस तथ्य का समर्थन किया गया है–"वही अनशन तप श्रेष्ठ है, जिससे कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियों की हानि (क्षीणता) न हो, तथा योग (मन वचन काय) से की जाने वाली आवश्यक क्रियाएँ-प्रवृत्तियाँ भी न छूटें।"[2]

इन्द्रिय-संवर के लिए मन से भी कामभोगों की आकांक्षा न करे

आशय यह है इन्द्रिय-संवर का सारा दारोमदार मन पर निर्भर है क्योंकि राग-द्वेष, कषाय या विषयासक्ति मन ही करता है, वही उसका त्याग कर सकता है। मन

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. ८४

२. (क) इंदियाणि कसाये य गारवे य किसे कुरु। णो वयं ते पसंसओ किसं साहु सरीरयं॥
–निशीथभाष्य ३७५८

(ख) सो नाम अणसणतवो तेण मणोमंगुलं न चिंतेइ। जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न हयंति॥
–मरणसमाधि १३४

पर विजय पाना–मन को वश में करना बहुत ही कठिन है। फिर भी वीतरागी अनुभवी महापुरुषों ने मनस्वी साधक से कहा–"(इन्द्रिय-संवर के साधक को) प्राप्त होने पर भी कामभोगों की अभ्यर्थना (मन से अभिलाषा-आशंसा) नहीं करनी चाहिए।" इसी शास्त्र में कहा गया है–इन्द्रिय-संवर-साधक कामी (विषय सुखाभिलाषी) होकर कामभोगों की (मन ही मन) कामना न करे। प्राप्त भोगों को भी अप्राप्त जैसा करदे। अर्थात्–उपलब्ध विषयभोगों के प्रति मन से उदासीन रहे।

आशय यह है कि मनस्वी इन्द्रिय संवर साधक अभीष्ट विषयों की प्राप्ति की आकांक्षा न करे, यदि प्राप्त हो गए हों तो उनके लिए मन ही मन स्वागत का थाल न सजाए। इसीलिए ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में कहा गया है–"जो व्यक्ति विषय भोगों से निरपेक्ष रहते हैं, वे (इन्द्रिय-संवर द्वारा) संसार रूपी अरण्य को पार कर जाते हैं।"[1]

प्राप्त विषयों के प्रति रागद्वेष का त्याग करना कठिन

यद्यपि यह कहना आसान है कि पहले तो चलाकर अनावश्यक विषयों को ग्रहण ही न करो, और यदि विषय इन्द्रियों के सम्मुख आ गए हैं तो उनके प्रति राग-द्वेष न करो। परन्तु जब तक वीतरागता की भूमिका तक साधक न पहुँच जाए, तब तक रागद्वेष का सर्वथा त्याग करना अत्यन्त कठिन है। जैसे ही कोई रूपवान् व्यक्ति सामने आया, वैसे ही राग का भाव मन में प्रादुर्भूत हो जाएगा, जैसे ही कोई कुरूप का विकृत चेहरा सामने आया, मन में फौरन घृणा का भाव उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। केवल आँख, कान, जीभ आदि बंद कर देने मात्र से विषयों के प्रति राग-द्वेष मन में उत्पन्न होने से रुक नहीं जाएगा।[2]

मन ही मन विषय भोग-प्राप्ति की आकांक्षा भी राग रूप है

कई बार इन्द्रियाँ अभीष्ट विषयों को ग्रहण नहीं करतीं, फिर भी मन ही मन अमुक विषय को या सजीव अथवा निर्जीव अभीष्ट पदार्थ को पाने की ललक उठती है, मन ही मन व्यक्ति उस अनुपस्थित या पूर्व दृष्ट विषय या वस्तु पर आसक्त हो जाता है, मन ही मन में उसको प्राप्त करने के लिए वह लालायित हो जाता है। उसको पाने के लिए प्लान बनाता है। अथवा बाहर से विषयों को न ग्रहण करने पर भी स्वप्न में या अकस्मात् पूर्वभुक्त विषय का स्मरण हो जाने पर उस वस्तु के प्रति आसक्ति, लोलुपता, कामना आदि के रूप में राग होता है। अतः राग का दायरा बहुत विस्तृत है। उसकी जड़ें बहुत गहरी और दूर-दूर तक फैली हुई हैं।

---

१. (क) लद्धे कामे न पत्थेज्जा। –सूत्रकृतांग १/९/३२
(ख) भोगेहिं निरवयक्ख, तरंति संसार-कांतारं॥ –ज्ञाता. १/९

२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ८४

विषयों से दूर रहने पर भी अन्तर् में रस (वासना) रह जाता है

जिस प्रकार प्याज के रस के बर्तन को कितना ही मांज-धो लेने पर भी तथा उसमें फिर बाहर से प्याज का रस न डालने पर भी यत्किंचित् प्याज की गन्ध रह ही जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियों को विषयों से सम्पर्क न कराने पर भी, अर्थात्–आँख, नाक, कान, जीभ आदि के द्वारा बाहर से विषयों का ग्रहण न किये जाने पर भी, उनमें पहले के लगे हुए अपने-अपने विषय के संस्कार पड़े रहते हैं। इन्द्रियों के निराहार होने से, बाहर से नहीं लेने से भी विषयों के साथ पहले के लगे हुए राग, द्वेष, कषाय आदि विकारों के संस्कार सहसा लुप्त नहीं हो जाते, वे विकार भावेन्द्रियों के साथ चिपके हुए हैं, वे सहसा छूट नहीं जाते।

आशय यह है कि आँखें मूँद लेने पर, कान रूई आदि से बंद कर देने पर, नाक को कपड़े आदि से बंद कर देने पर, जीभ को आहारादि पदार्थ का सम्पर्क न कराने पर तथा त्वचा से स्पर्श का संवेदन न कराने पर वे सभी विषयों से सम्पर्क नहीं कर पातीं। इस प्रकार इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयरूप आहार को ग्रहण करने से तो विरत हो गईं। किन्तु यों विषयों से विनिवृत्त हो जाने पर भी विषयों के रस–वासना की समाप्ति नहीं हो जाती।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियों के द्वारा बाहर से विषयों का अग्रहण होने पर भी जब तक उनकी वासना–यानी राग-द्वेषयुक्त विकार भाव-रूपी रस समाप्त नहीं होगा, तब तक इन्द्रिय-संवर अधूरा है। केवल संकल्प कर लेने मात्र से, प्रतिज्ञा ले लेने मात्र से कि मैं विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं करूँगा, सच्चे माने में इन्द्रिय-संवर नहीं हो जाएगा।

इन्द्रियों के साथ अवशिष्ट विषयरस छूटेगा 'पर' के दर्शन से

प्रश्न यह है कि इन्द्रियों के साथ अवशिष्ट इस रस (वासना या राग-द्वेषरूप विकार) को कैसे निर्मूल किया जाए? इसके लिए गीता में तथा आचारांग सूत्र में सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है। भगवद्गीता में कहा गया है–शरीरधारी के द्वारा इन्द्रियों से विषयों को बाहर से ग्रहण न करने से विषय तो समाप्त हो जाते हैं, किन्तु विषयाहार से रहित निराहार साधक के अन्तर् में उन विषयों के रस (राग- द्वेषादि विकार) समाप्त नहीं होते। विकास या रस छूटेंगे 'पर' (परम-आत्मा–शुद्ध आत्मा) के दर्शन से।[1]

'पर' के दर्शन का अभिप्राय : जैन और वैदिक दृष्टि से

'पर' के दर्शन से यहाँ अभिप्राय है–'परमात्म-दर्शन अथवा शुद्ध आत्मा का दर्शन।' जिसने शुद्ध कर्मरहित, कायारहित तथा मोह-माया (राग-द्वेष) से रहित आत्मा–

---

१. (क) वही, पृ. ८४
(ख) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ –गीता २/५९

परमात्मा का ज्ञान (विवेक) चक्षुओं से दर्शन कर लिया, आत्मा पर–स्व-स्वभाव पर ध्यान केन्द्रित कर लिया अथवा आत्मा के निजी गुणों–अनन्त ज्ञान-दर्शन, आनन्द और शक्ति में तल्लीन–तन्मय हो गया, स्व-भाव में ही रमणशील हो गया–वह व्यक्ति परभावों एवं विभावों से–विषयों एवं विकारों से–शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। उसका विषयों के साथ संसक्तरस सर्वथा छूट जाता है।

आचारांग सूत्र में शुद्ध आत्मा अथवा परमात्मा के निरंजन-निराकार स्वरूप का वर्णन किया गया है। शुद्ध आत्मा का स्वरूप शब्दातीत, रूपातीत, रसातीत, गन्धातीत एवं स्पर्शातीत है। परमात्मा या शुद्ध आत्मा समस्त कर्मों से मुक्त (आस्रवों और बन्धों से सर्वथा रहित) हो जाने पर जन्म-मरण रूप संसार चक्र में परिभ्रमण का सदा के लिए अन्त कर देता है।

उपनिषदों में इसी से मिलता-जुलता परब्रह्म या परमात्मा का स्वरूप मिलता है। अर्थात्–परमात्मस्वरूप का ध्यान करने से इन्द्रियाँ, होते हुए भी निरिन्द्रिय हो जाता है, मन होते हुए भी अमन, प्राण होते हुए भी अप्राण हो जाता है। उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है–इन्द्रियाँ पर हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से पर बुद्धि है और जो बुद्धि से पर है, वही 'पर' है–परम-आत्मा है। शुद्ध आत्मा सर्वथा ज्ञान-दर्शनमय-चैतन्यमय–ज्ञानघन है। इसका स्वरूप हृदयंगम हो जाने पर पूर्ण इन्द्रियसंवर हो जाता है। फिर सारे विकार, सभी वासनाएँ, समस्त कर्मसंस्कार समाप्त हो जाते हैं।[1]

शुद्ध आत्मदर्शन का क्षण ही मनःशान्ति, इन्द्रिय-निश्चलता, निराबाध आत्म-शान्ति का क्षण है।

इन्द्रियसंवर या इन्द्रिय-विजय की यह पराकाष्ठा है। जब तक इस मंजिल पर साधक नहीं पहुँच जाता, तब तक यह नहीं कहा सकता कि पूर्णतया इन्द्रिय विजय हो गई है। इन्द्रिय-विजय से अथवा इन्द्रियों को वश में करने से ही व्यक्ति का इन्द्रियसंवर पूर्णता तक पहुँचता है। ऐसा साधक गुप्तेन्द्रिय, जितेन्द्रिय अथवा 'दान्त' कहलाता है।

---

१. (क) "से ण दीहे, ण हस्से ..... ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा। परिण्णे, सण्णे। उवमा ण विज्जति। अरूवी सत्ता। अपदस्स पदं णत्थि। से ण सद्दे, ण रूवे, ण रसे, ण गंधे, ण फासे, इच्चेतवादीति त्तिबेमि।"
–आचारांग श्रु. १, अ. ५, उ. ६, सू. १७६ पृ. १८८-१८९ (आ. प्र. समिति ब्यावर)

(ख) तुलना करें–अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तन्मत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ –कठोपनिषद् १/३/१५
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं नश्यन्ति धीराः।
यत्तद दृश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षुश्रोत्रं तदपाणिपादम्॥ –मुण्डकोपनिषद् ६/६

(ग) "इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥"

प्रश्न होता है इन्द्रिय-संवर की पूर्णता की स्थिति तो उच्चतर गुणस्थानों में पहुँचने पर होती है, उसकी पूर्व भूमिका में इन्द्रिय-संवर की साधना कैसे सम्भव होगी? क्योंकि इन्द्रिय-संवर के प्रारम्भिक साधक ने अभी साधना की सीढ़ी पर पैर ही रखा है। आगे बढ़ते ही उसके समक्ष अनुकूल-प्रतिकूल रस भी आएँगे, गन्ध भी आएँगे, स्पर्श भी आएँगे और रूप या दृश्य भी आएँगे।

इन्द्रियों का दमन करने की अपेक्षा विषयों का उदात्तीकरण श्रेष्ठ है

एक दिन में एकदम तो उनके प्रति विरक्ति, अरुचि या विरति हो नहीं पाएगी। ऐसी स्थिति में वह क्या करे? इन्द्रियों के लिए विषयों का आकर्षण ऐसा आकर्षण है कि यदि इन्द्रियों को दमित किया जाए, अथवा मन में उठती हुई वासनाओं को सहसा दबाया जाए, मन को विषयाकर्षणों से सहसा विरत कर दिया जाए तो इतने से ही इन्द्रियाँ शान्त नहीं हो जाएँगी, प्रत्युत वे विषय-वासनाएँ दमित होने पर अधिकाधिक वेग से उठती हैं। सैक्स मनोवैज्ञानिक 'फ्राइड' का भी यही मत है।

परन्तु भारतीय मनीषियों ने विषयों के रस (वासना) को दमित करने के बदले, उनका उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। जिसका समर्थन पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक 'एडलर' और 'जुंग' ने भी किया है। जो भी कामनाएँ, वासनाएँ, या विषय-रस बाह्यवर्ती हैं, उन्हें अन्तर्वर्ती बना लिया जाए तो जो सुख या आकर्षण प्रत्यक्ष दृश्यमान पदार्थों या विषयों में प्रतीत होता था, वह अन्तरात्मा में दिखाई देने लगेगा।

इन्द्रियों के जिन रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दों (ध्वनियों) के आकर्षण में जहाँ आस्रवप्रधान दृष्टि वाला व्यक्ति अपनी आत्मशक्तियों को गंवाकर बेचैन हो उठता है, वहाँ संवरप्रधान दृष्टि वाला साधक अन्तरात्मा में डुबकी लगाकर आत्मतृप्ति, आत्मिक सुख एवं आत्मसन्तोष का असीम भण्डार पा जाता है, और शान्त, निश्चल हो सकता है।

यदि आत्मा में निहित उस अनन्त सुख (आनन्द) की प्राप्ति के लिए (भाव) इन्द्रियों और मन को क्षणिक वासनाओं एवं विषय रसों (विकारों) से मोड़कर अथवा उन्हें अपने वशवर्ती बनाकर उनकी क्षणिक सुखानुभूति (सुखाभासानुभूति) से वंचित कर दिया जाए तो यह सौदा घाटे का नहीं लाभ का ही है।[1]

योगदर्शनसम्मत प्रत्याहार से इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध भी असम्बन्ध-सम हो जाता है

सामान्य रूप से इन्द्रियों का सम्बन्ध बाह्य विषयों के साथ होने पर भी वह तब तक वृत्तिरूप ज्ञान का जनक नहीं होता, जब तक चित्त (मन) का सम्बन्ध इन्द्रियों से न हो।

१. अखण्ड ज्योति, नवम्बर १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. २०

जब चित्त को इन्द्रिय-विषयों से मोड़कर आत्म-स्वरूप तथा आत्मगुणों के चिन्तन में एकाग्र या लीन कर दिया जाता है, तब वह बाह्य विषयों की ओर से विमुख रहने लगता है। इस अभ्यास के फलस्वरूप जब चित्त (मन) का सम्बन्ध बाह्य (इन्द्रिय) विषयों के साथ नहीं होता, ऐसी स्थिति में इन्द्रियों का सम्बन्ध अपने बाह्य (इन्द्रिय) विषयों के साथ होने पर भी न होने (असम्बन्ध) के समान हो जाता है। पातंजल योगसूत्र में इसी को 'प्रत्याहार' कहा गया है। अर्थात्–जब इन्द्रियों का स्वविषय-सम्बन्ध असम्बन्ध के समान होकर चित्त के अनुरूप (विषय के साथ सम्बन्ध न रखने जैसी) स्थिति को प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय को अपने विषय से आहरण (दूर) कर देना–विषय से (सम्बन्ध छिन्न हो जाना) 'प्रत्याहार' है।

इन्द्रियजय के लिए इस उपाय के अतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ उपाय नहीं

योगदर्शन के इस सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के जय अथवा उनको वश में करने के लिए अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। इन्द्रियों का नेता चित्त या मन है। जब वही उनकी ओर से विमुख हो जाता है तो इन्द्रियाँ अपने आप शिथिल (शान्त) हो जाती हैं। जैसे रानी मधुमक्खी जिधर जाती है, उसी के पीछे अन्य मक्खियाँ जाती व बैठती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी चित्त की अनुगामिनी बनी रहती हैं। चित्त के आत्म भावना से प्रेरित होने पर इन्द्रियाँ आत्म भावना से प्रेरित होती हैं। ध्यान रहे, चित्त (मन) इन्द्रियाँ आदि सब आत्मा के लिए साधन मात्र (करण) हैं।[1]

पूर्वोक्त रीति से प्रत्याहार करने पर पूर्णरूप से इन्द्रियवश्यता

इससे अगले सूत्र में कहा गया है कि पूर्वोक्त रूप से प्रत्याहार करने से इन्द्रियाँ सर्वोत्कृष्ट रूप (पूर्णरूप) से वशवर्ती हो जाती हैं। फिर उनमें वह क्षमता नहीं रहती कि वे आत्मा को विषयों की ओर आकृष्ट कर सकें।

कुछ आचार्य कहते हैं कि उपयुक्त मात्रा में शब्दादि विषयों का उपभोग करना इन्द्रिय-जय है। कुछ कहते हैं–शब्दादि विषयों में आसक्त न होना इन्द्रियजय है। कई आचार्य कहते हैं–विषयों का किसी भी प्रकार से दास न बनकर, अपितु स्वामी बनकर विषयों का उपभोग करना इन्द्रियजय है। कई जैनाचार्यों का कहना है–रागद्वेष को छोड़कर सुख-दुःख का अनुभव न करते हुए विषयों का उपभोग करना इन्द्रियजय है। किन्तु योगदर्शन के अनुसार इन्द्रियजय की पूर्णता (पूर्णरूप से इन्द्रियजय या इन्द्रियों का वशीकरण) तब तक नहीं हो पाती, जब तक विषयों के प्रति व्यक्ति की भोग-भावना बनी रहती है।

---

१. (क) "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"
–योगदर्शन साधन पाद २/सू. ५४
(ख) पातंजल योग दर्शनम् (विद्योदय भाष्यसहित) में इसी सूत्र की व्याख्या, पृ. १५९

थोड़े-से समय के लिए आँखें मूँद कर बैठ गए, इतने से नेत्रेन्द्रिय पर विजय नहीं जो जाती। दो चार महीनों के लिए अमुक वस्तु का खान-पान बंद कर दिया, इतने से रसनेन्द्रिय पर विजय नहीं हो जाती। यह एक प्रकार का भ्रम होगा। व्यक्ति इतना-सा इन्द्रिय विषयों के सम्पर्क का त्याग कर ले, इससे इन्द्रियविजय तक पहुँचना तो दूर, इन्द्रियविजय के प्रथम द्वार तक भी नहीं पहुँचा गया है, समझ लें।

तात्पर्य यह है कि विषयों के साथ जब तक भोग वासना (रस या वासना) का सम्बन्ध रहेगा, तब तक व्यक्ति के चाहे जब अकस्मात् पतित होने की सम्भावना है। इतने मात्र से व्यक्ति पूर्ण रूप से आश्वस्त विश्वस्त नहीं हो पाता कि इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर मन को घसीटेंगी नहीं। चतुर विषवैद्य या सपेरा सांप को पूर्णतया वश में करके भी शंकित बना रहता है। चित्त जब प्रत्याहार-साधना से आत्मचिन्तन में एकाग्र या निरुद्ध हो जाता है, तभी इन्द्रियों द्वारा विषयों का बोध रुक जाता है। यही इन्द्रियों की परमवश्यता की स्थिति है। इसे ही पूर्ण इन्द्रियजय या परम इन्द्रिय-संवर कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में सूत्रकृतांग सूत्र में विषयोपभोगों से आत्मा की भिन्नता को इन्द्रियजय का मार्ग बताते हुए कहा गया है—जब साधक इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर लेता है कि "शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि कामभोग (जड़पदार्थ) अन्य हैं, मैं (आत्मा-सचेतन) और हूँ।"[1]

इन्द्रिय विषयों के प्रति रस का मार्गान्तरीकरण करना प्राथमिक इन्द्रिय संवर है

कतिपय आचार्यों का कहना है—पूर्ण इन्द्रिय-संवर या इन्द्रियजय निम्न भूमिका वाले व्यक्तियों के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः इन्द्रिय-संवर या इन्द्रियजय के प्राथमिक अभ्यासी के लिए इन्द्रिय विषयों के प्रति जो रस या वासना है, उसका मार्गान्तरीकरण कर दिया जाए, अर्थात्—उन्हें पापास्रवों से हटा कर शुद्ध भावों में लगा दिया जाए, यह भी संवर का एक प्रकार है। जैसे—आँखें मनोज्ञ रूप या सौन्दर्य को देखने के लिए लालायित होती हैं, उन्हें परमात्मा या शुद्ध आत्मा के या महापुरुषों के अथवा साधु, साध्वियों के दर्शन करने में लगाना, जीवदया करने में, पीड़ित प्राणियों को देखकर करुणा करने में, दुःखियों, पददलितों, रोगियों, चिन्तितों को देखकर उनके प्रति सहानुभूति दिखाने, उन्हें आश्वासन देने तथा यथाशक्ति उनकी सेवा करने में नेत्रेन्द्रिय का सदुपयोग करना चक्षुरिन्द्रिय विषय का मार्गान्तरीकरण करना, रस-परिवर्तन करना है।

---

१. (क) पातंजल योगदर्शनम् विद्योदय-भाष्यसहित (आचार्य उदयवीर शास्त्री) से पृ. १६०
(ख) महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ८५
(ग) अखण्ड ज्योति, नवम्बर १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. २०
(घ) अन्नो खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि। —सूत्रकृतांग २/१/९

इसी प्रकार कान मनोज्ञ शब्द, ध्वनि, प्रशंसा, स्तुति आदि सुनने के लिए लालायित होते हैं, उन्हें दीन-दुःखियों की पुकार सुनने, अपने हित, कल्याण या उद्धार की बात सुनने, साधु-साध्वियों का सदुपदेश सुनने, वैराग्यवासित वाणी सुनकर संसार से विरक्ति पाने तथा भगवद्वाणी, भगवद् गुणज्ञान, स्तुति, स्तोत्र या वीतराग पुरुषों का चरित्र श्रवण करने में लगाना कर्णेन्द्रिय विषय-रस का मार्गान्तरीकरण है। मधुर, शान्तरस और वैराग्यरस के उद्दीपक अथवा कर्त्तव्य निर्देशक, वीतराग गुणगानात्मक भजन, कविता, संगीत सुनकर उसमें एकाग्र एवं तन्मय हो जाइए, ताकि अश्लील, कामोत्तेजक या क्रोधादि विकारवर्द्धक गीतों के श्रवण से बच सकें।

जिह्वेन्द्रिय के मार्गान्तरीकरण की पद्धति यह है कि जिह्वा से अश्लील, कठोर, कर्कश, हिंसाकारी, (जीववधप्रेरक), कामोत्तेजक, निश्चयकारक, फूट फैलाने वाले, विघटन कारक, छेदन-भेदन कारक शब्द या संगीत न बोलकर उससे भगवद्गुणगान, स्तुति, साधु-साध्वियों के गुणानुवाद, भगवद्भजन, उपदेशी कविताओं, या सद्गुणप्रेरक गान, स्तुति, न्यायनीति-धर्मबोधक मधुर संगीत का उच्चारण किया जाए, किसी को सत्परामर्श दिया जाए, सद्बुद्धि दी जाए, सन्मार्ग की प्रेरणा दी जाए। किसी की निन्दा, गाली, मर्मस्पर्शी, हृदयाघातजनक अपशब्द न कहे जाएँ। उसके बदले में त्याग, तप, व्रत, नियम आदि श्रुत चारित्र धर्म के विषय में चर्चा की जाए।

शब्दों में बहुत बड़ी शक्ति होती है, ध्वनि से विस्फोट होता है, ऑपरेशन, विद्युत्-उत्पादन आदि अनेक कार्य ध्वनि से होते हैं। आधुनिक विज्ञान द्वारा संगीत की मधुर ध्वनि सुनाने से गायों में दुग्ध-उत्पादन में, तथा खेतों में अन्नादि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

प्राचीनकाल में छोटे-छोटे बच्चों को पालने में झुलाते-झुलाते माताएँ वीररस, शान्तरस और वैराग्य रस से ओतप्रोत लोरियों के रूप में संगीत सुनाती थीं, जिसके संस्कार उन बच्चों में अमिट होते थे। किसी को गाली देने या उसे बार-बार झिड़कने और हतोत्साहित करने से उसका हृदय, मन, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, निराश, उदास होकर मुर्झा जाएँगे। इसके विपरीत प्रशंसा करने से प्रफुल्ल हो जाते हैं।

वनस्पति जगत् पर भी निन्दा और गाली का, प्रशंसा और प्रोत्साहन का अचूक प्रभाव पड़ता है तो मनुष्यों और पशुओं की तो बात ही क्या? और तो दूर रहा, व्यक्ति स्वयं भी यदि बार-बार प्रशस्त, हितकर एवं अभीष्ट शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का सम्पर्क बार-बार पाता है तो उसका शरीर, इन्द्रियाँ, मन, हृदय और यहाँ तक कि समग्र जीवन भी प्रफुल्लित-प्रोत्साहित और आनन्दित हो जाता है। इसी प्रकार अभीष्ट, प्रशस्त एवं हितकर रंग और रूप का सम्पर्क भी व्यक्ति के जीवन पर, स्वास्थ्य पर और मन पर अच्छा प्रभाव डालता है।

आप अनिष्ट, अहितकर एवं अप्रशस्त रंग, रूप, आदि विषयों का प्रेक्षण, श्रवण, स्पर्श, आस्वादन आदि नहीं करना चाहते, क्योंकि बहुत अनिष्ट या अहितकर रंग-रूप के प्रेक्षण-श्रवणादि से आपके दिल-दिमाग पर बुरा असर पड़ सकता है। उस अवसर पर इन्द्रिय-संवर-साधक का कर्त्तव्य है कि वह अनिष्ट-अहितकर या अप्रशस्त शब्द, रूप, रस, स्पर्श आदि का संयोग पाकर सहसा उत्तेजित न हो, घबराए नहीं, धैर्य से समभावपूर्वक ग्रहण करके, अनिष्ट शब्दादि को इष्ट में परिवर्तन कर दे।

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में आता है कि सुबुद्धि प्रधान ने खाई के गन्दे, अस्वादिष्ट, काले और सड़ते हुए पानी को रासायनिक पदार्थों से शुद्ध करके स्वच्छ, स्वादिष्ट और सुगन्धित पेयजल के रूप में परिवर्तित कर दिया था, उसी प्रकार इन्द्रियसंवर-साधक भी मन को तत्त्वज्ञान से समझाकर अनिष्ट शब्दादि को इष्ट शब्दादि के रूप में परिवर्तित कर दे।

अनिष्ट विषय को इष्ट विषय में परिवर्तित करने की शक्ति हमारे मन-मस्तिष्क में है। भक्त मीरा ने राणा के द्वारा दिये हुए विष के प्याले को गटगटाकर अमृतरूप में परिणत कर लिया था। अनिष्ट अशुद्ध विषय विकारों को छान-छान कर उसमें से गंदगी, कीचड़, विकृति एवं अपवित्रता को शुद्ध करने की क्षमता पैदा होने पर इन्द्रिय संवर की साधना द्रुतगति से आगे बढ़ती है।[1]

ऐसा इन्द्रिय संवर सिद्ध हो जाने पर व्यक्ति में इष्ट विषयों को ग्रहण करने की और अनिष्ट को छोड़ने की सहज शक्ति विकसित हो जाएगी। निर्विकार, शान्त और प्रसन्न मन ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द की अभीष्टता, वास्तविकता और सुन्दरता को समझ सकता है। वहीं इन्द्रिय-संवर विकसित होता है। मन की प्रबल शक्ति, संकल्प और प्रसन्नता तथा धारणा के कारण अनिष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द भी इष्ट एवं प्रिय प्रतीत होने लगते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। धारणाओं के कारण ही बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं। अतः इन्द्रिय-संवर की अपनी भूमिका के अनुरूप साधना करते रहने से व्यक्ति एक दिन निरिन्द्रिय होकर सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकेगा। ■

---

१. "महावीर की साधना का रहस्य" से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण पृ. ८६,८७

१२

मनःसंवर का महत्त्व, लाभ और उद्देश्य

कर्मावृत आत्मा के चेतना-नेत्र सम्यक् पदार्थज्ञान के लिए मन उपनेत्र हैं

यदि किसी मनुष्य के नेत्र में यथार्थरूप से देखने की शक्ति क्षीण हो जाती है, अथवा उसे दूर से या निकट से कोई पदार्थ या अक्षर साफ-साफ नहीं दिखाई देते, तो उसे अपनी आँखों पर चश्मा लगाना पड़ता है। चश्मे की सहायता से वह पदार्थ को यथार्थरूप से जान-देख सकता है। अन्यथा, किसी भी पदार्थ का यथार्थरूप से जान-देख पाना उसके लिए कठिन होता है।

इसी प्रकार जिन कर्मबद्ध आत्माओं के सम्यक्ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्तिरूप निजीगुण अनावृत और अखण्ड नहीं है, जिनकी चेतना कर्मावरण से आवृत है, कुण्ठित है, अपूर्ण और खण्डित है, वे आत्मारूपी नेत्र भी अपनी ज्ञानादि चेतना कर्मों के आवरण से आवृत होने के कारण पदार्थों और विषयों का यथार्थरूप से डायरेक्ट ज्ञान नहीं कर सकते, वे मनरूपी उपनेत्र (चश्मे) की सहायता से पदार्थों और विषयों का ज्ञान कर पाते हैं।[1]

आवृत चेतना के प्रकट होने का सशक्त माध्यम : मन

तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवों की चेतना पूर्णतया अनावृत नहीं है। इसलिए वह सर्वात्मना प्रकट नहीं होती। उसकी कुछ किरणें ही प्रकट होती हैं। वे भी अपने आप नहीं प्रकट होतीं। आवृत चेतना के प्रकट होने का सशक्त माध्यम मन है। मन एक ऐसा द्वार है, जिसके जरिये प्रकट होने वाली मानसिक चेतना में त्रैकालिक ज्ञान का सामर्थ्य होता है। वह वर्तमान को जानती है, भूतकालिक घटना का स्मरण करती है और भविष्य के विषय में तदनुरूप चिन्तन कर सकती है। इन्द्रियों के द्वारा जो वर्तमानग्राही ज्ञान होता है, वही मन में प्रतिबिम्बित होता है। मन उसी वर्तमानकालिक ज्ञान का मनन-चिन्तन और विश्लेषण करता है।[2]

---

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १ (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण पृ. ४८४

२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. १११

मन : सचेतन भी और अचेतन भी : कैसे ?

मन चेतन है या अचेतन ? इस प्रकार का प्रश्न जब दार्शनिक जगत् में आया, तब बौद्धधर्म ने मन को सचेतन तत्त्व बताया, सांख्यदर्शन ने भी उसे जड़ 'प्रकृति' से उत्पन्न और त्रिगुणात्मक माना, भगवद्गीता में भी इसी तथ्य की प्रतिध्वनि है। किन्तु जैनदर्शन ने मन को चेतन-अचेतन उभयरूप माना।

जैनविचारणा में मन के भौतिक (पौद्गलिक) रूप को द्रव्यमन कहा गया है, जो मनोवर्गणा के पुद्गलों से निर्मित होता है। सामान्यरूप से इसमें शरीर के सभी ज्ञानात्मक, निर्णयात्मक तथा संवेदनात्मक अंगों का समावेश हो जाता है। अर्थात् इसमें मन, बुद्धि, चित्त और हृदय–इन चारों अन्तःकरण के बाह्य रचनात्मक अवयव आ जाते हैं।

दूसरा मन का अभौतिक चेतनात्मक रूप है, उसे 'भावमन' कहते हैं। मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचनातंत्र में भावमन चैतन्यधारा प्रवाहित करता है। भावमन को ज्ञान, संवेदन और संकल्प निर्णय आदि की चैतन्य शक्ति आत्मा से डायरेक्ट प्राप्त होती है, जिसे वह द्रव्यमन में प्रवाहित करता है।[1]

चूँकि मन की क्रिया का संचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है, इसलिए वह यांत्रिक क्रिया है। मस्तिष्करूपी यंत्र बिगड़ जाए तो मन की क्रिया नहीं होती, फलतः मानसिक चेतना प्रकट नहीं होती। अतः मन यांत्रिक क्रिया का प्रतिफलन होने से अचेतन है और चेतना (आत्मा) के प्रकाश से प्रकाशित होने से चेतन भी कहा जा सकता है। अर्थात्–मस्तिष्क की यांत्रिक क्रिया की दृष्टि से मन को अचेतन और उसकी आत्मिक क्रिया की दृष्टि से चेतन कहा जा सकता है।[2]

इसलिए मन यों तो अचेतन (जड़) है, परन्तु वह द्रव्यमन है। इसके विपरीत जिसके माध्यम से आत्मा द्वारा मिली हुई चेतना प्रकट होती है, वह भावमन सचेतन है। इस दृष्टि से जैनदर्शन मन को जड़ भी मानता है और चेतन भी।

जड़ और चेतन के मध्य योजक कड़ी : मन

चूँकि जड़ और चेतन दोनों के मध्य सम्बन्ध मानना अत्यावश्यक है, उसको माने बिना जड़ कर्मों का चेतन आत्मा के साथ बन्ध (सम्बन्ध) बन ही नहीं सकता है। इसलिए जैनदर्शन में मन को उभयात्मक मानकर कर्मवर्गणा और चेतन-आत्मा के मध्य योजक कड़ी माना गया है। मन की जो शक्ति है, वह चेतनात्मक है, और उसका कार्यक्षेत्र भौतिक जगत् है। जड़ (कर्म परमाणु) पक्ष की ओर से वह भौतिक पदार्थों से प्रभावित होता है, और चेतनपक्ष की ओर से आत्मा को प्रभावित करता है।

---

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से भावांश ग्रहण, पृ. ४७९-४८०

२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश गहण पृ. ४८०

मन : बन्ध और मोक्ष का कारण : कैसे ?

इस प्रकार मन के द्वारा आत्मा और जड़ (कर्म) तत्त्व के बीच अपरोक्ष सम्बन्ध मान कर जैनदर्शन बन्ध (कर्मबन्ध) की धारणा को सिद्ध करता है। जब तक मन माध्यम रहता है, तभी तक जड़ और चेतन में परस्पर प्रभावकता रहती है और कर्मबन्ध का सिलसिला जारी रहता है। मोक्ष (सर्वथा कर्ममुक्ति) के लिए मन के इन उभयपक्षों को पृथक्-पृथक् करना होता है, इसलिए उस दशा में मन की उपर्युक्त शक्ति समाप्त होने लगती है, और अन्त में मन का विलय हो जाता है, और मन का विलय होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। मोक्षदशा में उभयात्मक मन का अभाव हो जाता है, और तब कर्मबन्ध की सम्भावना ही नहीं रहती।[1] इसी दृष्टि से कहा गया है–"मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है।"

उपनिषदों की दृष्टि में मन : बन्ध और मोक्ष का मूल कारण

भारतीय तत्त्व-चिन्तकों ने केवल मोक्ष-प्राप्ति का ही उपदेश नहीं दिया, अपितु उन्होंने मुक्ति-प्राप्ति में बाधक बन्ध के कारणों के साथ-साथ उसके साधक कारणों का भी निरूपण किया है। यही कारण है, उपनिषत्-कालीन ऋषियों ने अपने अनुभवों के प्रकाश में संक्षेप में जीव के बन्धन और मुक्ति के मूल कारण का उल्लेख करते हुए कहा–"मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।"[2]

जैन दृष्टि से मन : आस्रव और बन्ध का, तथा संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण

जैनदर्शन में, मन को एक ओर आस्रव और बन्ध का कारण बताया है, तो दूसरी ओर, उसे संवर और निर्जरा का और अन्त में मोक्ष का भी कारण बताया है। मन सातवीं नरक में भी ले जा सकता है और अनुत्तर विमान के सर्वोच्च सर्वार्थसिद्ध देवलोक (स्वर्ग) में भी पहुँचा सकता है, तथा मन की शक्तियों का आध्यात्मिक विकास की दिशा में उपयोग किया जाए तो वह मोक्ष का द्वार भी खोल सकता है; उससे पहले वह वीतरागता की भूमिका पर पहुँचा सकता है।

समस्त शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामों का आद्य कारण : मन

संक्षेप में कहें तो, कर्मों के आस्रव और बन्ध का, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष का मूल कारण–आद्य निमित्त मन है। समस्त शुभ, अशुभ अथवा शुद्ध भावों –परिणामों का मूलाधार, आद्य प्रवेशद्वार मन है। मन में ही सर्वप्रथम अच्छी-बुरी वृत्तियों, भावनाओं, वासनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं, प्रशस्त-अप्रशस्त रागात्मक परिणतियों,

---

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण पृ. ११२

२. "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" –छान्दोग्योपनिषद्

द्वेषात्मक कल्पनाओं एवं संकल्प-विकल्पों का जन्म होता है। और मन में कर्मों के आगमन (आम्रव) को रोकने (संवर) के और पूर्वकृत कर्मों के आंशिक क्षय (निर्जरा) के शुद्ध परिणामों–भावों की उत्पत्ति होती है। मन ही सद्-असद्-विवेक का, नैतिक-अनैतिक कृत्य का, पुण्य-पाप और धर्म का, हित-अहित का, कल्याण-अकल्याण का, धर्म-अधर्म का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामों (भावों) का निर्णायक–निश्चायक है। वस्तुतः मन संकल्प-विकल्पात्मक भी है और निश्चयात्मक, शुद्ध निर्णायक भी है।

मन का निवास स्थान कहाँ-कहाँ और क्यों ?

जैन दार्शनिकों के समक्ष जब मन के निवास-स्थान का प्रश्न आया तो पं. सुखलाल जी ने जैनसिद्धान्त की दृष्टि से इसका समाधान करते हुए कहा–द्रव्यमन का निवास-स्थान स्थूल शरीर है; और भावमन का निवास-स्थान भी समग्र शरीर ही सिद्ध होता है। क्योंकि भावमन का स्थान आत्मा है और आत्म-प्रदेश सारे शरीर में व्याप्त हैं। इसलिए श्वेताम्बर-परम्परानुसार उभय-मन समग्र शरीरव्यापी सिद्ध होते हैं। दिगम्बर-परम्परा के गोम्मटसार ग्रन्थ में मन का निवास-स्थान हृदय बताया है। बौद्धपरम्परा में भी इसी प्रकार माना गया है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ का मन्तव्य है कि मन समग्र शरीर में रहता है, और शरीर के अमुक हिस्से में भी। जो भी ज्ञान प्रकट होता है, उसका मुख्य केन्द्र है–मस्तिष्क। हमारा ज्ञान, ज्ञानवाही नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है; इस दृष्टि से मन का मुख्य केन्द्र या निवास-स्थान मस्तिष्क है। किन्तु उसकी क्रिया ज्ञानवाही तन्तुओं के जरिये समग्र शरीर में होती है; इस अपेक्षा से मन को सारे शरीर में व्याप्त कहा जा सकता है।[1]

वैदिक परम्परानुसार मन का स्वरूप

वैदिक ऋषियों एवं मनीषियों ने मन को सूक्ष्म जड़ परमाणुओं से बना हुआ पारदर्शी यंत्र बताया है। उनकी दृष्टि में मन आत्मा के हाथों एक अनोखा यंत्र है, जिसके माध्यम से आत्मा बाह्यजगत् का अनुभव और ग्रहण करता है। वह शुद्ध चेतना की आभारूप है। इस कारण समस्त वस्तुओं को अभिव्यक्त करता है। यह आत्मा के सर्वाधिक निकट है। इसलिए वह इस बोधस्वरूप (ज्ञानमय) है। वह आत्मा का अन्तःकरण यानी भीतरी यंत्र है। वह प्रकाश का उत्स नहीं है। मन में अपने आप में कोई

---

१. (क) दर्शन और चिन्तन, भाग १ (पं. सुखलाल जी) से पृ. १४०
(ख) गोम्मटसार (जीव काण्ड)
(ग) जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से भावांश ग्रहण पृ. ४८०
(घ) महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ११५-११६

चेतना नहीं है। वह बोध स्वरूप आत्मा से, जिसका कि वह भीतरी यंत्र है, चेतना की आभा ग्रहण करता है और सबको उद्भासित करता है। यहाँ तक कि भौतिक प्रकाश भी इसी प्रकार मन के माध्यम से प्रकाशमान होता है। अपना स्वयं का प्रकाश न होते हुए भी मन प्रकाशमान प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि मन में ज्ञान की क्रिया होती है, पर वह स्वयं ज्ञानात्मक नहीं है, वह तो ज्ञान का करण अर्थात् साधन मात्र है। चेतना से उधार लिये हुए आलोक से प्रकाशमान होने के बावजूद मन ज्ञान का सक्षम साधन है।

मन : एक पृथक भीतरी यंत्र

मन इन्द्रियों और शरीर से पृथक् है। वह पांच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की सहायता लिये बिना ही विचार, अनुभव, इच्छाशक्ति, कल्पना, स्मरण, हर्ष और विषाद की क्रियाएँ कर सकता है। इसी से यह प्रमाणित होता है कि मन इन्द्रियों से पृथक् एक भीतरी यंत्र है, जिसके माध्यम से उपर्युक्त क्रियाएँ सम्भव होती हैं।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् के निम्नोक्त तर्क से मन एक पृथक् भीतरी यंत्र सिद्ध होता है–"मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने नहीं देखा। मेरा मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने नहीं सुना।" (मनुष्य ऐसा जो कहता है, इसी से निश्चय होता है कि) वह मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणाशक्ति), अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय, ये सब (मन के) ही (कार्य) हैं। पीछे से स्पर्श किये जाने पर भी मनुष्य मन से जान लेता है। अतएव (मन) है।[2]

मन की शक्तियाँ अकल्पनीय

यद्यपि मन स्वतंत्र कर्ता नहीं है। वह स्वतंत्रकर्ता आत्मा के अधीन एक यंत्र है। तथापि मन की शक्तियाँ अकल्पनीय हैं। मन की शक्तियों के सहारे ही मनुष्य ने अदृश्य अणु को तोड़कर उसकी ऊर्जा को प्रकट किया है तथा अव्यक्त अमूर्त आत्मा का अनुभव कर वह ज्ञानालोक से उद्भासित हुआ है। उपलब्धि के इन दो ध्रुवों के बीच मानव ने विभिन्न क्षेत्रों में जो भी उपलब्धियाँ की हैं, वे सभी मन की शक्तियों के द्वारा ही सम्भव हुई हैं।[3]

भौतिक वैज्ञानिकों द्वारा मन की शक्ति का नापतौल

भौतिक वैज्ञानिकों ने मन की शक्ति का नापतौल करने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार मन भौतिक शरीर की चेतना शक्ति (ऊर्जाशक्ति) है। आईन्स्टीन के शक्ति

---

१. (क) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से सारांश ग्रहण पृ. २८
(ख) "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् । तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"–कठोपनिषद् २/२/१५

२. बृहदारण्यक उपनिषद् १/५/३

३. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से पृ. २७

सिद्धान्त के अनुसार न कुछ भार वाले एक परमाणु में ही प्रकाश की गति × प्रकाश की गति अर्थात् १८६०००×१८६००० कैलोरी शक्ति की उत्पत्ति हो सकती है, जो मानवमन की ही उपज है।

मन की शक्ति के द्वारा भौतिक वैज्ञानिकों ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया है कि १४ लाख टन कोयला जलाने से जितनी शक्ति मिलती है, उतनी ही शक्ति की मात्रा एक पौण्ड पदार्थ की शक्ति की होती है। यदि इस शक्ति को पूर्णतया शक्ति में बदलना सम्भव होता तो एक पौण्ड कोयले में जितना द्रव्य होता है, यदि उसे शक्ति में परिवर्तित कर दिया जाए तो पूरे अमेरिका के लिए एक महीने की बिजली तैयार हो सकती है।

मन की प्रचण्ड विद्युत् शक्ति का चमत्कार

डॉ. वैनेटर्न मन को 'ए ग्रेट इलैक्ट्रिकल फोर्स' (एक महान् विद्युत् शक्ति) कहते हैं। वस्तुतः मन शरीर के द्रव्य की विद्युत् शक्ति है। मन की एकाग्रता जितनी बढ़ेगी, शक्ति उतनी ही तीव्र होगी। इसीलिए वेदों में मन को 'ज्योतिषां ज्योति' कहा गया है। इसी तरह कहा गया है–चन्द्रमा मन से जन्मा है (चन्द्रमा मनसो जातः)।

वैज्ञानिकों की गणना है कि मनुष्य के पास शरीर की विद्युत् शक्ति मन के रूप में पहले से विद्यमान है। मन शरीरद्रव्य की विद्युत शक्ति ही है। यदि पूरे शरीर को इस (विद्युत्) शक्ति में बदलना सम्भव हो जाए तो १२० पौण्ड भार वाले शरीर की विद्युत्-शक्ति (मानसिक ऊर्जा शक्ति) इतनी अधिक हो सकती है कि वह सारे अमेरिका को अथवा पूरे भारत को लगातार १० वर्ष तक विद्युत् दे सकती है। मन की इस प्रचण्ड क्षमता (ऊर्जा शक्ति) से भारतीय योगी, एवं आध्यात्मिक ऋषि-मुनि शून्य आकाश में स्फोट कर देते थे।[1]

जैनागमों में पुलाक लब्धि का जो वर्णन आता है, वह मन की ही प्रचण्ड ऊर्जा शक्ति है, जिसके बल पर व्यक्ति चक्रवर्ती की समूची सेना तक को चूर-चूर कर सकता है। मन से सामान्य श्राप अथवा वरदान देने की बातें भी मन की उर्जा शक्ति के परिणाम हैं। प्राचीन काल के योगी एवं ऋषि-महर्षि किसी को कुछ उपदेश दिये बिना मात्र संकल्प बल से ही विश्व की मानवीय समस्याओं का समाधान तथा निर्देशन करते थे।

मैस्मैरिज्म या हिप्नोटिज्म के प्रयोग भी मन की शक्ति के प्रयोग हैं। हजारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति तक मनःसंकल्प के द्वारा अपनी बात पहुँचा देने की विचार सम्प्रेषण विधि भी मानसिक शक्ति का प्रयोग है। मनोबल से हिमालय जैसे पर्वत को, उफनती हुई नदी को भी अपने अनुकूल बनाया जा सकता है। मनोबल से प्रसिद्ध प्रभुभक्त मीरा ने राणा के द्वारा दिये हुए विष को भी अमृतमय बना दिया था। मनोबल से संसार में हजारों आश्चर्यजनक कार्य होते देखे गए हैं।

---

१. अखण्ड ज्योति, जनवरी १९७८ से साभार उद्धृत पृ. १३

मन की शक्ति से मानसिक कल्पना द्वारा किसी भी वस्तु का चित्र लेना

एक अमेरीकी नागरिक 'टेड सेरियस' का मन इतना शक्तिशाली एवं अकल्पनीय क्षमतायुक्त है कि वह कैमरे के लेन्स में दृष्टि करके जिस वस्तु की या दृश्य की मन में कल्पना करता है, उसका हूबहू फोटो क्लिक् करने पर कैमरे में आ जाता है। अमेरिका में बैठे-बैठे उसने लाल किले के बुलन्द दरवाजे के हूबहू फोटो खींचे हैं, जैसे कि वे हैं। इतना ही नहीं, उसने नेपोलियन बोनापार्ट के समय के चित्र भी खींचकर दिखाये हैं, जिन्हें पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सही बताये हैं। 'डेनबर' के मनोवैज्ञानिक 'डॉ. जूले आइसेनबेड' की एक कमेटी ने इनके वस्तु तत्त्व की जाँच की और सही पाये जाने पर उपलब्ध प्रमाणित घटनाओं को सन् १९६७ में 'दि वर्ल्ड ऑफ टेड सेरियस' के नाम से प्रकाशित कराया।

स्टानफोर्ड के वैज्ञानिकों ने तो चारों ओर ऐसे व्यवधान एवं लौह आवरण तक खड़े किये कि रेडियो तरंगें भी प्रवेश न कर सकें, तब भी 'टेड सेरियस' ने मानसिक कल्पना से चित्र उतार दिये। वह मानसिक तन्मयता तथा प्रगाढ़ एकाग्रता से जिस वस्तु का मन ही मन ध्यान करता है, उस स्थिति में कैमरे को उसकी आँखों में फोकस करके चित्र लिया जाता है, वह चित्र उसके चेहरे या अँखों का न आकर, उसी वस्तु का आता है; जिसका ध्यान करता है।[1]

मन की प्रचण्ड शक्ति से भौतिक की तरह आध्यात्मिक पदार्थ प्रभावित

प्रो. ऐलीशाग्र ने भी अपनी पुस्तक 'मिरैकिल्स ऑफ नेचर' में मन की उक्त प्रचण्ड सामर्थ्य का समर्थन किया है और उसे ज्ञात शक्तियों में सबसे अधिक प्रबल बताया है। 'डॉ. लुइस क्राउन' ने लिखा है कि ताप विद्युत् आदि भौतिक शक्तियाँ तो केवल भौतिक पदार्थों को अमुक सीमा तक ही प्रभावित करती हैं, किन्तु मानसजन्य विचार-विद्युत् व्यापकरूप से सारे (भौतिक एवं आध्यात्मिक) वातावरण को प्रभावित कर सकती हैं। 'ऑप्टन सिंक्लेयर' नामक मनोविज्ञान–लेखक ने अपनी पुस्तक 'मेंटल रेडियो' में लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क एक सशक्त मानसिक वायरलेस सेट है। वह बिना किसी भौतिक माध्यम के अपने एकाग्र मन से उत्पन्न विचार आसानी से दूसरों तक पहुँचा सकता है। साथ ही स्वयं का मन-मस्तिष्क उत्कृष्ट विचार-प्रवाहों, तथा दिव्य-सन्देशों के लिए खुला रखकर अपना पूर्ण आत्मविकास कर सकता है।

यह है मन की अगाध शक्ति का चमत्कार! जिसे चाहे तो मनुष्य भौतिक विकास के कार्यों में लगा सकता है और चाहे तो आध्यात्मिक विकास कार्यों में लगा सकता है। मन की अपार शक्ति का मनुष्य ध्वंसात्मक कार्य में भी उपयोग कर सकता है, और सृजनात्मक कार्यों में भी। मंत्रों की शक्ति मन द्वारा मनन-जपन की ही तो शक्ति है, जिसके

---

१. अखण्ड ज्योति जनवरी १९७८ से साभार उद्धृत पृ. १३

द्वारा अनेकों आश्चर्यजनक भौतिक-अभौतिक कार्य सम्पन्न हुए हैं, हो सकते हैं। जितने भी योगसाधना के अनुष्ठान हैं, वे मानसिक शक्तियों के अभिवर्धन-परिवर्धन के लिए हैं।[1]

तत्त्वदर्शियों और वैज्ञानिकों द्वारा मन की प्रचण्ड शक्ति का स्वीकार

सभी शास्त्रकारों और योगी महापुरुषों ने मन को समस्त शक्तियों का भण्डार कहा है और इसका सदुपयोग करने हेतु इसे वश में करना अनिवार्य बताया है। किन्तु इस मनःशक्ति के विकृत होने पर जीवन का विनाश अवश्यम्भावी है। विकृत मन वाले व्यक्ति का शरीर, बुद्धि, मस्तिष्क सभी विनष्ट होने लगते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी अब मन की प्रचण्डशक्ति को स्वीकार करने लगा है। साइकोलॉजी, पेरा-साइकोलॉजी, मेटाफिजिक्स, फेथ-हीलिंग आदि विज्ञान की धाराएँ मनःशक्ति के अध्ययन और शोध की धाराएँ हैं।

मन की शक्ति अणुशक्ति से किसी प्रकार भी कम नहीं है। इतिहास-पुराणों में वर्णित शाप और वरदान की घटनाएँ इसी मनःशक्ति के विध्वंस और सृजन के उदाहरण हैं। भारतीय तत्त्वदर्शियों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही देख-परख कर कह दिया था– 'मनः मानसं देवः चतुवर्ग-प्रदायकम्' अर्थात् मन की शक्ति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष दिलाने वाली सारी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। उसकी शुद्ध, सात्विक और विधायक शक्ति का उन्हें ज्ञान था। यही कारण है कि वे प्रातःकालीन प्रार्थना में कहा करते थे–

"जिसके बिना संसार का कोई भी कर्म (काम) नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन शिव अर्थात् मोक्ष के संकल्प वाला हो।"[2]

प्रचण्ड मनःशक्ति का सदुपयोग-दुरुपयोग उपयोगकर्ता पर निर्भर

मनुष्य मन की इतनी अतुल शक्ति का स्वामी होने के बावजूद भी केवल उस पर यथायोग्य नियंत्रण एवं उसका यथोचित नियोजन न कर पाने के कारण परमुखापेक्षी एवं दीन-हीन, पराधीन बना रहता है। अनियंत्रित और अपरिष्कृत मन के दुष्परिणाम शक्ति के दुरुपयोग की तरह के ही होंगे। अणुशक्ति का उपयोग मानव-कल्याण के लिए किया जाए या मानव-संहार के लिए ? बिजली से प्रकाश, ताप आदि के रूप में लाभ लिया जाए या प्राणों का संकट उपस्थित किया जाए ? आग से भोजन बनाकर भूख मिटाई जाए या आग लगाकर भयंकर हानि एवं सर्वनाश किया जाए, यह सब मन की

---

१. वही पृ. १४

२. (क) अखण्डज्योति, दिसम्बर १९७८ से भावांश ग्रहण पृ. १५
(ख) देवी भागवत
(ग) "यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते। तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥"

संकल्प-विकल्पात्मक शक्ति के अधीन है। संसार के समस्त पदार्थों से हानि-लाभ या कल्याण-अकल्याण उपयोगकर्ता के मन पर निर्भर है।

यह उपयोगकर्ता की मनःशक्ति पर निर्भर है कि वह किस पदार्थ का कैसे कहाँ कितनी मात्रा में सदुपयोग, दुरुपयोग या अनुपयोग करता है ? वह अपनी मनःशक्तियों को स्वच्छन्द छोड़कर तथा विकृत और दूषित बनाये रखकर उनका विषयोपभोगासक्ति में, कषायों के कूट जाल में, रागद्वेषादि के मोहयंत्र में फँसने का पराक्रम भी कर सकता है, और चाहे तो मनःशक्ति को नियंत्रित, सुगुप्त और सुरक्षित एवं एकाग्र करके उससे आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च शिखर पर भी पहुँच सकता है। वह मनःशक्ति को अमंत्रित असंवृत रखकर कर्मों के आस्रव और बन्ध के दुष्परिणामों को भोगता है, और मनःशक्ति से संवर और निर्जरा के द्वारा कर्मों से अंशतः सर्वांशतः मुक्त भी होकर मुक्ति की अचल सम्पदा को भी प्राप्त कर सकता है।

मानव जाति का यह दुर्भाग्य है कि वह मन जैसी प्रचण्ड शक्ति का उपयोग केवल लौकिक एवं भौतिक क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थों में एवं इन्द्रिय-विषयभोगों में करते हुए नष्ट एवं विकृत करता रहता है। शरीर को एवं इन्द्रियों को भोग सामग्री मानकर स्वयं को महान् आध्यात्मिक सुख-सम्पदाओं से वंचित कर देता है।[1]

जीवसत्ता और ब्रह्मसत्ता को मिलाने और पृथक् करने वाली सत्ता : मनःशक्ति

वैदिक परम्परा के अनुसार—जीवसत्ता और ब्रह्मसत्ता (अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा) के बीच यदि कोई चेतनसत्ता काम करती है, इन दोनों को परस्पर मिलाती है या अलग करती है, तो वह मन ही है।

विकृत मनःस्थिति का शरीर पर दुष्प्रभाव

डॉ. कैनन की अध्यक्षता में अमेरिका के डॉक्टरों और मनश्चिकित्सकों की टीम ने अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि व्यक्ति की मनःस्थिति अस्तव्यस्त और आवेगग्रस्त होती है तो उसका विपरीत प्रभाव पेट की (पाचन) क्रियाओं पर पड़ता है। उसका पेट सदा के लिए खराब रहने लगता है।[2]

शरीर और मन का अविच्छिन्न सम्बन्ध होने से आरोग्य, दीर्घजीवन, पुरुषार्थ, प्रतिभा, मानसिक सहृदयता, स्फूर्ति आदि अनेक लक्षणों से मानसिक स्थिति का परिचय मिलता है। मन हारा, थका, निराश हो तो शरीर का गठन सही होने पर भी उसमें निर्जीवता-सी, उदासी, हताशा छाई रहती है। इसके विपरीत शरीर की आकृति काली-कलूटी और गठन की दृष्टि से दुबली-पतली होने पर भी भीतरी उत्साह, मानसिक स्फूर्ति आदि उस काया को तेजस्वी और आकर्षक बना देते हैं।

---

१. अखण्ड ज्योति दिसम्बर १९७८ से भावांश ग्रहण पृ. १४
२. वही, पृ. १५

मन का शरीर पर जबर्दस्त और अचूक प्रभाव पड़ता है। क्षुब्ध मनःस्थिति में लटका हुआ फीका चेहरा, चिन्ता और परेशानी के समय नींद का उड़ जाना तथा प्रसन्नता के समय खिल उठना आदि बातें शरीर पर मन के प्रभावों को प्रमाणित करती हैं।

डॉ. क्रेन्स डोलमोर और डॉ. रोओ द्वारा सन् १९२३ में की गई शोधें भी शरीर पर मन के प्रभावों को सिद्ध करती हैं। उनका कहना है कि यदि मनुष्य का मन स्वस्थ हो तो शरीर में कोई रोग हो ही नहीं सकता। उन्होंने अपनी पुस्तक में दो फोटो भी प्रकाशित किये हैं। एक फोटो ५० वर्ष की आयु वाले व्यक्ति का है। जिसका चेहरा सूखा और मुर्झाया हुआ है, गाल पिचके हुए, और आँखें अंदर धंसी हुई हैं। दूसरा फोटो ७० वर्ष की आयु वाले व्यक्ति का है; जिसके चेहरे पर कोई झुर्री नहीं, कोई सिकुड़न नहीं, तथा बुढ़ापे का कोई लक्षण नहीं प्रतीत होता। यह है, 'शरीर पर पड़ने वाले मन के प्रभाव का निदर्शन"[1]!

दूषित मनःस्थिति वाले लोग ही समाज में हत्या, युद्ध आदि के कारण

समाज में भी आए दिन संघर्ष, विग्रह, कलह, युद्ध, दंगे, फसाद, आगजनी, लूटपाट, हत्या, रोग, शोक आदि जितने भी विकार पैदा होते हैं, उनके पीछे भी कारण हैं–दूषित मनःस्थिति और दूषित विचारधारा वाले व्यक्ति। संसार में जितने भी युद्ध, नरसंहार और रक्तपात हुए हैं, वे प्रायः ऐसी विकृत मनःस्थिति वाले व्यक्तियों के कारण हुए हैं।

एक व्यक्ति की क्रूरता, हिंस्रता और अहंवादिता अथवा हठधर्मिता के कारण ही संसार के लाखों लोग अकाल युद्ध के गाल में काल-कवलित हुए। विकृत मनःस्थिति किस प्रकार अनर्थ उत्पन्न करती है ? इसका ताजा उदाहरण है–द्वितीय विश्वयुद्ध। जिसमें दो करोड़ से भी अधिक मनुष्य मारे गए।

इसके विपरीत एक व्यक्ति की परिष्कृत शुद्ध सात्त्विक मनःस्थिति का प्रभाव भी महात्मा गाँधी, संत विनोबा, मार्टिन लूथर किंग, हेमचन्द्राचार्य, अब्राहम लिंकन आदि मनीषियों के रूप में देख सकते हैं, जिनकी शुद्ध मनःस्थिति के कारण समाज और राष्ट्र में परिस्थिति-परिवर्तन हुआ। शुद्ध संस्कृति के मूल्यों का प्रतिरोपण हुआ।[2]

क्रूरतापूर्वक हत्या का बालक आरमण्ड के मन पर आजीवन प्रभाव

२१ जनवरी १७९३ को फ्रांस के सम्राट् सोलहवें लुई को क्रूरतापूर्वक दिये गये मृत्युदण्ड के बीभत्स दृश्य का प्रभाव चार वर्ष के बालक आरमण्ड पर इतना जबर्दस्त

---

१. (क) अखण्ड ज्योति दिसम्बर १९७८ से पृ. १५
   (ख) वही, अगस्त १९७६, पृ. ४
२. वही, दिसम्बर १९७८ से पृ. १५

पड़ा कि वह आतंकित और विचलित हो गया। अपनी माता लुहारवेट के साथ घर आते ही वह बेहोश हो गया। जागा तो फिर नींद नहीं आई। डॉक्टरों ने बहुत चिकित्सा की, महीनों तक उपचार किया, मगर नींद नहीं आई सो नहीं आई। उसे ७१ वर्ष की आयु तक नींद नहीं आई।

डॉ. सोलेमन ने इस प्रकार की कई घटनाओं को संकलित करके एक पुस्तक लिखी है–'माइण्ड मिस्ट्रीज एण्ड मिरेकल्स' जिसमें उसने लिखा है कि "मन एक बहुत ही सूक्ष्म रहस्यमयी अद्भुत शक्तिशाली सत्ता है, उसके रहस्यों को समझ पाना अति दुष्कर है।"[1] इसीलिए इसिभासियाइं में कहा गया है–"मनुष्य का मन अत्यन्त गहन है, उसका समझ पाना कठिन है।"[2]

बन्ध और मोक्ष की दृष्टि से मन की अगाध शक्ति का परिचय

जैनदर्शन में बन्ध और मोक्ष की दृष्टि से मन की अपार शक्ति का निरूपण है। जैनकर्मसिद्धान्त का एक सिद्धान्त है कि काययोग से यदि मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट रूप में बन्ध हो तो एक सागरोपम काल की स्थिति का हो सकता है, वचनयोग के मिलने से उसी मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट बन्ध पच्चीस सागरोपम कालिक स्थिति का हो सकता है। घ्राणेन्द्रिय के मिलने पर पचास सागर की स्थिति का और चक्षुरिन्द्रिय के मिलने पर सौ सागरोपम की स्थिति का उत्कृष्ट बन्ध हो सकता है। जब अमनस्क पंचेन्द्रिय की अवस्था में कान मिलते हैं, तो उस अवस्था में पूर्वोक्त मोहनीय कर्म के उत्कृष्टबन्ध की स्थिति हजार सागरोपम तक पहुँच जाती है। किन्तु अगर उनके साथ मन मिल जाता है तो उस उत्कृष्ट बने हुए मोहनीय कर्म के बन्ध की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटी (७० करोड़ × ७० करोड़) सागरोपम काल तक पहुँच जाती है।

यह है बन्धन की दृष्टि से मन की अगाध शक्ति का संक्षिप्त परिचय। यही कारण है कि तन्दुलमत्स्य जैसा पंचेन्द्रिय समनस्क जीव किसी अन्य प्रकार से जलचर जीवों की हिंसा किये बिना केवल मन से जल-जन्तुओं की हिंसा का विचार करने मात्र से मरकर सप्तम नरक का मेहमान बन जाता है।[3]

दूसरी ओर मोक्ष (कर्ममुक्ति) की दृष्टि से भी मन अपार शक्तिशाली है। जैन-दर्शन के अनुसार मन मुक्ति-महल में प्रवेश करने का प्रथमद्वार है। सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग-संवर तथा अहिंसादि पांचों संवरों की साधना का सर्वप्रथम जन्म मन में होता है, तत्पश्चात् वचन और शरीर उनमें प्रवृत्त होते हैं।

---

१. अखण्ड ज्योति दिसम्बर १९७८ से संक्षिप्त सारांश पृ. १३

२. "मणुस्स-हिदयं पुणिणं, गहणं दुव्वियाणकं ।" –इसिभासियाइं ४/६

३. (क) जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से साभार उद्धृत पृ. ४८५
(ख) तंदुल–वेयालियं प्रकीर्णक देखें।

मन का योग होने पर ही सम्यग्दर्शन, यथाप्रवृत्तिकरण आदि

जैनकर्मविज्ञान में बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि बनने के लिए अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ आदि आवेगों का संयम आवश्यक है। और उन तीव्रतम क्रोधादि आवेगों पर संयम मन ही कर सकता है। यही कारण है कि कर्म-मुक्ति के लिए सर्वप्रथम आवश्यक सम्यग्दर्शन केवल समनस्क प्राणियों को ही प्राप्त हो सकता है, अमनस्क प्राणियों को नहीं। इसीलिए माना गया कि सम्यग्दर्शन के लिए की जाने वाली ग्रन्थि भेद की प्रक्रिया में यथाप्रवृत्तिकरण भी मन का योग होने पर होती है।[1]

मन, बन्ध और मुक्ति का हेतु : आगमों की दृष्टि से

मन जब संयमित एवं समाहित होता है, तभी अज्ञान की निवृत्ति और सम्यग्-दर्शन की उपलब्धि होती है, तभी शुद्ध संयमित एवं समाहित मन मोक्ष का हेतु बनता है। इसके विपरीत अनियंत्रित मन अज्ञान (मिथ्याव) का कारण होकर जीवों के लिए कर्मबन्ध का हेतु बनता है।[2]

इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि मनोगुप्ति एवं मन:समाधारणता से मन एकाग्र हो जाता है। एकाग्र मन वाला जीव संयमाराधक होता है, ज्ञानपर्याय को प्राप्त होता है जिससे मिथ्यात्व (अज्ञान) नष्ट होकर सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है।[3]

इसीलिए मन को बंध का हेतु भी कहा गया है और मुक्ति का भी।

विभिन्न दर्शन-परम्पराओं की दृष्टि में मन,बन्धन और मुक्ति का कारण

योगशास्त्र में कहा गया है–कर्मों का आस्रव और संवर मन के अधीन है। इसलिए जो व्यक्ति मन का निरोध (संवर) कर लेता है, उसके कर्म (बन्धन) भी पूर्णतया रुक जाते हैं। इसके विपरीत जो मन का निरोध (संवर) नहीं करता उसके कर्मों के बन्ध में अभिवृद्धि होती जाती है।[4]

वेदान्तदर्शन के मैत्राण्युपनिषद और ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ग्रन्थों में भी कहा गया है– "मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण मन है।" मन का विषयासक्त होना ही बन्ध का और उसका निर्विषय होना मुक्ति का कारण है। विवेकचूडामणि में भी कहा गया है–मन से ही बन्ध की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की। मन ही देहादि विषयों में राग करके बाँधता है और मन ही विषसम विषयों के प्रति विरसता (विरक्ति) करके मुक्त कर देता है। इसलिए जीव के बन्धन और मुक्ति के विधान में मन ही (प्रमुख) कारण है। रजोगुण से

---

१. स्थानांग सूत्र स्थान ५ उ. २
२. जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से, भावांश ग्रहण पृ. ४८३
३. उत्तराध्ययनसूत्र अ. २९, सू. ५३, ५६.
४. योगशास्त्र, श्लोक ४३९

मलिन मन बन्ध का हेतु बनता है और रज और तम से रहित शुद्ध सात्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।[1]

बौद्धदर्शन में भी मन को बन्ध और मुक्ति का कारण बताते हुए लंकावतारसूत्र में कहा गया है–"चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त (मन) की ही विमुक्ति होती है।" धम्मपद में कहा गया है–"सन्मार्ग में संलग्न चित्त सबसे अधिक हितकारी है और कुमार्ग में संलग्न चित्त (मन) सर्वथा अहितकारी। जो इस (मन) का संयम (निरोध) करते हैं, वे मार के बन्धन से मुक्त हो जाएँगे।"

बौद्ध परम्परा में मन, चित्त, विज्ञप्ति, इन सबको पर्यायवाचक शब्द माना गया है। धम्मपद में यह भी कहा गया कि जितनी भी अच्छी या बुरी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सर्वप्रथम मन से होती हैं, मन से ही श्रेष्ठ प्रवृत्ति होती है, मन से ही निकृष्ट (दुष्ट) प्रवृत्ति होती है। सभी प्रवृत्तियाँ मनोमय होती हैं। निर्वाण प्राप्ति के लिए मन को निर्वात (अचंचल) दीपक की लौ की तरह शान्त करना आवश्यक है।[2]

चूँकि शुद्ध आत्मा तो बन्धन का कारण हो नहीं सकता, क्योंकि वह मन वचन और काया के योगों (प्रवृत्तियों) से सर्वथा रहित होता है। इसी प्रकार मनोभाव से रहित कायिक, वाचिक कर्म एवं जड़ कर्मपरमाणु भी अपने आप में बन्धकर्त्ता नहीं हो सकते। इसलिए बन्ध के प्रमुख कारण राग-द्वेष-मोह आदि मनो-जात भावों को माना गया। यद्यपि ये मनोभाव आत्मगत (आत्मिक) होते हैं, क्योंकि चेतनसत्ता के बिना ये उत्पन्न हो ही नहीं सकते, इसलिए रागादि के उत्पादन में चेतनसत्ता निमित्त कारण होते हुए भी मन के बिना रागादि भाव उत्पन्न नहीं कर सकती। इसलिए मन को ही बन्ध और मोक्ष का कारण माना गया है।[3]

मन कब बन्ध का, कब मुक्ति का वाहक ?

पहले कहा गया था कि आत्मारूपी नेत्र में स्वयं यथार्थ देखने की शक्ति क्षीण होती है तो वह मन रूपी उपनेत्र (चश्मे) के सहारे ज्ञान प्राप्त करता है। मनरूपी उपनेत्र यदि कलुषित, रागादि वृत्तियों से दूषित एवं विकृत रंग का हो तो वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं देता, वह भ्रान्त ज्ञान देता है, जिससे वह आत्मा को बन्धन में डाल देता है, किन्तु

---

१. "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं, मोक्षाय निर्विषयं मनः ।" –मैत्रायण्युपनिषद् ४/११, ब्रह्मबिन्दूपनिषद् २

२. (क) धम्मपद ३७, ४२
(ख) लंकावतार सूत्र १४५
(ग) मनो पुब्बगया धम्मा, मणोसेट्ठा मणोमया। मनसा चेद् पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥
–धम्मपद १, २

३. जैन बौद्ध गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन से भावांश ग्रहण, पृ. ४८४

मनरूपी उपनेत्र स्वच्छ और निर्मल होता है तो वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कराकर आत्मा के मुक्त होने में कारण बनता है।

यद्यपि ज्ञान आत्मा का कार्य है, किन्तु ज्ञान में जो अविद्या, मोह, मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि एवं कषायों का विकार आता है, वह आत्मा का न होकर मन का कार्य है। यद्यपि ये विकार मन के कार्य हैं, तथापि उनका वास-स्थान आत्मा को माना गया है। जैसे–उपनेत्र में कलुषित रंग होता है, किन्तु उस कलुषित रंग का ज्ञान तो उपनेत्रधारी को होता है। इसी प्रकार मनरूपी उपनेत्र में कलुषित विकार रंग होने पर उसका ज्ञान तो मनरूप उपनेत्र धारी आत्मा को, चेतना को होता है।[1]

यद्यपि यह कहा जाता है कि मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है, तथापि सिद्धान्तानुसार बन्ध का मूल कारण–कषाय या रागद्वेष है; और मोक्ष का मूल कारण है–कषायों या रागद्वेषादि का उपशमन या इनसे विरमण। वस्तुतः कषाय या राग-द्वेष के कार्य को मन पर आरोपित किया गया है। जिन कषाययुक्त या रागद्वेषयुक्त वृत्तियों या संस्कारों को जीव संचित करता है; वे जब कालान्तर में उभरते हैं; तब बन्धन में डालते हैं और जब संस्कारों का विलय कर दिया जाता है, तब वे मुक्ति की ओर ले जाते हैं।

संक्षेप में–संस्कारों का निर्माण बन्ध है, और उनका विलय मोक्ष है। संस्कार जब उभरते हैं, तब मन उत्तेजित होता है और उनके विलय होने पर शान्त हो जाता है। संस्कार रहता है परोक्ष में और मन रहता है प्रत्यक्ष में। इसी कारण कह दिया जाता है–'मन बन्ध और मोक्ष का कारण है।'[2]

मन की चंचलता के कारण ही इसका निरोध करना अभीष्ट

वस्तुतः राग-द्वेषादि वृत्तियों एवं कषायों के कारण ही मन उत्तेजित और चंचल हो उठता है। तभी मन में विविध विकल्प उठते हैं; मन में ही इच्छाएँ, वासनाएँ, विषयासक्ति आदि उत्पन्न होती हैं। इसलिए मन का निरोध करना ही अभीष्ट है, ताकि उसे वश में किया जा सके। अनियंत्रित मन दुष्ट घोड़े की तरह मनुष्य को विपरीत मार्ग पर ले जाता है।

उत्तराध्ययन में प्रतिपादन किया गया है कि मन बड़ा ही दुष्ट और साहसिक अश्व है, जो चारों ओर भागता है, और मनुष्य को उन्मार्ग की ओर ले जाता है। अतः इसका निग्रह करना साधक के लिए अनिवार्य है।[3]

मन का निरोध क्यों आवश्यक है ?

भगवद्गीता में भी अर्जुन, श्रीकृष्ण से कहते हैं–हे कृष्ण ! मन अत्यन्त चंचल है,

---

१. जैन, बौद्ध, गी. आ. भावांश ग्रहण, पृ. ४८५
२. महावीर की साधना का रहस्य पृ. ११७
३. उत्तराध्ययन अ. २३/५५

जबर्दस्त है, साहसिक बलवान् और सुदृढ़ है। इसे वश में करना या इसका निग्रह करना तो वायु को रोकने के समान अत्यन्त दुष्कर है।'[1]

'योगशास्त्र' में भी कहा गया कि "आँधी की तरह चंचल मन मुमुक्षु और तपस्वी साधक को कहीं का कहीं ले जाकर पटक देता है। इसलिए योग साधक को मन का निरोध सर्वप्रथम आवश्यक है।"[2]

"जो मन का निरोध किये बिना ही योगी होने का निश्चय करता है, वह उसी प्रकार उपहास का पात्र बनता है, जिस प्रकार एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की इच्छा करने वाला पंगु उपहास का पात्र बनता है। चूँकि कर्म का आस्रव मन के अधीन है, इसलिए मनोनिरोध होने पर कर्मास्रव भी पूर्णतया रुक जाता है। जो व्यक्ति मनोनिरोध नहीं कर पाता, उसके कर्मों में अभिवृद्धि होती रहती है। अतः कर्मों से मुक्ति प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों को समग्र विश्व में भटकने वाले स्वच्छन्द मन को रोकने का प्रयत्न करना अनिवार्य है।"

व्यवहारभाष्य में कहा गया है–"प्रत्येक साधना में मनःप्रसाद (मन की प्रसन्नता – निर्मलता) ही कर्मनिर्जरा का कारण बन जाता है।"[3] मन की प्रसन्नता या स्वच्छता मन की एकाग्रता पर निर्भर है।

'योग वाशिष्ठ' में मनोनिग्रह पर जोर देते हुए कहा गया है–"मन की उपेक्षा से ही दुःख पर्वत-शिखर के समान वृद्धिंगत होते जाते हैं। इसके विपरीत मन को वश में करने से वे (दुःख) उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य के ताप के सम्मुख हिम (बर्फ) नष्ट हो जाता है।"[3]

बौद्धधर्म के प्रमुख ग्रन्थ 'धम्मपद' में कहा गया है–"यह चित्त (मन) अतीव चंचल है। इस पर अधिकार करके कुमार्ग से इसे बचाना अत्यन्त कठिन है। इसकी वृत्तियों का कठिनता से निवारण किया जा सकता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष इसे ऐसे ही सीधा करे, जैसे वाण निर्माता वाण को सीधा करता है। यह चित्त कठिनता से नियंत्रित होता है, क्योंकि यह अतीव शीघ्रगामी और स्वच्छन्द विचरण करने वाला है। इसलिए इसका दमन करना ही श्रेयस्कर है। दमितचित्त ही सुखवर्धक होता है।"[4]

मनःसंवर के अभाव और सद्भाव में व्यक्ति की स्थिति

मनःसंवर या मनोनिरोध अथवा मनोनिग्रह क्यों आवश्यक है, यह भारतीय

१. भगवद्गीता ६/३४
२. (क) योगशास्त्र ४/३६ से ३९ तक
   (ख) व्यवहारभाष्य ६/१९० : 'जो सो मणप्पसादो जायइ, सो निज्जरं कुणति।'
३. योगवाशिष्ठ ३/९९/४६
४. धम्मपद ३३ से ३५ तक

दार्शनिकों ने बहुत ही स्पष्ट रूप से अपने-अपने ग्रन्थों में बता दिया है। मनःसंवर के अभाव में व्यक्ति के मन की दशा उस अश्वारोहक की सी हो जाती है, जिसको बेलगाम घोड़ा जिधर चाहे उधर ही ले दौड़ता है। बेचारा मालिक अपने को असहाय अनुभव करके घोड़े के साथ-साथ मारा-मारा फिरता है। कहने को तो वह घोड़े की पीठ पर बैठा दीखता है, परन्तु स्थिति ऐसी होती है, कि उद्दण्ड घोड़ा ही उच्छृंखल बनकर मालिक पर सवार हो जाता है। खतरा देखते हुए भी वह दुर्बल अश्वरोही उसकी पीठ पर चुपचाप बैठा रहता है, और जान बचाने की कोशिश करता है।

इसी तरह जिस व्यक्ति का मन निरंकुश और उच्छृंखल होता है, उसे आत्मिक दुर्बलता के कारण मन के पीछे-पीछे दौड़ने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता। निरंकुश मन की भी अपनी बेढंगी चाल होती है। उसे भौतिक आकर्षण ही रुचते हैं। आध्यात्मिक विकास की दिशा में उसका अनियंत्रित-असंवृत मन जाता ही नहीं। अध्यात्म ज्ञान, ध्यान, उपासना, साधना, यम-नियम-पालन, त्याग, तपस्या आदि में उसका मन बिलकुल नहीं लगता। जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों से अभ्यस्त मन को भौतिक आकर्षणों से विरत न करने का ही परिणाम है कि उसे अभीष्ट लक्ष्य की ओर मोड़ना और संवर-साधना में लगाना अत्यन्त कठिन, नीरस और श्रमसाध्य लगता है।

जैसे आवारा लड़कों को उनके अभिभावक बहुत ही प्रयत्नपूर्वक स्कूल भेजते हैं, दुकान पर बिठाते हैं तथा अन्य उपयोगी कार्य बताते हैं और उसमें लगाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उन पर आवारागर्दी इस कदर छाई रहती है कि वे कोई न कोई बहाना बनाकर उन कार्यों से छिटक जाते हैं और पुनः अपने ही मनमाने रास्ते पर चल पड़ते हैं। सौंपे हुए महत्वपूर्ण कार्य को बर्बाद करके रख देने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती।

कुसंस्कारी और आवारागर्द उच्छृंखल मन की प्रायः ऐसी ही स्थिति है। उपासना, संवरसाधना, तप-जप की क्रिया आदि में लगाना बालू में से तेल निकालने जैसा दुरूह कार्य है, आसान नहीं है। इसलिए मन का अभ्यासपूर्वक निग्रह करना, अपने वश में करना अतीव आवश्यक है।

जो लोग मनस्वी होते हैं, मन को अपनी मर्जी पर चला सकते हैं, ऐसे मनःसंवृत व्यक्ति अभीष्ट आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में अनवरत क्रम से बढ़ते हैं, भविष्य को उज्ज्वल बनाने की जहाँ भी सम्भावनाएँ होती हैं, उधर ही मन को केन्द्रित करते हैं और गतिविधियों को भी उसी ओर अग्रसर करते हुए एक दिन सफलता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जाते हैं। उनका अपने मन पर अधिकार होता है, जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कार आड़े आते हैं तो उन्हें भी वे मनोबलपूर्वक निरस्त करके अभीष्ट लक्ष्य की ओर गति-प्रगति करते रहते हैं। मनःसंवर की साधना में आने वाली कठिनाइयों का सामना भी वे पूर्ण आत्मबल के साथ करते हैं, नीरस लगने वाले कार्यों में भी वे उत्साह, श्रद्धा

और रुचिपूर्वक संलग्न रहते हैं। वे मनःसंवर से होने वाले प्रचुर लाभ को समझते हैं, और निष्ठापूर्वक जुटे रहते हैं।[1]

मन पर असंयम से हानियाँ

मन पर असंयम भी मनःसंवर के न होने में मुख्य कारण है। इसलिए मन के असंयम के बारे में भी विचार कर लेना चाहिए। मन के असंयम से सर्वाधिक बुरा परिणाम आता है–मानसिक विकृति। मानसिक विकृति से व्यक्ति के तन, मन-मस्तिष्क और जीवन का सर्वनाश होना सम्भव है। समष्टिगत रूप से देखें तो मन का असंयम एक समूची सभ्यता के पतन का कारण हो सकता है, फिर भले ही वह कितनी ही प्रगतिशील एवं प्राचीन क्यों न प्रतीत होती हो। इसके अतिरिक्त पारिवारिक, जातीय एवं राष्ट्रीय जीवन के लिए भी मन का असंयम अभिशाप सिद्ध होता है। कुछ ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ भी घटित हो सकती हैं, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मन के असंयम से उत्पन्न होती हैं।

मन का असंयम व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में विशेषरूप से बाधक होता है। जिस व्यक्ति का मन नियंत्रित नहीं है, वह सदैव अस्वाभाविक मानसिक विकारों का शिकार हो सकता है। आन्तरिक द्वन्द्व के कारण उसका मस्तिष्क असंतुलित हो सकता है। अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में भी वह अपनी शक्ति, योग्यता, क्षमता एवं सामर्थ्य तथा सम्भावना को नहीं पहचान पाएगा, और न अपेक्षाओं की पूर्ति कर सकेगा।

मनोनिग्रह रहित व्यक्ति मानसिक सुखशक्ति से रहित

जिस व्यक्ति का अपने मन पर नियंत्रण नहीं है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। जिसके मन में शान्ति नहीं है, उसे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह प्रायः तनावों, वासनाओं, कामनाओं, लालसाओं, मिथ्या महत्वाकांक्षाओं, तृष्णा और दुर्भावना का शिकार होकर बहुधा दुःसाध्य मानसिक रोगों से आक्रान्त हो जाता है; अथवा वह अपराधी वृत्ति का शिकार हो जाता है। यदि परिवार का मुखिया मानसिक नियंत्रण से रहित है तो उसके परिवार में अव्यवस्था, अराजकता, अनुशासनहीनता, स्वच्छन्दता एवं स्वैरविहारिता आदि दुःखद मानवीय सम्बन्ध व्याप्त हो जाना सम्भव है। जिसके फलस्वरूप वह परिवार पापाचार एवं दुर्भाग्य का अड्डा बन सकता है। इस प्रकार मन के असंयम, अनिग्रह, अनिरोध या असंवर से व्यक्ति, समाज और समष्टि की उन्नति, समृद्धि और विकास के सभी द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं।

मनोनिग्रह के बिना मनुष्य को किसी भी क्षेत्र में न तो स्थायी उन्नति प्राप्त हो

---

१. अखण्ड ज्योति मई १९७८ से भावांश ग्रहण, पृ. ९

सकती है और न समृद्धि और शान्ति ही। मनःसंयम के अभाव में मनुष्य प्राप्त समृद्धि से भी हाथ धो बैठता है।[1]

मनःसंवर से नाना उपलब्धियाँ

जीवन की उच्चतम आध्यात्मिक पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए मनःसंवर से बढ़कर कोई भी बात महत्वपूर्ण नहीं है। मनुष्य के उज्ज्वल भावी जीवन का ढाँचा इसी बात पर निर्भर है कि वह अपने मन को वश में करता है या नहीं ?

मनोनिग्रह का अनायास प्राप्त फल

मनोनिग्रह का एक स्वतःस्फूर्त फल है--व्यक्तित्व की पूर्णता। पूर्ण व्यक्तित्व का धनी मनोनिग्रही कठिन से कठिन एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सफल होता है। मनोनिग्रही मनस्वी होता है, वह बातूनी न होकर मुख्य कार्य पर बल देता है, कार्य में आने वाली विघ्न-बाधाओं से वह घबराता नहीं, सुख-दुःख में सम रहता है। मन का नियंत्रण उसे निश्चंचल एवं सुदृढ़ बना देता है। और चंचलता का अभाव मन में शान्ति और स्थिरता को जन्म देता है।[2]

मानसिक शान्ति और स्थिरता सुख और उल्लास पैदा करती है। भगवद्गीता में भी कहा गया है--"मन प्रसन्न (स्वच्छ) हो जाने पर उस व्यक्ति के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं। प्रसन्नचित व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।" तथा "जिसका मन भलीभाँति शान्त हो गया है, जिसका रजोगुण भी शान्त हो गया है, ऐसे पुण्य-पापरूप कल्मष से रहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप योगी को उत्तम आनन्द (सुख) प्राप्त होता है।"[3]

ऐसा महान् आत्मा हजारों व्यक्तियों को मन के संयम से सुख-शान्ति एवं प्रसन्नता प्राप्त करने का उपाय बता सकता है। उसके कार्य की गुणवत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। और अन्त में वह स्वाभाविक रूप से प्रायः अक्षय सुख और अभ्युदय का अधिकारी बन जाता है।

ऐसा नहीं है कि उक्त व्यक्ति को परीक्षा की घड़ियों में से गुजरना न पड़ता हो, किन्तु ऐसी विकट संकटापन्न घड़ियों का स्वभावपूर्वक सामना करने का मनोबल और साहस उसमें कूट-कूट कर भरा रहता है। वह जिस परिवार का मुखिया होता है, वहाँ अनुशासन, व्यवस्था, पारस्परिक मधुर व्यवहार, मर्यादापालन तथा सुसंस्कारों और

---

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानंद) से पृ. ११, १२
२. वही, पृ. १२
३. (क) प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ —भ. गीता २/६५
(ख) प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
—गीता ६/२७

उत्तम मानवीय सम्बन्धों की सौरभ भरी रहता है। समाज और राष्ट्र ऐसे व्यक्ति को सत्यं शिवं सुन्दरं से ओतप्रोत आदर्श जीवन के धनी के रूप में पहचानने लगता है तथा उससे प्रेरणा लेता है। पृथ्वीकाय-संयम आदि १७ प्रकार के संयम, अथवा पंचास्रव-विरति, पंचेन्द्रिय-निग्रह, कषायजय, तथा दण्डत्रयविरति ये १७ प्रकार का संयम भी मनःसंयम से साधे जाते हैं।[1]

जिसका मन नियंत्रित एवं संवृत है, वह मानसिक रोगों से मुक्त रहता है, तथा मानसिक तनाव से उत्पन्न शारीरिक पीड़ाएँ भी इससे दूर रहती हैं।

मनोविजेता आत्मशक्ति का धनी एवं जगत्-विजेता

जो व्यक्ति अपने मन को वश में कर लेता है, उसका उच्चतर स्वभाव क्रियान्वित हो जाता है, उसकी सुषुप्त आत्मशक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। उसके हितैषी एवं सुहृद्जन आश्चर्य करने लगते हैं कि वह उनके देखते ही देखते इतना महान् मनस्वी एवं अध्यात्मयोगी बन गया।[2] एक महान् मनीषी ने कहा है–

'मनोविजेता जगतो विजेता'

"जो मन को जीत लेता है, वह सारे जगत् को जीत लेता है।"

मनःसंवर या मनोनिरोध से प्राप्त होने वाली उपलब्धियाँ

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–एक मन को जीत लेने पर चार कषाय और मन ये पाँचों जीते गए समझ लो। और इन पाँचों को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों तथा ये पाँचों मिलकर कुल दस को जीत लेने पर सारे ही कषाय–नो-कषाय तथा पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों तथा २४० विकारों तथा उनके अन्य सहस्रों प्रकारों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[3]

मन स्थिर एवं शान्त होने पर आत्मा में परमात्मतत्त्व की झलक

'आराधनासार' में तो स्पष्ट कहा गया है–मन के विकल्पों को रोकने से पर आत्मा परमात्मा बन जाता है।'[4] कितनी बड़ी उपलब्धि है, मनोनिरोध या मनःसंवर की !

---

१. देखें–संयम के १७ भेद समवायांगसूत्र में पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संयम, प्रेक्षा संयम, उपेक्षा संयम आदि। प्रकारान्तर से संयम के १७ भेद–
पंचास्रवादिविरमणं पंचेन्द्रियनिग्रह कषायजयः।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥

२. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से पृ. १२

३. "एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तू जिणामहं ॥" –उत्तराध्ययन २३

४. "निग्गहिए मण पसरे, अप्पा परमप्पा हवइ।" –आराधनासार २०

वास्तव में, मनोविजय कर लेने से व्यक्ति के जीवन की, तन, मन और वचन की तमाम बुनियादी आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं। यश-कीर्ति, प्रतिष्ठा, बौद्धिक समृद्धि आदि तो उसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है। यहाँ तक कि आत्म-साक्षात्कार तथा अतीन्द्रिय ज्ञान अथवा अवधिज्ञान आदि प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्राप्त हो सकते हैं–निर्मल, शान्त एवं स्थिर मन वाले व्यक्ति को। 'तत्त्वसार' में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–"मनरूपी जल जब स्थिर एवं निर्मल हो जाता है, तभी उसमें आत्मा का दिव्य रूप झलकने लगता है।"[1] ये सब उपलब्धियाँ मनःसंवर या मनोनिरोध से प्राप्त हो जाती हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से भी मनोनिरोध आवश्यक

व्यावहारिक दृष्टि से सोचें तो मनोनिरोध इसलिए भी आवश्यक है कि मनोनिरोध या मनःसंयम से मनुष्य चिन्ता, उद्विग्नता, क्रोध, अहंकार, आवेश, आदि मानसिक उद्वेगों से दूर रहकर स्वस्थ और सन्तुलित जीवन जी सकता है। चिन्ताग्रस्त मनःस्थिति का सबसे बड़ा प्रभाव पाचन तंत्र पर पड़ता है। उल्लास भरी मनःस्थिति होने पर पाचन तंत्रों का स्राव समुचित मात्रा में होता है और रक्त का परिमाण एवं स्तर ऊँचा रहता है। क्रोध, शोक, भय आदि मानसिक संक्षोभ से पाचनतंत्र पर दुष्प्रभाव पड़ता है। रक्त में विषाक्तता भर जाने से अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं, जो शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को बर्बाद करके ही छोड़ते हैं। मनोविकारों की इन भंयकरताओं से बचने के लिए तथा मन को स्वस्थ एवं सन्तुलित बनाये रखने के लिए मनःसंयम अथवा मनःसंवर बहुत ही आवश्यक है।

परिस्थिति का सुधार-बिगाड़ : मनःस्थिति पर निर्भर

परिस्थिति को सुधारने की बात सभी सोचते हैं, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इसके लिए मनःस्थिति पर ध्यान देना अत्यावश्यक है। अधिक एवं उचित तथा सही कार्य कर सकने का मूड क्लाइमेक्स वास्तव में संतुलित, प्रसन्न और आशान्वित मनःस्थिति का परिणाम है। अस्थिरता, अव्यवस्था, आतुरता और आशंका की यह चाण्डाल चौकड़ी मनुष्य की क्षमता का बुरी तरह अपहरण करती रहती है और उसकी मनःस्थिति को भी विकृत कर देती है। मनःस्थिति की इस विकृति को दूर करने के लिए अवसर या दैवी वरदान की प्रतीक्षा में बैठे रहना अपनी क्षमता और शक्ति को जाम कर देना है, और समय को भी खोना है। मूड बनने या बनाने के लिए मानसिक सन्तुलन और रचनात्मक चिन्तन या विधेयात्मक चिन्तन-मनन आवश्यक है। अस्त-व्यस्त, शंका-कुशंकाग्रस्त, एवं निषेधात्मक या ध्वंसात्मक चिन्तन से मानसिक शक्तियों का अपव्यय तथा असन्तुलन ही अधिक होता है।

---

१. "मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले।" तत्त्वसार ४१

इतना ही नहीं, आवेश में आकर हानिकारक गतिविधियाँ अपना लेने पर पद-पद पर ठोकरें खाने और विषादमग्न रहने का भी खतरा बना रहता है। मनःस्थिति को सुधारने के लिए मन को एकाग्र और स्थिर करने से अपने चिन्तन को परिष्कृत और क्रियाकलाप को व्यवस्थित बनाया जा सकता है। मनःस्थिति सुधर जाने पर परिस्थितियों की प्रतिकूलताएँ बहुत हद तक स्वतः ही दूर हो जाएँगी। जो बची रहेंगी, उनसे सूझबूझ और साहस के सहारे निपट लेना कुछ अधिक कठिन नहीं होगा। प्रतिकूलताओं से डरने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त है कि उनसे निपटने के कौशल को उभारा जाए। न तो महत्वाकांक्षाओं की आग में जला जाए और न ही आशंकाओं और प्रतिकूलताओं से मन को भयभीत बनाया जाए। ऐसी मनःस्थिति मनःसंवर या मनोनिरोध का कौशल अपनाकर मन को संतुलित रखने से बन सकती है।[1]

मनोनिरोध न होने पर .....

मनःसंयम या मनोनिरोध न होने पर चिन्ता, भय, निराशा, आशंका जैसी तन-मन को अर्धमूर्छित कर देने वाली कुकल्पनाएँ मनुष्य की प्रगति और प्रसन्नता को बुरी तरह नष्ट कर देती हैं। इसी प्रकार क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, कामुकता, लोभ और ठगी तथा छलकपट जैसी आक्रामक दुर्भावनाएँ भी मनुष्य को आतुर, उद्विग्न, भावान्ध, आवेशग्रस्त और बेचैन बनाकर ऐसे कुकृत्य करने के लिए विवश कर सकती हैं, जिनके लिए चिरकाल तक पश्चात्ताप करना पड़ता है। आवेश और अवसाद दोनों ही मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ने वाले हैं।

आवेश या आवेग की तुलना हाईब्लड प्रेसर से, और अवसाद की तुलना लो ब्लडप्रेशर से की जा सकती है। एक से आदमी का मस्तक तप जाता है, वह तनावग्रस्त होकर सिर धुनता और पैर पीटता है, तथा दूसरे से वह ठंडा पड़ जाता है, हृदय की गति अवरुद्ध होने लग जाती है। अति गर्मी झुलसा कर प्राण हरण कर लेती है और अति ठण्ड से भी आदमी का खून जम जाता है।

इन दोनों की तरह ही दोनों प्रकार के मानसिक अतिक्रमणों के दुष्परिणाम अलग-अलग ढंग के होते हुए भी हानि की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से बढ़कर हैं। ये दोनों ही अवांछनीय मनःस्थितियाँ हैं; जो मनुष्य के मानस-समुद्र को अशान्त, उद्विग्न एवं तनाव-ग्रस्त अथवा अस्त-व्यस्त तथा यथार्थ चिन्तन के लिए अनुपयुक्त बना देती हैं। शान्त मानससमुद्र ही जीवरूपी नाविक और शरीररूपी नौका के लिए सुखद एवं हितकर होता है।

आलस्य, प्रमाद, भय, सन्देह, अनुत्साह, निराशा, चिन्ता जैसी बुरी मानसिक आदतें मनुष्य की शक्तियों का बहुत बड़ा अंश क्षत-विक्षत कर देती हैं, और उसे

१. अखण्डज्योति (अगस्त १९७८/२५-२६ पृ.) से भावांश ग्रहण

दीन-हीन-दुर्बल एवं पराधीन बना देती हैं। साथ ही क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, आवेश आदि स्वभाव को उत्तेजित करने वाली मानसिक आदतें भी मनुष्य को अर्ध-विक्षिप्त, उन्मादयुक्त, एवं उपहासास्पद बना देती हैं।

इन दोनों प्रकार की अवांछनीय मनःस्थितियों को सुधारने और मानसिक सन्तुलन बनाए रखने के लिए मनोनिग्रह या मनःसंवर का अभ्यास अतीव महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य है। मनुष्य का मानसिक चिन्तन जैसा-जैसा होता है, तदनुसार ही उसका जीवन निर्माण होता है। इस बात को दृष्टिगत रखकर मनुष्य को अपने मन को शान्त, स्थिर एवं नियंत्रित रखने का अभ्यास करना आवश्यक है।[1]

मनुष्य का जैसा मन, वैसा ही बनता है जीवन

यह सच है कि मनुष्य का जैसा मन होगा, वैसा ही वह बनेगा। शरीर में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों का आधार भी मनःस्थिति का उन्नत-अवनत या सुसंस्कृत-विकृत होना है। मनःस्थिति के परिवर्तन पर शरीरगत रासायनिक परिवर्तन निर्भर है। मन अगर स्वस्थ, सन्तुलित और सत्कार्य व्यस्त रखा जाए तो शरीर भी स्वस्थ और सशक्त बना रह सकता है। और मन को स्वस्थ एवं सन्तुलित रखने की कुंजी है–मनःसंवर या मनोनिरोध।[2]

मनोनिरोध से कई उपलब्धियाँ

मनोनिरोध से विचारशक्ति दुर्बल, भयग्रस्त और कुण्ठित नहीं होती। मनोनिरोध से प्रत्येक कोटि का व्यक्ति अपने भीतर रहे अजस्र शक्ति के भण्डार को तथा अपने मौलिक सामर्थ्य का पर्याप्त उपयोग कर सकता है, जबकि मनोनिरोध के अभाव में स्वयं को दुर्बल, दुर्भाग्यग्रस्त, शक्तिहीन एवं साधनहीन मानकर व्यक्ति सदैव उसी हीन स्थिति में पड़ा रहता है।[3]

मनुष्य अपने सशक्त और अशक्त विचारों के अनुसार ही परिस्थितियों को अनुकूल और प्रतिकूल बनाता है। सहयोग और तिरस्कार पाने में जितना दूसरों का अनुग्रह और विरोध कारण होता है, उससे भी अधिक बढ़कर मनुष्य का अपने मनोभावों का सुव्यवस्थित गठन और अगठन काम करता है। और अपने मनोभावों का सुव्यवस्थित गठन मनःसंवर के द्वारा ही हो सकता है।

मनोनिरोध का वास्तविक उद्देश्य

शास्त्रकारों ने इसलिए मनोनिरोध या मनोनिग्रह पर जोर दिया है, तथा उसके चमत्कारी परिणाम भी प्रत्यक्ष बताए और ग्रन्थों में अंकित किये हैं कि विचारशक्ति–

१. अखण्ड ज्योति अगस्त १९७८ से भावांश ग्रहण पृ. ११-१२
२. वही, दिसम्बर १९७८ से भावांश ग्रहण पृ. ३८
३. वही, सितम्बर १९७८, पृ. ४८

चिन्तनक्षमता मानव जीवन की सर्वोपरि सम्पदा है, उसका सही उपयोग करने वाले ही सुखी, समुन्नत एवं प्रत्येक प्रकार से समृद्ध बनते देखे जाते हैं। चिन्तन जब उच्चस्तरीय उद्देश्यों को अपनाने हेतु कटिबद्ध होता है, तब परिष्कृत जीवनक्रम के साथ आन्तरिक विभूतियों, शक्तियों तथा क्षमताओं और बहिरंग सफलताओं के द्वार खुलते हैं। मनोनिग्रह के द्वारा मन को इधर-उधर भागने से रोका जाता है। इसके अभ्यास से विचारों का बिखराव रुकता है और अभीष्ट प्रयोजनों में चिन्तन को नियोजित करते रहने से कार्य में सफलता-प्राप्ति का पथ प्रशस्त होता है। यह तो मनोनिग्रह की प्रक्रिया का प्रारम्भ है, अन्त नहीं।

मनोनिग्रह का वास्तविक उद्देश्य है–निकृष्टता के साथ जुड़े हुए निषेधात्मक चिन्तन प्रवाह को मोड़ कर उसे उत्कृष्टता की दिशा में लगाना और उससे आध्यात्मिक विकास की सृजनात्मक गतिविधियों और कार्यकलापों की रूपरेखा बनाना।[1]

'व्यवहारभाष्य' में मनोनिरोध के इसी उद्देश्य की ओर इंगित किया गया है–"मन को अकुशल–अशुभ विचारों से रोकना चाहिए और कुशल–शुभ विचारों की ओर प्रेरित करना चाहिए।"[2]

मन की मूलभूत तीन शक्तियों, तीन स्तरों तथा चतुर्विध क्रिया वृत्तियों को समझो

मनःशक्तियों को समुचित दिशा में प्रयुक्त करने से पहले साधक को मन की मूलभूत तीन शक्तियों को, तथा मन के तीन स्तरों को तथा क्रियात्मक मन की चतुर्विध वृत्तियों को समझ लेना आवश्यक है। बहुधा हम सब यह अनुभव करते हैं कि मन हर समय एक ही प्रकार की, एक-सी स्थिति में नहीं रहता। वह बार-बार बदलता रहता है। इसीलिए आचारांग में कहा गया है–"यह पुरुष (जीव) अनेक चित्त वाला है।" अर्थात्–मन की प्रवृत्तियाँ क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं। मनःसंवर के लिए मन की प्रवृत्तियों को विपरीत दिशा में जाने से रोक कर समुचित दिशा में लगाना सर्वप्रथम अनिवार्य है।[3]

पहले कहा जा चुका है कि मन को विविध प्रवृत्तियों की प्रेरणा वृत्तियों से मिलती है। इन वृत्तियों को वैदिक दर्शनों में त्रिगुण कहा गया है। आचारांग सूत्र में "गुणों को मूल स्थान और मूल स्थानों को गुण" कहा गया है। यहाँ भी गुण से इन्द्रियों तथा मन के विभिन्न विषयों अर्थात् विषयवृत्तियों की ओर संकेत है।

---

१. अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७८ से भावांश ग्रहण पृ. ४८

२. अकुसलमण–निरोहो, कुसल-मण उदीरणं च। –व्यवहारभाष्य पीठिका ७७

३. (क) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से पृ. ३०
(ख) अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे। –आचारांग सू. १ अ. ३ उ. २

वैदिकदर्शनानुसार तीन गुण हैं[1]—सत्त्व, रज और तम। ये गुण सम्पूर्ण भौतिक और मानसिक जगत् के भी आधारभूत उपादान हैं। सत्त्व संतुलन और स्थिरता का तत्त्व है। रजोगुण क्रियाशीलता, कामवृत्ति और चंचलता का प्रतीक है। और तमोगुण जड़ता, आलस्य, प्रमाद, निष्क्रियता, अवसाद, मूढ़ता और भ्रान्ति का प्रतीक है। सत्त्वगुण मन को एक उच्चतर पुण्य दिशा में प्रवृत्त करता है, रजोगुण मन को बिखेरकर चंचल बना देता है और तमोगुण मन को निम्न स्तर पर परिचालित करता है।

विद्यारण्य ने 'पंचदशी' में इनकी विस्तृत व्याख्या की है। संक्षेप में इस प्रकार है—सत्त्वगुण से वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि तथा रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ, आदि विकार उत्पन्न होते हैं और तमोगुण से आलस्य, भ्रम, तन्द्रा आदि विकार पैदा होते हैं। मन में सत्त्वगुण के कार्य से पुण्य की तथा रजोगुण के कार्य से पाप की उत्पत्ति होती है। और तमोगुण के कार्य से न पुण्य होता है, न पाप; किन्तु वृथा ही (मोहकर्मों से आवृत होकर) प्राणी (जन्म-मरणरूप संसार में भटकता हुआ) अपने आयुष्य को पूर्ण (नष्ट) करता है।

प्रत्येक व्यक्ति के मन की बनावट (निर्वृत्ति—निष्पत्ति) इन तीन गुणों की मात्राओं के सम्मिश्रण तथा हेरफेर से की जा सकती है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है—मानव के वैचित्र्य एवं वैविध्य पूर्ण स्वभाव का निर्माण मन के इन तीनों गुणों (मुख्य वृत्तियों) के आधार पर होता है। इस पर से मन की स्थिरता—अस्थिरता का विश्लेषण एवं विवेक भी किया जा सकता है। यदि मन एक ही मौलिक तत्त्व से बना हुआ कूटस्थ-नित्यवत् होता, तब तो उसे बदलना तथा उसकी शक्तियों को अभीष्ट दिशा में नियोजन करना सम्भव न होता। तब तो मनुष्य जैसी स्थिति में पैदा हुआ है, उसी एक ही स्थिति में ही जिंदगीभर पड़ा रहता, न उसके स्वभाव में परिवर्तन होता, न उसके गुणों में।[2]

परन्तु मन की इन मौलिक शक्तियों में परिवर्तन हो सकता है, इस अपेक्षा से साधक मन की शक्तियों को मनःसंवर की दिशा में मोड़ सकता है। शनैः-शनैः सत्त्वगुणोपार्जित पुण्य (शुभ) कर्मों के आस्रव से भी ऊपर उठकर शुद्ध अबन्धककर्म (अकर्म) की स्थिति में पहुँच सकता है।

---

१. (क) भगवद्गीता
(ख) जे गुणे से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे। —आचारांग सूत्र १ अ. २, उ. १

२. (क) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण पृ. ३०
(ख) "वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसम्भवाः।
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्याः रजसो स्थिताः।"
"आलस्य-भ्रान्ति-तन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः।"
"सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः।
तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुः क्षपणं भवेत्।" —पंचदशी २/१४-१६

मन के तीन स्तर : चेतन, अवचेतन, अतिचेतन

मनोविज्ञान तथा योगदर्शन आदि में हम सामान्यतया मन के दो स्तरों का उल्लेख पाते हैं–सचेतन (स्थूल) मन और अवचेतन (अव्यक्त–सूक्ष्म) मन। मन की क्रियाशीलता के उन विभिन्न स्तरों को ये सूचित करते हैं। चेतनस्तर पर सभी क्रियाएँ सामान्यतः अहंभाव से युक्त होती हैं, जब कि अवचेतन स्तर पर अहंकार की भावना लुप्त (सुषुप्त–अव्यक्त) रहती है।

इससे भी एक ऊँचा स्तर है, जिसमें मन अपनी शुद्ध अवस्था में होता है। आत्मा से उसका सीधा तादात्म्य-सा सम्बन्ध होता है। इस अवस्था में मन सापेक्ष चेतना के स्तर से भी ऊपर जा सकता है। इसे अतिचेतन स्तर कहते हैं।

जिस प्रकार अवचेतन स्तर चेतनस्तर से ऊपर है, उसी प्रकार यह स्तर इस अवचेतन स्तर से भी ऊपर है। इसमें अहंभावना सर्वथा लुप्त (नष्टप्राय) हो जाती है। अतिचेतन स्तर पर आकर मन समाधिस्थ हो जाता है। ये तीनों स्तर हैं, एक ही मन के; परन्तु इनसे मन की क्रियाशीलता का माप हो जाता है।[1]

जहाँ तक बाह्यरूप से (द्रव्यतः) मनोनिरोध (मनःसंवर) का प्रश्न है, वह चेतनस्तर के मन से सम्बन्धित है। चेतनस्तर पर मन सामान्यतया अहंभावना से युक्त होता है। वैदिक योगसाधनानुसार मन जब तक योग में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, तब तक अवचेतन मन सीधे (Direct) नियंत्रण (निरोध या संवर) में नहीं लाया जा सकता। अतिचेतन स्तर पर तो मन के निग्रह या संवर का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो सहज संवर हो जाता है। अतिचेतनस्तर पर वे ही साधक पहुँच सकते हैं, जिन्होंने चेतन और अवचेतन स्तरों पर अपने मन को नियंत्रित–निरुद्ध (संवृत) कर लिया है।

क्रियात्मक अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ

मनोनिग्रह करके मन की शक्तियों को समुचित अभीष्ट दिशा में नियुक्त करने के लिए क्रियात्मक मन की वैदिक परम्परासम्मत चतुर्विध वृत्तियों को भी समझ लेना चाहिए। वे चार वृत्तियाँ हैं–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। ये चारों अन्तःकरण की ही चार वृत्तियाँ हैं। मन अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जो किसी भी विषय के पक्ष-विपक्ष में संकल्प-विकल्प करती है। अन्तःकरण की निश्चय करने वाली वृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं। अन्तःकरण की पूर्वानुभूत वस्तु या विषय का स्मरण कराने वाली वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं। और अन्तःकरण की अहंभावों से युक्त वृत्ति को 'अहंकार' कहते हैं। प्रत्येक बाह्य इन्द्रियों से होने वाली संवेदना के साथ अन्तःकरण की ये चारों मानस-सम्बन्धित क्रियाएँ

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. ३१-३२

जुड़ी रहती हैं। ये चारों क्रियाएँ अथवा क्रियात्मक वृत्तियाँ इतनी तेजी से एक-दूसरे के बाद आती हैं, कि वे ऐसी प्रतीत होती हैं, मानों चारों एक साथ ही हों।[1]

मन को पूर्णतया एकाग्र करने हेतु क्रमशः पाँच अवस्थाएँ

मन की शक्ति किस ओर प्रवृत्त हो रही है ? अनिष्ट को निरुद्ध और निगृहीत करने तथा इसकी ओर प्रवृत्त करने तथा इससे भी ऊपर उठने के लिए मन को पूर्णतया लक्ष्य में एकाग्र करने का अभ्यास करने हेतु निम्नोक्त पाँच अवस्थाओं में से किस अवस्था में मन प्रकट हो रहा है ? इसकी जाँच-पड़ताल करते रहना चाहिए। वे पाँच अवस्थाएँ हैं–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–क्षिप्त अवस्था में मन चारों ओर बिखर जाता है और कर्म वासना प्रबल रहती है, इस अवस्था में मन की प्रवृत्ति केवल सुख और दुख (आनन्द नहीं) इन दो भावों में (आर्तध्यान में) प्रकाशित होती रहती है। मूढ़ अवस्था तमोगुण प्रधान होती है। इसमें मन की प्रवृत्ति सिर्फ दूसरों का अनिष्ट सोचने करने (रौद्र ध्यान) में होती है। विक्षिप्त (क्षिप्त से विशिष्ट) अवस्था वह है, जब मन केन्द्र (लक्ष्य) की ओर जाने का प्रयत्न करता है। यहाँ पर भाष्यकार कहते हैं–विक्षिप्त अवस्था देवों के लिए तथा मूढ़ावस्था असुरों के लिए स्वाभाविक होती है। एकाग्र अवस्था तभी होती है, जब मन निरुद्ध होने के लिए प्रयत्न करता है और निरुद्ध अवस्था ही हमें समाधि में ले जाती है।[2]

मनःसंवर की साधना के लिए योग्य-अयोग्य अवस्था

सामान्यतया मन 'मूढ़' और 'क्षिप्त' अवस्था में रहता है। क्षिप्त अवस्था में वह चंचलता का अनुभव करता है तथा मूढ़ अवस्था में शिथिल, अवसादमग्न एवं किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। मनःसंवर की साधना में इसी मन को क्रमशः विक्षिप्त और एकाग्र किया जाता है। मन को एकाग्र करना ही मनोनिग्रह का समस्त प्रयोजन है। मनःसंवर की दिशा में यहीं से प्रस्थान प्रारम्भ होता है।

मानसिक एकाग्रता के अभ्यास के लिए विविध विधियाँ आध्यात्मिक जगत् में तथा मनोविज्ञान एवं योगविज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित हैं। उनका वर्णन अगले प्रकरण में किया जाएगा। यहाँ तो इतना ही विवक्षित है कि एकाग्रता के अभ्यास और विकास द्वारा मन की शक्तियों का नियोजन उत्कृष्ट एवं चरम लक्ष्य की शुद्ध परिणति की ओर किया

---

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण पृ. ३२

२. वही, पृ. ३३.

जा सकता है। इसी के अवलम्बन द्वारा मन अपनी उच्चतम पंचम (निरुद्ध) अवस्था में पहुँच जाता है। निरुद्ध अवस्था में मन अतिचेतन स्तर पर चला जाता है।[1]

मनःसंवर के विविध पहलू

चूँकि मनःसंवर के अनेक पहलू और प्रकार हैं। अतः मनःसंवर में मनोनिरोध, मनोनिग्रह, मनःसंयम, मनोजय, मनःस्थिरता, मानसिक एकाग्रता आदि सबका समावेश हो जाता है। ये सब मनःसंवर के उद्देश्य एवं प्रयोजन को ही सिद्ध करते हैं।

पूर्वोक्त समग्र विवेचन से मनःसंवर की महत्ता, विशेषता, उपादेयता, उपलब्धियाँ, लाभ और उद्देश्य स्पष्ट हैं। अतः आस्रवों से विरति के हेतु मनःसंवर की साधना कर्ममुमुक्षुओं के लिए कितनी अनिवार्य एवं हितावह है ? यह समझ लेना चाहिए। मनःसंवर क्या है, क्या नहीं ? मनःसंवर की साधना की पद्धतियाँ और उसके विविध पहलू कौन-कौन से हैं, इस पर हम अगले निबन्धों में प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। ■

---

१. (क) वही, पृ. ३३-३४
(ख) देखें अगले निबन्ध में इसकी समानान्तर अवस्थाओं का जैन बौद्ध परम्परा में निरूपण।

१३

मनःसंवर के विविध रूप, स्वरूप और परमार्थ

मनःसंवर क्या है, क्या नहीं ? : एक विश्लेषण

मनःसंवर या मनोनिरोध की महत्ता, विशेषता और उपादेयता समझ लेने के पश्चात् अब प्रश्न उठता है कि मनःसंवर क्या है; क्या नहीं ? जब तक मनःसंवर को सम्यक् रूप से नहीं समझा जाएगा, तब तक मन को कर्मास्रवों से रहित करना, मन की विविध शक्तियों और क्षमताओं का शुद्ध उपयोग करना, उसे शुद्ध परिणामों में प्रवृत्त करना कथमपि सम्भव नहीं होगा।

क्या इन दोनों प्रक्रियाओं को मनोनिरोध कहेंगे?

यों तो मनोनिरोध, मनोनिग्रह, मनःसंयम, मनोगुप्ति, मनःसमाधारणता (मन की एकाग्रता), मनःस्थिरता, मनोविलय, मनःशून्यता, मनोदमन, मन का न होना, मन को मारना, मनोविजय आदि सब एक या दूसरे प्रकार से मनःसंवर के ही विविध रूप हैं।

सर्वप्रथम हम मनोनिरोध के पहलू को लेते हैं। क्या मन की समस्त चेष्टाओं, प्रवृत्तियों, या क्रियाओं को रोककर मन को सर्वथा निष्क्रिय, निश्चेष्ट, तथा मनन-चिन्तन से रहित कर देना मनोनिरोध है ? अथवा मन को मार कर शून्य कर देना, मन में उठने वाले विचारों या चिन्तन को दबा देना अथवा मन में उठने वाले चिन्तन-मनन के प्रवाह को सर्वथा रोक देना मनोविरोध रूप मनःसंवर है ? अथवा व्यक्ति स्वयं ही नशीली चीजों का सेवन करके मूर्च्छित, निश्चेष्ट या नशे में चूर हो जाए कि मन कुछ भी क्रिया, चेष्टा या प्रवृत्ति न कर सके, क्या इसे मनोनिरोध रूप मनःसंवर कहा जाएगा ?

मनोनिरोध की सही और गलत प्रक्रिया के निर्णयार्थ तीन अश्वारोहियों का रूपक

सर्वप्रथम मनोनिरोध की इन दोनों गलत प्रक्रियाओं को हम एक रूपक द्वारा समझाते हैं–एक बार तीन व्यक्तियों ने घुड़सवारी का विचार किया। उन्होंने एक-एक घोड़ा खरीदा और अपने-अपने घोड़े पर बैठकर चल दिये। घोड़ों के स्वभाव से वे अपरिचित थे। उन्हें वश में करने का अनुभव भी नहीं था। घोड़े थोड़ी ही देर में हवा से

बातें करने लगे। सवारों ने हर प्रकार से उन्हें रोकने की कोशिश की, पर वे इसमें सफल न हो सके। वे भयवश घोड़ों पर जोर से चाबुक फटकारने लगे। पर सब व्यर्थ!

तीनों ने समझा कि आज हमारा काल निकट आ गया है। उनमें से एक सवार को सहसा न जाने क्या सूझा कि उसने कमर से कटार निकाली और घोड़े की टांग काट दी। घोड़ा धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। सवार उतर गया और मन में खुश हुआ कि प्राण बच गए। किन्तु जब उसने देखा कि वह घोर जंगल में है। रास्ता भी नहीं दिखाई देता है। अतः वह पश्चात्ताप करने लगा कि हाय! घोड़े को मार गिराने से मेरी जान तो बच गई, किन्तु मेरी गति भी तो रुक गई। अब मैं इस घोड़े से कुछ भी सहायता नहीं पा सकता, न अपने स्थान पर ही पहुँच सकता हूँ।

दूसरे सवार ने देखा कि घोड़ा इतने वेग से भाग रहा है, मैं गिर जाऊँगा। अतः उसने घोड़े की पीठ पर से छलांग लगा दी। घोड़ा आगे भाग गया। वह सवार वहीं गिर पड़ा। उसकी टांग टूट गई। पहले तो वह भी घोड़े से मुक्ति पाकर कुछ प्रसन्न हुआ, किन्तु जब देखा कि जांघ में काफी चोट आ जाने से वह चल-फिर नहीं सकता, तो वह भी शोकाकुल हो गया।

तीसरा सवार अभी घोड़े पर ही था। उसने अपने साथियों की दुर्दशा को भांप लिया था। उसने धैर्यपूर्वक घोड़े की लगाम पकड़े रखी। घोड़े को थोड़ा-सा पुचकारा। घोड़े की गति भी कुछ धीमी पड़ी। पर वह सीधा मार्ग छोड़कर बीहड़ जंगल की ओर चल पड़ा। सवार ने एड़ी लगाकर लगाम खींची और उसे ठीक मार्ग पर ले आया। फिर थोड़ा पुचकारा। उसके बाद जब-जब घोड़ा भटकने की चेष्टा करता, सवार कभी उसे पुचकारता, कभी चाबुक से डराकर सही मार्ग पर ले आता। अन्त में, इस प्रकार करते रहने से घोड़ा उसके वश में हो गया और वह उसके संकेतानुसार चलने लगा।[1] फलतः घोड़ा और घुड़सवार दोनों क्षतिग्रस्त नहीं हुए और सवार भी अपने निर्धारित स्थान पर पहुँच गया।

संसार में भी तीन प्रकार के व्यक्ति हैं। यों तो मनरूपी अश्व सभी मानवों को मिला हुआ है। परन्तु कुछ व्यक्ति पहले किस्म के अश्वारोही के सदृश होते हैं। वे मन को मारने या वश में करने का तात्पर्य न समझकर मन रूपी घोड़े को दबाते, सताते और मनरूपी घोड़े की टांग काट देते हैं, अर्थात्—उसे शुद्ध या शुभ चिन्तन-मनन में न लगाकर बिलकुल निष्क्रिय, निश्चेष्ट बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे आँख, कान आदि इन्द्रियों को बंद करके मन को बिलकुल जकड़ कर रखने का उपक्रम करते हैं। फलतः मन के साथ ज्यादती करके वे मन की उत्कृष्ट चिन्तनशक्ति को कुण्ठित, प्रतिहत और दमित कर देते हैं।

---

१. आम्रमंजरी से

मनोनिरोध या मनःसंवर की इस गलत प्रक्रिया को अपनाने पर मनरूपी अश्व की तेज तर्रार उत्कृष्ट एवं परिशुद्ध चिन्तनशक्ति रूपी गति से आस्रवों का निरोध (संवर) और कर्मों का आंशिक क्षय (निर्जरा) करके सर्वकर्ममुक्ति रूप मोक्षस्थल–गन्तव्यस्थल तक शीघ्र पहुंच सकता था, परन्तु वह मनोनिरोध या मनःसंवर की इस गलत प्रक्रिया को अपनाता है, और मन की शुद्ध गति-प्रगति को रोक देता है, जिससे वह संसाररूपी घोर वन में ही पड़ा रह जाता है, मन की सहायता न मिलने से वह इस घोर संसार वन को पार नहीं कर पाता।

प्रथम अश्वारोही के समान ऐसे व्यक्ति मनरूपी अश्व को वश में न कर पाने के कारण मद्य, गांजा, भांग, चरस, तम्बाकू आदि नशीली चीजों का सेवन करके अपने मन को तामसिक व जड़-मूढ़ बना लेते हैं। इन नशीली चीजों का सेवन करके मन को एकाग्र करने की धुन में वे मन को अमुक समय तक बिलकुल विचारशून्य, मूर्च्छितवत् बना लेते हैं, अथवा उन्मत्त के समान मन को विवेकशून्य, सम्यग्ज्ञानशून्य, बनाकर मन की विचारशक्ति, उसकी चिन्तन-मनन अध्यवसाय-शक्ति, तथा ज्ञान-विवेकशक्ति को जड़वत् लुप्त कर देते हैं।

फलतः विवेक-विचारहीन मूढ़ मन से वे न तो अपना ही हित और कल्याण सोच सकते हैं, न ही दूसरों का। ऐसा विवेकहीन मन न तो आस्रवनिरोध करके संवर-निर्जरा की साधना करने की प्रक्रिया को समझ सकता है और न ही तदनुसार अहिंसादि संवर की साधना कर सकता है।

कतिपय लोग दूसरे अश्वारोही के समान हैं। वे मन और इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्त होकर उनके वश में हो जाते हैं। फिर जब मन रूपी अश्व उन्हें लेकर तीव्र गति से संसार के बीहड़ वन में ले जाने लगता है, जिससे वे सांसारिक दुःख, संताप और कष्टों से आकुल-व्याकुल हो उठते हैं। तब इन्द्रियों सहित उक्त भयंकर विद्रोही एवं तेज भागते हुए मन से छुटकारा पाने के लिए जूआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, शिकार, परस्त्रीगमन, स्वच्छन्द यौनाचार, विलासिता, अश्लील नाच-गान, अश्लील दृश्य-दर्शन, तथा कामोत्तेजक उपन्यासों के पठन-श्रवण आदि दुर्व्यसनों के शिकार होकर स्वयं का घोर अधःपतन कर बैठते हैं, दुःखों को भुलाने के बदले अनेक नये कर्मों का बंधन कर लेते हैं।

उनका मनरूपी घोड़ा तो और तेजी से भागता रहता है। देह तो और अधिक चंचल होकर उछल-कूद मचाता है। ऐसे मनरूपी अश्व के अश्वारोही उसको मनाने के लिए उसके इशारे पर चलते हैं। फलतः वे अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोगों के शिकार हो जाते हैं। विषयासक्ति और विलासिता में अत्यधिक डूब जाने से उनका मन स्वयं अशान्त, अस्थिर और चंचल होकर अपने मालिक को भी अशान्त और अस्थिर

कर देता है।[1] उनका मन उत्कृष्ट शुद्ध चिन्तन शक्ति को खोकर निकृष्ट अशुभ चिन्तन ही अत्यधिक करता है। हिंसा आदि आस्रवों में प्रवृत्त होता है। इससे मनोनिरोध या मन का संवर तो कोसों दूर हो जाता है। उलटे ऐसा व्यक्ति मन से आस्रव और बन्ध ही अधिकाधिक करता रहता है।

निष्कर्ष यह है कि द्वितीय अश्वारोही के समान ऐसा व्यक्ति न तो मन की उत्कृष्ट एवं परिशुद्ध चिन्तन शक्ति से लाभ उठाकर उसे हिंसादि आस्रवों के निरोध तथा अहिंसादि संवर की साधना में लगा सकता है और न ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय रूप आस्रवों को रोककर सम्यक्त्व संवर, विरति-संवर, अप्रमाद संवर और अकषाय संवर का चिन्तन-मनन एवं आचरण कर सकता है। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा मनरूपी अश्व का सवार भ्रष्टबुद्धि होकर आत्महत्या तक कर बैठता है, पागल और विक्षिप्त हो जाता है, उन्मत्तवत् प्रलाप करने लगता है।

मनोनिरोधक ये दोनों ही उपाय अहितकर एवं गलत

मनोनिरोध (मनःसंवर) करने के ये दोनों ही उपाय अहितकर एवं घोर अनर्थकर हैं, इन दोनों उपायों से न तो मन मरता है, न ही वह सधता है, या वश में हो जाता है। इसलिए मन को मारने या वश में करने के ये दोनों ही उपाय गलत हैं। इनमें से एक में व्यक्ति मनरूपी घोड़े की टांग काटकर यानी नशीली चीजों का सेवन करके मन को कुंठित, विकृत, अस्त-व्यस्त, क्षत-विक्षत कर देता है। फलतः मन की उत्कृष्ट मनन शक्ति से जो लाभ उठाना चाहिए था, उससे वंचित हो जाता है। गीता की भाषा में ऐसे व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को निश्चेष्ट करके मन से विविध मनोज्ञ विषयों का स्मरण करते रहते हैं।[2]

दूसरे उपाय में, व्यक्ति स्वयं ही दुर्व्यसनों, विषयासक्ति और विलासिता का शिकार होकर तामसिक, प्रमत्त, निश्चेष्ट एवं आलस्यग्रस्त होकर पड़ जाता है, उसका मन अत्यन्त चंचल होकर भाग खड़ा होता है, वह संवर, निर्जरा की साधना में टिक नहीं पाता। अतः मनरूपी अश्व के ये दोनों ही अश्वारोही संसार रूपी घोर वन को पार नहीं कर पाते, वे वहीं कर्मों का आस्रव और बंध करके चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

मनोनिरोध या मनःसंवर का सही उपाय

कतिपय व्यक्ति तीसरे अश्वारोही के समान होते हैं। वे न तो मन को जड़वत् विवेकमूढ़, विचारशून्य या उन्नत चिन्तन से शून्य बनाते हैं, और न मन को ढील देकर

---

१. आम्रमंजरी से भावांश ग्रहण
२. देखें, भगवद्गीता

उसे विषयों के बीहड़ वन में भटकने देते हैं। बल्कि धैर्य-युक्त पुरुषार्थ, अभ्यास एवं विषयों के प्रति वैराग्य से मन को आस्रवों के उत्पथ की ओर जाने से रोककर संवर की दिशा में प्रेरित करते हैं।

वे समझते हैं कि मन की सहायता के बिना वे संवर-निर्जरारूपधर्म (कर्मक्षय) की साधना करके न तो अपने साधनापथ पर गति कर सकते हैं और न परमसाध्यरूप गन्तव्यस्थान–मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही मन को स्वच्छन्द छोड़ देने पर भी वह चरमलक्ष्य की दिशा में गति–प्रगति करने के बजाय, विपरीत दिशा में ले जाकर संसाररूपी अटवी में ही भटकाता रहेगा।

अतः वे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा दुष्ट, साहसिक एवं भयंकर चंचल मन को अपने वश में कर लेते हैं, साध लेते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में केशी-गौतम-संवाद में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है। केशीश्रमण गणधर गौतम से पूछते हैं–"आप एक साहसी, भयंकर, दुष्ट घोड़े पर सवार हैं, जो चारों ओर भाग-दौड़ कर रहा है। फिर वह आपको उन्मार्ग की ओर क्यों नहीं ले जाता?"

गौतम स्वामी ने समाधान किया–यह मन ही बड़ा साहसी, दुर्दम्य और भयानक घोड़ा है, जो चारों ओर भागता है। मगर मैं उस दौड़ते हुए घोड़े का श्रुतरश्मि (शास्त्रज्ञान रूपी लगाम) खींचकर उसे रोकता (निग्रह) करता हूँ। जिससे वह मुझे उन्मार्ग की ओर न ले जाकर सन्मार्ग की ओर ही ले जाता है।[1] (इस प्रकार मन को उत्कृष्ट एवं शुद्ध चिन्तन शक्तिरूपी गति की ओर मोड़ कर) मैं उसे सम्यक् प्रकार से वश में करता हूँ। संवर-निर्जरारूप धर्म (कर्मक्षय) की शिक्षा से वह अभ्यस्त मन जातिमान अश्व के समान हो गया है।"[2] इसे मन पर विजय (मनोविजय) भी कहा जा सकता है।

मनोनिरोध या मनःसंयम क्या नहीं है, क्या है?

यह है मन को मारने, साधने या वश में करने का रहस्य ! इससे स्पष्ट है कि मन को शून्य, जड़वत् कर देना, या मन में उठने वाले प्रत्येक सम्यक् चिन्तन को भी दबा देना,

---

१. (क) तुलना करें–"अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।" –भगवद्गीता
(ख) अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयम! आरूढो कहं तेण न हीरसि?
पधावंतं निगिण्हामि सुय-रस्सी-समाहियं।
न मे गच्छइ उमग्गं मग्गं च पडिवज्जइ॥
मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं॥ –उत्तराध्ययन २३/५५, ५६, ५८

२. देखें–उत्तराध्ययन सूत्र अ. २३, गा. ५५, ५६, ५८

अथवा मन में उठने वाले चिन्तन-मनन-विचार-प्रवाह को बिलकुल रोक देना मनो-निरोध या मनःसंवर नहीं है। मन की समस्त चेष्टाओं, प्रवृत्तियों या क्रियाओं को रोककर मन को छद्मस्थ भूमिका में सर्वथा निष्क्रिय, निर्विचार, तथा चिन्तन-मनन मुक्त कर देना मनोनिरोध या मनःसंवर का एकांगी अर्थ है।

दशवैकालिक चूर्णि में संयम को ही आस्रव-निरोध रूप संवर बताकर मनःसंयम (मनःसंवर) की वास्तविक प्रक्रिया बताते हुए कहा है–"अकुशल मन का निरोध और कुशल मन का प्रवर्तन ही मनःसंयम है।"[1]

मन को मारने का रहस्यार्थ ज्ञात होने पर ही व्यक्ति अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। इसी तथ्य का संकेत 'आराधनासार' में किया गया है–"मनरूपी राजा के मर जाने पर इन्द्रियाँ रूपी सेना तो स्वयमेव मर जाती है।"[2]

यहाँ भी मन को वश में करने का संकेत है।

मनोवशीकरण के लिए ज्ञान का अंकुश

मन एक हाथी के समान है। मदोन्मत्त हाथी को वश में करना अत्यन्त कठिन होता है। किन्तु कुशल महावत यथोचित अंकुश लगाकर उसे भी वश में कर लेते हैं और अपने मनोरथ के अनुसार उसे अभीष्ट गन्तव्य स्थान की ओर ले जाते हैं। इसी प्रकार कुशल साधक विषय वासनाओं और कषायों के घोर उत्पथ की ओर जाते हुए मनरूपी हाथी को अंकुश लगाकर (संवर-निर्जरारूप) धर्म-पथ की दिशा में मोड़ देते हैं। 'भगवती आराधना' में इसी तथ्य को उजागर किया गया है–"मनरूपी उन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए ज्ञान ही अंकुश के समान उपयोगी है।"[3]

अतः मन को वश में करने की यथार्थ प्रक्रिया भलीभाँति समझ लेनी चाहिए, तभी व्यक्ति मनःसंवर की साधना में सफल हो सकता है।

मन का विषयों से (शून्य) रहित हो जाना–मन का मर जाना है

मन को मारने का एक समानार्थक शब्द और है–मन को विषयों से शून्य (रिक्त) कर देना। मन के मर जाने का अर्थ–मन का अस्तित्व-विहीन हो जाना नहीं है। अपितु मन

---

१. (क) "मण-संजमो णाम अकुसल-मण-निरोहो, कुसल-मण-उदीरणं वा॥" –दशवैकालिक चूर्णि अ. १
(ख) आस्रवद्वारोपरमः संयमः। –वही, हारि. वृत्ति १/१
(ग) "अकुसल-मण-निरोहो, कुसल-मण-उदीरणं चेव।" –व्यवहार भाष्य पीठिका ७७
(घ) संयमनं संयमः–विषयकषाययोरुपरमः। –तत्त्वार्थभाष्य, हा. वृ. ६/२०

२. 'मण-णरवइए मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइ॥" –आराधनासार ६०

३. "णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्त-हत्थिस्स" –भगवती आराधना ७६०

से विषयों का चिन्तन, मनन, स्मरण या विकल्प न करना है। क्योंकि मन की मुख्य तीन क्रियाएँ हैं–स्मरण, चिन्तन-मनन और विकल्प–कल्पना करना। अतः मन में चिन्तन, मनन, स्मरण या विकल्प का न होना कहें, या मन का शून्य हो जाना कहें, अथवा मन का मर जाना कहें, एक ही बात है।

इसी प्रकार मन को विषयों से रहित कर देना, अथवा मन में किसी भी प्रकार का विषय-चिन्तन-स्मरण या विकल्प न आने देना भी मन का शून्य (रिक्त) हो जाना है। इसे मनोविलय भी कहा जा सकता है। जिसके अभूतपूर्व लाभ के विषय में 'आराधनासार' में भी कहा गया है–"चित्त (मन) को (विषयों से) शून्य कर देने पर उसमें आत्मा का प्रकाश झलक उठता है।"[1]

मन की दो प्रकार की स्थितियाँ

इसे ही मन के न होने की, अर्थात्–मन के उत्पन्न न होने की स्थिति कह सकते हैं। वस्तुतः चेतना के स्तर पर दो प्रकार की स्थितियाँ निष्पन्न होती हैं। एक–मन के होने की स्थिति, और दूसरी–मन के न होने की स्थिति। मनोविलय की, मनःशून्यत्व या मनोरिक्तता की जो स्थिति है, वह मन के न होने की स्थिति ही है।

निश्चय दृष्टि से, अथवा चौदहवें गुणस्थान पर आरूढ़ होने पर–एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है, जब मन बिलकुल रहता ही नहीं। किन्तु इस भूमिका पर आरोहण करने से पहले भी मनोविलय की ऐसी स्थिति आती रहती है, जब मन उत्पन्न नहीं होता, अर्थात्–सिर्फ ज्ञान चेतना रहती है, ज्ञाताद्रष्टापन रहता है, तब कहा जाता है कि इस समय अकेली चेतना है, मन नहीं है। उसका तात्पर्य है–रागद्वेषादिक या शुभाशुभ विकल्पात्मक मन का अस्तित्व नहीं है।[2]

संसारी अवस्था में स्थूल मन निष्क्रिय होने पर भी सूक्ष्म मन क्रिया करता रहता है

दूसरी स्थिति है–मन के होने की, जिसका अनुभव हम सदा करते ही हैं। बल्कि सुषुप्त अवस्था में, स्वप्न, एवं निद्रा की अवस्था में भी स्थूल मन निष्क्रिय हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म मन या अवचेतन मन ज्ञानादि की क्रियाएँ करता है। जीव अवचेतन मन में तभी जाता है, जब वह गहराइयों में उतर कर अनुभूति करता है। इसलिए जागृत अवस्था के सहित जितनी भी अवस्थाएँ हैं, उन सबमें एक या दूसरे प्रकार से मन का अस्तित्व रहता ही है। वे स्थितियाँ मन के होने की साक्षी हैं।[3]

---

१. सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासेइ। –आराधनासार ७४

२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. १२०

३. वही, भावांश ग्रहण , पृ. ११५

अमनस्क प्राणियों में भी भावमन के अस्तित्व के कारण कर्मास्रव

यहाँ एक प्रश्न होता है कि जैनसिद्धान्त के अनुसार जो अमनस्क (मन रहित) प्राणी हैं, क्या उन्हें मनोविलययुक्त या मनःशून्यता से युक्त कहा जा सकता है? मन के न होने की स्थिति में क्या उनके मन से होने वाले कर्मों का आस्रव रुक जाता है? या मनःसंवर स्वतः ही हो जाता है?

जैनदर्शन ने इसका समाधान इस प्रकार दिया है कि संसार में जो भी बद्ध अमनस्क प्राणी हैं, उनमें चाहे द्रव्यमन न हो, परन्तु भावमन का अस्तित्व तो है ही। भावमन संसार के सभी प्राणियों में होता ही है। ऐसी स्थिति में भावमन के द्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान या अविद्या आदि के द्वारा कर्मों का आस्रव और कर्मबन्ध होता रहता है।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार मन को समग्र शरीर व्यापी माना जाए तो उनमें द्रव्यमन का अस्तित्व भी माना जा सकता है, किन्तु उनका वह द्रव्यमन या भावमन, केवल ओघसंज्ञारूप है, क्योंकि उनमें चेतना का, विवेकबुद्धि का विकास अत्यन्त नगण्य है, स्वल्प है। कहना चाहिए कि उनका मन विवेक शक्ति (rational mind) से रहित है। इसी अपेक्षा से उन्हें अमनस्क कहा जाता है।

जैनदर्शन में प्राणियों की जो समनस्क और अमनस्क संज्ञा है, वह विवेक क्षमता के सद्भाव और अभाव को लोकर निर्धारित की गई है। इस दृष्टि से अमनस्क प्राणी विवेकशक्ति विहीन होने के कारण वैचारिक संकल्प-विकल्प से रहित होते हैं, फिर भी वे भावमन के कारण कर्म संस्कारों से युक्त होते हैं। इसलिए नये कर्मों का आस्रव भी उनके होता है, बन्ध भी। यद्यपि वह बन्ध तीव्र नहीं होता साथ ही पूर्वकृत कर्मों का फलभोग भी चलता रहता है।[1]

अतः मनोविलय के व्यावहारिक दृष्टिपरक अर्थ के अनुसार मन है, वह बहुत बार, बार-बार उत्पन्न होता है। इसीलिए आचारांगसूत्र में कहा गया है–"अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे।" वह जीव अनेक चित्त (मन) वाला है। अतएव मन है, इसीलिए तो हम उसके न होने की (अमन की) बात सोचते हैं।

मन अकेला होता तो कोई बात नहीं थी। मन के साथ अनेक रागद्वेषादि विकारों की जटिल समस्याएँ होती हैं। मन की क्रिया जिस प्रेरक यंत्र-तंत्र द्वारा होती है, मन जिसके द्वारा प्रेरित-संचालित होता है, वे बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो अवांछनीय हैं, अनाचरणीय हैं, हमें आस्रव और बन्धन में डालने वाली हैं। इसलिए मन के न होने की बात हम सोचते हैं। मन को उत्पन्न करने वाला यंत्र या तंत्र जब निष्क्रिय हो जाए तभी हम कह सकते हैं कि मन उत्पन्न नहीं होता।

---

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १ (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण पृ. ४८६

मन को उत्पन्न तथा उत्तेजित व संचालित करने वाले दो तत्त्व

कितने ही विज्ञों का मन्तव्य है कि मन उत्पन्न होता है–प्राण के द्वारा। प्राण मन को संचालित कर देता है, जागृत कर देता है, या उत्पन्न कर देता है। उसके पश्चात् कषाय, रागद्वेष-मोह आदि से युक्त वृत्तियाँ उस पर हावी हो जाती हैं। मन अपने आप में कुछ नहीं करता, प्राण उसे जागृत या उत्पन्न कर देता है और वृत्तियाँ उस पर हावी हो जाती हैं। उनके संकेत पर मन को चलना पड़ता है। वृत्तियां ही मन को उत्तेजित करती हैं।

मन कभी क्रोधावेश में, कभी अहंकारावेश में, कभी लोभावेश में, कभी ईर्ष्या, द्वेष, आसक्ति या घृणा के आवेग में बह जाता है। वृत्तियों के आवेग में बहकर मन क्षणभर में नरक के जाल बुनने लगता है, और क्षणभर में स्वर्ग के ताने-बाने गूंथने लगता है। आवेग जितने भी हैं, वे मन के नहीं, इन वृत्तियों के हैं।

जैनागमों में दस प्रकार की संज्ञा का वर्णन मिलता है। क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, आहारसंज्ञा, ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञा, ये दस संज्ञाएँ मौलिक मनोवृत्तियाँ हैं जो समस्त संसारी जीवों में पाई जाती हैं। ये ही मन पर हावी होकर मन को अपने इशारे पर नचाती हैं। वृत्तियों के आवेग मन पर इस कदर छा जाते हैं कि स्थूल दृष्टि वाले लोग यही समझते हैं कि यह सारी खुराफात या दुष्टता मन की है। परन्तु मनोनिरोध के अभ्यासी को समझ लेना चाहिए कि ये सब वृत्तियों की दुष्टता या खुराफात है। मन की नहीं, मन पर तो चंचलता या दुष्टता आदि आरोपित की गई है।[1]

मन का निरोध : मनोवृत्तियों का निरोध है

यही कारण है कि योगदर्शन में योग का लक्षण मन का निरोध न बताकर 'चित्तवृत्तियों का निरोध'[2] बताया है। गीता, योगशास्त्र या योगवाशिष्ठ में तथा उत्तराध्ययन में मन को जो चंचल बताया है, दुष्ट अश्व की उपमा दी गई है, वह स्थूल दृष्टि वाले लोगों को आसानी से समझाने के लिए ऐसा कहा गया है।

उत्तराध्ययन सूत्र में आगे कहा गया है–"मन भाव का ग्राहक है, और भाव मन का ग्राह्य (विषय) है। जो राग का हेतु है, उसे समनोज्ञ (भाव) कहते हैं, और जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ (भाव) कहते हैं। जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति करता है, वह हथिनी के प्रति कामासक्त हाथी की तरह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, इसी

---

१. (क) देखें–स्थानांग स्थान १० में १० प्रकार की संज्ञा का वर्णन, सू १०५
(ख) प्रज्ञापनासूत्र ८वां संज्ञापद
(ग) महावीर की साधना का रहस्य पृ. १२०-१२१

२. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
–पातंजल योगदर्शन १/१

तरह जो अमनोज्ञ भावों के प्रति तीव्र द्वेष करता है, वह दुर्दम्य द्वेष के कारण दुःखी होता है। इसमें भाव का कोई अपराध नहीं है। (अपराध वस्तुतः वृत्तियों का है।)[1]

वृत्तियों के माध्यम से ही उलझनें तथा प्रवृत्तियाँ मन में संक्रान्त होती हैं

निष्कर्ष यह है कि जितनी भी समस्याएँ, उलझनें, या आस्रव-बन्धकारिणी प्रवृत्तियाँ आती हैं, वे सब पूर्वोक्त वृत्तियों के माध्यम से मन में संक्रान्त होती हैं। मन इतना भोला है कि वह हर भाव (बात) को पकड़ लेता है, जैसा कि उत्तराध्ययन की पूर्वोक्त गाथाओं में कहा गया है। मन वृत्तियों से प्रभावित होता है। पहले प्राण उसे उत्पन्न करता है, यानी मन को जगाता है, फिर वृत्तियाँ उसे दोषपूर्ण बना देती हैं। इसलिए मूल में यह उछल-कूद या चंचलता मन की नहीं, वृत्तियों की है।[2]

वृत्तियों से रिक्त मन ही शून्य या अनुत्पन्न मन है

मन को शून्य बनाने या उसे उत्पन्न न होने देने के लिए उस (मन) को राग-द्वेष-मोहादि-युक्त या कषाय युक्त वृत्तियों से खाली (रिक्त) करना है। मन को खाली रखने से ही मानसिक शान्ति तथा मनःस्थिरता होगी, मन का शून्यीकरण होगा। मन को जितना इन राग-द्वेषादि या कषायादि भावों से भरा जाएगा, उतनी ही अशान्ति एवं अस्थिरता बढ़ेगी। और मन जब इन काषायिक वृत्तियों से रिक्त होगा, विषयों से शून्य होगा, तभी 'आराधनासार' के अनुसार आत्मा में शुद्ध चेतना का प्रकाश अवतरित हो सकेगा।

शुद्ध-चेतना का अवतरण भी खाली मन में होता है। यही मन की शान्ति है, बाह्य निष्क्रियता है किन्तु अन्तरंग सक्रियता है। आन्तरिक जागृति और बाह्य सुषुप्ति है।[3]

गीता में भी इसी आशय से कहा गया है— स्वाधीनमना योगी आत्मा को सतत् परमात्मस्वरूप में संयोजित रख कर मेरे (परमात्मतत्त्व) में स्थित हो जाता है और निर्वाण वाली परमशान्ति प्राप्त कर लेता है।[4]

अतः वृत्तियों का स्रोत जब तक खुला रहेगा, तब तक मन के संकल्प-विकल्पों का प्रवाह चलता रहेगा। वृत्तियों का स्रोत बंद करने पर ही संकल्प-विकल्पों का प्रवाह बन्द होता है। संकल्प-विकल्पों का प्रवाह समाप्त होने पर मन भी समाप्त और शान्त हो जाता है।

---

१. देखें, उत्तराध्ययन अ. ३२ गा. ८८,८९,९०
२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. १२४
३. (क) वही, से भावांश ग्रहण पृ. ११८
   (ख) सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासइ।" —आराधनासार ७४
४. युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
   शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ —गीता ६/१५

मनोनिग्रह या मनोनिरोध का वास्तविक अर्थ

मनोनिरोध या मनोनिग्रह का वास्तविक अर्थ भी मनोवृत्तियों का दमन करना, मन की इच्छाओं को दबाना, वासनाओं का उपशमन करना नहीं है। दमन का मार्ग मानसिक समत्व या सन्तुलन का हेतु नहीं है, बल्कि वृत्तियों, इच्छाओं के दमन करने में जितनी तीव्रता होती है, उतनी ही तीव्रता से वे दमित इच्छाएँ या वृत्तियाँ विकृतरूप में प्रगट होकर अपनी पूर्ति का प्रयत्न करती हैं। साथ ही मनुष्य के व्यक्तित्व को भी विकृत बना देती हैं। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता, फ्राइड, जुंग, एडलर आदि ने दमन और तीव्र प्रतिरोध को मनोविकृतियों तथा मानसिक अस्वस्थता का कारण माना है।

जैन परम्परा में मनोनिरोध के लिए उपशम के बदले क्षय का मार्ग श्रेयस्कर

जैन परम्परा में मनोनिरोध या मनो-निग्रह के लिए दमन शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, वहाँ आत्मदमन और परदमन की तुलना में आत्मदमन को श्रेष्ठ बताया है। आत्मदमन का अर्थ स्वेच्छा से स्वयं को बुराइयों से बचाना, आत्मसंगोपन, मनःसंगोपन या मनोगुप्ति या इन्द्रिय प्रतिसंलीनता आदि हैं।

परन्तु जहाँ मन की साधना का प्रश्न है, वहाँ औपशमिक मार्ग की अपेक्षा क्षायिक मार्ग को ही श्रेष्ठ मार्ग माना है। मन की वृत्तियों, इच्छाओं या वासनाओं को सहसा जबरन दबाकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने का मार्ग औपशमिक मार्ग है, दमन का मार्ग है। जैसे–आग को राख से दबा दिया या ढक दिया जाता है वैसे ही उपशम का मार्ग, क्रोधादि कषायवृत्तियों को क्रमशः क्षय करने के बजाए उनसे होने वाले वासना संस्कारों या कर्म संस्कारों को दबाकर आगे बढ़ना है। परन्तु आगे चलकर किसी भी निमित्त की हवा लगते ही दबे हुए संस्कार एकदम उभर सकते हैं। गुणस्थान-क्रमारोह में बताया गया है–उपशम श्रेणी पर चढ़कर ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचा हुआ साधक लक्ष्य के अतिनिकट पहुँच कर पुनः दूसरे एवं पहले गुणस्थान में आ गिरता है। यह तथ्य अध्यात्म साधना के क्षेत्र में दमन के पथ की अनुचितता स्पष्टतः अभिव्यक्त कर देता है।[1]

भगवद्गीतासम्मत मनोनिग्रह भी मनोदमन नहीं किन्तु अभ्यास द्वारा मनोविजय

भगवद्गीता में भी मनोनिग्रह का अर्थ सहसा मनोदमन नहीं, किन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा शनैः शनैः मन पर काबू पाना या मन को वश में करना है। अगर मनोवृत्तियों को दबाने का मार्ग ही गीताकार के लिए उचित होता तो क्रमिक अभ्यास और वैराग्य का मार्ग न बताकर सीधा ही दमन का मार्ग बताया जाता। अभ्यास तो वृत्तियों के उदात्तीकरण, परिष्कार और अन्त में क्षय करने के लिए है। वैराग्य भी मनोज्ञ-अमनोज्ञ दृष्ट या आनुश्रविक विषयों के प्रति अनासक्ति भाव है।

---

१. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १ (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण पृ. ४८९

अभ्यास और वैराग्य दमन के समानार्थक शब्द नहीं है। दमन ही इष्ट होता तो क्रमिक अभ्यास की बात नहीं की जाती। अभ्यास तो वासनाओं के विलय, परिष्कार या उदात्तीकरण के लिए है। इसीलिए गीता में कहा गया है–सभी प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, वे निग्रह कैसे कर सकते हैं ? आगे गीता में यह भी बताया गया है कि "इन्द्रियों और मन को अपने-अपने विषयों का आहार न देने से बाह्यरूप से तो विषयों से निवृत्ति हो जाती है, किन्तु उनका रस बना रहता है यानी उनके उपभोग संस्कार बने रहते हैं, वे जड़ मूल से नष्ट नहीं होते। वह रस 'पर' को देखकर या आगे के क्षायिक मार्ग को अपनाने पर या परमात्मतत्त्व–वीतरागतत्त्व के दर्शन करने पर नष्ट होता है।" इससे स्पष्ट है कि दमन या उपशम का मार्ग गीता को भी स्वीकार्य नहीं है।[1]

बौद्ध परम्परा में भी दमन की प्रक्रिया चित्त संक्षेप हेतु एवं निषिद्ध

मध्यममार्गी बौद्ध परम्परा भी मन की प्रक्रिया को चित्त क्षोभ की प्रक्रिया मानती है। वहाँ कहा गया है–चित्त संक्षोभ या मानसिक द्वन्द्व से कभी मुक्ति नहीं होती[2]।

जैन परम्परा में मनोनिग्रह का अर्थ : मन का उदात्तीकरण

जैन दर्शन में बताया गया है कि दमन में या उपशम मार्ग के चित्त में उठी हुई वासना या इच्छा को दबाया जाता है, जबकि क्षय प्रक्रिया में वासना या कामना का उठना ही क्रमशः कम करके समाप्त कर दिया जाता है। क्षय में इच्छाओं का द्वन्द्व या संघर्ष नहीं होता।

अतः आगमों या योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में जहाँ भी मनोनिग्रह या मनोनिरोध या मनोगुप्ति के द्वारा मनःसंवर का मार्ग बताया गया है, वहाँ भी निरोध या निग्रह का अर्थ औपशमिक दृष्टि से न करके क्षायिक दृष्टि से करना उचित बताया है। क्षायिक दृष्टि से मनोनिरोध या मनोनिग्रह का अर्थ मन का उदात्तीकरण (Sublimation of mind) या शुद्धीकरण होता है।[3]

जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में केशी-श्रमण के द्वारा गणधर गौतम से मनोनिग्रह के विषय में पूछे जाने पर उन्होंने उत्तर दिया है–सचमुच, यह मन साहसिक भयंकर और दुष्ट अश्व की तरह चारों ओर भाग-दौड़ करता है, किन्तु मैं इसे जातिमान अश्व के

---

१. (क) सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ? –गीता ३/३३
(ख) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ –गीता २/५९
(ग) जैन, बौद्ध, गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. ४९२

२. (क) प्राज्ञोपाय विनिश्चय ५/४0
(ख) वही (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश ग्रहण, पृ. ४९१

समान श्रुतरूपी रस्सियों से बाँधकर समता और (संवर निर्जरारूप अथवा सम्यग्-दर्शनादि रत्नत्रयरूप) धर्म की शिक्षा से इसका निग्रह करता हूँ।[1]

मनःसंवर का परमार्थ : मन को राग-द्वेष से विमुक्त–तटस्थ रखना

यहाँ मन को समत्व में स्थिर रखने का अर्थ है–मनोवृत्तियों को विषयों के प्रति न रागयुक्त बनाए, न द्वेषयुक्त बनाये। मन को संकल्प-विकल्पों से व्याकुल न होने दे। प्रत्येक स्थिति में उसे मध्यस्थ या तटस्थ बनाए रखे। धर्मशिक्षण का अर्थ भी मन को संवर-निर्जरारूप या ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-रूप धर्म में– धर्मवृत्तियों में लगाना और अभ्यास कराना है।

गीता की भाषा में मनोनिग्रह का मार्ग भी हिंसादि अनर्थकर आस्रव-बन्ध के मार्ग को रोककर विषयभोगों की अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों में अनासक्ति का अभ्यास कराना और विषयों से विरक्त करना है।

योगदर्शन में भी इसी आशय से कहा गया है–"अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध होता है।"[2]

प्रत्येक स्थिति में मन को तटस्थ, उदासीन एवं समत्व में स्थिर रखना ही मनःसंवर है

इसीलिए जैन परम्परा में मनोनिग्रह का अर्थ भी विषयों में प्रवृत्त होते हुए मन को बलात् रोकना नहीं है, अपितु उसे राग-द्वेषादि वृत्तियों से दूर, समभाव में स्थिर रखना है।

आचार्य हेमचन्द्र ने मनोनिरोधरूप मनःसंवर का वास्तविक उपाय बताते हुए योगशास्त्र में कहा है–मन जिन-जिन विषयों में प्रवृत्त होता हो, उनसे उसे बलात् नहीं रोकना चाहिए; क्योंकि बलात् मनोनिरोध से दबा हुआ मन और अधिक तेजी से उस ओर उछल-कूद मचाने और दौड़ने लगता है। बल्कि उसे रोकने से यानी उदासीन और तटस्थ रहने से अर्थात् विषयों के प्रति राग-द्वेष न करके मध्यस्थ रहने से वह स्वतः ही शान्त हो जाता है। जैसे-मदोन्मत्त हाथी को सहसा रोका जाता है तो वह उस ओर अधिक तीव्रता से प्रेरित होता है, किन्तु उसे न रोका जाए तो वह अपने अभीष्ट विषय को प्राप्त करके शान्त हो जाता है। यही स्थिति मन की है।[3]

अतः मनःसंवर सही माने में तभी हो सकता है, जब साधक अपने मन को प्रत्येक स्थिति में तटस्थ एवं उदासीन रखे, विषयों के प्रति राग-द्वेष उत्पन्न न होने दे, वृत्तियों के प्रवाह में न बहकर समत्व में स्थिर रहे।[4]

---

१. उत्तराध्ययन अ. २३, गा. ५५, ५६, ५८
२. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। –योगदर्शन
३. योगशास्त्र, प्रकाश १२, श्लोक २७, २८, २९
४. जैन, बौद्ध, गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. ४९३

विषयों में प्रवृत्त हो रहे मन को शुद्ध के चिन्तन में लगा देना मनःसंवर है

मन विषयों में प्रवृत्त हो रहा हो, उस समय उसे शुभाशुभ विकल्पों से हटाकर 'शुद्ध' के चिन्तन में लगा देना मनःसंवर है। मनःसंवर तब तक पूर्णतः सिद्ध नहीं होगा, जब तक वह शुभाशुभ संकल्प-विकल्प या चिन्तन करेगा। क्योंकि शुभाशुभ संकल्प-विकल्प में प्रवृत्त मन व्याकुल और अशान्त होगा, उसकी चंचलता दूर नहीं होगी; न ही उसमें स्थिरता आ पाएगी।

आचारांगसूत्र में इसी तथ्य का समर्थन किया गया है कि पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होने से बलात् रोकना शक्य नहीं है किन्तु साधक उन विषयों के प्रति मन में राग-द्वेष न आने दे।[1]

पंचेन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्त होते हुए मन में औदासीन्य भाव लाना मनःसंवर है

योगशास्त्र में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है–मनोहररूप का प्रेक्षण करता हुआ भी, मनोज्ञ और मधुर प्रिय वाणी का श्रवण करता हुआ भी, सुगन्धित पदार्थों को सूंघता हुआ भी, मनोज्ञ रस को चखता हुआ भी, मृदु पदार्थों का स्पर्श करता हुआ भी तथा मन की प्रवृत्तियों को न रोकता हुआ भी उदासीनभाव से परिपूर्ण, पूर्ण समभाव से भावितात्मा, तथा आसक्ति-परित्यागी साधक बहिरंग और अन्तरंग चिन्ताओं और प्रवृत्तियों से रहित होकर मानसिक एकाग्रता प्राप्त करके अत्यन्त उन्मनीभाव अर्थात् परम उदासीनता को प्राप्त कर लेता है।

मन का इस प्रकार औदासीन्य भाव ही मनःसंवर है। फिर इस प्रकार के उदासीनभाव में डूबा हुआ, सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रेरित न करता हुआ, परमानन्द दशा के भावों से भावित रहने वाला योगी मन को किसी भी जगह संलग्न नहीं करता।[2]

आत्मा मन को, मन इन्द्रियों को प्रेरित न करे तभी मनोविलयरूप मनःसंवर

इस प्रकार मन जब आत्मा द्वारा उपेक्षित हो जाता है, तब वह इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा नहीं करता। और तब इन्द्रियाँ स्व-स्व-विषयों में प्रवृत्त होना छोड़ देती हैं।

संक्षेप में, जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता, तब उभयतोभ्रष्ट एवं उपेक्षित मन स्वतः विलीन हो जाता है अर्थात्– मन उत्पन्न नहीं होता, यानी मन के चिन्ता, स्मृति, कल्पना आदि सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं। जब मन प्रेरक

---

१. आचारांग सूत्र श्रु. २, अ. ३, उ. १५, सू. १३१ से १३५

२. योगशास्त्र, प्रकाश १२, श्लोक २३ से २५

नहीं रहता तो सर्वप्रथम राख से ढकी हुई आग के समान शान्त होता है, तत्पश्चात् पूर्णरूप से उसका विलय (क्षय) हो जाता है।[1]

परिपूर्ण शुद्ध मनःसंवर का रूप

ऐसी स्थिति में वात-विहीन स्थान में रखा हुआ दीपक जैसे अविच्छिन्न रूप से प्रकाशित रहता है, उसकी लौ बिलकुल चंचल नहीं होती, इसी प्रकार मनोवृत्तियों की चंचलतारूपी वात का अभाव हो जाने पर आत्मा में कर्ममल के आवरण से रहित शुद्ध और परिपूर्ण, निराबाध तथा अविच्छिन्न आत्मज्ञान प्रकाशित होता है।

यह है परिपूर्ण एवं शुद्ध मनःसंवर का रूप।[2]

जैनदृष्टि से मनोजय, मनोनिग्रह, तथा मनोविलय, मनोवशीकरण आदि के रूप में मनःसंवर की जो परिपूर्ण एवं शुद्ध अवस्था बताई गई है, वहाँ तक पहुँचना सहज नहीं है। उसके लिए प्रत्येक साधक को स्पष्ट रूप से समझना और स्वीकार करना चाहिए कि मनःसंयम या मनोवशीकरण या मनोनिग्रह के रूप में मनःसंवर कोई जादू नहीं है कि डंडा घुमाया या मंत्र पढ़ा कि मन संयत या संवृत हो गया।

जो लोग जल्दबाज हैं, और जादूटोने आदि के किसी कौशल से मन को वश करने की फिराक में हैं, अथवा जो किसी गुरु, देवता या ओझा आदि से अपने मन के वशीकरण की अपेक्षा रखते हैं, वे भी धोखे में हैं।

प्रत्येक साधक को यह समझ लेना चाहिए कि मन एक नाजुक यंत्र है, बड़ी धृति एवं सावधानी पूर्वक उसका तथा उसकी शक्तियों का उपयोग एवं प्रयोग करना होगा। साथ ही मनःसंवर के जितने भी साधक कारण हैं, उनकी साधना भी विधिपूर्वक स्वयं को ही करनी होगी, बाधक कारणों से बचने के लिए भी स्वयं को ही तत्पर एवं सतर्क रहना होगा। अपने मनःसंवर का समूचा कार्य स्वयं ही करना होगा। दूसरे से हर्गिज नहीं हो सकेगा।

'राजयोग' में विवेकानन्द मनःसंयम (मनःसंवर) की कठिनता का वर्णन करते हुए कहते हैं– मन को संयत (संवृत) करना कितना कठिन है, इसकी एक सुसंगत उपमा उन्मत्त वानर से दी गई है। कहीं एक वानर था, स्वभावतः चंचल, लेकिन उतने से सन्तुष्ट न हो, एक आदमी ने उसे शराब पिला दी। इससे वह और भी चंचल हो गया। इसके बाद उसे एक बिच्छू ने डंक मार दिया।..... किसी को बिच्छू डंक मार दे तो वह दिनभर इधर-उधर कितना तड़पता रहता है ! सो उस प्रमत्त अवस्था पर बिच्छू का डंक !

---

१. (क) योगशास्त्र प्रकाश १२, श्लोक ३३-३५
(ख) जैन, बौद्ध, गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डा. सागरमल जैन) पृ. ४९३

२. योगशास्त्र, प्रकाश १२, श्लोक ३६

इससे वह बंदर बहुत अस्थिर हो गया। तत्पश्चात् उसके दुःख की मात्रा को कम करने के लिए एक दानव (भूत) उस पर सवार हो गया। यह सब मिला कर सोचो, बन्दर कितना चंचल हो गया होगा। यह भाषा (वाणी) द्वारा व्यक्त करना असम्भव है।

बस, मनुष्य का मन भी उस वानर के सदृश है। मन तो स्वभावतः ही सतत चंचल है, फिर वह वासना रूप मदिरा से मत्त है, इससे उसकी अस्थिरता बढ़ गई है। जब वासना आकर मन पर अधिकार जमा लेती है, तब सुखी लोगों को देखकर ईर्ष्या रूप बिच्छू उसे डंक मारता रहता है। उसके भी ऊपर जब अहंकार रूप दानव (भूत) उसके भीतर प्रवेश करता है, तब तो वह अपने आगे किसी को नहीं गिनता। ऐसी तो हमारे मन की अवस्था है ! सोचो तो, इसका संयम (संवर) करना कितना कठिन है ?[1]

अतः मन की चंचलता को रोकने (आम्रव निरोधरूप संवर करने) के लिए हमें उसके कारणों को जानना आवश्यक है।[2] साथ ही सतर्क रहकर मन को क्रमशः विधि-पूर्वक वश में करना पड़ेगा।

मनःसंवर उच्च साधक के लिए भी कठिन, यदि वह सतर्क नहीं है तो

यह सत्य है कि मनोनिग्रह रूप मनःसंवर अर्जुन जैसे वीर्यवान् वीर पुरुषों के लिए भी सदा से अत्यन्त कठिन कार्य रहा है। फिर भी कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने उसे असम्भव नहीं बताया है। फिर मनःसंवर के साधक को सतर्क और अप्रमत्त तो रहना ही पड़ेगा, इसके लिए। ऐसा न होने पर अच्छे से अच्छे अभ्यासशील साधक के लिए मनः संवर आसान बात नहीं है; इसके कारणों का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं– "हे कौन्तेय ! अभ्यासशील बुद्धिमान् पुरुष के मन को ये उद्दण्ड इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर (खींच) लेती हैं।" जैसे–वायु जल में नौका का हरण (आकर्षण) कर लेती है, वैसे ही इन्द्रियों के पीछे-पीछे चलने वाला मन पुरुष (साधक) के विवेक का हरण कर लेता है।[3]

मनःसंवर में मन की क्रमशः चार या पाँच अवस्थाओं से आगे बढ़ना होगा

सतर्क रहने पर भी मनःसंवर अत्यन्त कठिन कार्य है। मनःसंवर की सर्वोच्च भूमिका प्राप्त करने के लिए साधक को क्रमशः विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना होगा। ऐसा किये बिना एकदम उच्च भूमिका पर छलांग लगाना सम्भव न होगा।

---

१. देखें–"विवेकानन्द साहित्य" खण्ड १ (१९६३) में राजयोग का विवरण, पृ. ८६

२. मन की चंचलता के कारण हैं–पूर्व निबन्ध में उल्लिखित प्राण और वृत्तियाँ।

३. यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
–गीता अ. २, श्लोक ६०, ६७

इसके लिए योगदर्शन में चित्त की जिन पाँच अवस्थाओं का वर्णन है उसका तथा पाँचों अवस्थाओं (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध) के विभिन्न लक्षणों और गुणों का उल्लेख भी हम पिछले निबन्ध में कर आए हैं।

जैनाचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं–(१) विक्षिप्त मन, (२) यातायात मन, (३) श्लिष्ट मन और (४) सुलीन मन।

विक्षिप्त मन अत्यन्त चंचल होता है, वह इधर-उधर भटकता रहता है। इस अवस्था में संकल्प-विकल्पों की भागदौड़ रहती है। यह मन की अस्थिर अवस्था है। इसका आलम्बन मुख्यतया बाह्य विषय होता है।

यातायात मन कथंचित् अन्तर्मुखी होता है, कथंचित् बहिर्मुखी। मन अपने पूर्वाभ्यासवश इस भूमिका में बाह्य विषयों की ओर दौड़ता रहता है, यत्किंचित् प्रयत्न से उसे रोक कर स्थिर कर लिया जाता है। लेकिन थोड़ी देर स्थिर रहकर फिर बाह्य विषयों के विकल्पों में घुड़दौड़ लगाता है। स्थिर होता है, तब साधक अनाकुलता और अस्थिर हो जाने पर आकुलता का अनुभव करता है, इसलिए इसे यातायात मन कहा है। यह योगाभ्यास द्वारा मनःसंवर की प्रारम्भिक अवस्था है।

इसके पश्चात् तीसरी स्थिरता की अवस्था आती है– श्लिष्ट मन की। इस भूमिका में मन की स्थिरता का आधार होता है–प्रशस्त विषय। इसमें स्थिरता के साथ आनन्द बढ़ता जाता है।

इसके पश्चात् अन्तिम चतुर्थ अवस्था है– सुलीन मन की, जिसमें वृत्तियों का तथा संकल्प-विकल्पों का क्षय या लय हो जाता है। इसे निरुद्धावस्था भी कह सकते हैं। वह परम मनःसंवर की अवस्था है।

बौद्ध परम्परा में भी चित्त की चार अवस्थाएँ 'अभिधम्मत्थ संगहो' में बताई गई हैं–(१) कामावचर, (२) रूपावचर, (३) अरूपावचर एवं (४) लोकोत्तर।

कामावचर में कामनाओं, वासनाओं तथा वितर्कों, विचारों की प्रबलता रहती है। मन सांसारिक विषयभोगों में दौड़ता रहता है।

रूपावचर अवस्था में वितर्क-विचार होते हुए भी मन की एकाग्रता एवं स्थिरता के लिए प्रयत्न होता है। इस अवस्था में चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय होते हैं। यह योगाभ्यास के लिए प्रयत्नशील मन की पहली अवस्था है।

तीसरी अरूपावचर चित्त की भूमिका है, इसमें आलम्बन बाह्य विषय नहीं, किन्तु अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनत्व जैसे अतीव सूक्ष्म विषय होते हैं। इस अवस्था में चित्तवृत्तियों में स्थिरता एवं एकाग्रता होती है, परन्तु वह निर्विषय नहीं होती।

चौथी लोकोत्तर चित्त की अवस्था है, जिसमें वासना, संस्कार, राग द्वेष-मोह आदि का प्रहाण (नाश) हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करते ही अर्हत् पद तथा निर्वाण की प्राप्ति अवश्यमेव हो जाती है।

योगदर्शनसम्मत क्षिप्त और मूढ़ अवस्था जैन परम्परा की विक्षिप्त और बौद्ध परम्परा की कामावचर अवस्था के समान हैं। शेष तीनों अवस्थाएँ तीनों परम्पराओं में लगभग समान हैं।[1]

मनःसंवर की सिद्धि के लिए जीवनभर अभ्यास और त्याग आवश्यक

निष्कर्ष यह है कि मनःसंवर के लिए मन को शनैः शनैः धैर्यपूर्वक दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार-श्रद्धापूर्वक साधना होगा। इच्छाशक्ति को सुदृढ़ एवं बलवती बनाना होगा। मनःसंवर कोई सनक या बच्चों का खेल नहीं है कि आवेश में आकर एक दिन अभ्यास कर लिया और दूसरे दिन उसे छोड़ दिया। यह तो जीवन भर का कार्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जो भी त्याग, तप, समिति-गुप्ति पालन, व्रतनियमाचरण आदि करना पड़े, अर्थात् जो भी मूल्य चुकाना पड़े, वह श्रेयस्कर और उचित है।

समझ लो कि परम मनःसंवर की सिद्धि एवं उससे मुक्ति या परमात्मपद प्राप्ति के लक्ष्य जैसा ही यह महान् है। यदि इसे लक्ष्य बनाकर मनःसंवर की साधना की जाए तो सफलता निश्चित है, महापुरुषों द्वारा अनुभूत है और उसकी सिद्धि के लिए जो भी मूल्य चुकाना पड़े वह अल्प है, ऐसा समझना चाहिए।[2]

लक्ष्य के प्रति एकाग्र वीर मनःसंवर का निष्ठावान् साधक

जैसा कि आचारांगसूत्र में पूर्ण मनःसंवर के प्रति जागरूक और अप्रमत्त साधक के लिए कहा गया है–"वह शब्द और रूप आदि के प्रति उपेक्षा (राग-द्वेष-विरति) करता है। वह संवर के प्रति निष्ठावान् तथा सरलतात्मा व विवेकी होता है। इसलिए मनःसंवर (संयम) को कष्टकारक न समझ कर आत्मविकास के लिए अनिवार्य समझता है। वह मृत्यु के प्रति सदा सावधान (आशंकित–सतर्क) रहता है कि कहीं अचानक मृत्यु आकर मुझे भयभीत न कर दे। ऐसा साधक मृत्यु (के भय) से या दुःख से मुक्त हो जाता है; क्योंकि आत्मा के अमरत्व में उसकी दृढ़ आस्था होती है।"

---

१. (क) भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ. १९०
(ख) देखें, पिछले निबन्ध में मन की पाँच अवस्थाओं आदि का वर्णन।
(ग) योगशास्त्र प्र. १२, श्लोक २
(घ) अभिधम्मत्थ संगहो पृ. १
(ङ) जैन बौद्ध गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. ४९६

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृष्ठ ९६ (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता)

मृत्युभय से मुक्त साधक ही परम मनःसंवर प्राप्त कर सकता है

"वह शब्दादि विषयों के प्रति मन में आसक्ति या आस्रव के खेद (हार्द) को जानता है तथा अशस्त्र (मनःसंवर–संयमरूप) के खेद (हार्द–अन्तस्) को भी जानता है। ऐसा हिंसादि आस्रवों से विरत रहने वाला साधक वीर "आत्मगुप्त (आत्मरक्षक) और खेदज्ञ है।"

आगे इसी शास्त्र में कहा गया है, "वह परमसंवर के प्रति एकनिष्ठ निष्कर्मदर्शी साधक मृत्युभय से सर्वथा मुक्त हो जाता है। मोक्ष पथ को भी वह देख चुका होता है।"

"वह आत्मदर्शी साधक लोक (प्राणि जगत्) में मोक्ष या उसके कारण रूप मनःसंवर को देखता है। वह विविक्त (राग द्वेष रहित शुद्ध) जीवन जीता है। वह उपशान्त, (पाँच समितियों से) समित, ज्ञानदर्शनादि सहित तथा सदैव संयत (संवृत–अप्रमत्त) होकर (पण्डितमरण) की आकांक्षा करता हुआ (जीवन के अन्तिम क्षण तक) मनःसंवर (संयम) में विचरण करता है।"

"ऐसा जागृत और वैर से उपरत वीर मनःसंवर साधक इस प्रकार ज्ञान, अनासक्ति, सहिष्णुता, जागरूकता और समता के प्रयोग द्वारा दुःखों–दुःखों के कारणभूत कर्मों से मुक्ति पा जाएगा।"

"ऐसा परम मनःसंवर के प्रति निष्ठावान् वीर साधक (एकमात्र वीतराग आज्ञा को केन्द्र में रखता है) सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करता है। तथा लोकसंयोग (धन, परिवार आदि के जंजाल) से दूर हट जाता है। ....."

"संसार में जो दुःख (के कारण) बताए गए हैं, मनःसंवर साधना में कुशल पुरुष उस दुःख (दुःख कारणरूप कर्मों) से मुक्त होने का परिज्ञान करते हैं। तथा कर्मों के कारण एवं निवारण आदि का सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त करके उनसे मुक्त होने का सतत् अभ्यास करते हैं।"[1]

"जो मानव ध्रुवचारी अर्थात् शाश्वत सुखकेन्द्र–मोक्ष की ओर गतिशील होते हैं, वे मनःसंवर के विपरीत–विपर्यासपूर्ण पथ पर चलने की आकांक्षा नहीं करते। वे

---

१. (क) आचारांग श्रु. १ अ. ३ उ. १, उवेहमाणो सद्दरूवेसु अंजू माराभिसंकी मरणा पमुच्चति।
(ख) जे पज्जवजाय सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे, से पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे। –वही १/३/१
(ग) एस मरणा पमुच्चइ, से हु दिट्ठपहे मुणी।
लोयंसी परमदंसी विवितजीवी उवसंते समिते सहिते सया जए कालकंखी परिव्वए।
–वही, श्रु. १ अ. ३ उ. २ सू. ३७९, ३८०
(घ) जागर वेरोवरए वीरे एवं दुक्खा पमोक्खसि। –वही १/३/१ सू. ३६१
(ङ) एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोय-संजोयं, एस णाए पवुच्चइ।–वही १/२/६, सू. ३३८

जन्म-मरण के चक्र को भलीभाँति जान कर दृढ़ता पूर्वक मोक्ष के अन्यतम साधन संवर-निर्जरारूप धर्म पथ पर संक्रमण करते हैं।"

"इस प्रकार अप्रमत्त होकर जीवन-पर्यन्त संवर साधना करने वाले, अनिवृत्तगामी (पीछे नहीं लौटने वाले) साधकों का मार्ग यद्यपि दुरनुचर (चलने में अतिदुष्कर) होता है, तथापि वह (विकट तपस्वी संवर साधक) संयमी तथा रागद्वेष विजेता होने से पराक्रमी तथा दूसरों के लिए अनुकरणीय आदर्श तथा मुक्तिगमन योग्य होता है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचर्यनिष्ठ रहकर (तपश्चरणादिरूप संवर साधना से) कर्मशरीर को धुन डालता है।"

"ऐसे उत्कृष्ट संवर साधक काल (मृत्यु) सहज रूप से प्राप्त होने की (समाधि मरण की) अभिलाषा (कांक्षा) से जीवन के अन्तिम क्षण तक मोक्ष मार्ग के साधनरूप मनःसंवर में उद्यम करते हैं।"

"यह अहिंसा (तथा उपलक्षण से सत्यादि संवररूप) धर्म दृष्ट (प्रत्यक्ष) है, श्रुत (सुना हुआ है, तथा माना हुआ है) और तीर्थंकरों द्वारा विशेषरूप से ज्ञात है। वह (अहिंसादिरूप संवर) धर्म शाश्वत है, ध्रुव है, शुद्ध है, नित्य है, खेदज्ञ वीतराग अर्हन्तों ने लोक को भलाभाँति जानकर इसका प्रतिपादन किया है। अतः यह (मनःसंवर) भी अव्यवहार्य नहीं है। अतः मनःसंवर (से मोक्ष) साधना में उत्थित (समुद्यत) होकर क्षणमात्र भी प्रमाद न करे।"[1]

दृढ़ इच्छाशक्ति पूर्वक अभ्यास करो तब मन अनुकूल हो जाएगा

इस वृहत् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ मनःसंवर की साधना की जाए तो जैसे मन के द्वारा मनुष्य बँधता है, वैसे ही मन के द्वारा वह मुक्त हो सकता है।

रामकृष्ण परमहंस ने एक भक्त के साथ वार्तालाप करते हुए कहा था–"दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ अभ्यास करो। फिर देखोगे कि मन को जिस ओर ले जाओगे, उसी

---

१. (क) इणमेव णावकंखति, जे जणा धुवचारिणो।
जाती-मरणं परिण्णाय, चरे संकमणे दढे ॥ –आचा. १/२/३, सू. ७८ का विवेचन
(ख) दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं –वही १/४/४ सू. १४३ विवेचन
(ग) एस पुरिसे दविए वीरे आयाणिज्जे वियाहिते।
से धुणाति समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि ॥ –वही, १/४/४ सू. १४३ विवेचन
(घ) "कालस्स कंखाए परिव्वयति।" –वही १/५/५ सू. १६६ विवेचन
(ङ) दिट्ठं सुयं मायं, विण्णायं जमेयं परिकहिज्जई।
..... एस धम्मे सुद्धे णिच्चे सासए समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेइए।
–वही १/४/४३७, ४३०
(च) उट्ठिए, नो पमायए। –वही ५/२ सू. १५२ विवेचन

ओर जाएगा। मन धोबी के यहाँ (धुलने के लिए दिया हुआ) कपड़ा है। वहाँ (धोबी के यहाँ) से लाकर उसे लाल रंग में रंगोगे तो लाल हो जाएगा और आसमानी रंग में रंगोगे तो आसमानी। जिस रंग से रंगोगे वही रंग उस पर चढ़ जाएगा।"[1]

प्रबल इच्छाशक्ति के बिना मनोनिग्रह का संकल्प शिथिल हो जाएगा

मनःसंवर के लिए हम में इच्छाशक्ति नहीं है, यह कहना असंगत होगा। प्रत्येक व्यक्ति में आन्तरिक संघर्ष तो होता ही है। आन्तरिक संघर्ष मन्द हो तो इच्छाशक्ति प्रबल नहीं होती। मन को वश में करने के लिए इच्छाशक्ति को प्रबल बनाना आवश्यक है। और जब तक इन्द्रियविषय-सुखों की लालसा को मुख्यता दी जाती है, मन को इन्द्रिय सुखों की खोज में तथा उनके भोग में लगाते रहते हैं, तब तक मनोनिग्रहरूप मनःसंवर का संकल्प प्रबल नहीं हो सकता। इन्द्रियविषयसुखों की लालसा नासूर के समान है, जो मनोनिग्रह के संकल्प को चूसकर शिथिल कर देती है।[2]

मनःसंवर में कामेच्छा और भोगेच्छा प्रबल बाधक

आचारांगसूत्र में मनःसंवर में कामेच्छा और भोगेच्छा को बाधक बताते हुए कहा गया है[3]– हे धीर पुरुष ! तू आशा और स्वच्छन्दता (मनमानी करने) का त्याग कर दे। उस भोगेच्छारूप शल्य (कांटे) का सृजन तूने ही किया है। किन्तु मोह से आवृत बुद्धि वाला मनुष्य इस सत्य-तथ्य को समझ नहीं पाता, इसीलिए वह (मनःसंवर से दूर रहकर) संसार में दुःख पाता है। जिस भोग सामग्री को सुखरूप समझता है, वही बाद में दुःखरूप हो जाती है। अतः जब तक भोगों में सुख की लालसा नहीं छोड़ी जाएगी, तब तक मनोनिग्रह होना अशक्य है।"

सुखभोग की स्पृहा का त्याग कर देने के पश्चात् भी मन को नियंत्रित (संवृत) करना आसान नहीं है; क्योंकि वह पुरानी यादों को उठा कर व्यक्ति को परेशान करता रहेगा। सुखभोग की स्पृहा का त्याग जितना प्रबल और तीव्र होगा, उसी परिमाण में मनोनिग्रह का संकल्प सुदृढ़ होगा।

तात्पर्य यह है कि जहाँ तक सुखभोग की लालसा बनी हुई है, तब तक कर्मास्रव-निरोधरूप मनःसंवर सच्चे मन में नहीं होगा, चाहे ऊपर से घोषणा कर दें, प्रतिज्ञा भी कर लें।[4]

आचारांग में कहा गया है–"इन्द्रियविषयों में, रूपों और शब्दों में मूर्च्छित होना ही आसक्ति है, वही संसार है, कर्मास्रव का कारण है।"

---

१. (म. कृत) रामकृष्ण वचनामृत, भाग २, (१९७०) पृष्ठ ३२१ (श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर)
२. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण पृ. ५-६
३. आसं च छन्दं च निगिंच धीरे ! तुमं चेव सल्लमाहट्टु। जेण सिया, तेण णो सिया, इणमेव णावबुज्झन्ति जे जणा मोहपाउडा। –आचा. १/२/४ सू. ८३ विवेचन
४. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. ६

इन्द्रियों और मन से असंयत–असंवृत वही होता है, जो विषयसुखभोगों में आसक्त होता है।[1]

मनःसंवर का साधक असफलता मिलने पर हताश न होकर प्रबल उत्साह के साथ पुनः जुट जाए

वस्तुतः मानसिक संघर्ष तो प्रत्येक व्यक्ति में होता है, परन्तु वह संघर्ष निम्न प्रकृति के विषयों के दास बने हुए लोगों में विषय प्राप्ति के लिए होता है, जबकि मनस्वी एवं प्रबल इच्छाशक्ति वाले लोगों में मनःसंयम के लिए बार-बार संघर्ष युद्ध हुआ करता है, और उसमें उनकी जीत होती है।

आचारांग में मनःसंवर के साधकों को चेतावनी देते हुए कहा गया है–"तू अपने आप (मन) के (शत्रुओं के) साथ युद्ध–संघर्ष कर, बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध–संघर्ष करने से क्या लाभ ?"

वस्तुतः अपने मन के शत्रुओं के साथ युद्ध की योग्यता बहुत दुर्लभ है। मनःसंवर के लिए अपर्याप्त प्रयत्न दुर्बल इच्छाशक्ति के सूचक हैं। अतः मनःसंवर के लिए खिलाड़ी की मनोवृत्ति रखनी चाहिए। खेल में हारने की सम्भावना के बावजूद भी खिलाड़ी हतोत्साहित नहीं होता। मनःसंवर के खिलाड़ी को भी मनोविकारों के साथ खेलते समय सदा सतर्कता, विनोदप्रियता, सहृदयता, रणचातुर्य, एवं शौर्य अपेक्षित है, जो सैकड़ों असफलताओं के बावजूद व्यक्ति को टूटने से बचाते हैं।

अतः मनःसंवर के लिए इच्छाशक्ति इतनी सुदृढ़ बनाई जाए कि यदि साधक बार-बार असफल हो जाए, तो भी निराश न हो, प्रत्युत मनःसंयम की प्रत्येक असफलता उसमें नवीन उत्साह भर दे और पुनः मनोनिग्रह में नियुक्त कर दे।

आचारांग में बताया गया है कि, "सतत अप्रमत्त–जागृत रहने वाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषों ने मन के समग्र द्वन्द्वों को अभिभूत करके अभीष्ट सिद्धि के दर्शन किये हैं।[2]

इच्छाशक्ति की दुर्बलता के कतिपय कारण

इच्छाशक्ति की दुर्बलता के कई कारण हैं, उन्हें दूर करने से वह प्रबल और सुदृढ़ हो सकती है। कई लोग मनोविकारों के साथ संघर्ष करते हैं, कई बार असफल होते हैं,

---

१. "उड्ढं अहं तिरियं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु याधि। एस लोगे वियाहिते।"
–आचारांग १/१/५ सू. ४१

२. (क) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. ७-८
(ख) इमेणं, चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ। जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।"
–आचारांग श्रु. १ अ. ५ सू. ५२५, ५२६
(ग) वीरेहिं एयं अभिभूयं दिट्ठं संजतेहिं सया अप्पमत्तेहिं। –वही, श्रु. १, अ. १, उ. ४

और फिर यह सोचते हैं कि मन को निगृहीत (संवृत) करना हमारे वश की बात नहीं है। यह पहला कारण है, इच्छाशक्ति की दुर्बलता का।

दूसरा कारण यह भी है कि अधिकांश व्यक्ति यह धारणा और निश्चय नहीं बना पाते कि मनःसंवर से कितने लाभ हैं, और उसमें वास्तविक बाधा कौन-सी है ? जिजीविषा के साथ विजिगीषा की वृत्ति प्रबल हो तो मनोनिग्रह में असफल होने पर भी वे अपने को अनुचित रूप से कोसते नहीं, लगातार असफलता को भी गम्भीर रूप से नहीं लेते, न ही असफलताओं से हतोत्साहित एवं हीनभावनाग्रस्त होते हैं।

अतः असफलता को हमें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहन देने वाली मान कर अधिकाधिक लगन, धैर्य, अध्यवसाय और बुद्धिमत्ता पूर्वक मनःसंवर के अभ्यास में लग जाना चाहिए। अभ्यास ही मनुष्य को परिपूर्ण बनाता है।[1]

आत्मविश्वास की कमी भी दृढ़ इच्छाशक्ति में बाधक

मनोनिग्रह में सफलता पाने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ-साथ आत्मविश्वास भी होना आवश्यक है। आत्मविश्वास के बिना मनःसंवर की साधना करते समय जहाँ भी विघ्न-बाधा आई, कोई रुकावट आई, या किसी ने थोड़ा-सा बहकाया कि झट साधक विचलित हो जाएगा। साधना से भ्रष्ट और प्रमत्त हो जाएगा। आगे चलकर वह मनःसंवर की साधना को छोड़ भी सकता है।

आत्मविश्वासहीन मानव बार-बार शंका, वहम, दुर्बलता, गतानुगतिकता और स्थिति स्थापकता से ग्रस्त हो जाएगा। उसकी मनःसंवर की सिद्धि के विषय में इच्छाशक्ति की नींव हिल जाएगी और वह मन को वह पुनः पुनः कर्म आस्रवों के चंगुल में फंसा लेगा। आत्मविश्वास के अभाव में उसका मन किसी भी संकल्प, नियम या प्रतिज्ञा से आबद्ध नहीं हो सकेगा। वह केवल ऊँची-ऊँची फिलासाफी बघारेगा, आदर्श की बातें करेगा, किन्तु व्यावहारिक धरातल पर उसका मन कच्चा और डाँवाडोल होता रहेगा, वह मनसूबे बाँधेगा, किन्तु सत्कार्यों को क्रियान्वित करने में अथवा मन को निगृहीत (संवृत) करने में उसके कदम लड़खड़ा जाएंगे।

स्व-मन से ही मन को निगृहीत करना चाहिए

मनःसंवर के साधक को यह बात हृदयांकित कर लेनी चाहिए कि मन को मन से ही निगृहीत-संवृत किया जा सकता है। मन न तो कृत्रिम उपायों द्वारा वश में किया जा सकता है, और न किसी देव-देवी, शक्ति या भगवान् के वरदान या सहारे से वश में किया जा सकता है। उसके लिए तो धैर्य, अध्यवसाय, परिश्रम (पुरुषार्थ) और बुद्धिमत्ता

---

१. (क) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण पृ. १०
(ख) Practice makes a man perfect. —English Proverb.

के साथ तथा जो भी साधनाएँ वीतराग-सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा निर्दिष्ट हैं, उनमें स्वयं लगना आवश्यक है। मनोनिग्रह में मनुष्य जिन कठिनाइयों, भीतियों तथा अवरोधों का अनुभव करता है, वे उसके अपने ही मन द्वारा निर्मित होते हैं।[1]

मनःसंवर कठिन अवश्य है, असम्भव नहीं

हमें मन में यह दृढ़ धारणा बना लेनी चाहिए कि मनःसंवर या मनोनिरोध मनुष्य के लिए कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं। असम्भव होता तो महामुनि बनने के बाद ध्यानसाधना में तथा एकान्त शान्त वातावरण में मनःसंवर की साधना में संलग्न होने के बावजूद भी महासती राजीमती के रूप-लावण्य को देखकर तीर्थंकर अरिष्टनेमि के लघुभ्राता रथनेमि का विचलित एवं मनःसंवर से स्खलित हुआ मन पुनः कैसे स्थिर हो पाता ?

दशवैकालिक सूत्र में शास्त्रकार स्वयं कहते हैं–जिस प्रकार अंकुश से मदोन्मत्त हाथी का मद उतर जाता है, उसी प्रकार राजीमती महासती के सुभाषित (वैराग्यवासित अथवा संसारभयोद्विग्नकारक) वचन रूपी अंकुश से रथनेमिरूपी हाथी के मन में संवर धर्म से विचलित करने वाला विषयवासनारूप काममद उतर गया और वे पुनः जिनोक्त संयम (संवर) धर्म में सुस्थित या सम्यक् रूप से प्रवृत्त हो गए।

मनःसंवर से विचलित व्यक्ति भी पुनः उसमें सुस्थिर हो सकता है

आशय यह है कि मोहकर्म के उदयवश यदि किसी आत्मार्थी मनःसंवर साधक का मन कामभोगो की अभिलाषा से उत्पन्न पापास्रव से घिर जाता है, किन्तु वह पापभीरु व्यक्ति किसी का सदुपदेश मिलने पर पुनः संवरधर्म में अपने मन को सुस्थिर कर लेता है। रथनेमि का चित्तरूपी वृक्ष विषयभोग दावानलजन्य संताप से संतप्त हो गया था, किन्तु वैराग्यरस की वर्षा करने वाले महासती राजीमती के वचन-मेघ से सींचे जाने पर शीघ्र ही संयम (संवर) रूपी अमृत के रसास्वादन से संवर में स्थिर हो गया।

मनःसंवर साधक के लिए स्वाध्याय, सदुपदेश अतीव सहायक

अतः सर्वोत्तम मनःसंवर साधक तो वह है, जिसका मन चाहे जैसी विकट एवं मोहक परिस्थिति में भी संवर से विचलित न हो, किन्तु वह भी मनःसंवर साधक पुरुषोत्तम कहलाता है, जो कदाचित् प्रमादवश मनःसंवर से स्खलित हो जाने पर भी सोच-समझकर संवर धर्म के नियमों-व्रतों में पुनः अपने मन को सुस्थिर कर लेता है।

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि जो मनःसंवर साधक सम्बुद्ध (सम्यग्दर्शन सम्पन्न) हैं, पण्डित (सम्यग्ज्ञान सम्पन्न) हैं तथा प्रविचक्षण (सम्यक्चारित्र

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण पृ. ३७

पालन में दक्ष) है, वे (मोहोदयवश) मन में कामभोगों की लहर आने पर भी स्वाध्याय, सदुपदेश या ज्ञानबल से, शुभ या शुद्ध भावों से पुनः संवर धर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, विषयभोगों से अपने मन को विरत (विरक्त) बना लेते हैं, जिस प्रकार पुरुषोत्तम रथनेमि ने अपने विचलित मन को पुनः संवर धर्म में सुस्थिर कर लिया था।[1]

सारांश यह है कि मनःसंवर के साधक को भी स्वाध्याय, महापुरुषों की अनुभवसिद्ध वाणी तथा तदनुसार साधना मनःसंवर के पथ पर स्थिर कर सकती है। ■

---

१. देखें–दशवैकालिक सूत्र अ. २, की गाथा नं. १५-१६ का विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर द्वारा प्रकाशित) पृ. ५४-५६

१४

मनःसंवर की साधना के विविध पहलू

मनः संवर की दुष्कर साधना भी सुकर हो सकती है

पूर्व-प्रकरण में उक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि मनःसंवर के विविध रूप और स्वरूप हैं। और चंचल, विक्षिप्त एवं मूढ़ मन को, तथा जन्म-जन्मान्तर से आस्रवों में रमे हुए मन के संस्कारों को सहसा बदलना, संवर में लगाना और संवरनिष्ठ बनाना अत्यन्त कठिन कार्य है। परन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्रशिक्षण और विवेक द्वारा, तदनुकूल वातावरण और अनुशासन के द्वारा तथा अधोगामी मन को ऊर्ध्वगामी बनाने हेतु विषयोन्मुखता से आत्मोत्थान की ओर मोड़ने से मनःसंवर की दुष्कर साधना भी सुकर और सुगम हो सकती है। चाहिए दृढ़ इच्छाशक्ति और सुखभोग की स्पृहा से विरक्ति।

सुखभोग की स्पृहा को कैसे संस्कारित करें, कैसे मोड़ें?

यह सत्य है कि सुख की स्पृहा स्वाभाविक होने से आम व्यक्ति के रक्त-मांस में यह इतनी गहराई तक घुली-मिली हुई है कि उसे निकालना बहुत ही कठिन है, तथापि यह सोचकर व्यक्ति को अपनी आन्तरिक अवस्था को जटिल और हीनता की भावना से ग्रस्त नहीं बना लेनी चाहिए कि हम बुरे हैं, इसलिए मनोनिग्रह हमारे बस की बात नहीं।

यदि व्यक्ति अनैतिक एवं मर्यादारहित तथा पापकर्मयुक्त इन्द्रियभोगों में लग जाता है तो अशुभ आस्रव के कारण पापकर्म का बन्धन दृढ़ हो जाता है और उसका आत्मिक विकास रुक जाता है। जो व्यक्ति उच्चतम आदर्शों से प्रेरित होकर सांसारिक एषणाओं का त्याग कर देते हैं, ऐसे इने-गिने लोगों को छोड़कर शेष लोगों के लिए सुखभोग की लालसा की सन्तुष्टि के बिना जीवन जीना ही दूभर हो जाता है। ऐसी स्थिति में सुखभोग की स्पृहा के रहते मनुष्य की मनःसंवर की साधना कैसे अग्रसर हो सकती है?

इसका समाधान गीता, भागवत एवं जैनागमों में यत्र-तत्र किया गया है। भोगासक्त या भोगलालसारत रहना तो किसी भी हालत में ठीक नहीं है। सुखभोग की या सुख की प्रेरणा को ऐसे लोग मर्यादित या संस्कारित करें, अपने (आत्मा के) यथार्थ

स्वरूप को पहचानें। सुख की प्रेरणा को विषयासक्ति की ओर मोड़ने के बजाय आत्मोत्थान की ओर मोड़ दें।[1]

जैन दृष्टि से मनःसंवर-साधना की दो कक्षाएँ

आवश्यकसूत्र एवं उपासकदशांगसूत्र में संयम साधना या संवर साधना की दो कक्षाएँ बताई गई हैं–देश-संयम और सर्वसंयम।

जो व्यक्ति पूर्णरूप से तीन करण-तीन योग से अहिंसादि संवर का पालन करने में असमर्थ हैं, उनके लिए (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के रूप में) देशसंयम (देशसंवर) का विधान है। उनके लिए परिग्रह का तथा उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं का मर्यादित एवं व्रतबद्ध होकर सेवन करने का विधान किया है। अर्थात्–उनके लिए मर्यादित इन्द्रिय-सुखों, शारीरिक-मानसिक सुखों का विधान है।

धनोपार्जन, व्यवसायकरण, या अमुक मनोरंजन के साधनों का उपभोग, अथवा खाद्य-पेय वस्तुओं तथा शरीर के लिए आवश्यक साधनों के उपयोग आदि सुखोपभोग सामग्री का सर्वथा निषेध उनके लिए नहीं किया।

किन्तु उन सामग्रियों के उपभोग में जहाँ त्रस प्राणियों का जानबूझकर वध किया जाना सम्भव है, स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का भी अतिमात्रा में वध होता हो, जिन वस्तुओं के सेवन से अनैतिकता, स्वच्छन्दता, अनाचारिता (आचारमर्यादा भंग) होती हो, जिन वस्तुओं के सेवन से जीवन में मद, प्रमाद, अजागृति, तथा बुद्धिभ्रष्टता उत्पन्न होती हो, जिससे दूसरे मनुष्यों के जीवन और जीविका को हानि पहुँचती हो, ऐसी वस्तुओं का तथा ऐसे अशुभ कर्मों का अत्यधिक आस्रव (कर्मागमन-कर्मादान) होता हो, ऐसे व्यवसायों का, सप्त कुव्यसनों का सर्वथा निषेध किया है। व्रतों में भी जहाँ दोष (अतिचार) की सम्भावना है, वहाँ सावधान किया है।[2]

विषयसुखों को आत्मिक सुखों में लगाने हेतु : गृहस्थ श्रावक के लिए चार शिक्षाव्रत

साथ ही उच्छृंखल मन और इन्द्रियों का निग्रह करने तथा उनको अपनी इच्छानुसार भगवद्भजन में, स्वाध्याय, ध्यान, प्रभु-प्रार्थना, स्तुति, भक्तिगीत आदि में लगाने का अभ्यास करने के लिए चार शिक्षाव्रतों (सामायिक, देशावकाशिक, प्रतिपूर्ण पौषध व्रत तथा यथासंविभागव्रत) का भी विधान किया है। जिससे ऐसे देशतः मनःसंवर

---

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. १४

२. (क) देखें–आवश्यकसूत्र, उपासकदशांग आदि आगमों में श्रमणों और श्रमणोपासकों के व्रत, नियम आदि का निधान

(ख) देखें–श्रावकधर्म-दर्शन (प्रवक्ता–उपाध्यायश्री पुष्करमुनिजी) में बारह व्रतों की व्याख्या।

के अभ्यासी जन विषयसुखों को आत्मिक सुखों–(आत्मानन्द अथवा परमात्मानन्द) में लगा सकें।[1]

मानसिक सुखोपभोग के समय आत्मसुखप्राप्ति की शक्ति सुरक्षित रहे

ऐसे श्रमणोपासक गृहस्थ के लिए व्रतों के पालन के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि सुख-साधनों का उपभोग करते समय इस बात का ध्यान रखो कि उनके उपभोग से तुम्हारा शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य नष्ट न हो जाए, तुम्हारा आत्मिक विकास रुके नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर प्रगति पर हो। शारीरिक सुखों का उपभोग भी इस प्रकार हो, जिससे धर्म-नीतियुक्त मानसिक सुखों के उपभोग की क्षमता तुममें बनी रहे, तथा मानसिक सुखों का उपभोग भी इस प्रकार करो कि आत्मिक सुखों को प्राप्त करने की तुम्हारी शक्ति सुरक्षित रहे। सुखोपभोग के पीछे इस प्रकार न पड़ो कि वह तुम्हारी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति को ही चौपट कर दे। जूआ, चोरी (डकैती, लूटपाट, तस्करी), मांसाहार, शिकार, मद्यपान, वेश्यागमन और परस्त्रीगमन, इन सात कुव्यसनों का सेवन करके मन पर संयम करना चाहे तो असम्भव है। इसलिए इन सप्त कुव्यसनों का त्याग मनःसंयम के लिए अनिवार्य बताया गया है।[2]

अर्थ और काम का सेवन भी धर्म-मर्यादा में हो

अर्थ (पदार्थों) और काम के सेवन के लिए भी धर्मनीति के नियमों की सीमा इसलिए निर्धारित की गई है कि मनोनिग्रहाभ्यासी मानव सर्वोच्च आत्मिक आनन्द के लिए अपने को सुरक्षित रख सके। वैसे जैनागमों और गीता में कामभोगों को तथा संस्पर्शज भोगों को दुःखों के बीज बताये हैं, वे क्षणमात्र के लिए सुखकारक भले ही हों, चिरकाल तक दुःख और संताप देने वाले हैं।[3]

मनोनिग्रह के लिए मन का उन्नयनीकरण

वैदिक दृष्टि से मनोनिग्रह के अभ्यासी के लिए उच्छृंखल ऐन्द्रिय सुखों की लालसा का त्याग करने का विधान किया, यानी उसे आत्मविकास के चौखटे में बिठाकर मन का उदात्तीकरण-उन्नयनीकरण करने का विधान किया गया है।

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें–श्रावक धर्म दर्शन (उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी) में चार शिक्षाव्रतों की व्याख्या

२. (क) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. १५, १६
(ख) Saying of Sri RamKrishna (श्री रामकृष्ण मठ , मद्रास) पृ. २४४-२४५

३. (क) ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। –गीता ५/२२
(ख) "खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा –उत्तराध्ययन

श्री रामकृष्ण परमहंस मन के उन्नयनीकरण के लिए कहते हैं–आनन्द तीन प्रकार के होते हैं–विषयानन्द, भजनानन्द और ब्रह्मानन्द। जिसमें अधिकांश लोग सदा लिप्त रहते हैं, जो कामिनी और कांचन का आनन्द है, उसे विषयानन्द कहते हैं। ईश्वर के नाम का गुणगान करने से जो आनन्द मिलता है, उसका नाम है–भजनानन्द और ईश्वर (परमशुद्ध) आत्मा के दर्शन में जो आनन्द मिलता है, उसका नाम है–ब्रह्मानन्द।

उन्नयनीकरण का सही अर्थ : आत्मसुखों की ओर आकर्षण व प्रस्थान

उन्नयनीकरण का अर्थ है–आनन्द के इन तीन स्तरों में से नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर में जाना। इस प्रकार मन का उन्नयनीकरण करने से सुखोपभोग की लालसा ब्रह्मानन्द में परिवर्तित हो जाएगी। विषयानन्द का आकर्षण तभी खत्म होता है, जब मनुष्य परमात्मा (अपनी शुद्ध आत्मा) में निहित अनन्त आनन्द और सुख की चरम सीमा देखने लगता है। जो आत्मिक या परमात्मिक आनन्द (सुख) में तल्लीन हो जाएगा, उसे सांसारिक सुखों में कोई आकर्षण मालूम नहीं होगा।

रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में–"जिसने एक बार मिश्री चख ली है, उसे मैली राब में भला कौन-सा सुख मिल सकता है? जो राजमहल में सो चुका है, उसे गंदी झुग्गी में सोने में क्या आनन्द मिलेगा? जिसने एक बार दिव्यानन्द (ब्रह्मानन्द) का रसास्वादन कर लिया है, उसे संसार के तुच्छ विषयभोगों में कोई रस नहीं मिलता।"[1]

उच्छृंखल कामसुख-लालसा मन:संवर में अत्यन्त बाधक

ऐसे लोगों को सुखोपभोग की लालसा से जूझते समय गलत ढंग से संघर्ष नहीं करना चाहिए। जैसे कि कई कलियुगी योगी या तथाकथित भगवान् कहते हैं–इन्द्रियों को विषयोपभोग से शान्त (समाधि) करने के लिए खुली छोड़ दो। इस प्रकार विषय-सुखों का आनन्द लूटने में मन का उदात्तीकरण नहीं, स्वच्छन्दीकरण है।

ऐसे लोग नैतिकता-अनैतिकता, मर्यादा-अमर्यादा का कोई विचार न करने का कहते हैं। राजस्थान में कुण्डापन्थ, कांचलियापंथ आदि इसी प्रकार के उच्छृंखल काम-सुख-लालसा के प्रतीक हैं।

सूत्रकृतांग सूत्र में भी मन में उत्पन्न कामपीड़ा की शान्ति के लिए इसी प्रकार के एक उच्छृंखल मत का उल्लेख किया गया है। परन्तु ऐसे स्वच्छन्दकामभोग-सेवन से मन की स्थिरता के बदले मन में कामाग्नि अधिकाधिक उद्दीप्त होती है।[2]

---

१. (क) म. कृत रामकृष्णवचनामृत भा. २, पृ. २०३-२०४
(ख) एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुअयस्स रागिणो।"–उत्तरा. ३२/१००

२. देखें–आ. रजनीश लिखित सम्भोग से समाधि, तथा तान्त्रिक परम्परा में पंचमकार का उल्लेख, एवं सेक्स साइकोलॉजी के प्रखर पुरस्कर्ता 'फ्रायड' के ग्रन्थों में मन के स्वच्छन्दीकरण का विवरण।

परन्तु जब तक मन को नियन्त्रित करने की दृढ़ श्रद्धा एवं इच्छा नहीं होगी, तब तक काम, क्रोध, मद, मत्सर, मोह आदि षड्रिपुओं से छुटकारा नहीं मिलेगा। ऐसी स्थिति में मनःसंवर की साधना धरी रह जाएगी, उलटे अशुभ आस्रवों और अनाचारों में प्रवृत्त होकर मनुष्य अपने मन को उन्मार्गगामी बना लेगा।[1]

सांसारिक सुख-कामनाओं को परमात्मभक्ति या मुक्ति की ओर मोड़ दो

जब तक सुखों की वासना की दिशा संसार और उसके विषयों की ओर होगी, तब तक मनःसंवर दिवास्वप्न ही रहेगा, उलटे वह विषय वासना शत्रुवत् ही सिद्ध होगी। किन्तु जब सांसारिक विषय-सुखों की कामना को परमात्मा या मुक्ति की ओर मोड़ दिया जाता है, तो वह मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ मित्र बन जाती है।

इस प्रकार जब वासनाएँ संस्कारित और पवित्र हो जाती हैं, तो वास्तव में वे वासनाएँ नहीं रह जातीं, वे आत्मभक्ति या परमात्मभक्ति का रूप ले लेती हैं। मनःसंवर का साधक जब क्रमशः आगे बढ़ जाता है, तब वह देह और आत्मा का भेदविज्ञान कर लेता है। फिर उसे शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव निर्जीव नाशवान पदार्थ तथा अविनाशी आत्मा और आत्मगुणों का स्पष्टतः पृथक-पृथक ज्ञान-भान हो जाता है; तब ये सांसारिक वासनाएँ स्वतः शान्त हो जाती हैं।[2]

धर्म-शुक्लध्यानमना साधक की इन बाह्य विषयों में रति अरति नहीं

'आचारांग' में बताया गया है कि "जिस साधक का मन शुद्ध आत्मा या परमात्मा के ध्यान रूप धर्म-शुक्ल ध्यान में रत है, जिसे आत्मध्यान में ही आत्मरति, आत्मतृप्ति, या आत्मा में सन्तुष्टि तथा आत्मानन्द-प्राप्ति हो चुकी है, उसे इन बाह्य (विषयों में) अरति या रति (आनन्द) से क्या मतलब है? अर्थात्–इष्ट वस्तु या विषय के प्राप्त न होने या वियोग होने से मन में होने वाली अरति तथा इष्ट वस्तु या विषय की प्राप्ति होने या अनिष्ट का वियोग होने से मन में होने वाली रति से उसे कोई वास्ता नहीं रहता। फिर आध्यात्मिक जीवन में भी वह रति (हर्ष) और अरति (शोक) के मूल राग और द्वेष का ग्रहण नहीं करता हुआ विचरण करता है।[3]

ऐसे साधक मन से न तो अतीत विषय-सुखों का स्मरण करते हैं, और न ही अनागत विषय-सुखों की स्पृहा या चिन्ता करते हैं। वे इन्द्रियों और मन से

---

१. मन और उसका निग्रह से, भावांश ग्रहण पृ. १८
२. वही, पृ. १८-१९
३. देखें–आचारांग सूत्र १/३/३ में "का अरती के आणंदे? एत्थ वि अग्गहे चरे।" का विवेचन पृ. १०८/११० (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर)

आवश्यकतानुसार स्व-मर्यादा में विषयों का ग्रहण-चिन्तन करते हैं, परन्तु उन विषयों में सुख की कल्पना, तथा प्राप्ति की स्पृहा नहीं करते।

इसी तथ्य का आचारांग में उद्घाटन किया है–'वीर मनःसंवर साधक संवर साधना में सेवा, तपस्या, स्वाध्याय, संयम तथा व्रत साधना आदि के प्रति होने वाली अरति (अरुचि, अनिच्छा) को सहन नहीं करता और न ही शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि मोहक विषयों के प्रति मन की रति (रुचि, प्रसन्नता या आकर्षण) को सहन करता है। वह इन दोनों में ही अविमनस्क (स्थिर-शान्तमना) रहकर इनमें आसक्त (आरक्त) नहीं होता, रति और अरति ये दोनों साधक के अन्तःकरण में छिपी हुई दुर्बलता हैं। अन्तर्मन में राग-द्वेष वृत्ति के गाढ़ तथा सूक्ष्म जमे हुए संस्कार ही उसे मोहक विषयों के प्रति आकृष्ट करते हैं तथा प्रतिकूल विषयों के सम्पर्क चंचल बना देते हैं।[1]

मनोनिग्रह में बाधक बातें

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मनःसंवर की साधना के लिए कुछ क्रियाओं, अभिरुचियों, रुचियों और विचारों की शुद्धि भी आवश्यक है। गलत रुचि और अरुचि, गलत कार्यों तथा अशुभ विचारों के कारण मनोनिग्रह की साधना असफल हो जाती है।

मनोनिग्रह के लिए निम्नोक्त बातें बाधक हैं–

(१) मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों या वस्तुओं के प्रति तीव्र रुचि–अरुचि, अथवा राग-द्वेष मनःसंवर में बाधक है। (२) अनैतिक, अशिष्ट, असभ्य एवं मर्यादाहीन जीवन बिताना भी मनःसंयम में बाधक है। (३) मादक वस्तुओं का, मांसाहार का सेवन करना, तथा जूआ आदि अन्य कुव्यसनों का सेवन भी मनोनिग्रह में बाधक है। (४) हमारी खाने-पीने, सोने-उठने, चलने-फिरने, बैठने-उठने आदि की चर्या तथा मनःसंवर की साधनानुरूप क्रिया अनियमित, असंयत, अयतनायुक्त तथा अव्यवस्थित होगी तो मनःसंवर नहीं कर सकेंगे। (५) दूसरों की हिंसा करने, चोरी-ठगी करने, परिग्रह वृद्धि करने या अमर्यादित संग्रह करने, असत्याचरण करने की मनोवृत्ति या इरादा रखने से, या दूसरों को जान-बूझकर हानि पहुँचाने या कष्ट देने अथवा परेशानी में डालने का मन ही मन षड्यंत्र रचने या इरादा बनाने से, अथवा रातदिन, चिन्ता, शोक, विलाप, रुदन आदि में मन को डुबाये रखने पर यानी रौद्रध्यान-आर्तध्यान होने पर मनःसंवर की साधना नहीं हो सकेगी। (६) व्यर्थ के वाद-विवाद में पड़ने से, दूसरों के छिद्र या दोष देखने-खोजने में तत्पर होने से, किसी की निन्दा-चुगली करने या दूसरों के सम्बन्ध में जानने के लिए अनावश्यक रूप से उत्सुक होने से मनःसंक्षोभ बढ़ेगा और ऐसे निरर्थक

---

१. णारतिं सहते वीरे, वीरे णो सहते रतिं। जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति।
–आचारांग १/२/६ सू. ९८ का विवेचन, पृ. ७५-७६

चिन्तन-मनन और बौद्धिक व्यायाम से बिखरते मन को एकाग्र और वश में करना शक्य नहीं होगा। (७) निरर्थक खोजों में शक्ति खर्च करने से, शरीर को निरर्थक यंत्रणा देने से, तथा आवेश या क्रोध में आकर उपवास, मौन या अन्य कोई गलत कार्य करने की योजना बनाने से भी मन वश में होना कठिन है। (८) अपने बलबूते और सामर्थ्य को न देखकर महत्वाकांक्षा करने से, दूसरों की सम्पत्ति, तरक्की या शक्ति देखकर मन ही मन ईर्ष्या करने से अथवा सम्प्रदायान्धता, धर्मान्धता, राष्ट्रान्धता, जातीय अन्धता के प्रवाह में बहने से मन को वश में करना सम्भव नहीं होगा। (९) मन में अपराध वृत्ति, अनैतिक कार्य या अनाचार की भावना, या कामवासना को पनपाने से, इन्हें हवा देते रहने से मनोनिग्रह सम्भव नहीं होगा। (१०) पूर्वकृत पापों के लिए पश्चात्ताप पूर्वक आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाने के बाद उन्हें मन में बार-बार स्मरण करके कुरेदते रहने से भी मनोनिरोध नहीं हो सकेगा।[1]

मनःसंवर मन की पवित्रता और शुद्धि पर निर्भर

मन का संयम या मनःसंवर उसकी पवित्रता, शुद्धि और निर्मलता पर निर्भर है। मन जितना ही निर्मल होगा, उतना ही उसे वश में करना आसान होगा। मन की निर्मलता के लिए नैतिकता, धर्म (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि धर्मों) का पालन आवश्यक है। मन की अशुद्धियों के कारणों को दूर किये बिना मन शुद्ध नहीं हो सकेगा। मनःशुद्धि की ओर ध्यान दिये बिना अथवा मन की अशुद्धियों को दूर किये बिना यदि कोई मनःसंवर के लिए प्रयत्नशील होगा, अथवा निश्चेष्ट होकर चुपचाप ध्यान में बैठ जाएगा, तो उसे मनःसंवर में सफलता नहीं मिल पाएगी।

यही कारण है कि जैनपरम्परा में सामायिक आदि की साधना में मन के अविवेक, यशकीर्तिलिप्सा, स्वार्थ और लाभलिप्सा, गर्व, भय, निदान आदि १० दोषों से बचने का संकेत किया है। ये सब मनःसंवर की साधना में मन की अशुद्धियाँ हैं। इसके अतिरिक्त मन की वासनाएँ, लालसाएँ, वृत्तियाँ, मोह, ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, क्रोध, मद, मान, लोभ, छल-कपट (माया), असन्तोष, काम, दम्भ, शंकाकुलता आदि के रूप में भी ये अशुद्धियाँ प्रकट होती हैं।[2] ये अशुद्धियाँ ही रागद्वेष को उत्पन्न करके मन में विक्षोभ पैदा करती हैं, जो मानसिक शान्ति को भंग कर देता है। ऐसी स्थिति में मन से आस्रव तो तीव्रगति से हो सकता है, परन्तु मनःसंवर नहीं।

---

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. ३५-३६

२. (क) सामायिक साधना में मन के १० दोष के लिए देखें आवश्यक सूत्र, सामायिक सूत्र (उपा. अमरमुनि) आदि में विवेचन।
(ख) मन और उसका निग्रह से भावांश ग्रहण पृ. ४३-४४

मन की शुद्धि के लिए आहारशुद्धि आवश्यक

मन की शुद्धि के लिए आहारशुद्धि आवश्यक है, क्योंकि आहार का मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा है–"आहार की शुद्धि होने पर अन्तःकरण (सत्त्व) की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल (ध्रुव) होती है। तथा (ऐसी निश्चल) स्मृति के प्राप्त होने पर (जैन परिभाषा में आत्मस्मृति सतत रहने पर तथा परभावों की स्मृति न आने पर) समस्त ग्रन्थियों से छुटकारा (विप्रमोक्ष) हो जाता है।"[1]

आहारशुद्धि का शंकराचार्यकृत तात्पर्यार्थ

शंकराचार्य के भाष्य के अनुसार यहाँ आहारशब्द का तात्पर्यार्थ बताया गया है–इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार–शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। अर्थात्–इन्द्रियों के द्वारा जो भी शब्दादि आहार ग्रहण किया जाए, राग, द्वेष, मोह आदि की छाप उस पर न लगी हो, विषय जिस रूप में है, उसी रूप में आवश्यकता होने पर ग्रहण किया जाए, किन्तु उस पर मनोज्ञ-अमनोज्ञ, प्रीतिकर-अप्रीतिकर, अच्छे-बुरे का भाव प्रस्तुत न किया जाए। तथा अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकाररूप) की शुद्धि का अर्थ है–राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से मुक्त शुद्ध अन्तःकरण का होना। इन्द्रियों द्वारा राग-द्वेषादि से युक्त विषयरूप आहार ग्रहण न किया जाए, जो अन्तःकरण को क्षुब्ध बनाकर उसे दुर्निग्रह बना डालता है।"[2]

भगवद्गीतानुसार त्रिविध गुणयुक्त आहार एवं उसकी व्याख्या

भगवद्गीता के अनुसार आहार का अर्थ है–खाद्य पेय वस्तु। जैनदृष्टि से भी आहार चतुर्विध है–अशन, पान, खादिम और स्वादिम। गीता में कहा गया है–राजस और तामस आहार आसक्ति (राग), द्वेष और मोह पैदा करता है, सात्त्विक आहार आसक्ति, द्वेष और मोह को कम करने में सहायक होता है। साधारणतया मुखद्वार से जो कुछ खाया या पीया जाता है, उसे आहार कहते हैं। मदिरा तथा नशीली चीजों एवं नशा लाने वाली दवाइयों का मन पर प्रभाव प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार तामसिक, बासी, सड़ा, या अत्यधिक आहार करने का प्रभाव भी सर्वविदित है। इसी प्रकार आँखों से देखे जाने वाले दृश्य का, कानों से सुने जाने वाले श्रव्य, नाक से सूँघे जाने वाले पदार्थ का, जीभ से चखे

---

१. (क) आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृति समावाप्तौ सर्व-ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। –छान्दोग्य उपनिषद् ७/२६/२

२. (क) मन और उसका निग्रह से भावांश ग्रहण पृ. ४५-४६
(ख) छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य ७/२६/२

जाने वाले भोज्य-पेय पदार्थों का तथा त्वचा से स्पर्श किये जाने वाले पदार्थ–(विषय) का मन पर अचूक प्रभाव पड़ता है।[1]

इसलिए मन:संवर के लिए द्विविध आहारशुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है।

मनोनिग्रह के लिए मन के स्वभाव को बदलना आवश्यक

मनोनियंत्रण के लिए व्यक्ति को अपने मन की बनावट (रचना) को बदलना होगा। अर्थात्–उसे अपने शारीरिक, मानसिक प्रकृति (स्वभाव) में परिवर्तन लाना होगा। मनुष्य का स्वभाव संकल्प, आदतों (Habits) और रुचियों से बनता है।

वेदान्त के अनुसार मन सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की विभिन्न मात्राओं के मेल से बनता है। इनमें से जिस गुण का आधिक्य या प्राबल्य होगा, उस गुण का वर्चस्व शेष दो गुणों पर पड़ेगा, तथा उस मनुष्य के स्वभाव में उस गुण की प्रधानता होगी। रजोगुण में विक्षेप शक्ति होती है, जो क्रियात्मक है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, द्वेष, अहंकार आदि सब मन के विकार रजोगुण के धर्म हैं, ये रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। तथा तमोगुण में आवरणशक्ति होती है, जिसके कारण व्यक्ति को वस्तुएँ अपने वास्तविक स्वरूप से अन्यथा दिखाई देती हैं। सत्त्वगुण की वृद्धि से ये दोनों गुण दब जाते हैं। शुद्ध सत्त्व गुण के धर्म हैं–मन:प्रसाद, स्वात्मानुभूति, परमशान्ति, तृप्ति, आनन्द और परमात्मनिष्ठा। परन्तु प्रायः सत्त्व गुण मिश्रित अवस्था में मिलता है। उसके साथ रज, तम का संयोग होने पर वह संसार का कारण बनता है।[2]

इसलिए सत्त्वगुण की वृद्धि के लिए मनोनिग्रह के अभ्यासी को प्रयत्न करना चाहिए।

भागवत में तीन गुणों की वृद्धि में कारणभूत १० बातों की समीक्षा और संक्षिप्त व्याख्या

श्रीमद्भागवत में बताया गया है, दस बातें तीनों गुणों की वृद्धि की कारण हैं–शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्र और संस्कार। आशय यह है कि इन दस बातों में से प्रत्येक के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक पहलू होते हैं। सात्त्विक पहलू पवित्रता, ज्ञानालोक और आनन्द की अभिवृद्धि करता है। राजसिक पहलू दु:खदायी प्रतिक्रिया को जन्म देने वाला तथा क्षणिक सुखदायी है। तामसिक पहलू अज्ञान, मूढ़ता तथा अधिकाधिक बन्धनकर्ता है। शास्त्रज्ञ महात्मा जिन की प्रशंसा करते

---

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) पृ. ४७

२. (क) मन और उसका निग्रह से भावांश ग्रहण, पृ. ४८/ ४९
(ख) विवेक चूड़ामणि (शंकराचार्य अनु. स्वामी माधवानन्द) (अद्वैत आश्रम कलकत्ता) श्लोक १११ से ११५ तक

हैं, वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं वे राजसिक हैं।

भागवत में उक्त श्लोक का मथितार्थ इस प्रकार है–शास्त्र वे ही पढ़ने चाहिए, जो परमात्मतत्त्व प्राप्ति का तथा कर्ममुक्ति का, बन्धनमुक्ति का पाठ पढ़ाते हैं। हानिकारक तामसिकता का या प्रवृत्ति प्रेरक चंचलता-उत्पादक राजसिकता का पाठ पढ़ाने वाले चौर्यशास्त्र, कामशास्त्र तथा लौकिक चातुर्य की प्रेरणा देने वाले ग्रन्थों का पठन-पाठन नहीं करना चाहिए। पवित्र सात्त्विक, (जैनविधि से प्रासुक, एषणीय) जल का व्यवहार करना चाहिए, बिना छने हुए, या सुगन्धित भांग आदि मिश्रित जल या मद्यजल का नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि सम्पन्न (सम्यग्दृष्टि वाले) लोगों के साथ ही मेलजोल या सम्पर्क, संग करना चाहिए, मिथ्या दृष्टि, अज्ञानी या दुष्ट दुर्जनों के साथ नहीं। आचारांग में भी बताया है–"बाल (अज्ञानी) जीवों के संग-संसर्ग से दूर रहो।" विविक्त पवित्र, एवं एकान्त स्थान में निवास हो, और नपुंसकों का या पशुओं का जहाँ जमघट हो, निवास हो, वहाँ नहीं। ध्यानाभ्यास के लिए सात्त्विक समय ब्राह्म मुहूर्त का है। निःस्वार्थ एवं सात्त्विक कर्म करने चाहिए, स्वार्थयुक्त एवं हानिकारक नहीं। धर्म के शुद्ध एवं हानिरहित रूपों को ग्रहण करना चाहिए, प्रदर्शनकारी, अशुद्ध एवं हानिकारक रूप त्याज्य समझने चाहिए। ध्यान आध्यात्मिक जीवन का विकास करने वाला ही करना चाहिए, विषय-भोगों का या रागद्वेषकारक नहीं। सात्त्विक एवं पवित्र मंत्रों का जाप करना चाहिए, तामसिक एवं राजसिक मंत्रों का नहीं। संस्कार वे ही प्राप्त करने चाहिए, जो धर्मवर्द्धक हों, सात्त्विक हों, तामस एवं राजस पापकारक या अधर्मवर्द्धक नहीं।[1]

उपर्युक्त दस बातों में मनःशुद्धि के लिए सत्त्व गुणयुक्त बातों का ही आश्रय लेना चाहिए।

अपूर्ण मनःशुद्धि के लिए भी दृढ़ इच्छा एवं श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास अनिवार्य

इस प्रकार का दीर्घकाल तक दृढ़ श्रद्धा, और प्रबल इच्छा के साथ अभ्यास करने से मनःसंवर का साधक अपने मन में सत्त्व की प्रधानता लाने तथा सत्त्वशुद्धि करने में समर्थ हो जाता है, तो समझ लेना चाहिए, मनःसंयम की लड़ाई में आधे से अधिक पर विजय प्राप्त कर ली; इसे पूर्णतया मनःसंवर नहीं समझना चाहिए। पूर्णतया मनःसंवर तो सत्त्वगुण को भी छोड़ने पर होता है। गीता में बताया है कि "प्रकृति" से उत्पन्न हुए ये

१. (क) श्रीमद्भागवत ११/१३/१-३
(ख) वही, श्रीधरटीका ११/१३
(ग) आगमोऽयः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च। ध्यानं मंत्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः।
–वही, ११/१३/४

तीनों (सत्त्व, रज और तम) गुण इस अविनाशी देही (जीवात्मा) को शरीर में जकड़कर बांध देते हैं। इन तीनों गुणों में से 'प्रकाश' करने वाला, निर्मल और विकार रहित सत्त्वगुण भी सुख की और ज्ञान की आसक्ति (ज्ञानाभिमान) से बांधता है।"

निष्कर्ष यह है कि पूर्ण मनःसंवर के लिए तो तीनों गुणों से परे जाना पड़ता है। स्वभाव में सत्त्वगुण की प्रधानता से शरीर और इससे सम्बद्ध वस्तुओं पर जो अध्यास (अज्ञान या मिथ्यात्व) है, उसे दूर किया जा सकता है। अनन्य भक्ति योग से तीनों गुणों का अतिक्रमण करने से व्यक्ति परब्रह्म तत्त्व से अभिन्नता प्राप्ति के योग्य हो जाता है। पूर्ण मनःसंवर प्राप्त होने पर मोक्ष के निकट पहुँच जाता है।[1]

मनःसंवर साधना में कतिपय सहायक कारण

मनःसंवर के लिए कतिपय सहायक कारण भी हैं, जिनसे मनोनिग्रह, मनोनिरोध एवं मनःस्थिरता में आसानी होती है।

मनोनिग्रह के ज्ञान-वैराग्य एवं अभ्यास में सरलतम सहायक : सत्संग

(१) सत्संग—मनोनिग्रह के लिए एक सरलतम उपाय है—सत्संग (साधु पुरुषों की संगति)। जैन दृष्टि से इसे पर्युपासना कह सकते हैं, जो धर्मश्रवण से प्रारम्भ होकर मुक्ति (सिद्धिगमन तथा संसारान्त) तक फलित होती है। स्थानांगसूत्र एवं भगवतीसूत्र में इसका विशद निरूपण मिलता है।

कई लोग अपनी प्रवृत्ति या परिस्थिति के कारण मनोनिग्रह या मनःसंवर पर इतनी बारीकी के साथ विचार नहीं कर पाते, और न ही सत्त्वगुणप्रधानता को स्वभाव में ला पाते हैं, फिर वे जिस वातावरण में रहते हैं, वह मनोनिग्रह साधना के अभ्यास के लिए अनुकूल नहीं होता। इस समस्या के हल के लिए सत्संग सबसे सरल उपाय है।

जब व्यक्ति किसी तत्त्वज्ञ एवं चारित्रवान् निःस्पृह साधु के दर्शन, श्रवण करता है, उनके मुख से पवित्र हितकर वचनामृत का पान करता है, उनके सान्निध्य में बैठकर पर्युपासना करता है तो उनकी पवित्रता के उत्तम शक्तिमान परमाणु उसके अन्तर् में प्रविष्ट होते हैं, जो उसके रजस्-तमस् उपादान में शीघ्र परिवर्तन ला देते हैं, उस समय के लिए सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, जिससे जैन परिभाषा में कहें पुण्यवृद्धि होती है, पापास्रव का क्षय या रूपान्तर हो जाता है। कदाचित्—उत्कृष्ट भावरस आए तो वह कर्मों के संवर एवं निर्जरा एवं मोक्ष का कारण भी बनता है। यह सत्संग अथवा स्वाध्याय (शास्त्र संग) जितनी अधिक मात्रा में होगा, उतना ही स्थायित्व सत्त्वगुण की प्रधानता में आएगा तथा कर्मों का संवर और क्षय भी होगा।

---

१. (क) 'मन और उसका निग्रह' से भावांश ग्रहण, पृ. ५५
(ख) भगवद्गीता अ. १४ श्लो. ५-६।

आद्य शंकराचार्य ने सत्संग का महत्त्व बताते हुए कहा है–

"क्षणमिह सज्जन-संगतिरेका, भवति भवार्णव-तरणे नौका।"

साधु-पुरुषों का एक क्षण का भी सत्संग, भव-सागर पार होने के लिए नौका स्वरूप है। ऐसी है, सत्संग की, साधु-उपासना की प्रबल शक्ति!

आन्तरिक सत्संग मनःसंवर में तत्काल सहायक

स्वामी विवेकानन्द ने इसी तथ्य का समर्थन करते हुए आन्तरिक सत्संग का भी महत्त्व बताया है–"बाह्य सत्संग की जैसी शक्ति बतलाई गई है, वैसी ही आन्तरिक सत्संग की भी है। (बाह्य-सत्संग के साथ-साथ) ॐकार का बार-बार जप करना और उसके अर्थ का मनन करना ही आन्तरिक सत्संग है। जप करो और उसके साथ उस शब्द के अर्थ का ध्यान करो। ऐसा करने से तुम स्वयं अनुभव करोगे कि हृदय में ज्ञानालोक आ रहा है, आत्मा (ज्ञानादि के प्रकाश से) प्रकाशित हो रही है। (आन्तरिक सत्संग में) ॐशब्द पर तो मनन करोगे ही, साथ ही उसके अर्थ पर भी मनन करो। कुसंग छोड़ दो, क्योंकि पुराने (अशुभ कर्म-संस्कारों के) घाव के चिह्न अभी भी तुममें बने हुए हैं। उन पर कुसंग की गर्मी लगने भर की देर है कि बस, वे फिर से ताजे हो उठेंगे। ठीक उसी प्रकार हम लोगों में जो उत्तम संस्कार हैं, वे भले ही अभी अव्यक्त हों, पर (बाह्य एवं आन्तरिक) सत्संग से वे पुनः जाग्रत-व्यक्त हो जाएँगे। संसार में सत्संग से पवित्र और कुछ नहीं है, क्योंकि सत्संग से ही वे शुभ संस्कार चित्तरूपी सरोवर के तल से ऊपरी सतह तक उठ आने के लिए उन्मुख होते हैं।[1] प्रणव (ॐ) जाप के अर्थसहित चिन्तनरूप आन्तरिक सत्संग से एकाग्रता प्राप्त होती है। उससे अन्तर्दृष्टि और आत्मनिरीक्षण का विकास होगा, तथा एकाग्रता में आने वाली विघ्नबाधाओं से मुक्ति मिलेगी।"

श्रद्धेय त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा-भक्ति मनःसंवर की साधना में सहायक

(२) परमात्मा, गुरु और सद्धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति मनःसंवर में सहायक– परमात्मा (अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा) गुरु एवं रत्नत्रयरूप सद्धर्म इन तीन तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा-भक्ति मनःसंवर की साधना को बहुत आसान बना देती है। इन तीनों के प्रति

---

१. (क) 'मन और उसका निग्रह' से भावांश ग्रहण, पृ. ५८

(ख) सत्संग के दूरगामी फल के लिए देखें यह पाठ–"तहारूवाणं भंते! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला पज्जुवासणा? (उ.) सवणाफला (प्र.) सवणे किं फले? (उ.) णाणफले।..... विण्णाणफले, पच्चक्खाणफले, संजमफले, अणण्हय (अनाम्रव–संवर) फले, तवफले, वोदाणफले, अकिरियफले, णिव्वाणफला। ..... णिव्वाणे किं फले? (उ.) "सिद्धि-गइ-गमण-पज्जवसाण फले समणाउसो!"

–स्थानांग सूत्र स्थान ३,उ. ३, सू. ४१८

(ग) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. १३५/१३६

(घ) "तज्जपस्तदर्थभावनम्।"–पातंजल योगसूत्र पाद १/२८ सू.

अनन्य एवं निष्काम भक्ति का अभ्यास किया जाए तो मनःसंवर में अचूक और प्रबल सहायता मिलती है। यद्यपि इन तीनों के प्रति अनुराग प्रशस्त राग है, फिर भी मनःसंयम की विघ्न-बाधाओं को दूर करने का आश्चर्यजनक कार्य इससे होता है।

परमात्मा के प्रति अनुराग (भक्ति) के विषय में श्री रामकृष्ण परमहंस के निम्नोक्त उद्‌गार मननीय हैं–"बाघ जैसे दूसरे पशुओं को खा जाता है, वैसे ही अनुराग रूपी बाघ काम-क्रोध आदि रिपुओं को खा जाता है। एक बार ईश्वर पर अनुराग होने से फिर काम-क्रोध आदि नहीं रह जाते। गोपियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी। श्रीकृष्ण पर उनका ऐसा ही अनुराग था।"

वस्तुतः काम-क्रोधादि अन्य रिपु जब दूर हो जाते हैं तो मन शुद्ध हो जाता है। शुद्ध मन सरलता से नियंत्रण में आ सकता है। पर जो व्यक्ति इन त्रिविध श्रद्धेय तत्त्वों के प्रति अविश्वासी हैं, उन्हें उसे वश में करने के लिए दीर्घकाल तक बहुत कठोर परिश्रम करना पड़ता है। जब तक वह संसारमार्गी अशुभ आस्रवों के उत्पादक विभावों या परभावों के प्रति विश्वास को नहीं छोड़ता, तब तक उसकी श्रद्धा उक्त श्रद्धेय त्रिपुटी के प्रति जमनी कठिन है।

मनःसंवर के साधक में जब पूर्वोक्त श्रद्धेय त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा-भक्ति का संवेग तीव्रता से बढ़ता है, तब स्वाभाविक है कि उसका मन उसी त्रिपुटी में रमता रहेगा, उसी पर केन्द्रित हो जाएगा, फलतः उक्त श्रद्धेय त्रिपुटी के सद्‌गुणों को आत्मसात् कर लेगा, जिससे मन प्रशान्त होगा, बुद्धि स्थिर होगी और वह पवित्रता की धारा में बहने लगेगा।

अतः प्रस्तुत त्रिपुटी के प्रति श्रद्धा भक्ति से अनायास ही मन पर नियंत्रण हो जाता है। इनकी अनन्य भक्ति के प्रभाव से मन विषयों से पराजित नहीं होता, मनःसंवर शीघ्र सध जाता है।[1]

मन का स्वामी बनने हेतु योगांगों का अभ्यास आवश्यक

(३) योगांगों का अभ्यास–अपने मन का स्वामी बनने के लिए साधक को यम और नियम का अभ्यास करना चाहिए; व्रतबद्ध एवं नियमबद्ध रहना चाहिए। यही आत्मानुशासन का यथार्थ मार्ग है। योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों को यम तथा शौच (बाह्याभ्यन्तर पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर-प्रणिधान आदि को 'नियम' कहा है।

जैनदृष्टि से इन पाँचों को तथा तीन गुप्ति, पंच समिति, दशविध उत्तम धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र को संवर का कारण बताया गया है।[2]

---

१. (क) 'मन और उसका निग्रह' से भावांश ग्रहण, पृ. ११९-१२०
(ख) 'म' कृत, श्री रामकृष्ण-वचनामृत भा. १, पंचम संस्करण पृ. २४३

२. (क) 'अहिंसा–सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।' 'शौच-सन्तोष-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" –पातंजल योगसूत्र पाद २, सू. ३०, ३२

मनःसंवर-साधना में सहायक चार भावनाएँ

(४) मैत्री आदि चार भावनाओं का अभ्यास–मैत्री, प्रमोद (मुदिता), कारुण्य और माध्यस्थ्य (उपेक्षा) इन चार भावनाओं के दृढ़ अभ्यास से मन क्षुब्ध एवं चंचल नहीं होता। ये चारों भावनाएँ मनःसंवर में सहायक हैं।

परहित-चिन्तन मैत्री है, दुःखी प्राणियों के प्रति सहानुभूति एवं अनुकम्पा की भावना करुणा है, गुणिजनों के गुणों को देखकर प्रसन्नता होना प्रमोद या मुदिता है और जो विपरीत आचार-विचार के, दुष्ट-दुर्जन एवं पापाचरण प्रवृत्त हैं, उनके प्रति उपेक्षा, या मध्यस्थता रखना माध्यस्थ्य भावना है।

दूसरों के सुख में स्वयं सुखानुभव करने से अनुकूल मानसिक वातावरण तैयार होता है, जिससे ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ आदि असद्वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं। दुःखियों के प्रति करुणा, सहानुभूति, सहृदयता, अनुकम्पा, दया या सेवा की भावना हृदय की संकीर्णता दूर करके विशाल बनाती है, तेरे-मेरे का भेदभाव, अहंता-ममता आदि असद्वृत्तियों को दूर करती हैं। गुणिजनों के प्रति प्रमुदितता अथवा शुभ के प्रति प्रसन्नता की भावना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके सद्गुणों तथा शुभत्व को अपने अंदर लेती है, आत्मसात् करती है। तथा विपरीत वृत्ति वाले या दुष्ट जनों के प्रति उपेक्षाभाव, तटस्थता या माध्यस्थ्य भाव रखने से तथा उनको सद्बुद्धि प्राप्त हो, ऐसी मंगल भावना रखने से तथा उनकी अशुभ संगति-प्रवृत्ति से दूर रहने से व्यक्ति का मन क्षुब्ध नहीं होता, वह मन को संयत-संतुलित रख सकता है।[1]

मनःसंवर के साधक का चित्त निर्मल रहता है। वह घृणा, ईर्ष्या, अहंकार, द्वेष, विषमता, संकीर्णता आदि से कलुषित नहीं होता।

मन की अशुभ से रक्षा करने हेतु विवेक का अभ्यास जरूरी

(५) विवेक का अभ्यास–उचित-अनुचित को जाने-समझे बिना आवेश या आवेगपूर्वक, देखादेखी, अन्धविश्वास या स्वार्थ, मोह, लोभ आदि से प्रेरित होकर मनुष्य कई ऐसे कार्य कर बैठते हैं, जिनका परिणाम प्रायः कटु आता है। अथवा अनुकूल भी आता है तो वह आसक्ति और ममता के बन्धन में डाल देता है। इस अविवेक से मन अत्यन्त क्षुब्ध हो जाता है।

(ख) तुलना करें–आस्रवनिरोधः संवरः।
स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः। –तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सू. १, २

१. (क) मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्॥
–पातंजलयोगसूत्र पाद १ सू. ३३

(ख) सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम् क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममाऽत्मा विदधातु देव! –सामायिक पाठ श्लो. १

(ग) 'मन और उसका निग्रह' से भावांश ग्रहण, पृ. ६४-६५

इसलिए मनःसंवर के साधक को हेय, ज्ञेय, उपादेय का, श्रेय और प्रेय का, उचित-अनुचित का, हित-अहित का, शुभ-अशुभ और शुद्ध का, स्व-पर कल्याण-अकल्याण का, तथा नित्यानित्य के विवेक करने का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। विवेक का अभ्यास आवेशपूर्ण, मूर्खता और मूढ़ता से भरी गलत, सावद्य क्रियाओं के परिणामस्वरूप होने वाली अशुभ आस्रव एवं बन्ध के फल से उपजने वाली मानसिक अशान्ति से मन की रक्षा करेगा तथा आत्मविकास में सहायक होगा। क्योंकि विवेक का अभ्यास आत्म-निरीक्षण के साथ ही चल सकता है।[1]

मनोनिग्रह हेतु मन को शुद्ध एवं उचित प्रवृत्ति में केन्द्रित करना

(६) मन को उचित वर्तन का अभ्यास कराओ–मनोनिग्रह या मनःसंवर के लिए मन को साधने हेतु विषयों से खींचकर एक विचार में केन्द्रित होने का अभ्यास कराया जाए। मन मानो एक उच्छृंखल घोड़ा है, उसे सर्कस के घोड़े, हाथी आदि पशु की तरह बार-बार अपनी मनोनीत प्रवृत्ति में साध कर करतब प्रदर्शन सिखलाने चाहिए। इच्छाशक्ति द्वारा चंचल मन को संयत करके उसकी अनुचित प्रवृत्ति को रोककर उचित और शुद्ध प्रवृत्ति में केन्द्रित करना चाहिए। यह शुद्ध प्रवृत्ति शुद्ध आत्मा या परमात्मा के गुणों का चिन्तन है।[2]

मन को अपने से पृथक् समझने का अभ्यास करना मनःसंवर में सहायक

(७) मन को अपने से अलग समझने का अभ्यास करो–स्वामी विवेकानन्द ने बताया कि चुपचाप बैठकर कुछ क्षण के लिए मन को जहाँ जाए, वहाँ जाने देना। फिर दृढ़तापूर्वक चिन्तन करना–"मैं (आत्मा) मन से भिन्न हूँ। मन को विभिन्न विचारों में विचरण करते हुए देखने वाला द्रष्टा व साक्षी हूँ।"

इसके पश्चात् दृढ़तापूर्वक ऐसी संकल्पना करो कि "मन मेरे से बिलकुल भिन्न-पृथक् है। मैं ईश्वर (परमात्मा) से अभिन्न हूँ।"

इसके पश्चात् दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन करो–"मैं मन नहीं हूँ। मैं देखता हूँ कि मैं सोच रहा हूँ। मैं अपने मन तथा अपनी क्रिया का अवलोकन कर रहा हूँ।"

इस चिन्तन से प्रतिदिन मन और भावना से अपने को अभिन्न समझने का भाव कम होता जाएगा। यहाँ तक कि तुम अपने मन को बिलकुल अलग कर सकोगे, और वास्तव में इसे स्वयं से भिन्न जान सकोगे।

"इतनी सफलता प्राप्त कर लेने के बाद मन तुम्हारा दास हो जाएगा और तुम उस

---

१. मन और उसका निग्रह से भावांश ग्रहण, पृ. ६८

२. वही, पृ. ७०

पर इच्छानुसार अनुशासन कर सकोगे। योगी की प्रथम स्थिति है–इन्द्रियों से परे हो जाना, और सर्वोच्च स्थिति है–मन पर विजय प्राप्त कर लेना।"[1]

मनोविजय के लिए किये हुए इस अभ्यास से लाभ

"ऐसा अभ्यास प्रारम्भ करते ही एक बार तो कितने ही प्रकार के भयंकर, घिनौने विचार मन में उठेंगे। मन की चंचलता बढ़ती सी मालूम होगी। किन्तु स्वयं से मन को अलग रखने का जितना अधिक अभ्यास किया जाएगा, उतना ही शीघ्र मनोविजय कर सकेंगे। फिर मन के वे मनोहर खेल भी उतने ही कम होते जाएँगे। धीरे-धीरे मन की चपलता साधक की अध्यवसायशीलता एवं सजगता के फलस्वरूप शक्तिहीन होती जाएगी। और अन्त में मन सर्कस के घोड़े के समान सध जाएगा। वह अनुशासित रहता हुआ शक्तिशाली बना रहेगा।"[2]

कुछ समय तक प्रतिदिन समय निश्चित करके नियमित रूप से यह अभ्यास करना चाहिए, ताकि मन उचित कार्य करना सीख जाए।

प्राणायाम का अभ्यास : मनःस्थिरता में सहायक

(८) प्राणायाम का अभ्यास–जब जल्दी-जल्दी सांस लेते हैं, या अनियमित रूप से श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, तब मन विक्षिप्त अवस्था में होता है। मन को शान्त करने का एक उपाय है–श्वास-प्रश्वास को संयत-संवृत करना। गहरे श्वास-प्रश्वास का अभ्यास भी मनःस्थिरता में सहायक होता है।"[3]

मन को बाह्य विषयों से हटाकर लक्ष्य में स्थिर करने हेतु प्रत्याहार का अभ्यास

(९) प्रत्याहार का अभ्यास–बहुधा सामान्य व्यक्ति का मन बार-बार मनमाने विषयों में केन्द्रित करने को विवश हो जाता है। बाह्य विषयों में खिंचकर मन बरबस उनमें लग जाता है। इस प्रकार मनुष्य प्रलोभितकारी विषयों के दास बन जाते हैं। बाहरी चीजें उनके मन पर बलात् आक्रमण करती हैं। अतः ऐसा न हो और बाह्य विषयों में भटकता हुआ मन वश में हो जाए, इसका एक उपाय है–प्रत्याहार।

वस्तुतः इन्द्रियों और इन्द्रियविषयों को जोड़ने वाली बीच की कड़ी मन है। जब मन को इन्द्रियविषयों से हटा लिया जाता है, तो इन्द्रियाँ भी अपने विषयों से हट जाती हैं। वे भी मन का अनुवर्तन (नकल) करती हैं। इसे ही प्रत्याहार कहते हैं।

जैसे–रानी मधुमक्खी को उड़ाते ही अन्य सब मधुमक्खियाँ उड़ जाती हैं और

---

१. (क) वही, पृ. ७१
(ख) विवेकानन्द साहित्य खण्ड ४, पृ. ९०-९१।
२. मन और उसका निग्रह पृ. ७२
३. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. ७४

उसके बैठने पर वे भी बैठ जाती हैं। ठीक इसी प्रकार मन के नियंत्रण में आ जाने पर इन्द्रियाँ भी नियंत्रित हो जाती हैं। प्रत्याहार का अभ्यास इच्छाशक्ति को विकसित करता है। उससे मन पर नियंत्रण सहज हो जाता है।[1]

इसी को जैन परिभाषा में प्रतिसंलीनता कहा जा सकता है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है स्त्रियाँ ही नहीं, स्त्रियों के चित्रों से चित्रित दीवार हो अथवा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित नारी हो, साधक टकटकी लगाकर न देखे। कदाचित् किसी नारी पर दृष्टि पड़ जाए तो वह तुरन्त उसी तरह वहाँ से दृष्टि हटा ले, जिस तरह मध्याह्नकालीन तेजस्वी सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि हटा ली जाती है। ठीक, इसी प्रकार जिस विषय पर आँख, कान आदि इन्द्रियाँ पड़ें कि साधक सावधान होकर तुरन्त वहाँ से उस इन्द्रिय को हटा ले, इसका नाम भी प्रत्याहार है। अपनी इन्द्रियों को विषयों में प्रतिष्ठित न होने दे। यह कार्य मन का है। मन ही विषयों में जाती हुई इन्द्रियों को तुरन्त रोक सकता है। इसे दशवैकालिक में 'प्रतिसमाहार' कहा है।[2]

अशुभ में जाते हुए मन को प्रतिपक्षी शुभ भावों में मोड़ना भी मनोनिग्रह का उपाय

(१०) तात्कालिक शुभ विचारों में मन को मोड़ने का अभ्यास भी मनोनिग्रह या मनःसंवर का उपाय है। यह भी प्रत्याहार का एक प्रकार है। पूर्वोक्त मूलभूत साधनाओं का अभ्यास करते हुए भी यदि मन नियंत्रण से बाहर होने लगे, अथवा प्रबल विपरीत शक्तियाँ, विचार, संवेग, प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ मन पर हावी होकर उसे शुभप्रवृत्ति से हटाने लगें तो ऐसी संकटपूर्ण अवस्थाओं में दमकल के समान अहर्निश ऐसी आपात-कालीन स्थिति (इमर्जेन्सी) में मन को नियंत्रण के लिए तैयार रखना चाहिए। पातंजल योगदर्शन में इसे 'विपरीतभावन' कहते हैं, जो मनोजय में बाधक वितर्क (हिंसादि विचार) आते ही तुरन्त मनोभाव को उसके प्रतिपक्षी विचार में जोड़ देना चाहिए।

उदाहरणार्थ तुम्हारे मन में क्रोध की बड़ी लहर उठ रही है, जो केवल तुम्हारी मनःशक्ति को ही भंग नहीं करेगी, बल्कि तुम्हारे तन मन के स्वास्थ्य को भी अत्यधिक क्षति पहुँचाएगी, यह देखकर तुम तुरन्त उसके विपरीत क्षमा की, उपशम (शान्ति) की या शुद्ध प्रेम की लहर उठा देते हो तो वह क्रोध की लहर तुरन्त शान्त हो जाती है।[3] किन्तु वे विपरीत विचार अशुभ विचारों के उठने के प्रारम्भ में ही उठा देने चाहिए; अन्यथा जड़ जमा लेने पर फिर उन्हें उखाड़ना कठिन हो जाएगा।

---

१. (क) वही, पृ. ७४-७५
   (ख) विवेकानन्द साहित्य खण्ड १ पृ. ८३
२. (क) देखें, प्रतिसंलीनता का स्वरूप नवतत्त्व प्रकरण, उत्तराध्ययन टीका आदि में।
३. (क) मन और उसका निग्रह से सारांश पृ. ८९-९०
   (ख) वितर्क-बाधने प्रतिपक्ष भावनम्। —योगदर्शन पाद २ सू. ३३

जैसे–एक ऐसी अवस्था हो, जब तुम्हारे मन में क्रोध बुलबुले का आकार का हो, यानी जब सर्वप्रथम क्रोधादि के बुलबुलों का उठना शुरू हो, तभी विपरीत (शुभ) विचारों को उठाना चाहिए। अपने विचारों और संवेगों पर हर समय पहरेदारी तुम्हें रखनी पड़ेगी, तभी आस्रवों की ओर जाते हुए मन को उसके विरोधी संवर के भावों में लगा सकोगे।

मानलो, तुम प्रारम्भ में क्रोध, कामवासना आदि के उठते हुए बुलबुलों को नहीं देख पाए और जब लहरें काफी ऊपर उठ चुकी हों, तभी तुम्हारा ध्यान जाए तो ऐसी स्थिति में अपने आपको बलात् उस स्थान एवं दुर्भाव से विलग कर लेना चाहिए और एकान्त स्थान में जाकर मन का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। मन को अधिकार युक्त वाणी में कहना चाहिए–"अरे मन ! यह विपरीत विचार तेरा सर्वनाश कर डालेगा, तेरी अब तक की की हुई साधना को चौपट कर देगा। क्या तू इतना भी नहीं देख पाता ?" इस प्रकार यदि तुम मन पर ऐसे भाव को बलपूर्वक अंकित कर दोगे तो वह उचित वर्तन करने लेगा।[1]

एक शिष्य ने स्वामी ब्रह्मानन्द से पूछा–"यदि मन में विक्षेप लाने वाला कोई विचार बार-बार उठे तो क्या करना चाहिए ?"

इसका उत्तर उन्होंने यह दिया कि "अपने मन पर इस भाव को बार-बार अंकित करते रहो–"यह विचार मेरे लिए अत्यन्त हानिकारक है। यह मेरा सर्वनाश कर डालेगा।" ऐसा करने से मन विक्षेपकारक विचारों से मुक्त हो जाएगा। मन सुझावों को ग्रहण करता है। जो कुछ उसे सिखाओगे, वह सीख लेगा।"[2]

अगर मन विषयों की ओर प्रबल वेग से दौड़ रहा हो, हमें भी बहाए ले जा रहा हो, उस समय मन पर सामने से आक्रमण या विरोध करने पर तो वह अत्यधिक चंचल हो उठता है, ऐसी दशा में हमें स्वयं को मन से एकरूप समझना बन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार अपने मन को विपरीत भावों से मोड़ कर शुद्ध या फिर शुभ भावों की ओर मोड़ सकेंगे। यही विचार-संयम या मनःसंवर का प्रभावशाली सशक्त उपाय है। मनःसंवर साधक जब तक मन को अपने से अभिन्न (एकरूप) समझेगा, तब तक मनःसंवर नहीं कर सकेगा।[3]

मनोनिग्रह के लिए मन में दुर्भावना के बदले सद्भावना का अभ्यास सहायक

(११) मनोनिग्रह में दुर्भावनाओं, शिकायतों और गलत आवेगों से मन को बचाना आवश्यक–जो अपने मन को वश में करना चाहते हैं, उन्हें अपने मानवीय

१. 'मन और उसका निग्रह' से भावांश ग्रहण, पृ. ९०-९१
२. The Eternal Companion : Spiritual Teachings of Swami Brahmananda, P. 166 (ले. स्वामी प्रभवानन्द, रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९४५)
३. 'मन और उसका निग्रह' से भावांश ग्रहण पृ. ९१

सम्बन्धों को अपना कर्तव्य पालन करते हुए मन को क्षमा, उदारता, अनासक्ति, नम्रता और निःस्पृहता के अभ्यास से युक्त बनाना चाहिए। किसी के प्रति मन में दुर्भावनाओं, शिकायतों, घृणा, विरोधभावना तथा गलत आवेग और आवेश का संचय न करे। अन्यथा, ऐसी दुर्भावनाओं से मन फट या टूट जाता है, फिर उसे वश में करना कठिन होता है।

अमेरिकन मैगज़ीन के अक्टूबर १९४७ में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें एक क्लिनिक में इस प्रकार के हताश और टूटे दिल वालों के उपचार की सच्ची घटना छपी थी। संक्षेप में घटना इस प्रकार है–एक चौंतीस वर्षीय महिला, जो उम्र में पचास की दीख रही थी, इस क्लिनिक में उपचार के लिए आई। वह महीनों से अनिद्रा, स्नायुदौर्बल्य और क्रॉनिक थकान की शिकार थी। बहुत से चिकित्सकों के पास गई, पर कोई लाभ न हुआ। चर्चों में जाकर प्रार्थना भी की, फिर भी सफलता न मिली। अन्त में, हताश होकर आत्महत्या करने का विचार किया।

उससे पहले इस क्लिनिक के मनोचिकित्सकों से सलाह लेने आई। उन्होंने गहराई से जाँच करके उसके रोग का यथार्थ कारण खोज लिया। वह अपनी बहन के प्रति प्रबल क्रोध और घृणा के भावों से भरी थी; क्योंकि उसने उस व्यक्ति के साथ शादी कर ली थी, जिससे वह स्वयं शादी करना चाहती थी।[1]

ऊपरी तौर पर वह अपनी उक्त बहन के प्रति सहृदय प्रतीत होती थी, परन्तु उसके अवचेतन मन की गहराइयों में अपनी बहन के प्रति प्रबल घृणा और रोष का भाव भरा था, जिसके कारण उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पूरी तरह बिगड़ गया था।

एक पादरी ने इस क्लिनिक के माध्यम से उसकी मानसचिकित्सा शुरू की। उसने उससे प्रतिदिन भगवान् से इस प्रकार की प्रार्थना करने का परामर्श दिया–"प्रभो ! मुझे ऐसी शक्ति दे, जिससे मैं अपनी बहन को हृदय से क्षमा और सहृदयता प्रदान कर सकूँ।"

उक्त महिला ने प्रभु की बृहत्तर शक्ति में विश्वास करके प्रार्थना की; जिससे वह अपने मन को क्षमाशील, उदार और घृणा भाव से रहित, स्नेह-सौजन्य से परिपूर्ण बनाने में सफल हुई। इसके फलस्वरूप उसकी हताशा, स्नायुदुर्बलता और अनिद्रा आदि रोग एकदम मिट गए। उसे नया जीवन प्राप्त हुआ। वह पहले से अधिक सुखी, उदार और मन को संयत करने में सफल हुई।[2]

---

१. स्वामी यतीश्वरानन्द कृत Adventures in Religious Life (रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९५९) पृ. १५९-१६०

२. वही, पृ. १५९-१६०

सचमुच, मन का उपयोग उच्चतर उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करते रहने से उसे संवृत करने, संयमित करने में बहुत शीघ्र सफलता मिलती है।

मनःसंवर का साधक प्रतिक्षण मन की वृत्ति-प्रवृत्तियों से सतर्क रहे

(१२) चंचल मन की प्रतिक्षण सतर्क होकर रक्षा करने का अभ्यास करो–मन की अस्थिरता और चंचलता के अनेक कारणों में से एक कारण है–गलत विचार या ऊटपटांग विचार करना। मन को स्थिर करने के लिए मनःसंवर साधक को प्रतिक्षण अपने मन की चौकसी करने का अभ्यास करना चाहिए।

तथागत बुद्ध ने इस सम्बन्ध में सुन्दर उपदेश दिया है–"जैसे इषुकार (बाण बनाने वाला) अपने बाण को सीधा करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष को अपने नित्य विचलनशील एवं चंचल मन को सीधा करना चाहिए, जिसकी रक्षा करना कठिन है, तथा जिसका निवारण अत्यन्त कठिनाई से होता है।" "मन बहुत ही चतुर है, यथेच्छ भागदौड़ करता है तथा जिसे देख पाना कठिन है, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह अपने (चित्त) मन की सुरक्षा करे। सुरक्षित मन (चित्त) सुखवर्द्धक होता है।"[1]

मनःसंवर के साधक का लक्षण उन्होंने दिया है–जिसका चित्त बिखरा हुआ नहीं है, जिसका मन विक्षोभ से रहित है। जिसका अन्तःकरण पुण्य और पाप दोनों का चिन्तन नहीं करता, ऐसे जागरूक (मनःसंवरसाधक) व्यक्ति को भय नहीं होता।"[2]

मन को परमात्मा या शुद्ध आत्मा की ओर मोड़ने का अभ्यास,मनः संवर साधक

(१३) मन को शुद्ध आत्मा या परमात्मा की ओर मोड़ने का अभ्यास करो–संसार में सभी माता-पिता बचपन से ही अपने बालकों को यही शिक्षा देते हैं–अच्छे बनो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, इत्यादि। किन्तु वे प्रायः यह नहीं सिखाते कि झूठ क्यों न बोला जाए ? चोरी क्यों न की जाए ? अथवा झूठ बोलने और चोरी करने से कैसे बचें ? अगर उन बालकों को मनःसंयम का उपाय सिखाया जाए तो वह सच्चे माने में उक्त नैतिक धार्मिक शिक्षाओं को प्राप्त करके सत्यवादी, धार्मिक और नैतिक बन सकते हैं।

अगर मन अपने वश में हो जाए तो मनुष्य कदापि अनुचित एवं अशुभ कर्म करने को तैयार नहीं होता। वस्तुतः मन जब तक इन्द्रिय नामक विभिन्न स्नायु केन्द्रों में संलग्न रहता है, तब तक उससे बाह्य और आन्तरिक कर्म होते रहते हैं। कर्मों के आम्रवों के ज्वार को रोकना है तो मनःसंवरसाधक विषयों का अनुभव करने वाली भिन्न-भिन्न

---

१. फंदनं चपलं चित्तं, दुरुवरक्खं दुन्निवारयं । उजुं करोति मेधावी उसेकारो'व ते जनं ॥
सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थ कामनिपातनं। चित्तं रक्खेथ मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥

२. अनवस्सुत-चित्तस्स अनन्वाहतचेतसो। पुञ्ञ पाप पहीनस्स नत्थि जागरतो भयं ॥

–धम्मपद ३३, ३६, ३९

इन्द्रियों के साथ अपने को संयुक्त नहीं करेगा। ऐसा होने पर सब प्रकार की भावनाएँ और इच्छाएँ मनःसंवर साधक के वश में हो जाएँगी।

किन्तु यह कैसे हो ? इस सम्बन्ध में स्वामी ब्रह्मानन्द का अपने शिष्य के साथ संवाद मननीय एवं अभ्यसनीय है–"नियमित अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे मन को परमात्मा (शुद्ध आत्मा) में केन्द्रित करना चाहिए। मन पर तीक्ष्ण दृष्टि रखो ताकि उसमें कोई विक्षेप या अवांछनीय विचार न पैदा हो जाएँ। जब भी ऐसे विचार तुम्हारे मन में घुसने का प्रयत्न करें तभी (एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना) मन को परमात्मा की ओर मोड़ दो और हृदय से उन्हें प्रार्थना करो। ऐसे अभ्यास के द्वारा मन वश में हो जाता है और शुद्ध भी।[1]

आपातकाल में मनोविजय के व्यावहारिक उपाय

(१४) प्रलोभनकारी कामभोगादि के विचारों पर मनोविजय के कतिपय व्यावहारिक सुझाव–उत्तराध्ययन में कहा गया है–"कई बार मनःसंवर के साधक के समक्ष अनेक प्रकार के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श (जिन्हें जैनागमों और गीता में 'स्पर्श' कहा गया है) असमंजस (अव्यवस्था या विघ्न-बाधा) उत्पन्न करके पीड़ित-व्यथित करते हैं, उस समय साधक उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।"

इन्द्रिय विषयों या कामभोगों के मन्द (अनुकूल) स्पर्श भी बहुत लुभावने होते हैं। मनःसंवर साधक तथाप्रकार के (अनुकूल) स्पर्शों में मन को संलग्न न करे। किन्तु (आत्मरक्षक साधक) क्रोध, मान, मद, माया, और लोभ, राग-द्वेष या काम, मोह आदि किसी भी प्रकार का प्रलोभन अकस्मात् उपस्थित होने पर एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना तत्काल वहाँ से मन को हटा ले।

आध्यात्मिक जगत् की यह आपात्कालिक स्थिति है। मनःसंवर साधक ऐसी स्थिति में क्रोध से स्वयं को बचाए अर्थात् उपशम (शान्ति) से क्रोध को जीते। मान (अहंकार) को हटाए। अर्थात् मान को मृदुता (नम्रता-निरभिमानता) से जीते। तथा माया (छल-कपट, कुटिलता आदि) का सेवन न करे। अर्थात् माया (ठगी, कुटिलता आदि) को परम सरलता (काया, भाषा एवं मन की अविसंवादिता) से जीते। और लोभ का परित्याग करे। अर्थात् लोभ पर सन्तोष से विजय पाए।[2]

---

१. (क) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १ पृ. ८३ से भावांश ग्रहण
(ख) The Eternal Companion : Spiritual Teachings of Swami Brahmananda, (रामकृष्ण मठ, मद्रास १९४५) पृ. १९७

२. (क) मंदा य फासा बहुलोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं, मायं न सेवे, पयहेज्ज लोहं ॥
फासाफुसंती असमंजसं च, न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥
–उत्तराध्यन अ. ४ गा. १२, ११
(ख) ये हि संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनय एव ते । –गीता अ. ५ श्लो. २२

साधक मन से भी उनको प्राप्त करने के लिए प्रार्थना (अभिलाषा) न करे। आशय यह है कि काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, राग (मोह), द्वेष, ईर्ष्या अथवा इसी प्रकार के अन्य प्रलोभनकारी गलत, अनर्थकर विचार मन में उपस्थित होने पर तत्काल उन्हें खदेड़ने का प्रयास करे।

प्रलोभनकारी आस्रवयुक्त विचारों का सामना कैसे करे ?

कई बार ऐसे आस्रवकारी प्रलोभनपूर्ण विचार पूर्वसंस्कारवश मनःसंवर के साधक के अन्तर् में सहसा घुसकर खलबली मचा देते हैं। साधक भी परिपक्व न होने के कारण ऐसे प्रलोभनकारी विचारों के जाल में फँस जाता है, ऐसे समय में वह साधक क्या करे ? कैसे उनका सामना करके मनःसंवर में पुनः सुस्थित हो ? इसके लिए एक पाश्चात्य सन्त सेंट फ्रांसिस डी. सेल्स के कुछ व्यावहारिक सुझाव ऐसी आपातकालिक अवस्था में यथोचित परिवर्तन परिवर्द्धन के साथ सहायक सिद्ध होंगे। इनका अभ्यास मनःसंवर के अपरिपक्व साधक के लिए बहुत ही उपयोगी है।[1]

(१) गाँवों में बच्चे जब भालू या भेड़िया देख लेते हैं, तो झट भाग कर माता या पिता की बांहों में समा जाते हैं, या फिर वे सहायता एवं रक्षा के लिए उन्हें जोरों से पुकारते हैं। ठीक इसी प्रकार तुम भी परमात्मा की ओर अभिमुख होकर उनकी कृपा एवं सहायता की प्रार्थना (याचना) करो।

जैसे कि जैनपरम्परा में चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) के पाठ में स्वस्थ बोधिलाभ, उत्तमसमाधि एवं सिद्धि प्रदान करने की तथा शक्रस्तव (नमोत्थुणं) के पाठ में 'चक्खुदयाणं मग्गदयाणं' आदि विविध विशेषणों द्वारा परमात्मा की स्तुति एवं प्रार्थना की है। इसी प्रकार प्रार्थना करो, ताकि प्रलोभन, तुम्हारे मन में प्रवेश न कर सकें या टिक न सकें।

(२) प्रलोभन के आने पर विरोध प्रदर्शित करते हुए घोषणा करो–"मैं कभी उसके फेर में नहीं पड़ूँगा।" प्रलोभन के विरोध में ईश्वर से सहायता माँगो। तथा यह भी घोषणा करते रहो–'जब तक यह प्रलोभन मन पर सवार रहेगा, तब तक मैं तुम्हारी कुछ भी न सुनूँगा।'

(३) घोषणा करते तथा प्रलोभन की माँग का अस्वीकार करते समय प्रलोभन की ओर बिलकुल देखो-सोचो मत, अन्यथा, बलवान् प्रलोभन तुम्हें डिगा सकता है। इसलिए एकमात्र प्रभु पर मनोनेत्रों को टिकाए रखो।

---

१. Introduction to the Devout Life (Saint Francis D, Sales) P. 240-241 (प्रकाशक : डबल डे एण्ड कम्पनी, गार्डनसिटी, न्यूयार्क १९६२)

(४) अपने मनोभावों को किसी अच्छी और प्रशंसनीय बात की ओर मोड़ दो। अच्छे विचार मन में प्रचुर मात्रा में घुसने पर वे प्रलोभनकारी अशुभ विचारों को बाहर खदेड़ देंगे।

(५) जिन पर तुम्हारी गुरुवत् श्रद्धा हो, उनके समक्ष अपने हृदय को खोल दो। मन में जो भी प्रलोभनकारी दुर्भावनाएँ या असद् विचारों की लहरें उठती हों, उन सबको उनके सामने खोल दो, और वे जो भी सुझाव, परामर्श या प्रायश्चित्त दें, तदनुसार अभ्यास करो।

(६) इन सबके बावजूद भी (कामादि के) प्रलोभन बने ही रहें या सताते ही रहें; तो कुछ न करके, उनके विरोध में आवाज बुलन्द करते रहो। लगातार इन्कार करते रहने पर प्रलोभन भी किसी प्रकार का पापकर्म नहीं कर पाएँगे। जैसे जब तक कुमारिकाएँ ना कहती रहती हैं, तब तक उनका विवाह नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार जब तक तुम्हारा मन भी ना कहता रहेगा, तब तक वह किसी प्रकार का पाप (विकार) नहीं कर सकता है। हाँ, प्रलोभन लम्बे अर्से तक बने रह सकते हैं, पर वे कृतकार्य नहीं हो सकते।[1]

सचमुच, मनःसंवर का प्रारम्भिक साधक यदि इन सुझावों को अमल में लाने का प्रयत्न करे और इस शक्तिशाली विरोधी विचारधारा की मन में उठती हुई लहर का सामना करे तो उसे शान्त कर सकता है।

सतत नामजप का अभ्यास भी मनःसंवर में सहायक

(१५) अनवरत नामजप भी मनःसंवर में सहायक–यदि अनवरतरूप से उस अवसर पर भगवान् को पुकारें या नाम-स्मरण करें तो कोई कारण नहीं कि पूर्वोक्त विरोधी विचार मन में घुसें और साधक के मन पर अधिकार करें, क्योंकि बीच में वहीं कोई व्यवधानरूपी छिद्र उक्त विरोधी विचारों के घुसने को नहीं रह जाता।

अतः पूर्वोक्त विरोधी विचार दल जब भी मन में उठने लगे तो, तुरन्त उसका सामना करने और उसे शान्त करने के लिए परमात्मभावना या शुद्धात्म-भावना का अधिक शक्तिशाली विस्फोट करना चाहिए। अथवा भगवान् का, किसी भी अभीष्ट नाम का या किसी मंत्र का स्मरण या जाप लगातार करते रहने से तथा परमात्मा या अपनी उच्चतर शुद्ध आत्मा को पुकारते रहने से मन में एक उच्चतर मनःसंवर का संवेग उत्पन्न किया जा सकता है; जो आपातकालिक स्थिति की बागडोर संभाल लेगा। मनोविजय या मनःसंवर के लिए यह अभ्यास भी लाभदायक है।

---

१. वही, पृष्ठ २४१

मनःसंवर के साधक को एक बात का अवश्य ध्यान रखना है कि विरोधी प्रवृत्तियाँ, मनोवृत्तियाँ भले ही उन पर हावी हो जाएँ, वे अन्तर् (भीतर) से उन्हें कदापि नहीं स्वीकारें। प्रवृत्तियों-वृत्तियों का उठना कोई पाप नहीं है। गलत प्रवृत्ति को भीतर से स्वीकारना ही पाप को जन्म देना है, पापास्रव को न्यौता देना है।[1]

नाम-जप से मन की शुद्धता और निरुद्धता

नामजप, धारा-प्रवाह प्रभुनाम स्मरण का माहात्म्य बताते हुए ब्रह्मानन्द स्वामी कहते हैं–"परमात्मा के नाम के जप का चक्र समस्त क्रियाओं के साथ सतत चलता रहे तो..... हृदय की सारी जलन, तपन शान्त हो जाएगी। तुम नहीं जानते कि परमात्मा के नामस्मरण की शरण लेकर कितने पापी-तापी शुद्ध और मुक्त हो गए हैं।..... जब कभी अवांछनीय विचार तुम्हारे मन को घेरने लगें, तुम उन्हें परमात्मा की ओर मोड़ दो, हृदय से (नामस्मरण करते हुए) प्रार्थना करो। इस प्रकार के अभ्यास के फलस्वरूप मन नियंत्रण में आता है और पवित्र बनता है।[2]

श्री रामकृष्ण परमहंस का उपदेश इस विषय में मननीय एवं अभ्यसनीय है– "उनका (प्रभु का) नाम-गुण-गान करने से (जैन दृष्टि से शक्रस्तव के या लोगस्स के पाठ से वीतराग परमात्मा की स्तव-स्तुति करने से दृष्टिविशुद्धि तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-बोधिलाभरूपी संवर प्राप्त होता है) तन-मन-बुद्धि से समस्त पाप पलायित हो जाते हैं। इस देहरूपी वृक्ष में पापरूपी पक्षी हैं, परमात्मा का नाम कीर्तन रूपी ताली बजाना है। ताली बजाने से वृक्षारूढ़ सभी पक्षी भाग जाते हैं, उसी प्रकार उनके नाम कीर्तन (स्तवन–स्तुतिमंगल) से सभी पाप भाग जाते हैं।[3]

इसी प्रकार श्रीमां शारदामणि देवी से कई लोगों ने पत्र द्वारा मन को वश में करने का सरल और सशक्त उपाय पूछा तो उन्होंने विश्वासपूर्ण वाणी में कहा–"यदि कोई रोज पन्द्रह से बीस हजार (प्रभु नाम का) जाप करता है तो मन स्थिर हो जाता है। यह बिलकुल सत्य है। मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है। पहले ये लोग इसका अभ्यास तो करें और यदि असफल हो जाएँ तो भले ही शिकायत करें। पर ये तो करेंगे नहीं, वे करेंगे कुछ नहीं और केवल शिकायत करते रहेंगे कि मैं सफल क्यों नहीं हो रहा हूँ ?"[4]

---

१. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. ९५

२. The Eternal Companion : Spiritual Teachings of Swami Brahmananda. (ले. स्वामी प्रभवानन्द, श्री रामकृष्ण मठ मद्रास, १९४५) पृ. १६६

३. 'म' कृत श्रीरामकृष्ण वचनामृत भाग १ (पंचम संस्करण) पृ. १९६

४. Sri Sharada Devi : The Holy Mother (स्वामी तपस्यानन्द एवं स्वामी निखिलानन्द) (श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास), पृ. ४८९

श्री रामकृष्ण परमहंस ने एक अवसर पर अपने भक्त से मनःसंवर के सिलसिले में कहा–"सतत उनका नाम लो। इससे तुम्हारा सारा पाप, काम और क्रोध धुल जाएगा तथा दैहिक सुखों की लालसा दूर हो जाएगी।"

"प्रभुनाम में रुचि उत्पन्न करने के लिए उन्हीं से तीव्रता पूर्वक प्रार्थना करो– "प्रभो ! आपके नाम में रुचि उत्पन्न हो, ऐसी कृपा करो। जब तुम अपने अन्तःकरण में प्रभुनाम के प्रति आकर्षण महसूस करो और तुम्हें अधिकाधिक आनन्द मिलने लगे, तो फिर डरने की कोई बात नहीं। तुम पर उनकी कृपा अधिकाधिक बरसेगी।"

जैसे-जैसे तुम्हारे हृदय में परमात्म-प्रेम बढ़ेगा, वैसे-वैसे सांसारिक सुख तुम्हें अलोने मालूम होंगे.....भक्तिपथ के द्वारा मन और इन्द्रियाँ शीघ्र और स्वाभाविकरूप से नियंत्रण में आ जाती हैं।[1]

प्रभु-प्रार्थना भी मन की शुद्धता और निरुद्धता में सहायक

(१६) परमात्म-प्रार्थना का अभ्यास भी मन की शुद्धता और निरुद्धता में सहायक–परमात्मा को साक्षी रखकर अर्थात् उनके सान्निध्य में प्रतिदिन नियमित समय पर तीव्रतापूर्वक प्रार्थना करनी चाहिए। इससे मन की शुद्धि और सद्वृत्तियाँ उदित होंगी। मन की शुद्धता और निरुद्धता दोनों एक ही हैं।[2]

प्रार्थना का अभ्यास ज्यों-ज्यों तीव्र होगा, त्यों-त्यों उसका सुपरिणाम दृष्टिगोचर होगा। मनःसंवर साधक स्वयमेव अनुभव करेगा कि उसकी प्रार्थना का स्वरूप बदलता जा रहा है। पहले वह वस्तुकेन्द्रित थी, अब अधिक परमात्म-केन्द्रित हो गई है। प्रार्थना के द्वारा साधक की रुचि प्रभु से माँग करने की न होकर परमात्मा या शुद्ध आत्मा में ही समर्पित, तथा केन्द्रित होने की हो जाए तो समझना चाहिए मनःसंवर का अभ्यास दृढ़ होता जा रहा है। वीतराग परमात्मा के प्रति तीव्र भक्ति मनोनिग्रह में सर्वाधिक सहायक है।

परमात्मा के प्रति प्रार्थना जब समर्पण भक्ति का, तदात्मता का रूप ले लेती है, तब परमात्मतत्त्व प्रबल शक्ति के रूप में साधक के भीतर खड़ा हो जाता है, और वह मनःसंवर की बाधक शक्तियों को आसानी से परास्त करने में समर्थ हो जाता है। मन की ऐसी अवस्था में आत्मिक आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। साधक जब इस अवस्था में दृढ़तापूर्वक स्थिर हो जाता है, तब मनोनिग्रह अनायास ही सध जाता है।[3]

---

१. Sayings of Swami Ramakrishana, Saying 350
२. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. १२४
३. मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. १२४-१२५

सत्कार्यों में तन्मयता का अभ्यास, मनःसंवर में सहायक

(१७) मन को स्वस्थरूप से सत्कार्यों में तन्मय करो—कहावत है—खाली मन शैतान का कारखाना है। अतः मन को स्वस्थ रखकर सृजनात्मक कार्यों में लगाए रखना चाहिए। मन को उदात्त भावनाओं और उच्च विचारों की खुराक देते रहने से वह स्वस्थ एवं सन्तुलित रहेगा। इस प्रकार मन को सत्कार्य में तन्मय करने से मनःसंवर बहुत ही आसान हो जाएगा। मन को अगर किन्हीं उच्च विचारों या सत्कार्यों में एकाग्र नहीं किया जाएगा तो वह निम्न एवं अवांछनीय विषयों की ओर दौड़ेगा और बिखर जाएगा। बिखरे हुए मन को नियंत्रण में नहीं लाया जा सकेगा।

मन को स्वस्थ एवं शुद्ध प्रवृत्तियों में सतत संलग्न रखने का यह अर्थ नहीं कि वह नीरस हो जाए। यदि वह नीरस हो जाता है, उसकी उक्त सत्कार्य या उच्च विचार में रुचि या तन्मयता नहीं होती है, तो उसके अस्वस्थ एवं निम्नगामी होने की बड़ी सम्भावना रहती है।

मन को स्वस्थ एवं सत्कार्यरत रखने के लिए अर्थात् मन को समाधिस्थ रखने के लिए श्रीमद्भागवत में सुन्दर उपाय बताया है—"दान, स्वधर्म-पालन, यमों और नियमों का अभ्यास, शास्त्रों का अध्ययन या स्वाध्याय, सत्कार्यों में संलग्नता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य आदि सद्व्रतों का आचरण; ये सब अन्त में, मनोनिग्रह के लक्षण को सिद्ध करने वाले हैं। और मन का समाधिस्थ हो जाना ही परम योग-साधना है।"

यदि मन की अस्थिरता और चंचलता का गहराई से पता लगाया जाए तो, प्रतीत होगा कि मन की अस्थिरता का एक बड़ा कारण है—गलत विचार करना; अथवा परस्पर प्रतिक्रियाकारक गलत विचारों से मन का घिर जाना। अतः मन को स्थिर एवं निश्चल करने के लिए मनःसंवर के साधक को पूर्ण सतर्कता के साथ मन की वृत्तियों प्रवृत्तियों पर तथा मन के द्वारा किये जाने वाले मनन-चिन्तन पर पहरेदारी रखनी चाहिए। तभी मनःसंवर की साधना सफल होगी।[1]

(१८) जीवन को उच्चतम लक्ष्य में स्थिर करने का अभ्यास—यह भी मनःस्थिरता का प्रबल साधन है। संवरसाधक का उच्चतम लक्ष्य—मोक्ष या परमात्मपद होता है। उसके प्रति सतत जागरूक रहकर अभ्यास (रत्नत्रय की निरतिचार साधना) करने से मन स्थिर और निश्चल हो जाता है। मन के स्थिर एवं एकाग्र होने से मनःसंवर शीघ्र ही सिद्ध हो सकता है। जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के प्रति सतत जागरूकता का अभ्यास करने से

---

१. (क) वही, पृ. ८०, ८२
(ख) दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च, श्रुतं च कर्माणि सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रह-लक्षणान्ताः, परो हि योगो मनसः समाधिः ॥—श्रीमद्भागवत ११/२३/४६

अन्य व्रतों, नियमों, संकल्पों, प्रतिमाओं या प्रतिज्ञाओं तथा समिति-गुप्ति एवं बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण आदि की साधनाओं में भी अधिकाधिक सहायता मिलती है।[1]

जिस मनःसंवर साधक का मन सर्वोच्च लक्ष्य के प्रति एकाग्र नहीं है, वह नाना नियमों, क्रियाकाण्डों और कष्टदायक बाह्य तपश्चरण करते रहने पर भी मनःसंक्षोभ से युक्त रहेगा; क्योंकि उसका मन बिखरा हुआ है। परीषहों और उपसर्गों के आने पर उसका मन भय (सप्तविध भय) से डांवाडोल हो उठेगा। वह पुण्य कर्मास्रव की ओर झुक जाएगा, पुण्य-पाप दोनों आस्रवों से ऊपर उठकर शुद्ध अबन्धक कर्म (अकर्म)–रत्नत्रय साधक आचरण में निष्ठावान् नहीं रह सकेगा। उसकी संवर-साधना सफल नहीं हो सकेगी।

इसी तथ्य का समर्थन 'धम्मपद' में किया गया है–जिसका चित्त बिखरा हुआ नहीं (उच्चतम लक्ष्य में केन्द्रित) है, जिसका मन विक्षोभ से रहित है; जिसका अन्तःकरण पुण्य और पाप दोनों का चिन्तन नहीं करता, ऐसे जागरूक व्यक्ति (मनःसंवर साधक) को (परीषहों, उपसर्गों, कष्टों एवं विघ्न बाधाओं के आ पड़ने पर) कोई भय नहीं होता।[2]

(१९) अप्रमाद का अभ्यास मनःसंवर में अतीव सहायक–मनःसंवर के साधक के लिए प्रमाद बहुत ही घातक है। जरा-सी असावधानी ही उसके मन को छल कर विपरीत मार्ग (उन्मार्ग) की ओर ले जा सकती है। अपने उच्चतम लक्ष्य के प्रति जरा-सा भी प्रमाद या असावधानी अथवा गफलत मनःसंवर साधक के मन को विक्षुब्ध कर सकती है।

प्रमाद जिसके स्वभाव में घुस गया है समझ लो उसकी मनःसंवर साधना अभी कच्ची है, उसकी संवरसाधना में निष्ठा नहीं है, उसने अपने मन को उच्चतर आन्तरिक प्रवृत्तियों में संलग्न रहने के लिए प्रशिक्षित एवं अभ्यस्त नहीं किया है।

निश्चय नय की दृष्टि से आत्मभाव या परमात्म-भाव से हटकर परभावों अथवा विभावों (कषायादि) में चले जाना ही प्रमाद है। सर्वोच्च लक्ष्य के प्रति निष्ठा में कमी ही असावधानता या प्रमत्तता है।

आद्यशंकराचार्य ने इस सम्बन्ध में विवेक-चूड़ामणि में सुन्दर प्रकाश डाला है–"साधक को ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। ब्रह्मातनय भगवान् सनत्कुमार ने प्रमाद को मृत्यु ही कहा है। ज्ञानी के लिए अपने आत्म-स्वरूप की उपलब्धि

---

१. 'मन और उसका निग्रह' से भावांश ग्रहण पृ. ८२

२. अनवस्सित चित्तस्स अनव्वाहा चेतसो।
पुञ्ञ पाप-पहीणस्स ठित जागरतोऽभयं॥ –धम्मपद ३९

(आत्मभावों में रमणता) में प्रमाद से बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है। प्रमाद से मोह (भ्रम) उत्पन्न होता है, उससे अहंकार और अहंकार से (कर्म) बन्धन और बन्धन से दुःख उत्पन्न होता है।"

जैनदृष्टि से भी प्रमाद एक भयंकर आस्रव है, जो कषाय, विषयासक्ति आदि अनेक कर्मबन्धकारक अनर्थों का उत्पादक है।

यदि (मनःसंवर साधक का) चित्त तनिक भी लक्ष्य से विच्युत होकर बहिर्मुखी हो जाए तो वह नीचे ही नीचे गिरता जाता है। जैसे–एक गेंद असावधानी से सीढ़ी पर गिर जाए तो वह टप्पे पर टप्पे खाती हुई नीचे गिरती जाती है।

विद्वान व्यक्ति विषयों की चपेट में आ जाने के कारण तथा बुद्धि-दोष के कारण विस्मृति (आत्मविस्मृतिरूप प्रमाद) से उसी प्रकार पीड़ित होता है, जिस प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के चिन्तन से।

जैसे–काई के हटा लेने पर भी वह फिर से जल पर छा जाती है, क्षण भर के लिए भी हटती नहीं, उसी प्रकार माया भी आत्म-पराङ्मुख (प्रमादी) बुद्धिमान साधक के मन को भी ढक लेती है।[1]

कई साधक ज्ञानादि चतुष्टय रूप संवर की उच्चसाधना में पारंगत होते हुए भी तथा कई लब्धियों और उपलब्धियों से सम्पन्न होने पर अष्टविध प्रमाद में से किसी भी प्रमाद के वशीभूत होकर अपनी मनःसंवर साधना को चौपट कर देते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि आन्तरिक रिपुओं में से किसी एक भी रिपु के द्वारा पराजित हो जाने पर वे अपने मनःसंवर की साधना को असम्भव कर देते हैं।

जैसे–नन्दीषेणमुनि अनेक लब्धियों से तथा उच्च ज्ञानादि चतुष्टय साधना से सम्पन्न होते हुए भी प्रमादवश काम-पराजित होकर एक गणिका के चंगुल में फँस गए और अपनी मनःसंवर की साधना को तिलांजलि दे दी।

---

१. प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्त्तव्यः कदाचन।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान् ब्रह्मणःसुतः ॥ ३२१॥
न प्रमादेनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्व-स्वरूपतः।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा॥ ३२२॥
लक्ष्यच्युतं चेत्यदि चित्तं यद् बहिर्मुखं सन्निपतेत्तत सोतः।
प्रमादतः प्रच्युत केलिकन्दुकः, सोपान पंक्तौ पतितो वथा यथा॥ ३२५॥
विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम् ॥ ३२३॥
यथाऽपकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ॥ ३२४॥ –विवेकचूडामणि ३२१ से ३२५

इसी प्रकार सम्भूतिमुनि उच्च तपोलब्धि से सम्पन्न थे। संवर की उच्च साधना पर पहुँचे हुए थे, किन्तु क्रोधावेश और कामावेश से ग्रस्त होकर चक्रवर्ती पद का निदान (भोगों के साधन युक्त चक्रवर्ती पद की फलाकांक्षा रूप संकल्प) करके मनःसंवर साधना के विराधक बन गए थे।

अतः अप्रमाद मनःसंवर की साधना में सर्वप्रथम अनिवार्य है।[1]

(२०) विचार-संयम भी मनःसंवर की साधना में सर्वप्रथम आवश्यक–यों तो मनःसंवर की उच्चतम स्थिति में विचार-संयम का तात्पर्य निर्विचारता है। अर्थात्–विचारों का पूर्णतया रुक जाना है। परन्तु जब तक साधक अपने आपको अहंकार या शरीर से एक (अभिन्न) मानता है, तब तक वह निर्विचारता की स्थिति पर नहीं पहुँच सकता।

मनःसंवर की प्रारम्भिक अवस्था में सर्वथा विचारहीनता अर्थात् मन में किसी भी विचार का न रहना अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है। इसलिए प्रारम्भिक अवस्था में विचार संयम का तात्पर्य है–अच्छे विचारों को प्रयत्नपूर्वक मन में जमाने की क्षमता का विकास करना, तथा असत् या गलत विचारों को मन में उठने से रोक देना, उन्हें जरा भी प्रश्रय न देना।

तथागत बुद्ध ने विचार-संयम पर पर्याप्त उपदेश दिया है, उसका सारांश यह है–"भिक्षुओ ! याद रखो, गलत विचारों पर विजयी बनने का एकमात्र रास्ता यह है कि हम समय-समय पर मन के विभिन्न पहलुओं का अवलोकन करते रहें, उन पर मनन-चिन्तन करें। और जो अशुभ विचार हों, उन्हें जड़ से निकाल दें और शुभ विचारों का सृजन करें।

मनःसंवर के प्रारम्भिक साधक को इस विषय में विशेष ध्यान रखना है कि कहीं भी, किसी भी छिद्र से, किसी भी कोने से गलत (अशुभ) विचार मन में प्रविष्ट न हो जाए। उसे यह सीख लेना चाहिए कि जब तक विर्विचारता की भूमिका पर नहीं पहुँच जाता, तब तक अच्छे विचारों को उत्पन्न करना चाहिए। इस विषय में केवल मुख से लिये जाने वाले आहार के सम्बन्ध में ही नहीं, परन्तु समस्त इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाले (विषयरूप) आहार के सम्बन्ध में भी सावधानी रखनी होगी। यदि द्रव्य-भावरूप उक्त द्विविध आहार शुद्ध है तो विचार भी शुद्ध होगा और आहार अशुद्ध है तो विचार भी अशुद्ध होगा।

---

१. (क) मन और उसका निग्रह से भावांश ग्रहण पृ. ९३
(ख) देखें–जैन कथा कोष (मुनि छत्रमल जी) में नन्दीषेण की कथा।
(ग) उत्तराध्ययन सूत्र का १३वाँ चित्त सम्भूतीय अध्ययन।

मनःसंवर का साधक गलत आहार ग्रहण करके, उससे उत्पन्न होने वाले गंदे एवं गलत विचारों को दबाने में अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट क्यों करेगा ? वह पहले से ही विचार-संयम रखेगा; जिसका मतलब विचार-दमन नहीं, अपितु विचारों पर प्रभुत्व प्राप्त करना है।[1]

इसका अभ्यास इतना सुदृढ़ हो जाए कि कोई भी गलत विचार उसे पकड़ने न पाए। वह गलत विचारों के आते ही तुरन्त अलग हटकर खड़ा हो जाए, वे स्वतः शान्त हो जाएँगे। विचार-संयम की उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिए स्वामी विवेकानन्द का यह उपदेश मननीय है–

तुम क्या चिन्तन करते हो, इस विषय में विशेष ध्यान रखो। हम अभी जो कुछ भी हैं, वह सब अपने चिन्तन का फल है। शब्द तो गौण वस्तु है, चिन्तन ही बहुकाल-स्थायी है और उसकी गति भी बहुदूर-व्यापी है। हम जो कुछ भी चिन्तन करते हैं, उसमें हमारे चरित्र की छाप लग जाती है।....."

निष्कर्ष यह है कि शुद्ध चिन्तन की विधि अवश्य जान लेनी चाहिए और तदनुसार शुद्ध चिन्तन करना चाहिए।

विचारशून्य अवस्था की प्राप्ति के लिए

मन को जहाँ तक बने पवित्र विचारों से भर लेना चाहिए, ताकि मन शुद्ध हो। जब मन शुद्ध हो जाएगा, तब विचार स्वयमेव रुक जाएँगे। विचारशून्य अवस्था की प्राप्ति के लिए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–"इन (इष्टदेव, गुरु, सद्धर्म-विषयक) पवित्र विचारों का अनुसरण करो, उनके साथ चलो। जब वे अन्तर्हित हो जाएँगे, तब तुम्हें सर्वशक्तिमान परमात्मा के चरणों (परमात्म-पद) के दर्शन होंगे। यह स्थिति ज्ञानादि की पराकाष्ठा की अवस्था है। जब विचार विलीन हो जाएँ, तब उसी (परमात्मा) का स्मरण करो और उसी में तन्मय हो जाओ।"

इस सर्वोच्च सीढ़ी तक वही मनःसंवर साधक पहुँच सकता है, जिसने अपने को मन से पृथक् करना सीख लिया है। ऐसी स्थिति में वह स्वयं को अलग और मन को अलग वस्तु के रूप में देखता है।

साथ ही विचारशून्य अवस्था की प्राप्ति की पूर्वोक्त विविध साधनाओं का अभ्यास करे; अन्यथा, गलत एवं संकीर्ण क्षुद्र विचारों से उसका मन भर जाएगा, जिसे रिक्त करना अतीव कठिन होगा, और तब वह मनःसंवर की प्राथमिक साधना से भी च्युत हो जाएगा।[2]

---

१. (क) मन और उसका निग्रह से भावांश ग्रहण, पृ. १०१-१०३
   (ख) वितर्क सनातनसुत्त (ले. सुधाकर दीक्षित)
२. (क) विवेकानन्द साहित्य खण्ड ४, पृ. ९३
   (ख) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण, पृ. १०४

मनोनिग्रह का प्रभावशाली साधन : शुभध्यान का अभ्यास

(२१) शुभ ध्यान का अभ्यास–आत्मा, परमात्मा, गुरु, तथा सद्धर्म के विविध अंगों का ध्यान मनोनिग्रह का प्रभावशाली साधन है। मन को ऐसे तत्त्व पर केन्द्रित करना चाहिए, जो अपने आप में शुद्ध हो, अथवा आवरणों एवं विकारों से रहित शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान करे। आत्मा, परमात्मा पर ध्यान का सुझाव मनीषियों ने इसलिए दिया है कि ध्याता ध्येय वस्तु के गुणों को अपने भीतर आत्मसात् कर ले। ध्यानाभ्यास के समय मन इधर-उधर जाने लगे तो उसे परिश्रमपूर्वक वापस ध्येय[1] में बिठा दे।

स्वामी ब्रह्मानन्द के शब्दों में–ध्यान और मनोनिग्रह ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ध्यान के अभ्यास से ध्येय वस्तु में मन एकाग्र होता है, और मन के एकाग्र होने पर ध्यान ठीक से सधता है। ध्यान का अभ्यास किये बिना मन को वश में नहीं किया जा सकता।[2]

मनःसंवर में प्रगति के लिए सतत अभ्यास एवं निराशा त्याग आवश्यक

(२२) हताशा से बचो–जो अपने मन का निग्रह करना चाहते हैं, उन्हें इन सब पूर्वोक्त साधनाओं का नियमित अभ्यास करना चाहिए। मनःसंवर के साधक के समक्ष यह आदर्श वाक्य रहना चाहिए–जूझते रहो, जूझते रहो, हिम्मत मत हारो।[3]

हताशा-निराशा उत्साह और शक्ति को नष्ट करने वाली आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी शत्रु है। उसे अपने पास न फटकने दें।

(२३) मनःसंवर की साधना के लिए अवचेतन मन पर संयम करना आवश्यक–यद्यपि मन के चेतन (व्यक्त) स्तर की बागडोर अपने हाथ में ले ली जाए, तो परोक्षरूप से अवचेतन मन के संयम में भी सहायता मिलती है; तथापि अवचेतन मन की गतिविधि पर जागृत और सावधान होकर संयम किये बिना चेतन-मन का संयम अधूरा रहेगा। जिन अनुशासनों का पालन एवं जो अभ्यास चेतन मन के संयम हेतु करना पड़ता है, अवचेतन मन को ध्यान में रखते हुए करना है। अभी तक हमने जो कुछ भी विचार किया, वह प्रत्यक्षतः चेतन मन के स्तर से सम्बन्धित है। अतः अवचेतन मन पर संयम के विषय में अवश्य विचार करना चाहिए।

बहुधा हम सब यह अनुभव करते हैं कि हम बहुत अच्छे-अच्छे नियम, त्याग, प्रत्याख्यान अथवा व्रत का संकल्प करते हैं, फिर भी उनके प्रति सजग होने से पहले ही वे

---

१. (क) वही, पृ. ८५-८६
   (ख) The Eternal Companion : Spiritual Teachings of Swami Brahmananda. (ले. स्वामी प्रभवानन्द, श्री रामकृष्णमठ, मद्रास १९४५) पृ. २२९
२. मन और उसका निग्रह से भावांश ग्रहण, पृ. ७७

उसी प्रकार धुल जाते हैं, जिस प्रकार प्रचण्ड जल प्रवाह से रेत का पुल। हम चकित, भ्रमित और किंकर्त्तव्यविमूढ़ से खड़े रह जाते हैं। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि कर्त्तव्य क्या है, अकर्त्तव्य क्या है, धर्म क्या है, अधर्म क्या है ? हित क्या है, अहित क्या है ? इस प्रकार मनःसंवर के लिए यथार्थ और अयथार्थ को जानते हुए भी यथार्थ का पालन नहीं कर पाते, और अयथार्थ (गलत) प्रवृत्ति से विरत नहीं हो पाते। जिस प्रकार दुर्योधन सबकुछ जानता था कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है ? फिर भी उसकी असमर्थता के ये उद्‌गार प्रसिद्ध हैं–

जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है ? फिर भी मेरी प्रवृत्ति धर्म में नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि अधर्म क्या है ? फिर भी अधर्म से मेरी निवृत्ति नहीं है।

ऐसी स्थिति में प्रतीत होता है कि मनुष्य मन के चेतन भाग से संकल्प कर रहा है, किन्तु मन के दूसरे–अवचेतन भाग से उन संकल्पों को नष्ट कर रहा है। इसलिए जब तक मनःसंवर के साधक का संकल्प उसके अवचेतन मन तक नहीं पहुँचेगा, तब तक चेतन मन के स्तर पर किया हुआ वह संकल्प पार नहीं पड़ेगा, भंग हो जाएगा। क्योंकि अवचेतन मन से साधक अपरिचित रहता है, वह मन का एक अप्रकाशित भाग है। दूसरे शब्दों में, वह चेतन मन के स्तर पर किये गए कार्य का ही एक स्वाभाविक बढ़ाव है।

अवचेतन मन घर के तलघर जैसा है। साधक को जब तक ज्ञान नहीं होता कि वहाँ कितना कूड़ाकर्कट इकट्ठा हो गया है; तब तक वह उसे साफ करने की ठान लेता है। जब मनःसंवर साधक इसे (अवचेतन मन रूपी तलघर को) साफ करने लगता है, तब भी उसे पता नहीं रहता कि कैसी-कैसी चीजें और कौन-से जीव-जन्तु कीट आदि उसे मिलने वाले हैं। वह साफ करना शुरू करते ही शीघ्र थक जाता है, और सफाई के कार्य को अधूरा ही छोड़ देता है। फिर वह अवचेतन मन रूपी तलघर पहले जैसा ही कूड़े का घर बना रहता है। वह रहने लायक कमरा शायद ही बन पाता है।

परन्तु मनःसंवर के साधक को यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि जब तक इस तलघर को साफ नहीं करेगा, तब तक वह चेतन मन के द्वारा किये गए संयम, नियम या संकल्प के प्रति असंदिग्ध नहीं हो सकेगा।[1]

मनःसंवर का अपरिपक्व साधक गम्भीरतापूर्वक मनःशुद्धिपूर्वक मनोनिग्रह में प्रवृत्त होता है, किन्तु अवचेतन (अज्ञात) मन के द्वारा उपस्थित हुई कठिनाइयों विघ्न-बाधाओं से घिर जाता है। वह जितना-जितना ज्ञात (चेतन) मन की सफाई में लगता है, कुछ समय के लिए उतनी ही कठिनाइयाँ अधिकाधिक महसूस होती जाती हैं।

---

१. (क) मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द) से भावांश ग्रहण पृ. १०१, १०८, १०९
(ख) महाभारत शान्तिपर्व।

साधक को यह नहीं सोचना चाहिए कि अवचेतन मन में केवल अशुभ विचारों का ही भण्डार है। अवचेतन मन में उसी के अतीत के शुभ एवं उदात्त विचार तथा अनुभव बीजरूप में संग्रहीत हैं। अर्थात्–अवचेतन मन ने मनःसंवर-प्रयत्न के साधक और बाधक (सहायक और विरोधी) दोनों प्रकार के विचार संचित कर रखे हैं। साधक का प्रयत्न यह रहना चाहिए कि वह विरोधी विचारों को कम करे और सहायक विचारों को बढाए।[1]

मनःसंवर की साधना को आसान बनाने के लिए साधक को महत्त्वपूर्ण कार्य तो अवचेतन मन को शुद्ध करने की दिशा में ही करना होगा। दूसरी ओर उसे पूर्ण संवर द्वारा जीवन के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु अतिचेतन-अवस्था को ही अपना एकमात्र गन्तव्य बनाना चाहिए। अन्यथा, न तो वह चेतन (ज्ञात) मन का संयम कर सकेगा और न ही अवचेतन मन का, क्योंकि चेतन और अवचेतन (अचेतन अज्ञात) मन का निग्रह करने और परस्पर संघर्ष करने में ही उसकी सारी मनःशक्ति खर्च हो जाएगी, वह अपने अन्तिम लक्ष्य (सर्वकर्ममुक्ति परमात्मपद प्राप्ति) तक नहीं पहुँच सकेगा। इन दोनों मनों के द्वन्द्व में साधक क्षुब्ध और अशान्त होता रहेगा।

अवचेतन मन कभी-कभी चेतन मन के साथ छल करता है। मनःसंवर साधक जब किसी प्रलोभन या दुर्बलता से संघर्ष कर रहा होता है, तभी अकस्मात् उसके मानस पटल पर उससे अधिक दुर्बलता का चित्र उभर आता है। साधक भयभीत होकर हैरत में पड़ जाता है। वह भविष्य की चिन्ता न करके वर्तमान प्रलोभन के प्रवाह में बह जाता है। साधक को दृढ़ होकर उसी क्षण अज्ञात मन की उस अवांछनीय स्थिति को निरुद्ध करने हेतु अपने संकल्प पर दृढ़ रहना है।

हम जानते हैं कि चेतन (ज्ञात) मन ही अचेतन (अज्ञात) मन का कारण है। हमारे जो लाखों पुराने सचेतन विचार और कार्य थे, वे ही घनीभूत होकर प्रसुप्त हो जाने पर हमारे अचेतन (अज्ञात) विचार (संस्काररूप) बन जाते हैं। उन प्रसुप्त अज्ञात संस्कारों (विचारों) में यदि बुरा करने की शक्ति है तो अच्छा करने की भी शक्ति है। मनःसंवर साधक का प्रयत्न होना चाहिए–उन सहस्रों गुप्त संस्कारों पर अधिकार करना, अज्ञात संस्कारों से पूर्ण अवचेतन मन को चेतन मन के अधीन लाना; ताकि वह अपना पूर्ण स्वामी बन जाए।

निष्कर्ष यह है कि अवचेतन मन के संयम से ही मनःसंवर की साधना का कार्य पूरा नहीं हो जाता। उससे भी आगे और अधिक कार्य करना है। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का मनःसंवर साधना की परिपूर्णता के लिए मार्गदर्शन मननीय है–

---

१. 'मन और उसका निग्रह' से भावांश उद्धृत, पृ. ११०,११६

"अचेतन (अज्ञात मन) को अपने अधिकार में लाना हमारी साधना का पहला भाग है। दूसरा है चेतन (ज्ञात मन) से परे जाना। जिस तरह अचेतन (मन) चेतन (मन) के नीचे (उसके पीछे) रहकर कार्य करता है, उसी तरह चेतन (मन) से ऊपर (उसके अतीत की भी एक अवस्था है) जिसे अतिचेतन मन की अवस्था कहते हैं। (वह पूर्ण मनःसंवर की अवस्था है।) जब मनुष्य अतिचेतन अवस्था को पहुँच जाता है, तब वह मुक्त (सिद्ध-बुद्ध) हो जाता है, ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है। तब मृत्यु अमरत्व में परिणत हो जाती है, दुर्बलता असीम शक्ति बन जाती है और अज्ञान की लोहशृंखलाएँ (अज्ञान से सर्वथा) मुक्ति बन जाती हैं। अतिचेतन का यह असीम (अनन्त चतुष्टय का) राज्य ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है।"

निष्कर्ष यह है कि अवचेतन मन को अपने अधीन बनाकर उसके माध्यम से चेतन मन को संवृत करना है और साथ-साथ अतिचेतन मन की ओर बढ़ना है, ताकि पूर्ण संवर सिद्ध हो जाए।[1]

(२४) दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक मनःसंवर का अभ्यास आवश्यक–पूर्वोक्त सभी साधनाओं का अभ्यास चंचल मन को स्थिर एवं प्रशान्त करने हेतु दीर्घकाल तक श्रद्धा-निष्ठापूर्वक करना आवश्यक है। मनःसंवर की स्थिति प्राप्त करने के लिए पूर्वोक्त साधनाओं में सदैव उत्साह बना रहे, प्रयत्न में कभी शिथिलता न आए इसी का नाम अभ्यास है। अगर अभ्यास दीर्घकाल तक, निरन्तर श्रद्धापूर्वक नहीं होगा तो मनोवृत्तियों के निरोध में सफलता नहीं मिलेगी। अभ्यास के साथ ये तीनों बातें होंगी, तभी मनःसंवर की साधना अबाध गति से हो सकेगी।[2]

सच यह है कि अनादिकाल से संचित कर्मराशि के उभरते हुए उदित तीव्र कर्मास्रव-संवर अभ्यास की जड़ नहीं जमने देते, परन्तु पूर्वोक्त तीन विधियों से दीर्घकाल तक सतत अभ्यास–मनःसंवर का पुनः पुनः परिशीलन किया जाए तो तीव्र कर्मास्रव संस्कार उसे अनायास दबा नहीं पाते।[3]

(२५) अभ्यास के साथ वैराग्य भी मनःसंवर साधना में नितान्त आवश्यक–मनःसंवर की साधनाओं का अभ्यास तभी सफल हो सकता है, जब उसके साथ वैराग्य

---

१. (क) वही, भावांश उद्धृत, पृ. ११२-११७-११८
   (ख) विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. १२०-१२१
२. (क) पातंजल योगदर्शनम् परिष्कृत भाष्य सहित (पं. उदयवीर शास्त्री) पाद १ सू. १३-१४ पर विवेचन।
   (ख) "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः, तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः, स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।"–पातंजल योगसूत्र पाद १ सू. १२-१३-१४
३. वही, (भाष्य सहित) (पं. उदयवीर शास्त्री) पाद १ सू. १४ पर विवेचन से सारांश ग्रहण पृ. २४

का पुट हो। वैराग्य अभ्यास को परिपक्व और पुष्ट करता है, और निष्ठापूर्वक उत्साह के साथ अभ्यास करने की रुचि जगाता है। वैराग्य भीतरी वातावरण तैयार करता है, अभ्यास बाहरी वातावरण को। वैराग्यवासित मन होने से उसका निग्रह करने की साधना का अभ्यास बोझरूप नहीं लगता। वैराग्य के बिना कोरा अभ्यास अरुचिकर, भारभूत एवं स्वतन्त्रता में विघ्नकारक प्रतीत होता है। अतः मनःसंवर की साधना में जितना अभ्यास आवश्यक है, उतना ही वैराग्य भी है।

वैराग्य के कारण दृष्ट (अनुभूत या प्रत्यक्षदृश्यमान) तथा आनुश्रविक (इहलोक-परलोक के) विषयों के प्रति साधक उदासीन हो जाता है। समाधियुक्त-ज्ञान के प्रभाव से मन इन दिव्य, अदिव्य तथा अन्य लोकों में प्राप्त होने वाले विषयों के दोषों को समझ लेता है तो उनमें आसक्त नहीं होता। विषयों के ग्रहण (आदान) में उसे राग नहीं रहता, और उनके त्याग करने में कोई घृणा, अरुचि या द्वेष मन में नहीं रहता, फिर मन शुद्ध होकर निराबाधरूप से अभ्यास में प्रवृत्त हो जाता है। वह फिर अध्यात्म भावना में एकाग्र हो जाता है। इसी वैराग्य को वशीकार (मनोवशीकरणरूप) वैराग्य कहा जाता है।[1]

वैराग्य के अभ्यास के लिए तथागत बुद्ध का पंचसूत्री उपदेश

मन को वैराग्य भाव से वासित करने के लिए 'अंगुत्तरनिकाय' में दिया गया तथागत बुद्ध का यह पाँच सूत्री उपदेश मननीय है–

"भिक्षुओ! ये पाँच उपदेश पुरुषों और स्त्रियों द्वारा–गृहस्थों और भिक्षुओं द्वारा समान रूप से मननीय हैं–(१) 'किसी न किसी दिन वृद्धावस्था मुझ पर आएगी, और मैं उससे बच न सकूँगा।' (२) 'किसी न किसी दिन मुझ पर रोग का आक्रमण हो सकता है, और मैं उससे बच न सकूँगा।' (३) 'किसी न किसी दिन मृत्यु का मुझ पर आक्रमण हो सकता है, और मैं उससे बच न सकूँगा।' (४) जिन वस्तुओं को मैं प्रिय मानता हूँ वे परिवर्तनशील और नाशवान हैं तथा मुझसे उनका वियोग हो जाता है। मैं इसे अन्यथा नहीं कर सकता।' (५) मैं अपने ही कर्मों का प्रतिफल हूँ और मेरे कर्म भले हों या बुरे, मैं ही उनका उत्तराधिकारी बनूँगा।'

"वृद्धावस्था विचार यौवनमद को दूर करने या न्यून करने के लिए, रोग का विचार स्वस्थता का मद (या मोह) दूर करने का न्यून करने के लिए, मृत्यु का विचार जीने का मोह दूर करने या कम करने के लिए है। प्रिय वस्तुओं के परिवर्तन और वियोग का विचार प्राप्ति की लालसा एवं संरक्षण की ममता दूर करने के लिए है। मैं अपने ही

---

१. देखें–'दृष्टानुश्रविक-विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्' पर पं. उदयवीर शास्त्री का भाष्य, पा. यो. द. पृ. २५-२६

कर्मों का प्रतिफल हैं; यह विचार मनुष्य की चिन्तन-मनन, वाणी और क्रिया की अशुभ (गलत) प्रवृत्तियों (अशुभकर्मों का आस्रव और बन्ध की कारणभूत मनःप्रवृत्तियों) को दूर करने या न्यून करने के लिए है। जो इन पाँच बातों पर विचार करता है, वह अपने (मनोजनित) अहंकार और वासना को (राग-द्वेष-मोह) को दूर कर सकता है, कम से कम भी कर सकता है। इस प्रकार निर्वाण के मार्ग पर (परम संवर के पथ पर) चलने में समर्थ हो सकता है।'"[1]

तथागत बुद्ध का यह पंचसूत्री उपदेश मन से होने वाले शुभाशुभ कर्मास्रवों को दूर कर तथा मनःशुद्धि करने में और पूर्वोक्त साधनाओं के अभ्यास के साथ मन को वैराग्यवासित रखने में अतीव सहायक है। मनःसंवर सिद्ध हो जाने पर वाक्संवर, कायसंवर और इन्द्रियसंवर तो अनायास ही स्वतः हो सकेंगे।

■

---

१. Sermons and Sayings of the Budha, Chetana (सुधाकर दीक्षित) बम्बई, पृ. ४९-५०

१५

प्राण-संवर का स्वरूप और उसकी साधना

कल-कारखाने के संचालन की तरह शरीर-संचालन के लिए भी ऊर्जाशक्ति अनिवार्य

किसी कल-कारखाने में मशीनें ठीक हों, उनके कल-पुर्जे भी उचित स्थान पर फिट किये गए हों, मशीन की उत्पादन क्षमता भी ठीक हो; किन्तु उसे भाप, तेल, बिजली या कोयला पर्याप्त मात्रा में न मिले तो उस कल-कारखाने की मशीन चल नहीं सकती। क्योंकि मशीन को चलने के लिए ऊर्जा शक्ति या तैजस शक्ति चाहिए, जिसे मशीन के कल-पुर्जे, मशीन की उत्पादन क्षमता, मशीन चलाने वाले व्यक्ति, अथवा मशीन में जंग न लगे, इस दृष्टि से दिया जाने वाला तेल आदि सहायक साधन नहीं दे सकते।

मानव शरीर भी एक कारखाना है, जिसमें मन, इन्द्रियों और अंगोपांगों के पुर्जे लगे हुए हैं, द्रव्य-मस्तिष्क एवं द्रव्य-हृदय आदि भी अपने-अपने स्थान पर फिट हैं, किन्तु यह मानव शरीर-रूपी कारखाना ठीक ढंग से तभी चल सकता है, बोल सकता है, सोच सकता है, प्रसन्न रह सकता है और निश्चय कर सकता है तथा सहानुभूति और सहृदयता अपना सकता है, जब इसके साथ ही जैविक विद्युत् के रूप में प्राणशक्ति हो, जिसे हम ओजस् शक्ति, तैजस शक्ति या ऊर्जा शक्ति कह सकते हैं।

अन्न, जल तथा खाद्य पदार्थों से मानव शरीर रूपी बृहत् यंत्र की भट्टी गर्मभर होती है, उन्हें पचाने, रसायनों में परिवर्तित करने और उनमें सोचने, बोलने, चलने, निर्णय करने, प्रसन्न रहने, उदार बनने आदि की कार्यक्षमता एवं सक्रियता पैदा करने में तो प्राणशक्ति या तैजस शक्ति की आवश्यकता होती है।

पेट में आहार डाल देने मात्र से ही शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐन्द्रियक तथा आवयविक शक्ति प्राप्त नहीं हो जाती। पाचक रासायनिक द्रव्य केवल आहार से नहीं अपितु अपने परम्परागत शक्ति स्रोतों से उत्पन्न होते हैं। आहार तो उन शक्तिस्रोतों को धकेलने वाली गर्मीभर उत्पन्न करते हैं।[1] उनमें कार्यक्षमता पैदा होती है, तैजस (विद्युत) युक्त प्राणशक्ति से।

---

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७६ से, भावांश ग्रहण पृ. १३-१६

प्राणशक्ति ही प्राणी के जीवन में कार्यक्षमता और सक्रियता की उत्पादक

निष्कर्ष यह है कि इस प्राण शक्ति के अभाव में शरीर, मन और मस्तिष्क की भौतिक-क्षमता कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो, उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। कई मनुष्यों में शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक क्षमताएँ होते हुए भी तथा उपयुक्त साधन सहयोग होते हुए भी वे क्यों कुछ नहीं कर पाते? इसका कारण ढूंढ़ने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि साहस के रूप में प्राणशक्ति का अभाव ही इस शिथिलता का प्रमुख कारण है। विद्युत्, भाप या तेल से जनित शक्ति न रहने पर इंजन चलने बंद हो जाते हैं, भले ही उनके कल-पुर्जे सही हों, मशीन भी कार्यक्षम हो।

इसी प्रकार प्रत्येक जीव के जीवन में अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त पर्याप्त प्राणशक्ति न हो तो शरीर के अवयवों, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि का संचालन बंद हो जाता है, भले ही वे सभी अवयव, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिरूपी उपकरण ठीक हों, अविकल हों। जिस प्रकार मशीनों के चलने में विद्युत्, भाप या तेल से जनित ऊर्जा शक्ति उनमें कार्यक्षमता एवं सक्रियता उत्पन्न करती है, उसी प्रकार मन-बुद्धि-इन्द्रियादि सहित शरीरयंत्र में भी कार्यक्षमता या सक्रियता प्राणों से जनित ऊर्जा शक्ति (तैजस शक्ति) ही उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में कहें तो, जो काम मशीनों के चलने में तेल, भाप या बिजली की शक्ति करती है, वही काम साहस के रूप में प्राणबल के सहारे मानव आदि की सत्ता करती है।

प्राण क्या करता है? उसके बिना क्या नहीं होता?

बाह्य पराक्रम तो दृश्यरूप है, परन्तु आन्तरिक पराक्रम अदृश्यरूप है, उसी का नाम 'प्राण' है। वही आन्तरिक वीर्य है। वह कभी साहस के रूप में काम करता है, कभी आत्मविश्वास के रूप में और कभी दृढ़ इच्छाशक्ति या विल पावर, अथवा संकल्पशक्ति के रूप में काम करता है। कभी मन में सत्कार्य करने की उमंग जगाता है, और कभी समर्थ सक्रियता का संचार करता है।

प्राण ही एक माने में ऊर्जाशक्ति है, अथवा तैजस (विद्युत) शक्ति है। आपने देखा होगा कि किसी भगीरथ कार्य को सम्पन्न करने के लिए जब तक भीतर का उत्साह न जगे, अंतर् में साहस का संचार न हो, आत्मविश्वासपूर्ण उमंग न उठे, इच्छाशक्ति या संकल्प शक्ति की आन्तरिक स्फुरणा का ज्वार न उमड़े, तब तक शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ आदि कितनी ही सक्षम और सुगठित क्यों न हों, उनमें समर्थ सक्रियता तथा अपेक्षित साहस की भावोर्मियों का संचार नहीं होता। अर्धमृतक जैसी या अर्ध-मूर्च्छित जैसी अन्तश्चेतना (वीर्यहीन चेतना) के आधार पर कोई भी भगीरथ सत्कार्य या साधना में सत्पुरुषार्थ नहीं हो सकता।[1]

---

१. अखण्ड ज्योति, मार्च १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. १३

प्राणशक्ति (वीर्य) से सम्पन्न जीतता है, प्राणशक्तिहीन हारता है

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भगवान् महावीर और गणधर गौतम स्वामी का इसी तथ्य से सम्बन्धित एक संवाद अंकित है।

गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा–"भगवन् ! दो व्यक्ति एक सरीखे जवान हैं, उन दोनों की चमड़ी एक सरीखी है, वे समान वयस्क हैं, साथ ही दोनों के पास शस्त्र-अस्त्रादि साधन (उपकरण) तथा अन्य सहायक द्रव्य बराबर हैं, किन्तु उन दोनों में परस्पर युद्ध होता है तो उनमें से एक व्यक्ति हार जाता है, और दूसरा व्यक्ति जीत जाता है; ऐसा क्यों होता है?"

भगवान् ने कहा–"गौतम ! जो सवीर्य (ऊर्जाशक्ति सम्पन्न प्राणशक्तिमान्) होता है, वह जीतता है और जो वीर्यहीन (प्राणशक्ति से हीन) होता है। वह हार जाता है।"

गौतम–"भगवन् ! वीर्यवान् जीत जाता है, और वीर्यहीन हार जाता है, इसका क्या कारण है?"

भगवान्–"गौतम ! जिसने वीर्य-विघातक कर्म नहीं बांधे हैं, न ही स्पर्श किये हैं, यावत् प्राप्त नहीं किये हैं, और न ही उसके वे कर्म अभी उदय में आए हैं, अपितु वे उपशान्त हैं, वह पुरुष जीत जाता है। इसके विपरीत जिसने वीर्य-विघातक कर्म बांधे हैं, स्पर्श किये हैं, यावत् उसके वे कर्म उदय में भी आ चुके हैं, उपशान्त नहीं हैं, वह व्यक्ति पराजित होता है।"

प्रस्तुत शास्त्रीय प्रश्नोत्तर में जय-पराजय का कारण प्राणशक्तिमत्ता और प्राणशक्तिहीनता, अर्थात्–सवीर्यता और निर्वीर्यता बताया है। वीर्य से यहाँ तात्पर्य है–प्रचण्ड ऊर्जा शक्ति–तैजस शक्ति, या प्राणशक्ति, जो उत्साह, उमंग, साहस, प्रचण्ड पराक्रम, मनोबल, संकल्पबल आदि के रूप में उभरती है। ऐसी प्रचण्ड प्राणशक्ति उसी में होती है जो वीर्य विघातक कर्म से रहित हो, वह शरीर से दुर्बल होते हुए भी प्रत्येक सत्कार्य में विजयी बनता है, जबकि जिसकी प्राणशक्ति वीर्य विघातक कर्म के कारण क्षीण हो गई हो, वह व्यक्ति भीमकाय एवं शरीर से परिपुष्ट होते हुए भी हार जाता है। प्रत्येक सत्कार्य में पस्तहिम्मत हो जाता है।[1]

वास्तविक विजेता कौन? युद्धवीर या आत्मविकारवीर?

शौर्य और साहस शब्द का प्रयोग प्रायः युद्धक्षेत्र में दिखाई गई वीरता के अर्थ में होता है, पर यह परिभाषा बहुत ही संकुचित है। भगवान् महावीर ने उसे विजयी न

---

१. देखें–व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र शतक १,उ.८ सू.९ तथा उसका विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) भा. १, पृ. १३९

कहकर वास्तविक विजेता कौन है?, इसका स्पष्ट निरूपण किया है–"जो भयंकर युद्ध में लाखों दुर्दान्त शत्रुओं को जीत लेता है, यह उसकी वास्तविक विजय नहीं है, किन्तु अपने आपको जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है। क्योंकि पांचों इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि सभी विकार एकमात्र आत्मा को जीत लेने पर जीत लिये जाते हैं।"

प्राणशक्ति से विहीन व्यक्ति का जीवन

वस्तुतः वीर्यविहीन (प्राणशक्ति से क्षीण) व्यक्ति वह है, जो विषय-वासना, कामभोगों की लालसा, लम्पटता, क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सर आदि दुर्गुणों–दुर्विकारों से प्रेरित एवं पराजित होकर अपनी प्राणशक्ति को नष्ट कर डालता है।

भगवान् महावीर की भाषा में वह वीर्य-विघातक कर्मों के आस्रव, बन्ध, उपचय, संचय और उदय को न्यौता देता है। यही कारण है कि ऐसे प्राण-शक्तिहीन लोग किसी भी सत्कार्य को, अहिंसा, संयम, तप आदि की साधना को, तथा दान, शील, तप और औदार्य भाव को करने में काल्पनिक कठिनाइयों से डरे-सहमे रहते हैं। कुछ करने के लिए कदम बढ़ाने से पूर्व ही वे अनिष्ट की आशंका से भयभीत होकर हिम्मत गंवा बैठते हैं। अपनी योग्यता, क्षमता, प्रखरता, तेजस्विता एवं ऊर्जाशक्ति–सुषुप्त प्राणशक्ति पर उन्हें विश्वास ही नहीं होता। समय पर अनुकूलता और अव्यक्त रूप से उदार सहायता की उन्हें आशा ही नहीं बंधती। आत्महीनता की ग्रन्थी से उनके तन,मन, प्राण, हृदय पूरी तरह जकड़े रहते हैं। किसी के सामने अपने विचार रखते हुए अथवा अपना प्रयोजन या अभिप्राय स्पष्ट करते हुए तथा उचित सहयोग की मांग करते हुए उन्हें बड़ा संकोच एवं भय होता है। व्यर्थ की आशंका और बहम से अपना मुँह नहीं खोल सकते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि कुछ कहने पर कोई झिड़क देगा, कोई मेरा उपहास कर देगा, कोई मुझे मुंहतोड़ जबाब दे देगा, इसलिए चुप रहना ही अच्छा है।

ऐसे लोग दूसरों के द्वारा अपने पर किये गये अन्याय, अत्याचार, शोषण, उद्दण्डता एवं दुर्जनता को चुपचाप सहते रहते हैं। परन्तु अनीति, अन्याय, अत्याचार एवं शोषण के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत नहीं कर सकते। ऐसे बुजदिल लोग रोते-झींकते और कसमसाते हुए सहते तो बहुत हैं, परन्तु अहिंसक प्रतीकार करने में झिझकते हैं। इस कायरता, दुर्बलता, दब्बूपन, झेंप या भीति को वे सहनशीलता, सज्जनता और शराफत का नाम देने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु है यह–भीरुता और आत्महीनता ही। कायर मनुष्य के द्वारा ऐसा कहना, आत्मवंचना करना है। अपनी शक्तियों को जानबूझ दबाना-छिपाना है।

ऐसे प्राणशक्तिघातक लोग वस्तुतः आत्मघातक हैं। निराशाजनक भविष्य की डरावनी कल्पनाएँ, असफलता की आशंकाएँ तथा दुर्भाग्यग्रस्त होने की भ्रान्तियाँ तथा अयोग्यता की मान्यता, ऐसी ही प्राणशक्ति-घातक भारी-भरकम चट्टानें हैं, जो

प्राणशक्तिहीन लोगों के व्यक्तित्व को उभरने नहीं देतीं। ऐसे व्यक्ति बहुधा किसी कोने में दबे-छिपे अपने दिन काटते हैं और अपनी सहज प्रतिभा का आसानी से मिलने वाला लाभ भी नहीं उठा पाते।'

प्राणशक्तिहीन एवं प्राणशक्तिसम्पन्न का अन्तर

प्राणहीन और प्राणवान् व्यक्तियों का परिचय देते हुए भर्तृहरि कहते हैं-जो निम्न प्रकृति के लोग होते हैं, वे विघ्नों के भय से कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम वृत्ति के भीरु लोग होते हैं, वे कार्य तो जोश में आकर शुरू कर देते हैं, परन्तु विघ्नों से प्रताड़ित होते ही उस कार्य को बीच में ही छोड़ बैठते हैं। परन्तु जो उत्तम (प्राणवान्) व्यक्ति होते हैं, विघ्नों से बार-बार प्रताड़ित होते रहने पर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोड़ते।'[२]

प्राणशक्ति-विशिष्ट व्यक्ति की पहचान

वस्तुतः जिनमें जैविक ऊर्जा शक्ति या प्राणशक्ति होती है, वे वीर्य विघातक कर्मों के आस्रव और बंध से सावधान रहते हैं। वे व्यभिचार, हिंसा, झूठ, ठगी, चोरी आदि जैसे अनिष्ट एवं अनर्थकर कुकर्म करके अपनी प्राणशक्ति का ह्रास नहीं करते। वे आलस्य और प्रमाद जैसे रक्त को ठंडा कर देने वाले दोषों को हटाने के लिए कटिबद्ध रहते हैं। उनमें शारीरिक और मानसिक स्फूर्ति, कार्य करने की उमंग, अहिंसा आदि की साधना करने का उत्साह, तथा परीषहजय, उपसर्ग-सहन एवं कषाय विजय करने का तितिक्षापूर्ण साहस होता है। ऐसे प्राणवान् व्यक्ति संवर साधना में उदासीनता, उपेक्षावृत्ति एवं असावधानी को पास ही नहीं फटकने देते। आशंकाओं, कुकल्पनाओं तथा भयावह भ्रान्तियों को साहसपूर्वक हटाने में वे आगा-पीछा नहीं सोचते।

ऐसे आत्मविश्वास के धनी व्यक्ति ही अपनी प्राणशक्ति को विकसित करने के लिए कठिनाइयों का सामना करने की खिलाड़ी जैसी उमंग रखते हैं। उनमें निहित प्राणऊर्जा उन्हें खतरे उठाने और अपनी विशेषता प्रकट करने के लिए प्रेरित करती है। उनके अंदर का शौर्य बाह्यजीवन में पुरुषार्थ पराक्रम बनकर प्रकट होता है। सफलताओं के ताले ऐसे प्राणशक्तिसम्पन्न व्यक्ति साहस की चाबी से खोलते हैं।

---

१ (क) अखण्ड ज्योति मार्च १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. १५
(ख) 'जो सहस्सं सहस्साणं संगामं दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥' -उत्तराध्ययन सूत्र अ. ९, गा. ३४
(ग) 'पंचेंदियाणि कोहं, माणं, मायं, तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेवं अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं॥' वही, ९/३६

२ प्रारभ्यते विघ्नभये न नीचैः, प्रारभ्य विघ्न-विहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्यचोत्तमजना न परित्यजन्ति॥
-भर्तृहरि नीति शतक ७२

प्राणशक्ति की सर्वाधिक उपयोगिता

निष्कर्ष यह है कि भौतिक जगत् में अग्नि, भाप, गैस, तेल, बिजली, अणुविस्फोट, लेसर आदि की जो उपयोगिता है, उससे कहीं अधिक उपयोगिता सजीव प्राणियों के लिए जैविक विद्युत शक्ति, ऊर्जा शक्ति या प्राणशक्ति की है, जो प्रत्येक जीवित प्राणी के शरीर में न्यूनाधिक रूप में पाई जाती है। मनुष्य में उस प्राणशक्ति का अजस्र भण्डार भरा पड़ा है।

शरीरयंत्र की संचार प्रणाली का मूलाधार : ऊर्जाशक्ति

मन-बुद्धि-इन्द्रियादि-सहित इस समग्र शरीर-यंत्र की संचार प्रणाली का मूलाधार अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म कारण क्या है? इसके अनुसन्धान में रत शरीर-विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शरीर की मांसपेशियों–रगों में काम करने की स्थिति तक ऊर्जा, अर्थात्–पोटेन्शिएलिटी का, तथा उसके साथ जुड़ी रहने वाली इण्टेन्सिटी (संकल्पशक्ति) का जीवन-संचार में बहुत बड़ा हाथ है। इन विद्युत्-(तैजस) धाराओं (अथवा प्राणधाराओं) का वर्गीकरण तथा नामकरण–"सीफैलीट्राइजेमिल न्यूरैलाजिया" की चर्चा एवं व्याख्या के साथ प्रस्तुत भी किया गया है। ताप विद्युतीय-संयोजन (थर्मोलैशिक कपलिंग) के शोधकर्ता अब इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानव-शरीर का सारा क्रिया-कलाप इसी विद्युतीय (प्राण) शक्ति के संचार के माध्यम से गतिशील रहता है।

प्राणी के जीवन का मूलाधार : प्राणशक्ति

समस्त प्राणियों में न्यूनाधिक रूप में यह प्राणशक्ति (विद्युत्-शक्ति) काम करती है, यह सर्वविदित है। चिकित्साशास्त्र में शरीर की ऊष्मा, तैजस तथा प्राण के द्वारा ही प्राणी की जीवन शक्ति का पता लगाया जाता है। मानव शरीर में विद्युत्शक्ति (प्राणशक्ति) है, इस तथ्य को 'इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफी' तथा 'इलेक्ट्रो इनसिफैलोग्राफी' के द्वारा प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

शरीर विज्ञान के अनुसार प्राणी की रक्तनलिकाओं में हेमोग्लोबिन जैसा लौहयुक्त द्रव (Liquid) भरा पड़ा है। जिस प्रकार लौह चूर्ण और चुम्बक परस्पर चिपके रहते हैं, उसी प्रकार जीव-सत्ता सभी जीव कोषों (जैन परिभाषा में आत्मप्रदेशों) से परस्पर सम्बद्ध रहती है। उनकी सम्मिश्रित चुम्बकीय (प्राण) चेतना से वे समस्त कार्यकलाप चलते हैं, जिन्हें हम जीवन संचार-व्यवस्था कहते हैं।[1]

शरीर में और सब कुछ हो, किन्तु प्राण न हो तो प्राणी मृत समझा जाता है। आँख, कान, नाक, जीभ, हाथ, पैर आदि सब इन्द्रियाँ और अवयव यथास्थान हों, किन्तु प्राण

---

१. अखण्ड ज्योति अप्रैल १९७६ से भावांश ग्रहण पृ. १९

चला जाता है, तो प्राणी समाप्त हो जाता है। प्राणी का जीवन प्राण पर आधारित है। प्राण होता है, इसीलिए प्राणी, प्राणी कहलाता है। प्राणी चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा, चींटी हो, चाहे हाथी, सभी में प्राण विद्यमान हों, तभी प्राणी, प्राणी कहलाता है, अन्यथा मृत प्राणी को लोग मुर्दा कहते हैं। जैनागमों में प्राणी[1] के लिए 'प्राण' शब्द का भी प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है।

एक जीवित प्राणी और मृत प्राणी में क्या अन्तर है? जीवित प्राणी में प्राण विद्यमान होता है, इसलिए वह आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, जीभ से चखता है, हाथ से किसी चीज को छूकर स्पर्श का अनुभव करता है, हाथ-पैर हिलाता है; किन्तु मृत प्राणी में ये सब चेष्टाएँ नहीं होतीं, वह हिल-डुल नहीं सकता, जरा-सी भी गति, स्पन्दन, धड़कन, क्रिया या चंचलता उसमें नहीं होती। इस दृष्टि से प्राण का फलितार्थ हुआ–सक्रियता, गतिशीलता, स्पन्दन तथा चंचलता; और निष्प्राण का फलितार्थ हुआ–निष्क्रियता, गतिहीनता, निःस्पन्दता और स्थिरता।[2]

देहधारी प्राणी के लिए प्राण ही जीवन है। जीवन का मूल-आधार प्राण है। जहाँ प्राण क्षत-विक्षत हो जाता है, हताहत हो जाता है, प्राणों को चोट पहुँचती है, अथवा प्राणधारा किसी अवयव में अवरुद्ध हो जाती है, वहाँ वह अवयव निष्क्रिय, निःस्पन्द, शून्य, जड़वत् एवं नष्ट भी हो जाता है। लकवा मार जाने पर, पक्षाघात हो जाने पर जीवित मनुष्य के एक पक्ष के अंग जड़वत् शून्य और निष्क्रिय हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले कहा गया था, जिस व्यक्ति के जीवन में प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है, अथवा कम हो जाती है अथवा कुण्ठित एवं क्षतिग्रस्त हो जाती है, वह व्यक्ति जीता हुआ भी मृतवत् रहता है, उसमें किसी भी सत्कार्य को तथा संसाधना को करने का उत्साह, साहस, उमंग, ओज, तेज, ऊष्मा और जोश नहीं होता। वह जीवन तो जीता है, किन्तु प्राण शक्ति से क्षीण होकर वह जीवित लाश को किसी तरह ढोता है।

प्रश्न होता है, जब प्राण प्रत्येक प्राणी के शरीर में विद्यमान रहता है, तब प्राण रहते हुए भी प्राणी के तन-मन आदि निष्प्राण-से, जड़-मृतवत् निष्क्रिय-से क्यों हो जाते हैं? क्या प्राण एक प्रकार का नहीं है?

इस दृष्टि से जब हम अध्यात्म ग्रन्थों, शास्त्रों, एवं योगसाधनासूत्रों का पारायण करते हैं तो यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, कि प्राण दो प्रकार के हैं–एक सामान्य प्राण और दूसरा विशेष प्राण।

---

१. "सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ·····।"
–आचारांग श्रु. १ अ. ४ उ. २

२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ५६-५७

सामान्य प्राण प्राणी के सारे शरीर में विद्यमान और क्रियाशील रहता है। सामान्य प्राण वैसे तो एक ही है, जो समग्र देह में क्रियाशील है, गतिशील है, स्पन्दन करता है, हलचल करता है। वही प्राणी के जीवित रहने का आधार है, वही प्राणी में जीवन का संचार संचालन और सिंचन करता है। उसी प्राण के बल पर हम और आप जी रहे हैं, हल-चल कर रहे हैं, हाथ-पैर आदि हिला रहे हैं। वह सामान्य प्राण शरीर में सर्वत्र अबाध गति से संचरण करता रहता है।[1]

सामान्य प्राण एक : विविध क्रियाशीलता के कारण अनेक

सामान्य प्राणतत्त्व वैसे तो एक है, परन्तु प्राणी के शरीर में उसकी क्रियाशीलता के आधार पर वह कई भागों में विभक्त किया गया है। शरीर एक होते हुए भी शरीर के प्रमुख अवयवों की रचना नामकर्म विशेष के कारण होती है, उनके गठन तथा ऊँचाई-लम्बाई-चौड़ाई की भिन्नता के कारण उनके आकार-प्रकार में भिन्नता पाई जाती है। इसी आधार पर उनका नाम भी भिन्न भिन्न रखा गया है।

प्राणियों के शरीर में प्राण शक्ति को जो विशिष्ट उत्तरदायित्व निभाने पड़ते हैं, उन्हीं के आधार पर प्राण तत्त्व एक होते हुए भी क्रियाशीलता के आधार पर इन प्राणों को पांच भागों में विभक्त किया गया है। उन्हीं के आधार पर उनके नामकरण भी पृथक् पृथक् हैं, गुणधर्म भी पृथक् पृथक् हैं।

यद्यपि इस पृथकत्व के मूल में एकता विद्यमान है। जैसे–बिजली एक है, परन्तु उसके प्रयोग विभिन्न यंत्रों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। हीटर, कूलर, पंखा, रोशनी, पिसाई, यंत्रसंचालन आदि प्रयोग करते समय एक ही बिजली की शक्ति और प्रकृति भिन्न-भिन्न हो जाती है। उपयोग और प्रयोजन को देखते हुए भिन्नता का अनुभव भी किया जाता है, फिर भी विज्ञ लोग जानते हैं कि यह सब एक ही विद्युत्-शक्ति के बहुमुखी क्रिया कलाप है।

प्राणशक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। प्राण तत्त्व एक होते हुए भी मनीषियों ने उसकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। शरीर क्षेत्र में इन प्राणों के क्या-क्या कार्य हैं? इसका निरूपण योग साधना विशारदों के द्वारा भी तथा आयुर्वेदशास्त्र में भी किया गया है। शरीर के विभिन्न केन्द्रों (भागों) में पांच प्राणों के साथ ही अपने-अपने केन्द्र पर अधिकार रखने और उत्तरदायित्व संभालने वाले ५ उपप्राणों का भी निर्देश किया गया है।

पांच प्राण हैं–(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान और (५) व्यान। पांच उपप्राण ये हैं–(१) देवदत्त, (२) वृकल, (३) कूर्म, (४) नाग और (५) धनंजय।

---

१. वही से भावांश ग्रहण पृ. ५७

अमरकोष में पांच प्राणों के विभिन्न स्थानों का निर्देश भी इस प्रकार किया गया है–हृदय में 'प्राण', गुदा (मलद्वार) में 'अपान', नाभिमण्डल में 'समान', कण्ठप्रदेश में 'उदान' और 'व्यान' समग्र शरीर में व्याप्त है।[1]

प्राण के अधिकाधिक प्रकट होने का प्रमुख केन्द्र : हृदय

आयुर्वेद शास्त्र में प्राण का अर्थ किया गया है–जो प्रकर्षरूप से श्वास को अन्दर लाता–खींचता है, अथवा प्रकर्ष रूप से बल संचार करता है, शक्ति को आकर्षित करता है, वह प्राण है।

शरीर में प्राण का सबसे प्रमुख एवं सर्वोत्कृष्ट स्थान हृदय है। हृदय ही ऐसा प्रमुख केन्द्र है, जहाँ प्राण अधिकाधिक मात्रा में प्रकट होता है। जहाँ हृदय अथवा योग की भाषा में अनाहतचक्र का स्थान है, वहाँ व्यक्तरूप से प्राण का संचरण सर्वाधिक मात्रा में होता है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक' में प्राण को ओज कहकर उल्लेख किया है–"हृदय ओज का परम (उत्कृष्ट) स्थान है।"[2]

शरीर शास्त्र के अनुसार हृदय अपने साथ लगे हुए दो फेफड़ों (Lungs) के द्वारा प्राणवायु को बाहर से अन्दर की ओर ऑक्सीजन के रूप में ग्रहण करता है और अन्दर की दूषित वायु (कार्बन) को बाहर निकालता है। हृदय हवा भरने (पम्पिंग) का काम भी करता है और हवा को बाहर निकालने (स्प्रेइंग) का काम भी।

हृदय की धड़कन से शरीर में प्राणों की गतिविधि यथार्थ है या विपरीत, इसका ठीक-ठीक पता लगता रहता है। रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) उच्च है, निम्न है, अथवा नोर्मल (समतोल) है, इसकी जानकारी भी चिकित्सक लोग हृदय की धड़कन से लगा लेते हैं। हृदय में प्राणों की गति अवरुद्ध हो जाने से प्राणी को मृत घोषित कर दिया जाता है। प्राणों की गति में कहीं रक्त के गाढ़े होकर जम जाने से, कहीं फेफड़ों में कफ के जमा हो जाने से, या पित्त के प्रकोप से रुकावट आ जाती है।

---

१. (क) अखण्ड ज्योति मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४४
(ख) प्राणोऽपानः समान श्चोदानो व्यान एव च।
हृदि प्राणो, गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः।"
–अमरकोष, प्राणिवर्ग

२. (क) आकर्षेण आनयति, प्रकर्षेण वा दरूपति, आकर्षति च शक्ति स प्राणः।
(ख) तत्परस्योजसः स्थान। –चरक
(ग) महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ५८

जब हृदय धोंकनी की तरह शीघ्र गति से सांस लेने, छोड़ने और हाँफने लग जाता है, तब डॉक्टर उच्च रक्तचाप (हाईब्लडप्रेशर) घोषित कर देता है और हृदय में जब श्वास की गति अत्यन्त मन्द पड़ जाती है, तब डॉक्टर उस व्यक्ति के शरीर में लो ब्लड प्रेशर (नीचा रक्तचाप) घोषित करता है। हृदय प्राण की गति को मापने का एक थर्मामीटर है। वह प्राण के सहारे सारे शरीर में विविध नलिकाओं, नाड़ियों द्वारा रक्त को प्रवाहित एवं वितरित (Supply) करता है।

शरीर में प्राण के प्रकट होने का द्वितीय केन्द्र : अपान

प्राण के प्रकट होने का दूसरा केन्द्र अपान नामक प्राण (वायु) है। इसका अर्थ आयुर्वेद शास्त्र में इस प्रकार दिया गया है–जो शरीर में संचित मलों को प्रकर्षरूप से बाहर निकालता है, बाहर फैंकता है, ऐसा शक्ति सम्पन्न प्राण अपान है। अपान विशेषतः गुदाद्वार से मल को बाहर निकालता है। मल, मूत्र, स्वेद (पसीना), कफ, लींट (नाक का मैल), रज, वीर्य आदि का विसर्जन तथा भ्रूण के प्रसव आदि को बाहर फैंकने की समस्त क्रियाएं इसी अपान प्राण के द्वारा होती है। यह भी प्राण को शरीर में संतुलित रखता है। मल, मूत्र आदि शरीर में अवरुद्ध हो जाने अथवा खाया हुआ भोजन नहीं पचने से पेट में सड़ता है, इससे फिर अपच, अजीर्ण, कोष्ठबद्धता, गैस आदि, तथा डकार, हिचकी आदि अनेक व्याधियाँ फैलती हैं। अपान वायु दूषित हो जाने से शरीर में प्राणों का संतुलन बिगड़ जाता है।

प्राण के प्रकट होने का तृतीय केन्द्र : समान प्राण

समान प्राण नाभिमण्डल में स्थित होकर कार्य करता है। समान का अर्थ है–जो पाचन-रसों का सम्यक् प्रकार से यथास्थान वितरण करता है। पाचक रसों का उत्पादन और उनके स्तर को उपयुक्त बनाए रखना इसी प्राण का काम है। इस प्राण का दूसरा कार्य यह भी है कि यह नाभिमण्डल में स्थित होकर प्राणायाम द्वारा प्राण का व्यर्थ व्यय होने से रोकने का, तथा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाने का कार्य भी करता है।

प्राण का चतुर्थ केन्द्र : उदान प्राण

उदान प्राण का अर्थ आयुर्वेदवेत्ताओं ने किया है–जो शरीर को उठाये रहे, कड़क रखे, नीचे गिरने न दे, वह उदान है। ऊर्ध्वगमन की अनेकों प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष क्रियाएँ इसी के द्वारा सम्भव होती हैं। अमरकोष के अनुसार यह प्राण कण्ठप्रदेश में अवस्थित होने से शरीर में वाणी संचार का, कण्ठ से संगीत ध्वनि करने, आवाज निकालने तथा मुख से व्यक्त-अव्यक्त शब्दोच्चारण करने का कार्य करता है। उदान प्राण जिह्वा, मुख, कण्ठ और होठ में स्वर संचार की शक्ति प्रदान करता है। योगदर्शन में कहा गया है–समान पर विजय होने पर शरीर की सक्रियता एवं ऊर्जा ज्वलन्त रहती है।

प्राण का समग्र शरीर व्यापी केन्द्र : व्यान प्राण

व्यान प्राण का अर्थ किया गया है–जो समग्र शरीर में व्याप्त है, वह व्यान है। यह प्राण सारे शरीर में गति, स्पन्दन, क्रिया या हलचल करता है। शरीर के समस्त अंगोपांगों में यह शक्ति संचार का कार्य करता है। यह रक्तसंचार, श्वास प्रश्वास, ज्ञान तन्तु आदि माध्यमों से सारे शरीर पर नियन्त्रण रखता है। अन्तर्मन की स्वसंचालित समस्त शारीरिक गतिविधियाँ इसी के द्वारा सम्पन्न होती हैं।[1]

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है–'इस काया नगरी में पाँच अग्नियों का निवास है। ये ही पंच प्राणों के रूप में प्रज्वलित रहती है। अपान गार्हपत्य अग्नि है। व्यान आहवनीय अग्नि है। जो उच्छ्वास-निश्वास के रूप में श्वासों का आवागमन सम्यक् रूप से करता है, वह समान प्राण है। पूर्वोक्त दोनों अग्नियों का समन्वय 'प्राण' नामक प्राण है। मन यजमान है, और इष्टफल उदान प्राण है। जैनदर्शनोक्त तैजस् शरीर से इनकी तुलना की जा सकती है।[2]

पांच उपप्राणों का कार्यकलाप

पांच उपप्राणों का कार्यकलाप इस प्रकार है–(१) देवदत्त नामक उपप्राण मुखमण्डल के साथ जुड़े हुए नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका आदि का उत्तरदायित्व संभालने वाला प्रहरी है। (२) वृकल नामक उपप्राण कण्ठ का दायित्व संभालता है। (३) कूर्म नामक उपप्राण उदर क्षेत्र के समस्त अवयवों की देखभाल रखता है, उनमें सन्तुलन स्थापित करता है। (४) नाग नामक उप प्राण जननेन्द्रिय से सम्बन्धित प्रदेश का संतुलन संभालता है। कुण्डलिनी शक्ति, कामवासना, प्रजनन आदि पर इसी का नियंत्रण है। (५) धनंजय नामक उपप्राण का कार्यक्षेत्र जंघाओं से लेकर एड़ी तक है। गतिशीलता, स्फूर्ति, अग्रगमन का उत्साह इसी की समुन्नत स्थिति का परिणाम है।

---

१. (क) "अपनयति प्रकर्षेण मलमपनयति निस्सारयति, अपकर्षति च शक्तिं इति अपानः।"
(ख) रसं समे नयति, सम्यक् प्रकारेण नयतीति समानः।
समावजयात् प्रज्वलनम् –योगदर्शन पाद ३ सूत्र ४०
(ग) "उन्नयति यः उद्–आनयति वा उदानः।"
(घ) 'व्याप्नोति समस्त शरीरं यः स व्यानः।'
(ङ) अखण्ड ज्योति मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ४४

२. प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो, व्यानोऽन्वाहार्य पचनो यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते, प्रणयनादा हवनीयः प्राणः॥३॥ यदुच्छ्वास-निःश्वासावेतावाहुतो समं नयतीति समानः। मनो ह वाव यजमानः, इष्टफलमेवोदानः। ..... ॥४॥ –प्रश्नोपनिषद् ४/३०४

पांच प्राणों और उपप्राणों का संतुलन बिगड़ने का परिणाम

इस प्रकार पंचप्राण और पंच-उपप्राण का यथास्थान सन्तुलन बना रहे तो जीवन सत्ता के सभी अंग-प्रत्यंग ठीक-काम करते रहेंगे। शरीर स्वस्थ रहेगा, मन प्रसन्न रहेगा और अन्तःकरण के सद्भाव में सन्तोष और आह्लाद झलकेगा। किन्तु इस क्षेत्र (मन, इन्द्रियों, अंगोपांग आदि से युक्त शरीर) में यदि विसंगति या विकृति उत्पन्न होने लगे तो उसकी प्रतिक्रिया आधि-व्याधि-उपाधियों तथा विपत्तियों और विभीषिकाओं के रूप में उभरती दिखाई देती है। रक्त दूषित हो जाने पर अनेक प्रकार के चर्म रोग, फोड़े-फुंसी, दर्द, सूजन आदि बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। यह प्राण तत्त्व की असन्तुलनता का परिणाम है कि शरीर के अवयवों की क्रियाशीलता लड़खड़ाती है। मन:क्षेत्र में उत्पन्न प्राणों का असन्तुलन अस्तव्यस्तता, आवेग और उन्माद आदि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। भावनाक्षेत्र में विकृत हुई प्राणशक्ति मनुष्य को असुरता, दानवता और पशुता के गर्त में गिरा देती है। प्राण तत्त्व की विकृति से अनेक प्रकार से पतन प्रारम्भ हो जाता है।[1]

सामान्य प्राणतत्त्व के संवर की साधना में सावधानी

अतः सामान्य प्राणतत्त्व के इस दशविध प्रकर को लक्ष्य में रखकर प्राण-संवर का अभ्यास करना चाहिए। सामान्य प्राणसंवर की साधना में यह ध्यान रखना होगा कि प्राणों के ये विभिन्न केन्द्र दुर्व्यसनों, विकृत खान-पान, विकारी रहन-सहन तथा अत्यधिक एवं अनावश्यक उपयोग से बचाकर शक्ति को सुरक्षित रखकर आध्यात्मिक प्रयोजनों, पांच समिति और तीन गुप्ति के तथा परीषहजय, कषाय-विजय और जितेन्द्रियता की साधना में लगाये जाएँ। प्रत्येक शारीरिक मानसिक क्रिया या प्रवृत्ति के समय यत्नाचार का पूर्ण ध्यान रखा जाए, तभी आस्रवों का निरोध होकर प्राण-संवर की साधना द्रुत गति से हो सकेगी।

मस्तिष्क : सशक्त प्राणऊर्जा केन्द्र

योग साधना की दृष्टि से मस्तिष्क सबसे सशक्त प्राण-ऊर्जा केन्द्र है। मस्तिष्क एक ऐसा प्राणशक्ति का केन्द्र है, जहाँ से शरीर के विभिन्न अवयवों को कार्य करने के विवेक, क्षमता, और संचालन का आदेश-निर्देश प्राप्त होता है। मस्तिष्क की प्रौढ़ता और सक्रियता के लिए प्रायः बीस वॉल्ट विद्युत् शक्ति (प्राण ऊर्जा) की अपेक्षा रहती है। यह जैविक विद्युत् या प्राण ऊर्जा उत्पन्न होती है तैजस के द्वारा–ऊष्मा के द्वारा। मस्तिष्क एक प्रकार का सूक्ष्म डायनेमो है। कुछ कोशाणु विशेष रूप से इससे प्राण-विद्युत् (तैजस) उत्पन्न करते रहते हैं।

---

१. अखण्ड ज्योति, मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४५

'इलेक्ट्रोएन्सी फैलीग्राफ' की सहायता से यह जाना जा सकता है कि मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् का उत्पादन और खपत कहाँ कितनी हो रही है, और होनी चाहिए। यदि इसमें घट-बढ़ हो जाए तो मानसिक सन्तुलन बिगड़ने लगता है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाने से इन प्राण-विद्युत् धाराओं में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है।

इस मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् की यह विशेषता है कि वह चेतना से सम्बद्ध है, जबकि भौतिक विद्युत् केवल शक्ति-प्रवाह बनकर काम करती है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क के सचेतन शक्ति-संस्थान कुण्ठित, शून्य, विक्षिप्त या विकृत हो जाते हैं, उसके प्रायः दूसरे अवयव भी मन्द तथा निष्क्रिय से, कुण्ठित तथा शून्य हो जाया करते हैं। परन्तु यदि मस्तिष्क प्राणऊर्जा (विद्युत्शक्ति) को प्राण-संवर की साधना-विशेष से जागृत, उद्बुद्ध और सशक्त किया जाए तो उसकी क्षमता जागृत हो सकती है? इसी प्रकार यदि मस्तिष्कीय प्राणविद्युत् को प्राण-संवर की दिशा में नियोजित की जाए तो आत्मा की सूक्ष्म शक्तियाँ विकसित हो सकती हैं।

मनःशास्त्री 'फ्लैमेरियन' का मत है कि "मानवीय विद्युत् की एक गहरी परत ही ओजस् (प्राण) है, इसकी समुचित मात्रा उपलब्ध हो तो मनुष्य सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्तियों से सम्पन्न हो सकता है।"[1]

मानवीय विद्युत् (प्राणऊर्जा) पर विशेष शोध करने वाले 'विक्टर ई क्रोमर' का कथन है कि "(इस प्राण-विद्युत् के समुचित उपयोग से) मनःशक्ति को घनीभूत करने की कला में प्रवीणता प्राप्त करके उसे किसी दिशा विशेष में (लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में) प्रयुक्त किया जा सकता है। यह इतना बड़ा शक्तिस्रोत है कि मानवीय व्यक्तित्व का कोई भी पक्ष उसके प्रयोग से प्रखर और उज्ज्वल बनाया जा सकता है। यदि यह प्रयोग अपनी सूक्ष्म (आन्तरिक) शक्तियों की खोज करने और विकसित करने (उभारने) में किया जा सके तो अतीन्द्रिय चेतना के क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त हो सकती है।"

इस प्रकार चेतनात्मक प्राणऊर्जा का सर्वोत्कृष्ट केन्द्र मस्तिष्क माना गया, और उसके पोषक रक्त-संस्थान को 'हृदय' कहा गया है। हृदय को पोषक-सामग्री पेट से मिलती है। पेट को भरना मुँह का काम है। मुँह के लिए हाथ साधन जुटाते हैं। इस प्रकार शरीर के सारे ही अवयवों का चक्र प्राण शक्ति से संचालित होता है, उनकी कार्यक्षमता देखते ही बनती है।

एक कल कारखाने के संचालन से भी श्रेष्ठ संचालन-व्यवस्था शरीर यंत्र में है, जिसे अव्यक्त रूप से प्राण विद्युत् शक्ति करती है। वस्तुतः समग्र शरीर ही प्राण शक्ति का

---

१. अखण्ड ज्योति, अप्रैल १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. १९

भण्डार है। यह शक्ति असामान्य विद्युत्-स्तर की है। वह असामान्य इसलिए है कि भौतिक विद्युत् की तरह अंधी दौड़ नहीं लगाती, वरन् प्राणी की अपनी-अपनी पर्याप्ति और क्षमता के अनुरूप ही वह प्राप्त होती है, उसी के अनुरूप अपनी गतिविधियाँ फैलाती और समेट लेती है।[1]

प्राणों का मूल स्रोत : नाभि से नीचे तैजस शरीर

योग-साधना-विशारदों के मतानुसार प्राणों का मूल स्रोत–उद्गम-स्थान नाभि से नीचे तैजस शरीर है। तैजस शरीर (जैन सिद्धान्तानुसार एक सूक्ष्म शरीर) से ही प्राण (ऊर्जा, ओज, तेज या जैविक विद्युत्) उत्पन्न होती है। और वही प्राण सारे शरीर में व्याप्त है और संचार करता है। वही शक्ति, स्फूर्ति, उत्साह, आह्लाद, उमंग, आत्मविश्वास, साहस और जीवन देता है। इसे ही ओजस्, ब्रह्मवर्चस, आत्म बल का प्रकटीकरण अथवा जैविक विद्युत् कहते हैं। व्यक्तित्व की प्रखरता होने पर यही प्राण शक्ति बनकर निखरता-उभरता है।

आँखों में चमक, चेहरे का आकर्षण, होठों पर नाचती प्रसन्नता, वाणी में जोश और प्रभावशालिता, इत्यादि सब व्यक्तित्व की प्रखरताएँ या विशेषताएँ केवल शारीरिक गठन पर निर्भर नहीं, अपितु प्राण शक्ति (विद्युत्-ऊर्जा) पर निर्भर है। रंगरूप की दृष्टि से सुन्दर दीखने वाले व्यक्ति भी प्राण शक्ति से क्षीण-हीन होने पर उपेक्षणीय एवं हास्यास्पद बने रहते हैं। ऐसे प्राणशक्तिहीन लोगों का प्रथम दर्शन में जो आकर्षक प्रभाव उत्पन्न हुआ था, वह सम्पर्क में आने और व्यक्तित्व का परिचय मिलने के साथ ही समाप्त हो जाता है।

इसके विपरीत काले एवं कुरूप व्यक्ति भी आन्तरिक प्राण ऊर्जा सम्पन्न होने से बहुत ही तेजस्वी एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं। उनकी सूझबूझ, पैनी दृष्टि, आकर्षक वाणी, स्फूर्ति, साहसिकता एवं उमंग देखकर प्रत्येक व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट होता है, उनके सान्निध्य एवं सम्पर्क में प्रसन्नता अनुभव करता है।

इसी तरह हम देखते हैं, शरीर में कई शक्ति संस्थानों में पर्याप्त प्राण ऊर्जा का अभिवर्धन न होने से वे सुषुप्त, कुण्ठित या क्षतिग्रस्त पड़े रहते हैं।[2]

शरीर में पर्याप्त प्राण ऊर्जा के छह केन्द्र

हमारे शरीर में पर्याप्त प्राण ऊर्जा के मुख्यतया ६ केन्द्र माने गए हैं। जिन्हें शास्त्रीय भाषा में पर्याप्ति कहा जाता है। वे पर्याप्तियाँ छह हैं–(१) आहार-पर्याप्ति, (२)

---

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. १६

२. वही, अप्रैल १९७६ से, भावांश ग्रहण, पृ. २१

शरीर-पर्याप्ति, (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, (५) भाषा-पर्याप्ति और (६) मनः पर्याप्ति। ये सारे प्राणशक्ति (जैविक ऊर्जा) के स्रोत हैं, उद्गमस्थान हैं। इनमें प्राण-ऊर्जा उत्पन्न होती है।[1]

दस प्रकार के विशिष्ट प्राण

प्राण का दूसरा प्रकार है–विशिष्ट प्राण। शरीर के विभिन्न कार्यों के आधार पर विभिन्न इन्द्रियों तथा मन, मस्तिष्क, हृदय आदि के संस्थान विशेष में यह प्राण खास नाम से पुकारा जाता है। समवायांगसूत्र के दसवें समवाय में विशिष्ट प्राण के दस प्रकार बताए गए हैं। वे इस प्रकार हैं–(१) श्रोत्रेन्द्रियबल प्राण, (२) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय-बल प्राण, (४) रसनेन्द्रिय बल प्राण, (५) स्पर्शेन्द्रिय-बल प्राण, (६) मनोबल-प्राण, (७) वचन-बल-प्राण, (८) काय-बल-प्राण, (९) श्वासोच्छ्वास बल-प्राण और (१०) आयुष्य बल-प्राण।[2]

दशविध प्राण : शरीर के विभिन्न भागों को शक्ति देने में सहायक

कानों से श्रवण करने में तथा कर्णेन्द्रिय की श्रवण-क्षमता बढ़ाने में जो सहयोगी बनता है, उसे श्रोत्रेन्द्रिय-बल-प्राण कहते हैं। आँखों में प्रेक्षणशक्ति प्रदान करने और दूरदर्शन की शक्ति की वृद्धि करने में जो सहायता करता है, उसे हम चक्षुरिन्द्रिय-बल-प्राण कहते हैं। नासिका से सूंघने तथा सुगन्ध-दुर्गन्ध को पहचानने एवं गन्धग्रहण शक्ति को बढ़ाने में जो प्राण सहायक बनता है, उसे घ्राणेन्द्रिय-बल प्राण कह सकते हैं। जिह्वा से स्वाद चखने तथा खट्टे-मीठे आदि रसों का ज्ञान कराने में तथा रसनेन्द्रिय की रस-परीक्षण शक्ति बढ़ाने में जो प्राण मदद करता है, उसे हम रसनेन्द्रिय-बल-प्राण कह सकते हैं। जो प्राण त्वचा से शीत-उष्ण, हलके-भारी, स्निग्ध-कोमल, कठोर (कर्कश) रूक्ष आदि विभिन्न स्पर्शों का अनुभव करने की शक्ति देता है तथा परीक्षण कराता है, एवं स्पर्श शक्ति में अभिवृद्धि करता है, वह स्पर्शेन्द्रिय-बल-प्राण कहलाता है।

इसी प्रकार जो प्राण मन को उत्साहित, सक्रिय, चिन्तन-मनन-सक्षम, विचारशील, निर्णय करने में सक्षम बनाता है, मन में ओज और तेज और बल भरता है, वह मनोबल-प्राण कहलाता है। जो प्राण वाणी को तेजस्विता, ओजस्विता, प्रभावशालिता, जोश, एवं सक्रियता से परिपूर्ण करता है, तथा बोलने की क्रिया में सहयोग करता है, वह वचन-बल प्राण है। जो प्राण शरीर में स्फूर्ति, क्षमता,

---

१. स्थानांग सूत्र स्था. ६

२. समवायांगसूत्र, समवाय १० से

क्रियाशीलता, विद्युत् ऊर्जा-शक्ति, तेजस्विता तथा सक्रियता ला देता है, उसे काय-बल प्राण कहा जा सकता है।

जो प्राण श्वास लेने और छोड़ने में सहयोग करता है, तथा विशेषतः प्राणायाम आदि श्वास-सम्बन्धी योग-साधना में सहायक बनता है, उसे श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण कहा जा सकता है।

इसी प्रकार जो प्राण आयुष्य को टिकाने, तथा आयुष्य बल की वृद्धि करने में सहयोगी बनता है, उसे हम आयुष्य-बल-प्राण कह सकते हैं।[1]

इस प्रकार क्षेत्र-विशेष एवं कार्य विशेष को लेकर एक ही प्राण के १० विभाग हो गए हैं।

संसारी प्राणियों में दस प्राणों में से किसमें कितने प्राण?

संसारस्थ सभी प्राणियों को इन्द्रियों की अपेक्षा से पांच भागों में वर्गीकृत करके आगमकारों ने इन दस प्राणों में से किसमें कितने प्राण पाए जाते हैं, इसका भी दिग्दर्शन कराया है। सामान्यतया एकेन्द्रिय जीवों में ४ प्राण पाए जाते हैं–स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छवास बल-प्राण और आयुष्य बल प्राण। द्वीन्द्रिय जीवों में ६ प्राण पाये जाते हैं–पूर्वोक्त चार और रसनेन्द्रियबल प्राण तथा वचन बल प्राण। त्रीन्द्रिय जीवों में ७ प्राण पाये जाते हैं–पूर्वोक्त ६ प्राण तथा घ्राणेन्द्रिय बल प्राण। चतुरिन्द्रिय जीवों में ८ प्राण पाये जाते हैं–पूर्वोक्त ७ प्राण तथा चक्षु-इन्द्रियबल प्राण। असंज्ञी (अमनस्क) पंचेन्द्रिय जीवों में श्रोत्रेन्द्रिय सहित ९ प्राण पाए जाते हैं, सिर्फ एक मनोबल-प्राण को छोड़कर। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों (नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों) में दस ही प्राण पाये जाते हैं।[2]

जिन प्राणियों में पूर्वकृत कर्मवश पूर्वोक्त दस प्राणों से कम (अल्प) प्राण पाये जाते हैं, उन्हें स्थानांगसूत्र में क्षुद्र प्राण कहा गया है। वे क्षुद्रप्राण प्राणी छह प्रकार के हैं–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सम्मूर्च्छिम-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, तेजस्कायिक एवं वायुकायिक जीव।[3]

प्राण जीवन में अनिवार्य होते हुए भी प्राण निरोध या प्राण संवर क्यों?

इस प्रकार प्राणों की शक्तिमत्ता, सक्रियता और सवीर्यता का निरूपण करने के पश्चात् प्रश्न होता है–प्राणों की प्रत्येक प्राणी के, विशेषतः मनुष्य के जीवन में

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ५७

२. पच्चीस बोल का थोकड़ा विवेचन युक्त (पं. विजयमुनि शास्त्री) से

३. छव्विहा खुड्डा पाणा पण्णत्ता तं जहा–बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया, संमुच्छिम पंचिंदिय तिरिक्खजोणिया, तेउकाइया, वाउकाइया।
–स्थानांग स्थान ६

अनिवार्यता होने के बावजूद भी प्राण-संवर या प्राणनिरोध से क्या लाभ है? उलटे, प्राणों को निःस्पन्द करने, प्राणों की गति-प्रगति को शिथिल करने एवं प्राण शक्ति का अभिवर्धन करने के बदले उसका निरोध करने से पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन में अकर्मण्यता और निष्क्रियता, उत्साहहीनता और साहसहीनता तथा व्यावहारिकता में अनेक अड़चनें आ जाएँगी। अतः प्राणसंवर का जीवन में क्या औचित्य है? प्राण संवर से आत्मा को क्या लाभ है? इन प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक है।[1]

प्राणशक्ति का क्षय, अपव्यय एवं अत्युपयोग रोकने हेतु प्राणसंवर आवश्यक

यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि किसी भी प्रवृत्ति को अत्यधिक करने से अथवा किसी भी कार्य में दुःसाहसपूर्वक प्रवृत्ति करने से प्राणों की ऊर्जा का अभिवर्धन होने के बजाय क्षय ही होता है। प्राणों की ऊर्जा, शक्ति या विद्युत् को जितना अधिक व्यय या अपव्यय किया जाएगा, मनुष्य उतना ही अधिक प्राण-ऊर्जा से क्षीण या विहीन होता जाएगा, उसकी प्राणशक्ति कुण्ठित, क्षतिग्रस्त एवं दुर्बल होती जाएगी।

जैसे–आँखों से अत्यधिक काम लेने से, अतिनिकट से सिनेमा आदि दृश्यों को बार-बार देखने से आँखों की प्राणशक्ति (देखने की शक्ति) कमजोर हो जाती है, आँखों में मोतिया उतर आता है, ठीक से, साफ दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार कानों में अत्यन्त तीव्र आवाज, अत्यधिक शोर शराबे के शब्द, अथवा सशक्त बम आदि फूटने की आवाज से कान के पर्दे बहुधा फट जाते हैं, श्रवण शक्ति कम हो जाती है, उसका कारण भी श्रवणेन्द्रिय की प्राणशक्ति का ह्रास होना है।

इसलिए जो लोग प्राणशक्ति का निरोध करके, उसका अपव्यय होने से बचाते हैं, प्राणशक्ति को संचित करते हैं या संवृत करते हैं वे पूर्वोक्त दशविध प्राणों की शक्ति एवं ऊर्जा में अभिवृद्धि करते हैं तथा अपनी कार्यक्षमता को कर्म के संवर और निर्जरा द्वारा मोक्ष मार्ग में लगाते हैं।

जो लोग प्राण संवर या प्राण निरोध के लिए अपनी प्रवृत्ति को अत्यन्त कम करके शान्त, निरवद्य स्थान पर आसन जमाकर धर्म-शुक्लध्यान का अभ्यास करते हैं, वे सच्चे माने में प्राणसंवर कर लेते हैं। वे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की साधना में, परीषहजय में, कषाय विजय में, इन्द्रिय-मनोविजय में अपनी प्राणशक्ति का नियोजन करते हैं, अपनी कार्यक्षमता का शुद्ध धर्म-मार्ग में, संवर निर्जरारूप धर्म में, कर्मक्षय में उपयोग करते हैं।

जो लोग अपनी प्राणशक्तियों का इन्द्रियों, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास एवं आयुष्य के रूप में अपव्यय कर डालते हैं, दुर्व्यसनों में फंस कर प्राणशक्ति को नष्ट कर

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण, पृ. ५८, ५९

डालते हैं, वे कर्तृत्व क्षमता से रहित, हीन बन जाते हैं। अतः प्राणों की गति को नष्ट करने के बदले मन्द कर देने की, प्राणों को निःस्पन्द, निश्चल करने की कला का परिज्ञान और अभ्यास ही प्राणों की कार्यक्षमता में वृद्धि करना है।[1]

मनुष्य के पास ध्वंसात्मक शक्ति भी है, सृजनात्मक शक्ति भी। यदि प्राणों की शक्ति की अभिवृद्धि करके उसे युद्धों, संघर्षों, हिंसात्मक कार्यों तथा विनाशलीला में लगाया जाए; मांसाहार, मद्यपान, शिकार, हत्या, दंगा, लूटपाट आदि दुःसाहसों एवं दुर्व्यसनों में शक्ति का दुर्व्यय किया जाए, अथवा विलासिता एवं कामुक उत्तेजना आदि में अपव्यय की जाए तो प्राणशक्ति का ध्वंस बहुत शीघ्र हो सकता है। नैतिक, धार्मिक मर्यादाओं का, योग्य साधनों एवं परिस्थितियों का ध्यान न रखकर दुःख एवं उद्दण्डता अपनाई जाती है, वहाँ भी निःसंदेह प्राण ऊर्जा नष्ट भ्रष्ट हो जाती है।

प्राणों की शक्ति बढ़ती है–प्राणों का अपव्यय न करने से, प्राणों को निःस्पन्द करने से। पूर्वोक्त दशविध प्राणों की शक्ति का अभिवर्धन प्रत्येक प्राण की ऊर्जा (शक्ति) को संचित करने से, तथा उसका उपयोग चरम लक्ष्य की दिशा में, कर्म-मुक्ति की साधना में करने से होता है। यह तथ्य आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर बताया है। प्राण-संवर का उद्देश्य और वास्तविक स्वरूप भी इसी प्रकार का है।

श्रवणेन्द्रिय की क्षमता : द्रव्यश्रोत्रेन्द्रियनिरोध से

सर्वप्रथम श्रवणेन्द्रिय बल प्राण को ही लें। संसार की सर्वाधिक संवेदनशील 'रडार' मनुष्य की कर्णेन्द्रिय है। ध्वनि कम्पनों को स्थूल (द्रव्य) कर्णेन्द्रिय कितने भेद-प्रभेद के साथ पकड़ता है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कोलाहल रहित स्थान में मक्खी की भिनभिनाहट जैसी बारीक आवाज छह फीट दूरी से सुनी जा सकती है। अगर द्रव्य कर्णेन्द्रिय का निरोध (संवर) कर दिया जाए यानी बाहर की आवाज को रोक दिया जाए तो केवल भीतर की ध्वनियाँ स्पष्ट सुनाई देने लगती हैं, मानो शरीर यंत्र के वे कलपुर्जे अपनी गतिविधियों की सूचना स्पष्टतः चिल्ला-चिल्लाकर दे रहे हों।

रक्तसंचार, श्वास-उच्छ्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, ग्रहण-विसर्जन, स्थगन-परिभ्रमण, विश्राम, स्फुरणा, शीत-ताप जैसे परस्पर विरोधी अथवा पूरक अगणित क्रियाकलाप शरीर के अंगोपांगों–अवयवों में निरन्तर होते रहते हैं। प्रत्येक हलचल ध्वनि तरंगें उत्पन्न करती हैं। ऐसी स्थिति में उनका अव्यक्त शब्द प्रवाह द्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय संवर की स्थिति में कानों तक पहुंच सकता है। और संवेदनशील श्रोत्रेन्द्रिय उन्हें भलीभाँति सुन भी सकती है।

---

१. अखण्ड ज्योति, मई १९७६ से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण पृ. १९

कान सरीखा कोई इलेक्ट्रानिक उपकरण मनुष्य द्वारा बन सकना कठिन है। सुनने के प्रयोजन में काम आने वाले मानव-निर्मित यंत्रों की तुलना में कर्णेन्द्रिय की संवेदनशीलता दस हजार गुनी है। यदि कर्णेन्द्रिय की क्षमता बढ़ाई जाए तो वह ४ लाख प्रकार की आवाज पहचान सकती है और उनके विविध प्रकार का परिचय भी पा सकती है। शतावधानी और सहस्रावधानी लोग सौ एवं हजार शब्द शृंखला को क्रमबद्ध से सुनते हैं और उन्हें मस्तिष्क (भावेन्द्रिय) में धारण कर सकते हैं; साथ ही वे उन सुने हुए शब्दों और वाक्यों को क्रमशः या विपरीत क्रम से वापस सुना सकने में समर्थ होते हैं। कहते हैं, पृथ्वीराज चौहान की श्रवणक्षमता इतनी विकसित थी कि उसने घण्टे पर पड़ी चोट को सुनकर उसकी दूरी की सही स्थिति ज्ञात कर ली थी।

कर्णेन्द्रिय की रचना से कानों की प्राणऊर्जा ग्रहण शक्ति

कर्णेन्द्रिय की रचना ऐसी है कि उसकी बहुत ही बारीक और संवेदनशील झिल्ली की मोटाई एक इंच की २५०० ब्रिलियन (एक ब्रिलियन दस लाख के बराबर होता है) जितनी है। इस झिल्ली के तीन अंग हैं। तीसरे भाग की झिल्ली का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क (भाव-श्रोत्रेन्द्रिय) से है। कान के बाहरी पर्दे पर टकराने वाली आवाज को लगभग ३५०० कणिकाओं द्वारा आगे धकेला जाता है और मस्तिष्क तक पहुँचने में उसे सेकण्ड के हजारवें भाग से भी कम समय लगता है। मस्तिष्क की प्राणऊर्जा उसे शीघ्र ग्रहण और धारण कर लेती है। और फिर उसे स्मरणशक्ति के कोष्ठकों में पहुँचा देती है। प्राणशक्ति के द्वारा काफी पहले सुनी हुई आवाज को स्मरण करके मनुष्य निर्णय कर सकता है कि यह आवाज अमुक व्यक्ति की है, या अमुक वाद्य की है।[1]

इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय के साथ प्राणशक्ति जुड़ जाने से श्रवण क्षमता बढ़ जाती है। सिकन्दर की श्रवणशक्ति विलक्षण थी। एक बार रात को उसने एक गायन सुना। निस्तब्ध नीरवता में उस गीत की ध्वनि बहुत दूर से आ रही थी। परन्तु सिकन्दर ने उस गीत को केवल सुना ही नहीं, याद भी कर लिया। कई दिनों तक वह संगीत ध्वनि उसी समय पर उसी तरह कई दिनों तक सुनाई देती रही। सिकन्दर ने अपने कर्मचारियों को उस संगीत के गायक की दूरी और उसके स्थान की दिशा भी बतला दी कि वह गायक ५ मील दूर, नीरव जंगल में, अमुक दिशा में है, तथा उसे बुलाने के लिए कर्मचारियों को भेजा तो ठीक उतनी दूरी पर उसी दिशा में वह गायक उन्हें मिला।

नेपोलियन बोनापार्ट की प्राणऊर्जायुक्त श्रवणशक्ति इतनी तीव्र थी कि उसे अपनी सेना के प्रायः हर सैनिक का नाम याद रहता था, और आवाज सुनकर ही बिना देखे वह बता देता था कि कौन बोल रहा है?

---

१. अखण्ड ज्योति, मार्च १९७२ से साभार सारांश उद्धृत पृ. ३५

श्रवणेन्द्रिय क्षमता में वृद्धि कैसे-कैसे सम्भव?

यदि पूर्वजन्म कृत शुभकर्म के स्वरूप श्रवणेन्द्रिय के साथ पर्याप्त प्राणशक्ति (इन्द्रियपर्याप्ति) मिल जाए और मनुष्य अभ्यास करे तो वह श्रवण क्षमता में आश्चर्यजनक प्रगति कर सकता है। स्थूल (द्रव्य) कर्णेन्द्रिय का भी विकास इतना हो सकता है कि वह सिकंदर की तरह दूरगामी शब्दों को भी भलीभांति सुन ले। कानाफूसी की या घुसपुस की आवाज को भी कर्णेन्द्रिय के साथ प्राणऊर्जा की प्रखरता मिल जाने से सुना जा सकता है। भीड़ की चहल-पहल के सम्मिश्रित शब्दोच्चारण में से अपने परिचितों की आवाज को कर्णेन्द्रियबल-प्राणवान् व्यक्ति छांट और पकड़ सकता है।

यह तो हुई द्रव्य (स्थूल) श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा निकटवर्ती एवं परिचित उच्चारणों को सुनने-समझने की क्षमता की बात। इससे भी आगे बढ़कर तैजस शरीर और कार्मणशरीरों में सन्निहित प्राणऊर्जा और कर्मजाशक्ति को विकसित किया जाए तो अन्तरिक्ष में निरन्तर प्रवाहित होने वाली ध्वनियों को, तथा दूरस्थ व्यक्ति के मन की बात को, पशु-पक्षियों और समस्त प्राणियों की मनःस्थिति को बिना देखे-सुने भाव-श्रोत्रेन्द्रिय से सुना-समझा जा सकता है। जो चर्मनिर्मित स्थूल द्रव्य-श्रोत्रेन्द्रिय की पकड़ से बाहर है।

स्थूल (द्रव्य) श्रोत्रेन्द्रिय का विकास भी बाह्य श्रवण संवर से साध्य

कराहने की आवाज सुनकर किसी के शोक या वेदना से ग्रस्त होने, दर्द से छटपटाने, सताये जाने आदि की स्थिति का—दूरी का, तथा नर या नारी का, वृद्ध या बालक के उच्चारण का अनुमान तो स्थूल द्रव्य श्रोत्रेन्द्रिय से भी हो जाता है। किन्तु सूक्ष्म-जगत् की हलचलों का श्रवण तथा स्थूल कर्णेन्द्रिय की पकड़ से बाहर की सूक्ष्म ध्वनियों का श्रवण तैजस-कार्मण शरीर से उपलब्ध प्राणशक्ति से समन्वित भाव-श्रोत्रेन्द्रिय से किया जा सकता है। विश्व में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न स्तर की घटित होने वाली घटनाओं का विवरण भी अव्यक्त रूप से सुना, जाना जा सकता है। तथा इहलोक-परलोक में कहीं भी हो रही हलचलों को प्राणशक्ति युक्त भाव-कर्णेन्द्रिय के एकाग्र एवं संवृत होने पर सुना-जाना जा सकता है। जो जानकारियाँ सर्व-साधारण द्वारा जानी-सुनी नहीं जा सकतीं, वे प्राणऊर्जा सम्पन्न भाव-कर्णेन्द्रिय के विकास द्वारा जानी-सुनी जा सकती हैं।[1]

किसी की श्रवणेन्द्रिय की प्राणशक्ति पूर्वजन्मकृत कर्म-क्षयोपशमवश इतनी विकसित हो जाती है कि वह केवल एक बार सुनकर उसे मस्तिष्क में वर्षों तक स्थायी रख सकता है। जापान निवासी हनावा होकाइशी (सन् १७२२-१८२३) सात वर्ष की

---

१. अखण्ड ज्योति मार्च १९७२ से भावांश ग्रहण पृ. ३६

आयु में अन्धा हो गया था। लेकिन बिना नेत्रों के ही दूसरों से सुनकर उसने आश्चर्यनजक ज्ञान वृद्धि कर ली। जो सुना उसे पूरे मनोयोगपूर्वक सुना और ध्यान में रखा। फलतः आश्चर्यजनक रूप से उसका ज्ञानभण्डार इतना बढ़ गया कि उसके द्वारा नोट कराये गए ज्ञान-कोश को जापान में २८२० खण्डों के एक विशाल ग्रन्थ के रूप में छापा गया है।[1]

'लाक्रोज' की श्रवणशक्ति विलक्षण थी। उसने एक बार अपरिचित १२ भाषाओं की १२ कविताएँ सुनीं और दूसरे ही क्षण उन्हें ज्यों का त्यों दुहरा दीं।

सर जान फील्डिंग अमेरीका के जज थे। वे अन्धे थे, पर उनके कान पूर्वकृत कर्म के क्षयोपशमवश इतने सक्षम थे कि अपने जीवनकाल में जिन तीन हजार अपराधियों से उनका वास्ता पड़ा था, उन सबकी आवाज पर से वे उन्हें ठीक तरह से पहचान सकते थे और उनका नाम भी बता सकते थे। मुकदमों के मुद्दतों बाद भी वे लोग उनसे मिलने आते तो वे उसका नाम और मुकदमों का सन्दर्भ तक बता देते थे। श्रवणेन्द्रियबलप्राण की एकाग्रता से भी ऐसी क्षमता प्राप्त हो सकती है।[2]

कर्णपिशाचिनी विद्या-सिद्धि से दूरस्थ श्रवण क्षमता

रेडियो, टेलिफोन या टेलिविजन तो निर्धारित स्थान से निर्धारित स्थान पर ही सन्देश पहुँचा सकते हैं, जिन्हें विशेष यंत्रों द्वारा ही प्रेषित किया जाता है और उन्हें भी डायरेक्ट सुन सकते हैं, विशेष यंत्र ही, परन्तु कर्णपिशाचिनी विद्या के सिद्ध कर लेने पर कहीं भी हो रहे शब्द-प्रवाह को सुना जा सकता है। इस तांत्रिक साधना में मन को एकाग्र करके विधिपूर्वक कर्णेन्द्रिय को उसी में केन्द्रित करना पड़ता है तभी प्राणऊर्जा के सहारे अव्यक्त एवं दूरस्थ ध्वनियों के एवं शब्द प्रवाह के श्रवण की क्षमता बढ़ती है।[3]

नादयोग की साधना से श्रवणक्षमता में अपूर्व वृद्धि

नादयोग की साधना से भी सूक्ष्म शब्द-प्रवाहों को श्रवण करने की क्षमता में अपूर्व वृद्धि की जा सकती है। परन्तु इस साधना में भी कानों के बाहरी पर्दे बंद करके बाहर के स्थूल-शब्द श्रवण का निरोध करना पड़ता है, कानों के छेद बन्द करने पड़ते हैं, मानसिक एकाग्रता करनी पड़ती है, तभी श्रोत्रेन्द्रिय में तैजस-कार्मण शरीर के द्वारा प्राणऊर्जा बढ़ती है, जिससे प्रारम्भ में कई प्रकार की दिव्यध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। अर्थात्–इस साधना के प्रारम्भ में शरीर के अन्तरंग में हो रही हलचलें स्पष्ट सुनाई देती हैं।

---

१. वही, भावांश ग्रहण मार्च १९७७ से पृ. ५४
२. अखण्ड ज्योति मार्च १९७७ से साभार उद्धृत पृ. ५४
३. वही, मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ५५

नादयोग के अभ्यासी कहते हैं कि प्रारम्भ में शंख, घंटा, घड़ियाल, मृदंग, वीणा, नूपुर जैसे स्वर सुनाई देते हैं। कभी मेघों के गर्जन, झरने के बहने, आग जलने, तथा झिंगुर बोलने जैसी क्रमबद्ध ध्वनियाँ श्रवणगोचर होती हैं। बाद में नादयोग के साधक की श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण-धारण की क्षमता बढ़ जाती है, और वह अनुभव एवं अभ्यास के आधार पर उनका विश्लेषण एवं वर्गीकरण करके जान लेता है, कि इस ध्वनि के साथ कहाँ का, किस प्रकार का, किस काल की घटना का संकेत है।

नादयोग का अभ्यासी साधक प्रारम्भ में अपने शरीरस्थ अवयवों की हलचल, रक्त प्रवाह, हृदय की धड़कन एवं पाचन संस्थान की गतिविधि को उसी प्रकार जान सकता है, जिस प्रकार डॉक्टर लोग स्टेथिस्कोप आदि उपकरणों की सहायता से हृदय की गति, रक्तचाप की उच्चता-निम्नता आदि का पता लगा लेते हैं। इसके गहन अभ्यास के बाद भावश्रोत्रेन्द्रिय में प्राणऊर्जा इतनी बढ़ जाती है कि ईथर में चल रहे ध्वनिकम्पनों तथा अन्तरिक्ष में विद्यमान घटनाक्रमों को वह सुन सकता है, जान सकता है।[1]

तैजस-कार्मणशरीर द्वारा उपलब्ध प्राणऊर्जा से भाव-श्रोत्रेन्द्रिय का विकास होने से संसार में कहीं भी घटित होने वाले घटनाक्रम को सुना जाना जा सकता है, क्योंकि तैजस-कार्मणशरीर का सीधा सम्बन्ध चेतना जगत् से है। श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण की ऊर्जाशक्ति बढ़ जाने पर व्यक्ति लोगों के मन में उत्पन्न होने वाली विचारयुक्त भाषा को निकट से और दूर से भी सुन जान सकता है। उसे जीव जन्तुओं और पशु-पक्षियों की भी मनःस्थिति का ज्ञान इसी श्रोत्रेन्द्रिय की विशिष्ट क्षमता का विकास होने पर प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार बिना ही उच्चारण के एक मन से दूसरे मन का परिचय तथा विचारों का एवं प्रश्नोत्तरों का आदान-प्रदान होता रह सकता है।

विचार-सम्प्रेषण विद्या के ज्ञाता श्रवणेन्द्रिय को बाह्य कर्मास्रवकारक वस्तुओं के या व्यक्तियों के शब्द सुनने का मोह या आसक्ति छोड़कर श्रवणेन्द्रियबल प्राण का संवर करके इतनी श्रवण क्षमता बढ़ा लेते हैं कि वे मौन रहकर हजारों कोस दूर बैठे या निकटवर्ती व्यक्ति या व्यक्तियों की बातें अन्तःकरण के पर्दे पर अव्यक्त रूप से सुन लेते हैं, अनुभव कर लेते है, और अपनी बात भी बिना बोले दूसरे तक पहुँचा देते हैं।

तीर्थंकरों तथा उच्चदेवलोक के देवों में बिना बोले ही परस्पर मनोगत वाचा को समझने की क्षमता

भगवती सूत्र में श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण एवं चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण को संवृत करके, यानी उससे बिलकुल कार्य न लेने, निःस्पन्द-निष्प्राण कर लेने के परिणाम का स्पष्ट

---

१. वही, नवम्बर १९७८ से भावांश उद्धृत पृ. ५१

दिग्दर्शन कराते हुए निरूपण किया गया है–एक बार श्रमण भगवान् महावीर के पास महाशुक्रकल्प (देवलोक) से दो महर्द्धिक महानुभाग देव आए और उन्हें वन्दन-नमस्कार करके बिना कुछ बोले मन से ही दो प्रश्न पूछे, जिसका उत्तर मन से ही भगवान् ने इस प्रकार दिया, जिससे वे सन्तुष्ट एवं हर्षित हुए।

निष्कर्ष यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण का उत्कृष्ट संवर हो जाने के पश्चात् कानों से किसी के शब्दों को बिना सुने ही, आँखों से उसे बिना देखे ही भावेन्द्रिय (मन) की सामर्थ्य इतनी बढ़ जाती है कि तीर्थंकर तो उनके मन की वाचा को जान लेते ही हैं, किन्तु जिज्ञासु उच्च देवलोकवासी देव भी तीर्थंकर आदि के मन की वाचा को अथवा उनके द्वारा बिना बोले ही मन से दिये गए उत्तर को मन ही मन सुन-समझते हैं।[1]

ऐसी संवर साधना कब और कैसे हो सकती है?

तात्पर्य यह है कि कर्णेन्द्रिय बल-प्राण की ऐसी संवर साधना तभी पुष्पित-फलित हो सकती है, जब व्यक्ति सांसारिक एवं राग-द्वेष वर्द्धक, कामना और आसक्ति के उत्तेजक शब्दों को चाहकर, राग-द्वेष से युक्त होकर कदापि सुनने का उपक्रम नहीं करता। न ही किसी की निन्दा विकथा आदि सुनने में रस लेता है। सुनकर भी उसमें डूबता नहीं। ऐसी स्थिति में ही साधक की प्राण-ऊर्जा व्यर्थ नष्ट नहीं होती, वह सुरक्षित रहती है, और धीरे-धीरे भाव श्रोत्रेन्द्रिय की प्राणऊर्जा इतनी बढ़ जाती है, बिना स्थूल शब्दों के सुने ही, वह संवर साधना के दिव्य-संकेतों को समझ लेता है, शास्त्रों के एक शब्द या वाक्य को सुनकर गणधर गौतम स्वामी या श्रुतपारंगत वज्रस्वामी की तरह पदानुसारिणी लब्धि द्वारा सभी पदों को जान लेता है, और उच्चारण कर लेता है। परन्तु यह सब हो सकता है, प्राणों को आध्यात्मिकता तथा शास्त्र-श्रवण-मनन आदि में एकाग्र करने से।

श्रोत्रेन्द्रिय की प्राण-ऊर्जा को व्यग्र, विक्षिप्त एवं नष्ट करने वाली बातें

आज मनुष्य के कान अत्यधिक कोलाहल, एवं तीक्ष्ण आवाजों के कारण व्यग्र और उद्विग्न हो जाते हैं। सामान्य मनुष्य के कान ६० डेसिबल की आवाज को सहन कर सकते हैं, जबकि रेलों, मोटर्स, लाउडस्पीकरों एवं कारखानों आदि के कारण १२० डेसिबल तक की आवाज पैदा होती है। यह शोर-शराबा मनुष्य के मानसिक एवं मस्तिकीय सन्तुलन को बिगाड़ देता है। सिनेमा, वी. डी. ओ., टी. वी., रेडियो, आदि पर दिखाये-सुनाये जाने वाले दृश्यगीत या समाचार अथवा चलचित्र भी उसकी प्राणऊर्जा को व्यग्र, विक्षिप्त एवं नष्ट कर डालने में अग्रसर हैं, जिससे आत्महत्या की, अपराधों

---

१. भगवतीसूत्र शतक ५ उ. ४, सू. १८/१

की, गैरजिम्मेदारी, उद्दण्डता और सनक की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। ऐसे में श्रोत्रेन्द्रियबल प्राण का संवर कितना कठिन और श्रम तथा मनोयोग-साध्य है? इसका अनुमान लगाया जा सकता है?[1]

चक्षुरिन्द्रिय बल-प्राण-संवर की महत्ता और पद्धति

इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय बल-प्राण-संवर की साधना भी चक्षुरिन्द्रिय को शक्ति और प्रेक्षण लब्धि प्राप्त कराने वाली प्राणऊर्जा का व्यर्थ व्यय, अन्तरंग प्रेक्षण-निरीक्षण के बजाय बाह्य निरीक्षण में प्राणऊर्जा को लगाने से नहीं हो सकती। पंचेन्द्रिय विषयों तथा सांसारिक भौतिक पदार्थों को देखने तथा उनके प्रति राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, द्रोह-मोह करने से चक्षुरिन्द्रिय की प्राणऊर्जा कम होती जाएगी।

इसी तरह हिंसा, असत्याचरण, दम्भ, दिखावा, ब्रह्मचर्य भंग, व्यभिचार, परिग्रहवृत्ति, दंगा आदि में जितनी-जितनी चक्षुरिन्द्रिय को लगाई जाएगी, उतनी-उतनी उसकी प्राणशक्ति नष्ट होती जाएगी। मनुष्य की आँखें अन्तरंग के सूक्ष्म पदार्थों को देखना तो दूर रहा, बाह्य स्थूल पदार्थों को भी नहीं देख पाएँगी।

अतएव चक्षुरिन्द्रिय-बल-प्राण-संवर के लिए भी साधना की आवश्यकता है। चक्षुरिन्द्रिय से संलग्न प्राणऊर्जा से अत्यावश्यक दृश्य या रूपी पदार्थ भी राग-द्वेष-रहित होकर, आसक्ति तथा घृणा से दूर रहकर देखने से दृश्य शक्ति का विकास होता है, और उससे अदृश्य जगत् की सूक्ष्म हलचलों को प्रत्यक्षवत् जाना-देखा जा सकता है। गुप्त रहस्य भी ज्ञात हो सकते हैं। भूतकालीन और भविष्यकालीन घटनाओं को चक्षुरिन्द्रियबल-प्राण संवर की साधना से जाना-देखा जा सकता है।

महाभारत के युद्ध में 'संजय' को पूर्वकृत कर्मक्षयोपशमवश वह दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, जिससे वह धृतराष्ट्र के पास बैठा-बैठा भी दूरवर्ती रणक्षेत्र में होने वाले कौरव-पाण्डव युद्ध का साक्षात्कार करके बता देता था। दूरवर्ती घटनाओं का तथा दूर अन्तरिक्ष एवं आकाश में हो रही हलचलों का ज्ञान तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास भी इसी चक्षुरिन्द्रिबल-प्राण के विकास की साधना के परिणाम हैं।[2]

प्राणसंवर की साधना एवं दृष्टि से युक्त एवं वियुक्त दूरदर्शन--दूरश्रवण का परिणाम

यह ठीक है कि वर्तमान विज्ञान ने टेलीविजन आदि की सहायता से दूरदर्शन, दूरश्रवण आदि सर्वसाधारण के लिये सुलभ बना दिये हैं। परन्तु उसके पीछे प्राणसंवर की साधना तथा प्राणसंवर की दृष्टि न होने से कर्मों के संवर की अपेक्षा कर्मों के आस्रवों,

---

१. अखण्ड ज्योति मई १४७८ से पृष्ठ ७३

२. अखण्ड ज्योति मई १९७८ से, भावांश ग्रहण, पृ. ७३

उसमें भी अशुभ (पाप) कर्म के आस्रवों का उपार्जन ही अधिक होता है। यदि मनुष्य चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय से विषय-ग्रहण की उपलब्धि के साथ-साथ उसकी क्षमता में वृद्धि के मूलस्रोत प्राणऊर्जा का अधिकाधिक निरोध, निग्रह या संवर करे तो उसकी चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय की क्षमता इतनी बढ़ सकती है कि वह हजारों कोस दूर बैठे हुए अपने परिचित-अपरिचित व्यक्तियों को निकट बैठे हुए-सा देख-सुन सकता है। उनकी गतिविधि को जानने की दिव्यदृष्टि प्राप्त कर सकता है।

गाँधारी की दिव्यदृष्टि का सुपरिणाम

कहते हैं, धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी ने अपने नेत्रों पर पट्टी बांधे रखकर उन्हें इतना दिव्य दृष्टि सम्पन्न बना लिया था कि वह जिस किसी के शरीर पर अपनी दिव्य दृष्टि फिरा देती, उसका शरीर वज्रमय हो जाता था। गांधारी ने अपनी दिव्यदृष्टि अपने पुत्र दुर्योधन के शरीर पर फिरा कर उसका शरीर वज्रांग बना दिया था।

चक्षुरिन्द्रिय बलप्राण संवर की साधना पद्धति

अतः चक्षुरिन्द्रिय बल-प्राण-संवर का साधक या तो अपनी प्राणऊर्जा को बाह्य वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रेक्षण से रोक लेता है या फिर वह यतनापूर्वक प्रेक्षण करता है। प्रेक्षासंयम उसकी साधना का मुख्य अंग बन जाता है। फलतः वह अनावश्यक प्रेक्षण को, अश्लील एवं कामोत्तेजक प्रेक्षण को बन्द कर देता है। अत्यन्त आवश्यक या सार्थक प्रेक्षण-निरीक्षण भी वह राग-द्वेष या आसक्ति-घृणा से रहित होकर करने का अभ्यास करता है। वह धर्म-शुक्ल-ध्यान के द्वारा अन्तरंग आत्मगुणों या आत्मशक्तियों का, स्व-भाव या स्व-स्वरूप का निरीक्षण-प्रेक्षण करता है। यही चक्षुरिन्द्रिय-बल-प्राण-संवर के उद्देश्य एवं साधना की पूर्वभूमिका युक्त पद्धति है।

प्राणसंवर की दृष्टि से युक्त होने पर ही यथार्थ देखा-सुना जा सकता है

भगवती सूत्र में इसी से सम्बन्धित एक प्रश्नोत्तर-युक्त संवाद है—भगवान् महावीर और गौतम स्वामी का। संक्षेप में भगवान् की ओर से उत्तर यों है कि "भावितात्मा मायी (कषायवान्) मिथ्यादृष्टि अनगार राजगृही में रहा हुआ अपनी वैक्रियलब्धि, वीर्यलब्धि (प्राणशक्ति की उपलब्धि) और विभंग ज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गत रूपों को जानता-देखता है, किन्तु अन्यथा भाव से जानता-देखता है, (प्राणसंवर की दृष्टि से नहीं); इसके विपरीत भावितात्मा अमायी (अकषायी), सम्यग्-दृष्टि अनगार अपनी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से राजगृही में रहा हुआ वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गत रूपों को तथाभाव से जानता-देखता है, अन्यथा भाव से नहीं।"

इस शास्त्रीय पाठ से यह स्पष्ट है कि नेत्रेन्द्रिय की प्राणक्षमता में वृद्धि एवं उपलब्धि होने के बावजूद अगर भावितात्मा अनगार मायी मिथ्यादृष्टि है तो

वह प्राणसंवर की दृष्टि से उन वैक्रिय रूपों को जान-देख नहीं सकता, अन्यथा रूप से ही जानता देखता है, जबकि भावितात्मा अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार यथार्थ रूप से उन्हें जान देख सकता है। अर्थात्–वह प्राण संवर की अध्यात्म दृष्टि से जान-देख सकता है।[1]

घ्राणेन्द्रिय बल प्राण का संवर : एक चिन्तन

घ्राणेन्द्रिय बल प्राण से नासिका में सूंघने की शक्ति–लब्धि प्राप्त होती है। घ्राणेन्द्रिय की यह क्षमता चींटी, कीड़ों, दीमकों, मधुमक्खियों, कुत्तों आदि में विशेष रूप से पाई जाती है। किन्तु वे घ्राणेन्द्रिय में प्राप्त प्राण ऊर्जा से विशिष्ट क्षमता प्राप्त कर लेने पर भी उसका संवर कतई नहीं कर पाते; जबकि मनुष्य घ्राण शक्ति से प्राप्त गन्ध ग्रहण-क्षमता का समभावपूर्वक संवरण कर सकता है। अर्थात्–वह सुगन्ध-दुर्गन्ध के प्रति होने वाले राग-द्वेष, आसक्ति और घृणा भाव न लाकर समभाव में स्थित रहकर घ्राणेन्द्रियबल प्राण-संवर कर सकता है। परन्तु यह वही कर सकता है, जो घ्राणेन्द्रिय की सुगन्ध-दुर्गन्ध ग्रहण शक्ति को, उसका उपयोग राग-द्वेष मोह में लिप्त होने–आस्रवों के लिए नहीं, अपितु अन्तर् में ही सुगन्धि ग्रहण शक्ति पाकर आत्मध्यान में लीन होने के लिए करता है।[2]

घ्राणशक्ति कैसे निर्बल होती है, कैसे प्रबल?

आज अधिकांश मानव पहले तो घ्राणशक्ति की उपेक्षा करके उसे निर्बल बनाने में लगे हुए हैं। घ्राणेन्द्रिय का अत्यधिक उपयोग सुगन्धित पदार्थों को सूंघकर आसक्त होने और दुर्गन्धित पदार्थों से घृणा करके उससे बचने में कर रहे हैं। वे आत्मध्यान में लीन होने और अंदर ही अंदर आत्मा की अन्तरंग सौरभ पाने अथवा बाह्य गन्ध पर समभाव रखने में घ्राणशक्ति का उपयोग नहीं करते।

यों साधारण देवपूजक, अपने देव की द्रव्यपूजा में धूप, इत्र, पुष्प, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का उपयोग करता है, परन्तु उसके पीछे समभाव की, आत्मध्यान की, आत्मलीनता की कोई संवरप्रधान दृष्टि नहीं है, केवल देव को सन्तुष्ट करने या रिझाने की दृष्टि होती है, जिससे अपना लौकिक या भौतिक स्वार्थ सिद्ध हो सके।[3]

घ्राणेन्द्रिय बल प्राण के संवर की सही पद्धति जानने से लाभ

घ्राणेन्द्रिय बल प्राण के संवर की सही पद्धति जानकर उसकी साधना की जाए तो आस्रव निरोध का आध्यात्मिक लाभ मिल सकता है।

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र शतक ६, उ. ७ सू. १-२ तथा शतक ३, उ. ५, सू. १-२
२. अखण्ड ज्योति अक्टूबर १९७३ से यत्किंचिद् भाव ग्रहण, पृ. ३५-३६
३. अखण्ड ज्योति अक्टूबर १९७३ से भावांश ग्रहण, पृ. ३७

रसनेन्द्रिय-बलप्राण का संवर : कब और कब नहीं?

रसनेन्द्रिय बल प्राण-संवर कैसे हो सकता है ?इसे भी जानना आवश्यक है। जिह्वा के साथ प्राणऊर्जा का संयोग होने पर उसमें चखने, स्वाद को परखने और रसास्वादन करने की शक्ति आती है। परन्तु इस प्राणशक्ति से उपलब्ध रसास्वादन शक्ति का उपयोग बाह्य रसों का आस्वादन करने में लगाकर व्यक्ति अपनी प्राणऊर्जा को नष्ट कर डालते हैं, स्वास्थ्य भी बिगाड़ते हैं और अन्तःकरण भी।

इसकी अपेक्षा रसनेन्द्रिय के साथ संयुक्त प्राणशक्ति को बाह्य रसास्वादन का निरोध करके उसे अन्तरंग रसास्वादन में लगाया जाए, आन्तरिक आत्मगुणों के रसास्वादन का आनन्द प्राप्त किया जाए या 'रसो वै सः' इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार परब्रह्म-परमात्मभक्तिरस का आस्वादन किया जाए तो रसनेन्द्रिय प्राणसंवर की साधना का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। अथवा जीभ पर खाद्य-पेय वस्तुओं का स्पर्श होने पर तथा उनके स्वाद का सहज अनुभव होने पर भी मन से मनोज्ञता-अमनोज्ञता का चिन्तन तथा राग-द्वेष या आसक्ति-घृणा का विश्लेषण न किया जाए।

शास्त्रों में यत्रतत्र यह बताया गया है कि जिस प्रकार सांप बिल में सीधा प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जिह्वेन्द्रिय संयमी साधक भी आहार पर प्रीति-अप्रीति का चिन्तन उपक्रम किये बिना चबा कर सीधे ही गले से नीचे उतार दे।

स्वादविजय के सन्दर्भ में बृहत्कल्प भाष्य में कहा गया है-"जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषय भोगों के आस्वादन की ओर नहीं दौड़तीं। तप का प्रसंग आने पर भी वह क्लान्त नहीं होता; और न ही सरस भोजन में आसक्त होता है।" यद्यपि जिह्वेन्द्रिय प्राणसंवर की साधना अत्यन्त कठिन है, तथापि अभ्यास से साध्य है।[1]

स्पर्शेन्द्रिय-बलप्राण-संवर की साधना से लाभ

इसके पश्चात् स्पर्शेन्द्रिय-बल-प्राण संवर की साधना का क्रम आता है। स्पर्शेन्द्रिय के साथ पूर्व-कृत-कर्म-क्षयोपशम-वशात् पर्याप्त प्राणऊर्जा का संयोग मिलने पर स्पर्शेन्द्रिय की प्रयोग शक्ति प्राप्त होती है। परन्तु इसका उपयोग सहज स्वाभाविकरूप में होता रहे, तब तो कोई बात नहीं, परन्तु मनुष्य स्पर्शेन्द्रिय के शीत-उष्ण आदि आठ-स्पर्शों[2] को पाकर मनोज्ञता-अमनोज्ञता का चिन्तन करके राग-द्वेष में वृद्धि करता है और कर्मों के आस्रव और बन्ध में भी वृद्धि करता रहता है।

---

१. अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसएसु संपत्तंति।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि॥ -बृहत्कल्पभाष्य-१३३१

२. अट्ठफासा पण्णत्ता, तंजहा-कक्खडे, मउए, गरुए, लहुए, सीते, उसिणे, णिद्धे, लुक्खे।
-स्थानांग स्थान ८

स्पर्शेन्द्रिय का सर्वाधिक दुरुपयोग कामुकता–कामवृत्ति के वश होकर करता है, तब इसकी प्राणऊर्जा की अत्यधिक क्षति होती है। स्पर्शेन्द्रिय के साथ उपलब्ध प्राणऊर्जाशक्ति का निरोध करके तथा उसके विषयों के प्रति राग-द्वेष मोह न करके स्पर्शेन्द्रिय-प्राणशक्ति में अभिवृद्धि करनी चाहिए और उसका उपयोग आत्मगुणों का स्पर्श करने में अथवा महापुरुषों के, चरण स्पर्श में करना चाहिए था, उसके बदले स्पर्शेन्द्रिय का अधिकाधिक उपयोग और विषयों का उपभोग करके उसकी शक्ति का ह्रास ही करता है।

महान् आध्यात्मिक साधकों एवं महापुरुष एवं आमर्शोषधिलब्धि प्राप्त साधकों की स्पर्शशक्ति इतनी प्रबल हो जाती थी कि वे किसी भी दुःसाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति के शरीर को छू लेते तो उसका रोग छू-मंतर हो जाता है, किसी भी जिज्ञासु साधक के मस्तक पर हाथ रखकर उसमें विशिष्ट शक्तिपात कर सकता है। आमर्शोषधि-लब्धि से सम्पन्न व्यक्ति के चरणों की रज के स्पर्श से आधि,व्याधि और उपाधि मिट सकती है। उसके हाथ, पैर या शरीर के किसी अंग के स्पर्श से दुःसाध्य होगी, कुष्ट रोगी या अन्य चेपीरोग से आक्रान्त व्यक्ति का रोग शीघ्र ही मिट जाता है।

इसी प्रकार खेल्लोसहि लब्धि सम्पन्न का कफ (खंखार या लींट) जल्लोसहि लब्धि संपन्न के पसीना एवं विप्पोसहि लब्धि संपन्न व्यक्ति का मलमूत्र तथा सर्वौषधि लब्धि सम्पन्न व्यक्ति के समस्त अंगों का स्पर्श मात्र रुग्णव्यक्ति का रोग मिटाने में औषध रूप बन जाता है।

किसी भी व्यथा से पीड़ित व्यक्ति को आशीर्वाद दे देने से या मंत्र द्वारा हस्तस्पर्श या मोरपिच्छी के स्पर्श से झाड़ा दे देने से या मंत्रित जल का स्पर्श करा देने से उसकी समस्त व्याधि का निवारण तो साधारण स्पर्शेन्द्रियशक्ति सम्पन्न व्यक्ति कर सकता है। महात्माओं के चरण ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य आदि की साधना के कारण विशिष्ट प्राण-ऊर्जा से सम्पन्न हो जाते हैं, इसलिए उनके चरण छूने से, उनका कर स्पर्श पाने से व्यक्ति की कुबुद्धि सद्बुद्धि में, दुराचरण सदाचरण में परिवर्तित हो जाता है।

रामकृष्ण परमहंस की स्पर्शेन्द्रिय इतनी प्राण ऊर्जा सम्पन्न थी कि उनकी सेवा में अहर्निश रहने वाला एक शिष्य उनके जीते-जी इतना अध्ययनशील नहीं था, न ही किसी विषय पर उपदेश दे सकता था, किन्तु उनके देहावसान के बाद वह उपनिषदों, गीता, भागवत आदि पर बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण करके धड़ल्ले से उपदेश देता था। यह श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा उसे दी गई स्पर्शदीक्षा का प्रभाव था।

इसी प्रकार पूर्वजीवन में नास्तिक नरेन्द्र को केवल एक बार उसके मस्तक पर हाथ रखकर उन्होंने परमात्मा के प्रति पूर्ण आस्तिक और संन्यास दीक्षा के लिये तत्पर बना दिया था।

यह सब स्पर्शेन्द्रिय की प्राणशक्ति के संवर्धन का प्रभाव था, जो स्पर्शेन्द्रिय की प्राणशक्ति का अपव्यय न करने, और अत्यावश्यकता होने पर यतनापूर्वक उपयोग करने से सम्भव हो सकता है।

त्वचा की संवेदनशीलता भी प्रखर बनती है, स्पर्शेन्द्रिय की प्राणशक्ति के निरोध से

त्वचा की संवेदनशीलता भी प्रखर बनती है, स्पर्शेन्द्रिय की प्राणशक्ति का यथावश्यक निरोध करने से। संवेदनशीलता का विकास होने पर परिवेश के सूक्ष्माति-सूक्ष्म स्पन्दनों का ग्रहण एवं विश्लेषण करने की क्षमता बढ़ जाती है।[1]

कहते हैं–"ऋषि दयानन्द की ब्रह्मचर्यनिष्ठा के प्रभाव से स्पर्शेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) की संवेदनशीलता इतनी बढ़ गई थी कि पानी को छूते ही उन्हें पता लगा जाता था कि यह पानी बासी है या ताजा?

इसी तरह नैष्ठिक ब्रह्मचारी साधु या सद्गृहस्थ श्रावक के शरीर से स्पृष्ट वस्त्र किसी को पहना या ओढ़ा देने से उसका समस्त रोग मिट जाता है। गुजरात के श्रावक पेथड़शाह ने जब से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया, तब से उनके पहने या छुए हुए वस्त्र को लेजाकर पहनाने अथवा उसके शरीर से उक्त वस्त्र छुआने से बहुत-से रुग्ण व्यक्ति रोगमुक्त हो जाते थे।

किसी-किसी की स्पर्शेन्द्रिय प्राणऊर्जा पूर्वजन्म कृतकर्म के क्षयोपशम से स्वतः इतनी बढ़ जाती है कि वह दूसरे की किसी भी वस्तु–वस्त्र, अंगूठी या कोई अंग-स्पृष्ट वस्तु–छूकर उसके भूत और भविष्य की घटना को यथार्थरूप से बता देते थे।

परन्तु यह सब स्पर्शेन्द्रिय बलप्राण संवर की साधना में तभी सहायक बन सकता है, जब अर्जित प्राणशक्ति का इस जन्म में या पूर्वजन्म में दुरुपयोग, दुर्व्यय या अवांछनीय कुकृत्यों में उसका अपव्यय न हुआ हो; और अत्यन्त आवश्यक हो, तभी उसका उपयोग यतनापूर्वक किया हो। तभी उसकी स्पर्शेन्द्रिय की प्राणशक्ति का विकास हो सकता है और संवर में प्रयोग हो सकता है।

मनोबल-प्राण के संवर की साधना

शरीर से परिपुष्ट होने भर से कोई व्यक्ति बलिष्ठ नहीं हो जाता। शक्तिमान वे हैं, जिनमें मनोबल पर्याप्तमात्रा में विद्यमान है। दुर्बल काया लेकर कर्मक्षेत्र में उतरने वाले महान् मानवों की संख्या इतिहास में अगणित है, जिन्होंने अपने मनोबल के सहारे स्वयं को ऊँचा उठाया और अगणित लोगों के भविष्य का निर्माण किया।

आद्यशंकराचार्य सरीखे भयंकर भगंदर व्रण से रुग्णव्यक्ति अपने छोटे-से जीवन काल में आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त कर चुके। महात्मागांधी दुर्बलकाय[1] होते हुए भी

१. अखण्ड ज्योति, जून १९७४ से, पृ. २५

असाधारण मनोबल प्राण के बल पर ब्रिटिश सरकार को बिना अस्त्र शस्त्र के झुका सकने में समर्थ हुए। दुर्बलकाय एवं अल्सर जैसे रोग से ग्रस्त संत विनोबाभावे अपने जीवन काल में भूदान-ग्रामदान आदि के आन्दोलन द्वारा भारत के अगणित लोगों में दानचेतना जगा सके और अनेक कार्यकर्ताओं का निर्माण कर सके। यह सब प्राणऊर्जा सम्पन्न मनोबल का ही प्रभाव था।

ये सब उदाहरण शरीरबल के नहीं, मनोबल की महत्ता प्रतिपादित करते हैं। शरीरबल और मनोबल की तुलना करनी हो तो विशालकाय हाथी के अपेक्षाकृत लघुकाय सिंह के मल्लयुद्ध प्रतिफल से वस्तुस्थिति सहज ही समझी जा सकती है।

प्राणशक्ति समन्वित मनोबल द्वारा प्रबल इच्छाशक्ति की वृद्धि के चमत्कार

मन की शक्ति प्राणमयी जैविक ऊर्जा से बढ़ती है, उसके द्वारा अभूतपूर्व इच्छा शक्ति (Will power) बढ़ाई जा सकती है। मैस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म इसी मनोबल से अनुप्राणित इच्छा शक्ति के चमत्कार हैं। मांत्रिक साधना के द्वारा मनोबल से अनुप्राणित इच्छाशक्ति से कतिपय जैन यतियों के द्वारा मकान को एक जगह से उठाकर या खिसकाकर दूसरी जगह ले जाने, अन्न के बोरों को एक जगह से दूसरी जगह उड़ा ले जाने, अमावस्या को पूर्णिमा के चन्द्र का दृश्य दिखा देना तो कई लोगों के मुंह से सुने हैं।

मास्को निवासी कुमारी नेल्सा माइखेलोवा नामक रूसी महिला ने मन की अत्यधिक एकाग्रता और इच्छाशक्ति के प्रयोग से ऐसी मानसिक शक्ति (मन में सन्निहित प्राणऊर्जा) प्राप्त की है कि वह अपनी तीक्ष्ण दृष्टि का प्रयोग करके चलती हुई घड़ी की चाल रोक देती है। उसे तेज या मन्द कर सकती है। कम्पास की सुई को भी इधर-उधर कर सकती है। इतना ही नहीं, मेज पर रखी हुई वस्तुओं को बिना छुए वह इधर से उधर कर सकती है। रूस के प्रमुख समाचार पत्र 'प्रावदा' के संवाददाता नेल्सा से भेंट की तो उसने अपने मनोबल प्राण के विकास के कई चमत्कार बताए।

वस्तुओं को प्राणऊर्जा समन्वित मनोबल के आधार पर इच्छाशक्ति द्वारा प्रभावित करने का अब एक स्वतंत्र विज्ञान ही बन गया है जिसे 'साइकोक्रिनासिस' (संक्षेप में सी. के.) कहते हैं। इस विज्ञान द्वारा यह तथ्य प्रतिपादित किया जाता है कि ठोस दीखने वाले पदार्थों के अन्तर्गत भी विद्युत्-अणुओं की तीव्रगामी हलचलें होती रहती हैं। इन विद्युत्-अणुओं (जैनदृष्टि से तैजस् अणुओं) में भी स्पन्दन करने वाला (सचेतन) तत्त्व है, जिसे (प्राणऊर्जा से उत्पन्न) मनोबल की शक्तितरंगों द्वारा प्रभावित, नियंत्रित एवं परिवर्तित किया जा सकता है।[1]

१. अखण्डज्योति नवम्बर १९७३ से भावांश ग्रहण, पृष्ठ ५०

कुछ वर्षों पूर्व डॉक्टर राल्फ एलेक्जेण्डर ने इस प्रकार की इच्छा शक्ति का सार्वजनिक प्रदर्शन मेक्सिको नगर में किया था, जिसमें सभी प्रकार के बुद्धिजीवियों एवं सम्भ्रान्त नागरिकों ने भाग लिया था। प्रयोग यह था कि आकाश में छाये बादलों को किसी भी स्थान से किसी भी दिशा में हटाया जा सकता है, उनकी मनचाही आकृति बनाई जा सकती है तथा उन्हें बुलाया और भगाया जा सकता है। प्रदर्शन के प्रारम्भ में आकाश में एक भी बादल नहीं था परन्तु प्रयोगकर्त्ता ने देखते ही देखते मेघधाराएँ बुला दीं, उनकी चित्र-विचित्र आकृतियाँ बना दीं, और विभिन्न दिशाओं में उन्हें बिखेर दिया।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में प्राणऊर्जा सम्पन्न मनोबली के बारे में बताया था कि वह किसी का प्रश्न सुने बिना ही अपने पास रखे हुए कागज में उसे अंकित कर देता है। स्वामी विवेकानन्द मण्डली के साथ उपस्थित व्यक्तियों के पास पहुँचे। उन्हें एक एक कागज देकर, अपने-अपने प्रश्न अपने मन में सोच लेने को कहा। स्वामीजी और उनके सभी साथियों ने अपने-अपने प्रश्न मन में सोच लिये। फिर उन्हें अपने-अपने कागज खोलकर देखने को कहा गया।

स्वामीजी कहते हैं–मेरी सोची हुई संस्कृत भाषा की पंक्तियाँ ज्यों की त्यों उस कागज पर लिखी मिलीं। मेरे एक साथी ने अरबी भाषा की एक कविता सोची थी, वह भी ठीक उसी तरह लिखी मिली। तीसरे साथी ने जर्मन की किसी डॉक्टरी पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा था, वह भी उनके कागज पर ज्यों का त्यों लिखा मिला।[1]

वस्तुतः ये सब प्राणऊर्जा सम्पन्न मनोबल के विकास के चमत्कार हैं। एक व्यक्ति के विचार दूरवर्ती व्यक्ति को पहुँचाए जा सकते हैं, उसे प्रभावित भी किया जा सकता है, इसी मनोबलप्राण के विकास से।

प्राण शक्ति युक्त मनोबल कैसे प्राप्त होता है?

किसी-किसी व्यक्ति को यह शक्ति पूर्वजन्म में उपार्जित कर्म विशेष के क्षयोपशम से प्राप्त हो जाती है, और एक सीमा तक बढ़कर लुप्त हो जाती है, क्योंकि उसने मन के साथ प्राप्त प्राण शक्ति का सदुपयोग नहीं किया, उलटे लोगों को सताने, मारने, लूटने, ठगने आदि में किया।

मन की प्राणऊर्जा का ह्रास और विकास कैसे होता है?

अतः मन की प्राणऊर्जा को अनावश्यक रूप से व्यय करने, असाध्य महत्त्वाकांक्षाओं से, मन से आर्त्तरौद्रध्यान करके इस शक्ति का अपव्यय करने से यह मनःशक्ति घटती है। उसका ह्रास उत्थान का नहीं, पतन का कारण बनता है। जिन लोगों को यह प्राणऊर्जा सम्पन्न मनोबल प्राप्त होता है, उनकी इच्छाशक्ति पूर्वोक्त अपव्यय को

१. वही, नवम्बर १९७३ से भावांश ग्रहण, पृ. १३

रोकने से तथा अपने मनोनीत शुद्ध लक्ष्य में केन्द्रित करने से तथा एकाग्रता से मनोबल प्राण-संवर की साधना प्रारम्भ होती है।

मन को एकाग्र एवं लक्ष्य में केन्द्रित करने के उपाय

अन्तिम लक्ष्य में मन की एकाग्रता अथवा केन्द्रीकरण की सिद्धि का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसे व्यर्थ की उलझनों–समस्याओं से दूर रखा जाए। जिन बातों या रत्नत्रय की साधनाओं से तथा अपने लक्ष्य से सीधा सम्बन्ध हो, ऐसी ही बातों और विचारों तक सीमित रहा जाए।

अधिकांश लोग अपनी सांसारिक बातों में, घर-परिवार आदि की चिन्ताओं और समस्याओं में तथा छोटी-मोटी व्यर्थ की बातों में अपने मन को व्यस्त और व्यग्र बनाये रखते हैं, जिनका न तो स्वयं की आत्महित साधना से तथा रत्नत्रय रूप धर्म से कोई सम्बन्ध होता है, और न ही परहित, परकल्याण से उन बातों का कोई वास्ता होता है।

जो लोग जात्यन्धता, सम्प्रदायान्धता एवं राष्ट्रान्धता, तथा स्वार्थान्धता में उलझे रहते हैं, वे अपने मन को एकाग्र, लक्ष्य में तल्लीन एवं शुद्ध भावों में तन्मय नहीं कर सकते।

इसी प्रकार निरर्थक उत्सुकता की वृत्ति एवं विचारधारा वाले लोग मन को संकीर्ण, अनुदार और विशृंखल बना लेते हैं। वे सदैव अशान्त और उद्विग्न रहते हैं। उनका मन लक्ष्य में एकाग्र होने के बदले अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न और कभी-कभी उच्छृंखल और विक्षिप्त भी बन जाता है। बाचाल और गप्पी लोगों की अलक-मलक की बातें सुन-सुन कर, या गंदी राजनीति, एवं युद्धोन्माद के समाचार सुन-पढ़कर उन्हीं की चर्चा विचारणा में उलझे रहने से मन की प्राणऊर्जा का अपव्यय होता है।

अखबारों में ढूंढ़-ढूँढ़कर सनसनीखेज बातें और संघर्षोत्तेजक समाचार पढ़ना, जासूसी कहानियाँ, उपन्यास तथा कामोत्तेजक साहित्य पढ़ना, इत्यादि सब मन की चंचलता को बढ़ाते हैं।

मन की एकाग्रता कहाँ और किन बातों में?

एकाग्रता का यह अर्थ नहीं है कि मन को एक जगह बाँधकर रखा जाए, बल्कि मन को लक्ष्य की गहराई तक प्रवेश कराने की प्रवृत्ति ही वस्तुतः एकाग्रता है। वैसी एकाग्रता उच्चकोटि के आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन-मनन करने से, उच्चकोटि के श्रेष्ठ लोगों का सत्संग एवं पूर्वोक्त प्रकार से मन को व्यर्थ की बातों में न उलझाकर लक्ष्य में एकाग्र होने का अभ्यास करने से ही आती है। वैसी एकाग्रता आती है, धर्म-शुक्लध्यान में मन को एकाग्र करने से।

जब साधक शुभ ध्यान में एकाग्र हो जाता है, तब प्राण शान्त एवं निश्चल होता ही है। योग साधना का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि जब तक प्राण शान्त एवं निश्चल

नहीं होता, तब तक मन शान्त नहीं हो सकता। मन को शान्त करने के लिए प्राण की तीव्र गति को मन्द करना अनिवार्य है।

हठयोग प्रदीपिका में भी कहा गया है–"रस और मन, ये दोनों ही स्वभावतः चंचल हैं। रस के बंध जाने पर मन बंध (वश में हो) जाता है। इनके बंध जाने से भला क्या सिद्ध नहीं हो सकता? ये रस और प्राण मूर्च्छित (शान्त) होने पर समस्त रोगों को हर लेते हैं। (ये दोनों) मरने पर दूसरों का जिला देते हैं। और बंधने पर आकाश में गमन करने लगते हैं। मन के स्थिर हो जाने पर प्राण स्थिर हो जाता है। और प्राण के स्थिर होने से वीर्य (शक्ति) स्थिर हो जाता है। वीर्य के स्थिर होने से शरीर में सत्त्व सदा स्थिर रहता है।"[1]

मनोबल प्राण-संवर में सावधानी और जागृति रखना अनिवार्य

निष्कर्ष यह है कि मनोबल प्राण का संवर मन, प्राण और वीर्य तीनों को स्थिर करने तथा लक्ष्य में एकाग्र करने से ही सम्भव है। मनोबल प्राण-संवर-साधक अपने विचारों के प्रति प्रतिक्षण जागरूक रहता है। मन में निरन्तर विचार तरंगें उठती रहती हैं। वे भले ही उठें, परन्तु गंदे, निरुपयोगी विचार मन-मस्तिष्क में न उठने पाएँ, इस बात के प्रति वह पूर्ण सतर्क रहता है। गंदे और अनावश्यक, साथ ही हिंसादि पापपूर्ण विचारों तथा आस्रवोत्पादक चिन्तन को रोकना और तुरंत खदेड़ देना ही मनोबल प्राण संवर की साधना का प्रारम्भिक रूप है।

सावधान, सतर्क और सक्रिय रहने का कुछ दिन तक दृढ़तापूर्वक अभ्यास किया जाए, तो साधक की चिन्तन धारा में अनावश्यक विचारों का प्रवेश नहीं हो सकेगा। इसलिए संवर साधक विकसित मनःशक्ति को बिखरने नहीं देकर लक्ष्य की दिशा धारा में ही केन्द्रित रखता है।[2]

वचन-बल-प्राण-संवर की साधना के तथ्य और उपाय

वचन-बलप्राण-संवर की साधना भी सतर्कता पर आश्रित है। शरीर से बलिष्ठ या परिपुष्ट दीखने से ही कोई शक्तिमान् नहीं हो जात। शक्तिमान् वह है, जिसके मन और वाणी में प्रचण्ड प्राणऊर्जा सन्निहित है। दुर्बल शरीर लेकर कार्यक्षेत्र में उतरने और सफल होने वाले महान् आत्माओं की संख्या जगत् में अगणित है, जिन्होंने अपने मनोबल के कारण स्वयं को ऊँचा उठाया और वचन बल के कारण हजारों लोगों का जीवन निर्माण किया।

तथागत बुद्ध की वाणी इतनी प्राणशक्ति से समन्वित थी कि खूँख्वार अंगुलिमाल

---

१. अखण्ड ज्योति अप्रैल १९७७ से पृ. ४५

२. अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ४५

डाकू–जिसके लिए मनुष्य को गाजर-मूली की तरह काटने में कोई संकोच न था–एक ही वाक्य से प्रभावित हुआ। उसे हतप्रभ होकर अपनी तलवार फेंकनी पड़ी और तथागत के चरणों में उसने आत्मसमर्पण कर दिया।

यह वाणी की ही ऊर्जाशक्ति का प्रभाव था कि चण्डकौशिक जैसे क्रूर दृष्टिविष सर्प को भगवान् महावीर ने अपने समक्ष नतमस्तक कर दिया। अनेकों राजकुमार श्रेष्ठी, सेनापति, आदि भगवान् महावीर की प्राणशक्ति से अनुप्राणित वाणी से प्रभावित होकर संसार से विरक्त और अनगार एवं अनुगामी श्रमणोपासक बन गये।

स्वामी दयानन्दजी की वाणी ऊर्जाशक्ति से ओतप्रोत थी, इस कारण विरोधी व्यक्ति भी अनुकूल बन जाते थे।

यह वाक्शक्ति का ही प्रभाव था कि आद्यशंकराचार्य जैसे भयानक भगंदर रोग से ग्रस्त व्यक्ति भी अपने छोटे-से जीवन में अपनी वाणी का प्रभाव दिखा गए। कई ग्रन्थों पर भाष्य और विवेचन भी लिखे।

वाणी की यह क्षमता स्वामी विवेकानन्द में अद्भुत थी, अमेरिका आदि विदेशों की जनता पर अपनी वाणी की उन्होंने गहरी छाप डाल दी।[1]

प्राणवती वाक्शक्ति की क्षमता कैसे प्राप्त हो?

वस्तुतः वाणी की शक्ति अद्भुत है। परन्तु वाक्शक्ति की यह क्षमता प्राणऊर्जा की अभिवृद्धि से समुत्पन्न होती है। प्राणशक्ति वाणी के साथ तभी रहती है और विकसित होती है, जब साधक वाणी की शक्ति का अपव्यय या दुर्व्यय न करे। शाप, कटुभाषण आदि से वाणी को बचाए–वाग्गुप्ति की साधना करे।

साधक का चरित्र जब वाक्संवर और वाग्गुप्ति द्वारा परिष्कृत हो जाता है, तभी वाणी के साथ प्राणशक्ति स्थायी रहती है, उस वाक्शक्ति की क्षमता असीम हो जाती है। जिस वाणी के साथ राग-द्वेष, मोह, असत्य आदि विकार नहीं होते वह वाणी-आप्तवाक्य रूप हो जाती है। तीर्थंकरों को वाणी की अतिशय क्षमता प्राप्त हो जाती है। ३५ प्रकार के[2] वाणी के अतिशय उन्हें प्राप्त होते हैं। उसका कारण है–वचन बल प्राण का यथार्थ एवं पूर्ण-संवर।

वाक्शक्ति का माहात्म्य और चमत्कार

शतपथ ब्राह्मण में वाणी को कामधेनु, अमृत एवं साधक का ब्रह्मास्त्र कहते हुए उसकी महिमा का बखान किया गया है–"यह वाक् ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। यही मनुष्य लोक का अमृत है। इसके द्वारा उच्चारित शब्दों में अद्भुत शक्तियाँ भरी हैं।"

---

१. वही, नवम्बर १९७३ से भावांश ग्रहण, पृ. १३
२ समवायांग, ३५ वां समवाय

छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि "जो वाणी को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना (उपयोग प्रयोग) करता है, उसकी गति (वाक्क्षमता) अभीष्ट क्षेत्र तक हो जाती है।" अथर्ववेद में वाणी की प्रखर क्षमता का चमत्कार बताते हुए कहा गया है– "आत्मबल रूपी धनुष, तपरूपी तीक्ष्ण बाण लेकर तप और मन्यु (साहस) के सहारे जब यह ब्रह्मवेत्ता तपस्वी मंत्रशक्ति (वाक्शक्ति) का प्रहार करते हैं तो अनात्म तत्त्वों को पूरी तरह वेध कर रख देते हैं।"

ऋग्वेद में वाक्शक्ति का चमत्कार बताते हुए कहा है कि–"मंत्रशक्ति (वाक्-संयुक्त प्राणऊर्जा) ने पत्थरों को भी चूर-चूर कर डाला।"

वाणी के पीछे साधक का प्राण ऊर्जा समन्वित व्यक्तित्व ही मंत्रों (शब्दशक्ति) में प्रभाव उत्पन्न करता है। धनुष का चमत्कार उस पर चढ़ा कर चलाये हुए बाण से ही उत्पन्न होता है, इसी प्रकार साधक के वचन रूपी धनुष का प्रभाव भी उसके साथ प्राण शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व के जुड़ने पर ही उत्पन्न होता है केवल वचनोच्चारण की या मंत्रोच्चारण की विशेषता नहीं, उसके पीछे मधुरता, सज्जनता, शालीनता और सद्भावना, आदि अन्तःकरण की विशेषताएँ जुड़ी हुई हों, तभी वाणी की क्षमता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वचन बल की क्षमता मौन, वाग्गुप्ति, सत्प्रयोजन, संतुलन, सत्य और सद्भाव के जुड़े रहने से उभरती हुई देखी जाती है। इसलिए वचन-बल-प्राण-संवर के साधक को पहले वाक्शक्ति को विकसित करने हेतु मन, वचन, कर्म में ऐसी उत्कृष्टता समिति और गुप्ति से उत्पन्न करनी पड़ती है कि जिह्वा को दग्ध करने वाला कोई कारण शेष न रह जाए। यदि वाणी दग्ध, कलुषित, दूषित, सावद्य (सपाप) कर्कश, कठोर (कटु), निश्चयकारी, हिंसाकारी, छेदन-भेदनकारी स्थिति में हो तो उसके द्वारा उच्चारित वाणी में प्राण-ऊर्जा विकसित न हो सकेगी, बल्कि वाणी में प्राणऊर्जा क्षीण होती जाएगी, उससे वाक्क्षमता समाप्त हो जाएगी, भले ही वह उक्त (दग्ध) वाणी से कितने ही मंत्रपाठ, स्तोत्र-स्तवन-पाठ, जप, मौन आदि कर ले।

इसके विपरीत निरवद्य (निष्पाप), अकलुषित, एवं पूर्वोक्त दूषणों से रहित भाषा समिति एवं वाग्गुप्ति से युक्त वाणी अद्भुत 'क्षमतायुक्त' हो जाती है, उसके द्वारा उच्चारित एक ही वाक्य से व्यक्ति का हृदय परिवर्तन, एवं जीवन परिवर्तन हो जाता है।

वाणी के परिष्कृत प्रभाव का लौकिक जीवन की प्रगति एवं प्रसन्नता के रूप में ही नहीं, लोकोत्तर जीवन में भी देखा जाता है।

लौकिक क्षेत्र में दूसरों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने, दुर्व्यसन छुड़ा कर नैतिक धार्मिक जीवन-यापन की प्रेरणा देने के प्रयोजन मधुर, संयत, परिष्कृत, हित-मित,

पथ्य, तथ्य और सत्य वाणी से पूरे होते हैं। सत्संग, प्रवचन, कथा, कीर्तन, पाठ, स्तोत्र से लेकर जप साधन तक परिष्कृत वाणी के माध्यम से ही सम्पन्न होते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में नवकार मंत्र आदि आत्म शक्ति वर्द्धक मंत्रों तथा वाग्गुप्ति एवं वाक्संवर की साधना से, उच्चस्तरीय विभूतियाँ, लब्धियाँ, उपलब्धियाँ और क्षमताएँ प्राप्त होती हैं। बशर्ते कि वाणी का परिष्करण या शोधन पहले सत्य, मौन, व्रत, वाक्तप आदि माध्यमों से किया गया हो।

ऐसी परिष्कृत वाणी के धारक मानव की वाणी में इतनी उत्कृष्ट क्षमता उत्पन्न हो जाती है कि वह जड़ जगत् को भी प्रभावित एवं कम्पित कर सकता है। इन्द्र के आसन को कम्पित कर देने की तथा चेतनजगत् में भी व्यापक भाव-प्रवाह उत्पन्न कर देने की क्षमता उसकी वाणी में हो जाती है। वह परिष्कृत और सुसंवृत वाणी के द्वारा स्वपर कल्याण कर सकता है।[1]

इस प्रकार वचनबल-प्राण-संवर द्वारा कर्मों के आस्रव और बन्ध से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में जैनागम सम्मत मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कायबलप्राण, इन्द्रियबलप्राण आदि के समर्थन में इन्द्र द्वारा कहा गया है–"जब मन विचार करता है, तब अन्य सभी प्राण उसके सहयोगी होकर विचारवान् हो जाते हैं। आँखें जब किसी वस्तु को देखने लगती हैं तब अन्य प्राण उनका अनुसरण-अनुगमन करते हैं। वाणी जब कुछ कहने लगती है, तब अन्य प्राण उसके सहयोगी हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ तथा काया आदि जब अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होते हैं, तो प्राण भी उसे पूर्ण सहयोग देते हैं।[2]

कायबल-प्राणसंवर का रहस्य

कायबल प्राण-संवर का रहस्य भी समझ लेना आवश्यक है। काया कितनी ही स्थूल क्यों न हो, उसमें प्राणशक्ति न हो तो वह न तो कोई क्रिया या चेष्टा कर सकती है,

---

१. (क) वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच उत्सदममृतं यच्च मर्त्यम्॥" –शतपथ ब्राह्मण
(ख) स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति।
–छान्दोग्य उपनिषद् ७/२/२
(ग) जिह्वा, ज्या भवति कल्मलं वाक् नाडीका दंतास्तपसाभिः दग्धाः ।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुभिर्देवा। –अथर्व. ५/१८/८
(घ) "अश्मान् चिदये विभिदुर्दुर्वचोभिः।" –ऋग्वेद ४/१५/६
(ङ) अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७० से भावांश ग्रहण, पृ. २०

२. अथ खलु तस्मादेतमेवक्यमुपासीत। सो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः।'''''स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्निर्विस्फुलिंगः। विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा, देवेभ्योलोकाः'''।"
–कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् अ. २

और न ही धर्मपालन करने, या संयमपूर्ण प्रवृत्ति करने में समर्थ हो सकती है। शरीर में प्राणशक्ति जब क्षीण या मन्द होने लगती है, तब उससे उठना-बैठना, चलना-फिरना या करवट बदलना भी कठिन हो जाता है।

इसीलिए जैनशास्त्रों में प्राणशक्ति युक्त शरीर को उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकारपराक्रम में समर्थ बताया गया है। जब किसी साधक के शरीर में उत्थान कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषार्थ-पराक्रम मन्द पड़ जाता है, तब यह समझा जाता है कि उसके शरीर में प्राणऊर्जा अत्यन्त क्षीण हो गई है। फिर वह स्वयं अपने गुरु, आचार्य या दीक्षा ज्येष्ठ श्रमण के पास आकर निवेदन करता है–संल्लेखना-संथारा (समाधिमरण के लिए यावज्जीव अनशन) की आज्ञा के लिए।

उस समाधिमरण-साधक के शरीर का वर्णन करते हुए शास्त्रकार उसके शरीर के प्रत्येक अंग की क्षीणता एवं दुर्बलता का विश्लेषण करते हैं। उसकी जांघें और टांगें कौए के समान अत्यन्त पतली हो गई थीं। उसकी श्रवणशक्ति क्षीण हो गई थी। आँखें अंदर धस गई थीं। उसकी हड्डियाँ और नसें गिनी जा सकें, इस प्रकार से शरीर केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया था। कोयले से भरी हुई गाड़ी के समान चलते समय उनकी हड्डियाँ खड़-खड़ करती थीं। इतना होते हुए भी राख से आच्छादित अंगारों के समान उनका चेहरा तप एवं तेज से देदीप्यमान था। अर्थात्–उनकी आन्तरिक प्राणऊर्जा इतनी बढ़ गई थी कि उनके मुख पर प्रसन्नता थी, उनकी आँखों में तेजस्विता थी, उनके चेहरे और भाल पर ओज था।[1]

इस पर से स्पष्ट है कि शरीर की प्राणशक्ति तप और तितिक्षा से बढ़ती है, और विषय वासनाओं तथा कामभोगों में एवं मद्यपान, मांसाहार, चोरी, व्यभिचार, आदि पापकर्मबन्धक आस्रवों में शरीर को गलाने से शरीर की प्राणशक्ति का ह्रास हो जाता है।

यद्यपि पूर्वजन्म कृत कर्मों के अनुरूप प्राणी को यथायोग्य शरीर मिलता है, किन्तु पूर्वकृत पापकर्म प्रबल हों तो पशु-पक्षी, सरीसृप, जलचर या कीट पतंग आदि का शरीर मिलता है। मनुष्य शरीर भी मिलता है तो इन्द्रियहीन, अवयवहीन अथवा दुर्बल, अशक्त या टेढ़ामेढ़ा बेडौल मिलता है। उसे पूर्वजन्म कृत पापकर्मवश शरीरपर्याप्ति नहीं मिल पाती। शरीर में जितनी पर्याप्त प्राण की शक्ति होनी चाहिए, वह नहीं मिलती।

मृगालोढ़ा (मृगापुत्र) ने पूर्वजन्म में बहुत ही भयंकर पापकर्म किये थे, जिसके कारण राजा का पुत्र होने पर भी उसे शरीर ऐसा मिला जो फुटबॉल की तरह गोल-मटोल

---

१. देखें–(क) भगवती सूत्र द्वितीय शतक, उ. १ में स्कन्दक अनगार का समाधिमरण सम्बन्धी वर्णन
(ख) अन्तकृतदशांग सूत्र वर्ग ८ में काली आदि साध्वियों का संल्लेखना संथारा से सम्बन्धित वर्णन

था। उसके मुंह में उसकी माता आहार का कौर देती, पर वह पचता नहीं, सड़ता और दुर्गन्ध मारता था, खाया हुआ आहार रक्त और मवाद के रूप में बाहर निकल जाता था। उसकी काया में प्राणबल की अत्यन्त कमी थी।[1]

शरीर के साथ श्रेष्ठ निकृष्ट संहनन और संस्थान[2] की प्राप्ति का रहस्य भी यही है।

यह तो ठीक, परन्तु कई लोग अनन्त सामर्थ्यों के पुंज मनुष्य शरीर को पाकर भी प्राणशक्ति को विकसित करने की अपेक्षा आहार-विहार के असंयम, असन्तुलन से इसकी सामान्य क्रियाशीलता का भी ह्रास कर देते हैं। जबकि आहार-विहार के नियमन-संन्तुलन द्वारा इस स्थूल शरीर की प्राणशक्तियों को जागृत, गतिशील एवं सुदृढ़ रखा जा सकता है। उससे परीषहजय, कषायविजय, संयम पालन तथा आध्यात्मिक विकास भलीभाँति किया जा सकता है। किन्तु बहुधा आस्रव परायण बुद्धिवादी लोग विविध तेज दवाइयाँ और नशीली वस्तुएँ शरीर में उँड़ेलकर उसकी प्राणशक्ति को दुर्बल बना देते हैं।

स्थानांग सूत्र में नौ कारणों से शरीर में रोगोत्पत्ति बताई जाती है–(१) अधिक बैठे रहने से या अधिक भोजन करने से, (२) अहितकर आसन से बैठने से या अहितकर (कुपथ्य) भोजन करने से (३) अधिक नींद लेने से, (४) अधिक जागने से, (५) उच्चार (मल) के आवेग को रोकने से, (६) प्रस्रवण (मूत्र) के आवेग को रोकने से, (७) अत्यधिक मार्ग गमन से , (८) भोजन की प्रतिकूलता (कुपोषक या अपोषक आहार) से और (९) इन्द्रिय-विषयों के कुपित होजाने से यानी कामादि के विकार से। ये नौ बातें भी प्राणशक्ति को क्षीण कर देती हैं। प्राणशक्ति, तितिक्षाशक्ति, एवं तैजस शक्ति को दुर्बल बना देती हैं।

एक विचारक ने बताया है कि स्थूल शरीर की प्राणशक्ति का ह्रास निम्नोक्त सात बातों से होता है–(१) आहार-विहार-सम्बन्धी मर्यादाओं का उल्लंघन, (२) अत्यधिक या अत्यल्प परिश्रम करना, (३) अस्तव्यस्त दिनचर्या, (४) नशेबाजी, (५) कामवासना

---

१. देखें–दुःखविपाक सूत्र प्रथम अध्ययन में मृगापुत्र का वर्णन

२. (क) शरीर के ढांचे या रचना को संहनन और शरीर की ऊँचाई-लम्बाई, सुडौल-कुडौलपन को संस्थान कहते हैं।

स्थानांगसूत्र के छठे स्थान में ६ संहनन इस प्रकार हैं–(१) वज्रऋषभनाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच (५) कीलक और (६) सेवार्त संहनन (संघयण)।

६ संस्थान इस प्रकार हैं–(१) समचतुरस्र (२) न्यग्रोध-परिमण्डल (३) सादि, (४) कुब्जक, (५) वामन और (६) हुण्डक संस्थान।

इनके विशेष स्वरूप के लिए तत्त्वार्थ भाष्य टीका आदि देखें।

(ख) तुलना करें–"रूप-लावण्य-बल-वज्र-संहननत्वानि कायसम्पद् ।'

–पातंजलयोगदर्शन पाद ३ सूत्र ४६

सम्बन्धी असंयम, (६) अत्यधिक मानसिक तनाव, चिन्ता, शोक आदि, और (७) शरीर में मल-मूत्रों का अवरोध करना, शुचिता की उपेक्षा करना।

इसके अतिरिक्त क्रोध, असन्तुलन, विक्षोभ, भय, शोक, हताशा, ईर्ष्या, कुढ़न जैसी मनःस्थिति का प्रभाव भी रक्त को विषाक्त बना कर शरीर की प्राणऊर्जा को क्षीण कर देता है।

काया को सर्वाधिक क्षत-विक्षत कर देने वाली कुल्हाड़ी आहार-विहार एवं विचारों का असंयम तथा अनियमितता है। अन्यथा, शरीर स्वयं ही अपने भीतर होने वाली टूट-फूट की मरम्मत और छीजन की पूर्ति कर लेता है। इसमें स्वतः ही बाहरी आघातों, चोटों या सर्दी-गर्मी के थपेड़ों को सहन करने की सामर्थ्य है।

हनुमान चरित्र में कहा गया है कि हनुमान जी को लेकर उनकी माता विमान से आ रही थी, तब बीच में ही एक जगह उछलकर बालक हनुमान ऊपर से एक पर्वत पर गिर पड़े। इतनी ऊँचाई से गिरने पर भी हनुमान जी का बाल भी बांका न हुआ, बल्कि वह चट्टान टूट गई। यह शरीर में पूर्वजन्मकृत शुभकर्मोदयवश प्राणशक्ति के पर्याप्त विकास का सूचक है। यह अनहोनी बात नहीं है।

इटली की गेजेटा ग्रास परौनी नामक लड़की का शरीर रबड़ की गेंद की तरह हलका था। उसे बीस फुट ऊँचे से गिराया गया, तो चोट लगने कीबात ही क्या, फुटबॉल की तरह कई बार उछली और हंसती-खेलती रही।"[1]

कहावत है–'बलवति शरीरे बलवान् आत्मा निवसति'–प्राणऊर्जा युक्त बलिष्ठ शरीर में बलवान् आत्मा का निवास होता है। परन्तु बलवान् शरीर में बलवान् आत्मा का निवास भी तभी स्थायी एवं सुखशान्तिप्रदायक होगा, जब योगाभ्यास, प्राणायाम, तपस्या, तितिक्षा, अहिंसा-संयम आदि की साधना में उस बलिष्ठ शरीर का उपयोग किया जाए। तभी स्थूल शरीर को प्राणवान् बनाने वाला तैजस शरीर समृद्ध होगा, प्रखर कायिक विद्युत प्रवाह उत्पन्न होगा, विज्ञान की भाषा में प्राण तैजस और योग की भाषा में ब्रह्मवर्चस् सम्पन्न होगा। और तभी बड़े से बड़े उपसर्गों, परीषहों, कष्टों, एवं संकटों का सामना प्रसन्नतापूर्वक, समभावपूर्वक करके साधक कायबल प्राण-संवर की साधना को प्रखर बना सकेगा।

कायोत्सर्ग द्वारा भी कायबल प्राप्त संवर की साधना की जा सकती है।

---

१. (क) "णवहिं ठाणेहिं रोगुप्पत्ती सिया, तं जहा–अच्चासणयाए, अहितासणयाए, अतिणिद्दाए, अतिजागरितेणं, उच्चारणिरोहेणं, पासवणनिरोहेणं, अद्धाणगमणेणं, भोयणपडिकूलताए, इंदियत्थ विकोवणयाए।" –स्थानांगसूत्र स्थान ९, सू. १३

(ख) अखण्डज्योति, मई १९७८, पृ. ४४

(ग) अखण्डज्योति, दिसम्बर १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. ७

इसके पश्चात् श्वसोच्छ्वास-बल-प्राणसंवर का क्रम है। श्वासोच्छ्वास का सन्तुलन रखने से उसमें निहित प्राणशक्ति का अभिवर्धन और संवर हो सकेगा। इसके सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश अगले निबन्ध में डाला गया है।

सबसे अन्त में, आयुष्य-बल-प्राणसंवर है। यद्यपि आयुष्य का बन्ध तो जीवन में एक ही बार होता है, किन्तु उसमें प्राणशक्ति का विकास और ह्रास तो स्वयं व्यक्ति पर निर्भर है। अनेक दीर्घजीवी लोगों के दीर्घायुष्य का कारण आहार-विहार, व्यवहार दिनचर्या आदि नियमित और संतुलित, सादा जीवन रहा है। अगर तपस्या, संयम, नियम और आहार-विहार के सन्तुलन का ध्यान रखा जाए तो उससे दीर्घायुष्कता तो होगी ही, साथ ही आयुष्य बल प्राण का विकास उसके जीवन से होने वाले हिंसादि पापकर्मों के आस्रवों का निरोध यानी आयुष्यबल प्राणसंवर करने में भी उपयोगी होगा।

इस प्रकार प्राण संवर का शरीर के विविध संस्थानों में अभ्यास करने से सफलता मिलना सुनिश्चित है। ■

१६

प्राणबल और श्वासोच्छ्वास-बलप्राण-संवर की साधना

प्राण : प्राणियों को जीवनदाता, त्राता और क्रियाशीलता का जनक

जिस प्रकार बाह्य ताप, विद्युत, ईथर, प्रकाश-विकरण आदि बाह्य स्थूल पदार्थ प्राकृतिक जगत् में व्याप्त हैं; उसी प्रकार 'प्राण' भी समस्त प्राणियों के जीवन में व्याप्त है। उसकी पहचान शरीरधारियों की क्रियाशीलता, विचारणा, भावना, बौद्धिक उन्नति इत्यादि के रूप में कार्यान्वित होने से स्पष्टतया हो जाती है।

प्राण की व्याख्या करते हुए चिन्तकों ने लिखा है–"प्राणयति जीवयतीति प्राणः।" अर्थात्-"जो प्राणिमात्र के जीवन का आधार बनकर रहता है, वह प्राण है।"[1]

वस्तुतः प्राण जीवनी शक्ति का ही दूसरा नाम है। इसी जीवनी शक्ति (प्राणऊर्जा) के बल पर संसार के सारे क्रिया कलाप चलते हैं। इसी जीवनी शक्ति के आधार पर व्यक्तित्व के विकास की सम्भावनाएँ प्रस्फुटित होती हैं। इसलिए प्राण की मनुष्य जीवन में सर्वाधिक उपयोगिता है।

वही स्थूल शरीर में बलिष्ठता और सुन्दरता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। मनोजगत् में उसे साहसिकता, उत्साहशीलता, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता, वत्सलता और आत्मौपम्य भाव के रूप में देखा जा सकता है। अन्तरात्मा में उसी का प्रकाश श्रद्धा, सद्भावना, रुचिता और उत्कृष्टता के रूप में विकसित होता है। मस्तिष्क में उसकी ज्योति सम्यक्ज्ञान की प्रभा और प्रतिभा बन कर चमकती है। हृदय में वह दृढ़ता और पराक्रमशीलता उत्पन्न करती है। वाणी और नेत्र में प्रभावशालिता एवं तेजस्विता, तथा ओजस्विता के रूप में उसे देखा जा सकता है। होठों पर मुस्कान और ललाट पर आशा की रश्मियों के रूप में प्रकट होते हुए उसे देखा जा सकता है। वह शरीर के जिस किसी भी अवयव में, जितनी अधिक मात्रा में विद्यमान रहता है, वह उतना ही अधिक सक्षम और विकसित देखा जा सकता है।

---

१. प्राणशब्द "अन् प्राणने" धातु से व्युत्पन्न हुआ है, जिस का अर्थ होता है-जो जिलाता है, प्राणशक्ति–जीवन शक्ति देता है, वह प्राण है। –देखें–अखण्ड ज्योति मार्च १९७७, पृ. ३५

प्राणशक्ति का महत्त्व एवं फलितार्थ

अतः प्राण शब्द का फलितार्थ चेतनाशक्ति होता है। यही प्राणशक्ति इच्छा, ज्ञान, और क्रिया के रूप में जीवधारियों में काम करती है। सचेतन प्राणियों में यही प्राण तत्त्व सक्रियता और सजगता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसी प्राणशक्ति के आधार पर प्राणी में विचारणा एवं संवेदना का उद्भव होता है। विविध प्रकार के प्राणियों में प्राणशक्ति के तारतम्य का कारण भी यही है कि इस प्राणशक्ति (जीवनीशक्ति) की जितनी मात्रा जिसे मिल जाती है, वह उतना ही अधिक प्राणवान् कहलाता है।[1]

चेतनाशील प्राणी की यह शक्ति सर्वोपरि होने के कारण "छान्दोग्य उपनिषद्" में उसे "ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ" कहा गया है। 'अथर्ववेद' के प्राणसूक्त में कहा गया है-"उस प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में सब कुछ है। जो सब प्राणियों का अधिष्ठाता है; जो सब में समाया हुआ है, जिसमें सब समाये हैं।"

'प्रश्नोपनिषद्' में प्राण को तेजस्वी, तपस्वी बताने हेतु उसका उद्गम केन्द्र सूर्य को माना गया है-"वह प्राण अग्निरूप है, विश्वव्यापी है, और उसका केन्द्र उदीयमान सूर्य है।"[2]

भौतिक विद्युत् से प्राणिज विद्युत् का प्रभाव बढ़कर है

विज्ञानवेत्ता प्राण की व्याख्या प्राणिज विद्युत् के रूप में करते हैं। शरीर में ऊर्जा के रूप में उसका अस्तित्व है। शरीर की आन्तरिक क्रिया नाड़ी समूह के साथ-साथ प्रवाहित होते रहने वाले इसी प्राण (सचेतन विद्युत्) प्रवाह द्वारा सम्भव होती है। मस्तिष्क की मशीन अपने-आप में अद्भुत प्रतीत होती है, पर वह स्वसंचालित नहीं है। यदि वह स्वसंचालित होती तो मृतशरीर का मस्तिष्क भी अपना कार्य करते रह सका होता। वह प्राण ही है, जो मस्तिष्क की सचेतन-अचेतन परतों पर छाया हुआ है, और उन्हें अपने निर्धारित कार्यकलाप करते रहने के लिए यथावश्यक सामर्थ्य प्रदान करता है। इसीलिए विज्ञानवेत्ता इसे जीवनी शक्ति एवं मानवीय विद्युत् (ह्यूमन मैग्नेटिज्म एण्ड मैटाबोलिज्म) कहते हैं।

प्राणियों में काम करने वाला यह विद्युत्-प्रवाह भौतिक विद्युत के समान नहीं है। बादलों में चमकने और कड़कने वाली बिजली अथवा धूप में अनुभव होने वाली गर्मी के समकक्ष भी इसे नहीं माना जा सकता। और न ही यह बिजलीघरों में उत्पन्न की जाने

---

१. अखण्ड ज्योति, मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ.३५-३६।

२. (क) "प्राणो वा व ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च।" -छान्दोग्योपनिषद ५/१/१
(ख) प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे, यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥" -अथर्ववेद प्राणसूक्त
(ग) "स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुच्यते।" -प्रश्नोपनिषद

वाली शक्ति (Power) के समान है। भौतिक बिजली में धक्का मारने,आगे बढ़ाने और फैलाने की क्षमता है। उसकी गणना अश्वशक्ति (Horse Power) के रूप में की जाती है। किन्तु प्राणिजन्य विद्युत की क्रियापद्धति इससे भिन्न है। इसमें व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास की सिद्धि प्राण संवर की साधना से उपलब्ध की जाने की क्षमता है। इतना ही नहीं, वह प्राणिज विद्युत् अन्य प्राणियों और पदार्थों को भी प्रभावित कर सकती है और वातावरण पर अपना असाधारण प्रभाव डाल सकती है।[1]

प्राणिज प्राण की महत्ता एवं विशेषता

इसीलिए भारतीय अध्यात्मवेत्ताओं ने इसका निरूपण प्राण के रूप में किया है। उपनिषदों में प्राण तत्त्व की गरिमा का भावपूर्ण उल्लेख है। उसे 'ब्रह्मतुल्य' माना गया है, और सर्वोपरि 'ब्राह्मीशक्ति' का नाम दिया गया है। वस्तुतः प्राण प्राणियों की (चेतन की) जीवनी शक्ति है, जिजीविषा से लेकर समाधिमरण की शक्ति तक उसके असंख्य रूप हैं। यह मानव को विचारशक्ति ही नहीं, क्रियाशक्ति की दिशा एवं उत्तेजना भी देती है।

आध्यात्मिक विकास की केवल आकांक्षा से काम नहीं चलता, उसे पूरा करने की साहसिकता एवं सामर्थ्य भी चाहिए, उसे प्राणशक्ति देती है। प्राणबल में आकांक्षा के साथ निष्कर्ष, निश्चय, योजना, और अग्रगमन के योग्य साहसिकता जुटी रहती है। जीवन का वास्तविक बल प्राणशक्ति है, इसी के सहारे कर्मों के आम्रव और संवर के तथा पतन और उत्थान के एवं विनाश और विकास के आधार बनते हैं।

प्राणबल का ही जीवन के सभी क्षेत्रों में चमत्कार

निष्कर्ष यह है कि प्राण एक सचेतन विद्युत ऊर्जा है, जिसकी दिशा संवर की ओर होने से तथा उसकी मात्रा बढ़ी-चढ़ी होने पर व्यक्ति के जीवन के बहिरंग और अन्तरंग दोनों पक्षों में उसका चामत्कारिक प्रभाव देखा जा सकता है। यह प्राण शक्ति ही अध्यात्म-मुखी (संवर-निर्जरामुखी) होने पर व्यक्ति के जीवन में उत्साह और साहस के रूप में चमकती है, दृढ़ता और तत्परता के रूप में भी उसे देखा जा सकता है। संकल्प शक्ति या दृढ़ इच्छाशक्ति के रूप में भी उसकी पहचान होती है।

अपने दृढ़ निश्चय के मार्ग पर स्वीकृत संवर निर्जरारूप धर्मपथ पर चलने में अनेकानेक कठिनाइयों, विघ्न-बाधाओं तथा संकटों एवं अवरोधों, परीषहों और उपसर्गों से समभाव पूर्वक जूझने की शक्ति वही प्राणशक्ति है। जिससे प्राणबल संवर का उच्चसाधक प्रतिकूलताओं के बीच भी अनुकूलता उत्पन्न करने का साहस जुटाता है। अपनी श्रमसाध्य और समय साध्य मंजिल को उत्साह और श्रद्धा के साथ वह पार कर

---

१. अखण्ड ज्योति, मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४०

लेता है। निराशा जनक परिस्थितियों में भी उस प्राणवान् को आशा की क्षीण, किन्तु सुनिश्चित किरणें दिखाई देती हैं।[1]

प्राण संकल्परूप में भी व्याख्यात

प्रश्नोपनिषद् में प्राण की व्याख्या संकल्परूप में की गई है–"चित्त का जैसा संकल्प होता है, तदनुरूप इस प्राण का संकल्प बन जाता है। महान् आत्मा का जैसा संकल्प होता है, तदनुरूप तेज से युक्त संकल्प प्राण का हो जाता है और जीव के संकल्पानुसार प्राण ही परलोक में ले जाता है।"[2]

प्राण : विश्वव्यापी समग्र सामर्थ्य, ब्राह्मीशक्ति एवं ब्रह्म

प्राण को विश्व के अन्तराल में काम करने वाली समग्र सामर्थ्य भी कहा जाता है। वह जड़ और चेतन दोनों को प्रभावित करती है। प्राणबल संवर की साधना के लिए उसके उज्ज्वल पक्ष को ही अपनाया जाता है।

यद्यपि चेतना की सामर्थ्य उभयपक्षीय है। वह निकृष्टता तथा दुष्टता के क्षेत्र में दुःसाहस बनकर भी कार्य करती है। किन्तु इस निकृष्ट एवं निषिद्धपक्ष को अपनाने से पूर्वकाल में अर्जित प्राणशक्ति का ह्रास ही होता है। इसके विपरीत प्राणबल-संवर रूप विधेयक पक्ष को अपनाने पर प्राणशक्ति उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होकर उसकी अनुगामिनी बन जाती है।

अतः निषिद्ध पक्ष को छोड़कर जीवन को उत्कृष्टता की ओर अग्रसर करने वाले सत्संकल्पों को ही उपास्य प्राण मान कर अपनाना चाहिए। जो इस उत्कृष्ट एवं उपास्य प्राण को जितनी मात्रा में उपलब्ध एवं अर्जित कर लेता है, उसी अनुपात में उसे प्रगतिशीलता एवं आत्मबल का लाभ मिलता है।

इन विशेषताओं को देखते हुए उपनिषद्काल के ऋषियों ने इस प्राण को ब्राह्मीशक्ति, ब्रह्मप्रेरणा एवं साक्षात् ब्रह्म कहा है।

प्राणबल का ब्रह्मतेज : जीव के सभी अंगों एवं जीवन के सभी क्षेत्रों में परिदृश्यमान

प्राणशक्ति का वही ब्रह्मतेज आँखों में, वाणी में तथा चिन्तन और क्रिया में चमकता है। प्राणवान् व्यक्ति के मस्तिष्क के चारों ओर इसे तेजोवलय (ओरा) या भामण्डल के रूप में देखा जा सकता है।

---

१. (क) वही, मई १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. १६
(ख) "प्राणोब्रह्मेतिहस्माह कोषीतकिः .....। –कोषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् २/१
(ग) "प्राणो भवेत् परब्रह्म, जगत्कारणमव्ययम्।
प्राणो भवेत् यया मंत्रज्ञान-कोशगतोऽपि वा।" –ब्रह्मोपनिषद्

२. "यच्चित्तस्तेनैव प्राण आयाति प्राणस्तेजसा युक्तः महात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।"
–प्रश्नोपनिषद् ३/१०

यह चमक ही बौद्धिक क्षेत्र में ओजस्विता और क्रिया क्षेत्र में तेजस्विता कहलाती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यही मनस्विता तथा प्रतिभा बनकर देदीप्यमान होती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणशक्ति सर्वतोमुखी समर्थता कही जा सकती है। इसीलिए प्राण को ओज, तेज, वीर्य, शक्ति, बल, ऊर्जा एवं सामर्थ्य आदि कहा गया है।

प्रसुप्त प्राणबल को जाग्रत किया जाए : असीम क्षमता की प्राप्ति सम्भव

सामान्यतया यह प्राणबल प्रसुप्त अवस्था में पड़ा रहता है। स्थूलदृष्टि वाले, मिथ्याज्ञान-ग्रस्त या भौतिकता-परायण लोग उससे शरीर-निर्वाह-भर के काम ले पाते हैं। अगर इसे संवर-साधना के आधार पर जाग्रत किया जाए तो सामान्य व्यक्ति में भी असामान्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो सकती है। प्राण की शक्ति–क्षमता तो असीम है, मगर उसकी असीमता को प्राप्त करने के लिए प्राणबल-संवर की साधना की जाए तो प्रचुर प्राणशक्ति प्राप्त कर सकना सम्भव है।

इसी कारण अधिकांश उपनिषद्कारों ने प्राण को आत्मा की क्रियाशक्ति, और मोक्षप्राप्ति के पूर्व तक उसे आत्मा से सम्बद्ध माना है। विविध (मुख्यतः अष्टादशविध) पापों, कषायों, कल्मषों, आस्रवों एवं संस्कारों का उन्मूलन या निराकरण इसी प्राण देव की प्रचण्ड संकल्प शक्ति के सहारे ही होता है। ढिलमिल स्वभाव वाले आत्म-परिष्कार की बात सोचते एवं सुनते हैं, पर वैसा कुछ कर नहीं पाते। वे केवल मनसूबे बांधते एवं कल्पना जाल बुनते रहते हैं। प्रचण्ड संकल्पबल के बल पर प्राणबल संवर साधना में उत्पन्न आत्मिक साहस ही दुर्भावनाओं, दुष्प्रवृत्तियों, दुश्चेष्टाओं, दुर्ध्यानों, दुश्चिन्तनों, अवांछनीय आचरणों, संवरसाधन की मर्यादा तोड़ने वाले अनुष्ठानों या कार्यों से जूझा जा सकता है।[1]

सूत्रविरुद्ध, मार्गविरुद्ध, कल्पविरुद्ध, अकरणीय प्रवृत्ति को रोकने का कार्य भी प्राणबलसंवर का साधक इसी प्राणशक्ति के सहारे करता है। उत्कृष्टता की दिशा में गति-प्रगति करने के लिए प्रेरणा और अवरोधों से जूझने की क्षमता भी इसी प्राणबल से मिलती है जिसे आत्मबल कहा जाता है।[2]

प्राणदेव के अनुग्रह से मनोनिग्रह, इन्द्रिय विजय और विकारों के उन्मूलन की चर्चा बृहदारण्यक उपनिषद् में बार-बार की गई है।

---

१. अखण्ड ज्योति मई १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. १७,१६

२. तुलना करें–"कायोत्सर्ग करने से पूर्व इच्छामि ठामि के श्रमणावश्यक के पाठ से– उस्सुत्तो उमग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारो अणिच्छियव्वो ···· ।

–आवश्यकसूत्र प्रथम आवश्यक

प्राणशक्ति के जागरण और रहस्यज्ञान से लाभ

इसीलिए प्रश्नोपनिषद् में प्राणबल-संवर के सन्दर्भ में प्राणविद्या-ज्ञाता के लिए कहा गया है–"जिस विद्वान् ने प्राण के रहस्य को जान लिया, उसकी प्रज्ञा परम्परा कभी नष्ट नहीं होती, वह उसी के द्वारा अमर हो जाता है।"

बृहदारण्यक के अनुसार–"प्राण-संवर के साधक को प्राणवान् बनने के साथ ही प्राण उसका यश और बल (प्रदाता) बन जाता है।"

इसीलिए तांड्योपनिषद् में कहा गया है–"(जीवन के सभी क्षेत्रों में) प्राण को जाग्रत करना ही महान् जागरण है।"

छान्दोग्य उपनिषद् में तो स्पष्ट कहा गया है–(प्राणसंवर साधक के लिए) इस प्राण शक्ति की सम्भावना आशा से अधिक है।"

वस्तुतः प्राणशक्ति के जागरण से अमृतत्व और मोक्ष दोनों प्राप्त हो सकते हैं, बशर्ते कि वह साधक अपनी शक्तियों को प्राण-संवर की उपासना में तन्मय होकर लगाए। इसीलिए वेद में एक जगह कहा गया है–"हे विचारशील मानवो ! प्राण की उपासना करो।" इसी से भौतिक और आध्यात्मिक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, इहलोक और परलोक दोनों सुधरते हैं।[1]

प्राणशक्ति ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की साधना में सहयोगी

यह प्राणशक्ति ही मानव को परमात्मा–शुद्ध आत्मा के अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-शक्तिरूप मूलगुणों की परिपूर्णता में सक्षम बनाती है। वैदिक परम्परानुसार प्राणशक्ति जीवात्मा को सत्–सत्ता को, चित् अर्थात्-समत्व के ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण बनाती है। इस दोनों का समन्वय होने पर वह स्थिति पैदा होती है, जिसके कारण पदार्थों के विवेकपूर्वक उपयोग और प्राणियों के सहयोग का आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

मनुष्य के चारों ओर आनन्ददायक स्वाधीनतापेक्ष सामग्री भरी पड़ी है, परिस्थितियाँ भी प्रायः अनुकूल हैं। फिर भी अशक्तिजन्य (प्राणाल्पताजन्य) दरिद्रता से सामान्य प्राणी घिरा रहता है। इस विपन्नता का कारण प्राणशक्ति की कमी के सिवाय और कोई नहीं है।

---

१. (क) य एष विद्वान् प्राणं वेद रहस्यं प्रज्ञा हि यत्तेऽमृतो भवति तमैव श्लोकः ।
–प्रश्नोपनिषद्

(ख) 'प्राणो वै यशो बलम्।' –बृदारण्यक

(ग) 'यद्वा व प्राणा जागर तदेव जागरितम्।' –ताण्डय.

(घ) "प्राणो वा व आशाया भूयान् यथा।" –छान्दोग्योपनिषद्

(ङ) अखण्ड ज्योति मई १९७७ से भावांश ग्रहण पृ.१९

प्राणशक्ति के विविध चमत्कार

मनुष्य में जो भी चमक, स्फूर्ति, उत्साह, चेतना, तन्मयता आदि तत्परता दिखाई देती है, वह उसमें विद्यमान प्राणशक्ति का चमत्कार है। जिसमें प्राणतत्त्व जितना कम होगा, वह उतना ही निस्तेज, निष्प्राण, निर्बल, निरुत्साह, स्फूर्तिरहित होगा। ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी एवं तपस्वी व्यक्तियों की प्रखरता का कारण उनमें विद्यमान प्राणबल है। उत्साह, साहस और सन्तुलन की उपलब्धियाँ भी प्राणतत्त्व की मात्रा पर आधारित हैं।

वैसे तो पराक्रमी मानवों और सामान्य मानवों की शरीर रचना, तथा मस्तिष्कीय गठन में कोई खास अन्तर नहीं होता; अध्यात्म साधना में पराक्रमी लोगों में विशेषता–प्राणऊर्जा की सम्पन्नता है। संकल्पशक्ति तथा इच्छाशक्ति में दृढ़ता और सुनिश्चितता इसी प्राणशक्ति का वरदान है। यही व्यक्तित्व को प्रखर बनाती है। इसी के आधार पर आध्यात्मिक प्रगति के साधनों को जुटाना और अवरोधों, विघ्न-बाधाओं को हटाना आसान हो जाता है। आँखों में चमक, चेहरे पर दमक, वाणी में प्रभावशीलता, व्यवहार में विचक्षणता का परिचय प्राणशक्ति ही देती है। प्रभावशाली व्यक्तित्व की पहचान प्राणतत्त्व के बाहुल्य से होती है। देहधारियों की गरिमा का मूल्यांकन इसी की न्यूनाधिक मात्रा के आधार पर किया जाता है। जो इस प्राणविद्या का रहस्य प्राणबल-संवर साधना के माध्यम से जान लेता है, उसके लिए संसार में ऐसा कुछ भी अलभ्य नहीं रहता, जो प्रगति, समृद्धि और सुख-शान्ति के लिए आवश्यक हो।[1]

प्राणबल -संवर के पथिक की पहचान

प्राणवान् व्यक्ति लोक प्रवाह के विपरीत अपनी संवर-निर्जारूप या रत्न-त्रयरूप साधनापथ पर अपनी राह एकाकी बना लेता है। इसी प्राणशक्ति के सहारे वह प्राणबल संवर पथ का पथिक दृढ़ आत्मविश्वास के साथ अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एकाकी बढ़ा चला जाता है। अपनी कर्ममुक्तिगामी योजनाओं को क्रियान्वित करने का शौर्य भी इसी प्राणबल के सहारे दिखा सकता है।

प्राणवान साधकों के जीवन में महाशक्ति का अवतरण

भगवान् महावीर, भगवान् पार्श्वनाथ, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, आदि ऐतिहासिक महामानवों में इसी प्राणतत्त्व की समुचित मात्रा रही है। इसी के सहारे उन्होंने महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये और साहसपूर्ण कदम उठाये। और तो और भगवान् महावीर के अनुगामी प्राणवान् साधक जब कर्ममुक्ति के संवर-निर्जरा-रूप पथ पर चलने को उद्यत हुए तब उनके द्वारा स्वेच्छा से उस मोक्षपथ–परमात्मप्राप्ति पथ पर चलने का निश्चय प्रकट किया तो उनके कुटुम्बियों, सम्बन्धियों एवं तथाकथित हितैषियों ने एकजुट होकर

---

१. अखण्डज्योति, मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ४३

उनका उपहास, अहसयोग, विरोध एवं रोष प्रकट किया, वे विविध रूप से उसकी कोमल और कठोर परीक्षा करने पर भी उद्यत हुए, लोकप्रवाह के विपरीत चलने में खतरे की आशंका देखकर शुभचिन्तक के नाते उस खतरे से बचने का परामर्श दिया; किन्तु इसी प्राणबल के धारक अपने निर्धारित आदर्शवादी पथ से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हुए; संकटों और विरोधों को सामना करते हुए वे कठोर अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आगे बढ़ते रहे।

उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित कपिलमुनि, नमिराजर्षि, मुनि हरिकेशबल, चित्तमुनि, भृगुपुरोहित पुत्रद्वय, संयतीराजर्षि, मृगापुत्र, समुद्रपालमुनि, जयघोष मुनि तथा राजीमती साध्वी आदि के अध्ययन में उक्त प्राणवानों के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन महान् प्राणबलसम्पन्न साधकों को मिली हुई सफलता उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी महत्त्वपूर्ण उनके जीवन की घटनाएँ हैं, जिनमें प्राणबल के आधार पर घन-घोर अन्धकार में उन्होंने प्रकाश जलाया और आंधी-तूफानों के बीच भी उस सिद्धान्त आलोक को बुझने से बचाया।[1]

समस्त आध्यात्मिक सिद्धियों का स्रोत : प्राणबल

वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र की समस्त सिद्धियों का स्रोत यही प्राणबल का चमत्कार है, जिसे सत्साहस एवं अदम्य पुरुषार्थ के रूप में देखा जा सकता है। यही प्राणबल-संवर प्रकारान्तर से आत्मसंयम ही है, जिसमें इन्द्रियों के घोड़ों की लगाम कस कर पकड़नी पड़ती है। दुर्दान्त दैत्यसम मन को वशवर्ती बनाना होता है। अनुस्रोतगमन तो सभी संसारमार्गी आसानी से कर सकते हैं, परन्तु प्रतिस्रोतगमन तो वे ही कर सकते हैं, जो प्राणबल संवर के संसारपारगामी साधक होते हैं।

प्राणबल-संवर कितना दुर्गम, कितना सुगम?

प्राणबल-संवर नदी के प्रवाह को रोकने के समान है अथवा नदी के प्रवाह के विपरीत चलने के तुल्य होता है। सरकस के हिंस्र पशुओं से खेल कराने वाले प्रशिक्षक द्वारा दिखाये जाने वाले दुःसाहस से भी प्राणबल संवर बढ़कर है।

इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–"भयंकर संग्राम में लाखों दुर्जय-सुभटों पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा भी एकमात्र आत्मविजय करना परमविजय है।"

प्रायः सर्वत्र सुविधाओं की पुकार है, शस्त्रास्त्रों द्वारा शक्ति प्रदर्शन की झंकरा है, ऐसे समय में तप-तितिक्षा का स्वेच्छा से प्राणबल संवर और संकल्प कितना कठिन और

---

१. देखें उत्तराध्ययन का क्रमशः आठवां, नौवां, बारहवां, तेरहवाँ, चौदहवाँ, अठारहवां, उन्नीसवां, बीसवां, इक्कीसवां, पच्चीसवां और बाईसवां अध्ययन।

जटिल है, यह समझा जा सकता है। संग्रह और उपभोग के लिए सर्वत्र बिखरी हुई आतुरता और आकुलता के बीच जो त्याग, तप, तितिक्षा परीषहजय और बलिदान की बात सोचते ही नहीं, कर दिखाने के लिए भी कटिबद्ध हो जाते हैं, वे ही सच्चे प्राणवान् और प्राणबल संवर के साधक कहे जा सकते हैं। प्रसिद्धि और प्रशंसा के रूप में सत्कार उपहार मिलें या न मिलें, उन्हें इनकी अपेक्षा नहीं रहती।[1]

प्राणबल संवर के साधकों के लिए इतना पराक्रम अनिवार्य

भौतिकता की उपलब्धि के लिए जिस प्रकार पनडुब्बे समुद्र में गहरी डुबकी लगाकर मोती ढूँढ़ लाते हैं; बहुमूल्य खनिज प्राप्त करने के लिए धरती को गहराई से खोदते जाने में खनिक श्रमजीवियों को अद्भुत साहस जुटाना पड़ता है; उससे भी बढ़कर साहस और आत्मबल, धैर्य और सतत अविचल पुरुषार्थ अपनी प्रसुप्त आत्मशक्तियों को जागृत करने और अन्तश्चेतना की गहरी परतों में उतरने के लिए प्राणबल संवर के साधकों को करना पड़ता है। सोते सिंह और सोते सर्प को जगाने में जितना पराक्रम चाहिए उससे भी बढ़कर पराक्रम कामभोगों की ओर दौड़ने में अभ्यस्त इन्द्रियों को आस्रवनिरोध रूप संवर के अध्यात्मपथ की ओर मोड़ने में करना होता है।

इसीलिए तो आचार्य सम्भूतिविजय ने सर्प की बांबी पर तथा सिंह की गुफा में चातुर्मासकाल बिताने वाले अपने दो शिष्यों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय विषयों की प्रतिमूर्ति कोशावेश्या की चित्रशाला में अपने ब्रह्मचर्य पथ में अडिग रहते हुए चातुर्मास बिताने वाले अपने शिष्य स्थूलभद्रमुनि की साधना को दुष्करातिदुष्कर कहा था।

वन्य पशुओं को धैर्यवान् लोग प्रशिक्षित करते हैं; मरुस्थल को उर्वराभूमि बना देना भी दूरदर्शी, अथक लगन और परिश्रम वाले, साधन सम्पन्न लोगों का काम है; अनघड़ व्यक्तित्व को सुघड़ और सुसंस्कृत बनाने हेतु कलाकारों जैसा कौशल विकसित करना पड़ता है, शत्रु को मित्र बना लेना भी प्रशंसनीय कार्य है; किन्तु इन सब लौकिक और भौतिक उपलब्धि वाले कार्यों की अपेक्षा भी प्राणबल-संवर के साधक की प्राणबल के सहारे आस्रवों पर प्रतिक्षण प्रहरी बन कर उन्हें रोकने और प्राण-संवर करने की कठोरतम साधना है। उसे आस्रवों के गहरे अनर्थ में संलग्न विकृत कुसंस्कारों और कुटेवों को आमूलचूल बदलना पड़ता है।[2] ऐसे मार्ग पर चलने के लिए अजस्र प्राणशक्ति चाहिए।

---

१. (क) अखण्ड ज्योति मई १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ४२
(ख) "अणुसोअ-सुहे लोओ, पडिसोअ आसवः सुविहिआणं।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो॥" –दशवैकालिक, चूलिका २, गाथा ३
(ग) "जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिए। एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥
–उत्तराध्ययन अ. ९ गाथा ३४

२. अखण्ड ज्योति मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४२

प्राणवान् व्यक्ति का दूसरों पर प्रभाव और प्राण-जागरण

उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि मन और इन्द्रियों (की शक्ति का क्षरण न करके उन) के साथ प्राणशक्ति को मिला देने से वे अत्यन्त प्रभावशाली हो उठती हैं और अपनी सामर्थ्य से किसी को भी प्रभावित कर सकती हैं। ऐसे प्राणशक्ति सम्पन्न व्यक्ति के उपदेश और सन्देश को अगणित मानव सुनने के पिपासु रहते हैं। पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक वस्तुएँ भी उसके आदेश-निर्देश का उल्लंघन नहीं करती।

उसमें इतनी क्षमता आ जाती है कि वह किसी भी व्यक्ति के प्राण में अपने प्राणों को घुलाकर उसके प्राणों को जागृत कर सकता है। जो ऐसे प्राणवान् व्यक्तियों से द्वेष करता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है। प्राणशक्ति सम्पन्न सामर्थ्यवान् गुरु अपने शिष्यों को इसी प्राणसम्पदा से सुसम्पन्न बनाकर उन्हें उत्तराधिकार का श्रेय प्रदान कर देते हैं। इसी प्रकार का अनुदान पाने के लिए श्रद्धालु शिष्य ऋषि-आश्रमों और गुरुकुलों में निवास और तपःसाधना करते हुए अपनी योग्यता का विकास करते थे।

भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतमादि को, गौतमबुद्ध ने भिक्षु आनन्द को, महर्षि धौम्य ने आरुणि को, गौतम ऋषि ने जाबालि को, इन्द्र ने अर्जुन को, यम ने नचिकेता को, शुक्राचार्य ने कप्प को, इसी प्रकार की उच्चस्थिति में पहुँचाया था। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द में तथा विवेकानन्द ने सिस्टर निवेदिता में एवं स्वामी विरजानन्द ने ऋषि दयानन्द में इसी प्रकार प्राण प्रत्यावर्तित किये, प्राणशक्तिपात किया था। किन्तु उनकी प्राणशक्ति में प्रखरता तभी आई, जब उन्होंने स्वयं प्राणबल संवर की साधना की।[1]

प्राणशक्ति की प्रखरता से व्यक्ति ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी एवं तपस्वी बनता है

इसी प्राणशक्ति की प्रखरता ही शरीर में संव्याप्त होकर उसे ओजस्वी बनाती है। जब यह मनःसंस्थान में उभरती है तो व्यक्ति मनस्वी दीखता है और अन्तःकरण में समुचित रूप से समाविष्ट होने पर व्यक्ति तेजस्वी बनकर अपने आत्मतेज से निकटवर्ती वातावरण को प्रभावित एवं प्रकाशित करता है। यही प्राणऊर्जा चेतना में सम्मिश्रित होकर ब्रह्मवर्चस् बन जाती है। सम्पदाओं और विभूतियों की दृष्टि से उसका मूल्यांकन किया जाए तो उसे ऋद्धि-सिद्धि कह सकते हैं। आचार्य (धर्माचार्य) में जो आठ सम्पदाएँ बताई गई हैं, वे इसी प्राणशक्ति के विकास के परिणाम हैं।

जैनागमों में देवों की, चक्रवर्तियों की, तथा बलदेव-वासुदेव आदि की एवं अरहन्त, केवलज्ञानी, आचार्य, उपाध्याय, साधु एवं अवधिज्ञान आदि अतीन्द्रिय ज्ञान

---

१. (क) वही, मार्च १९७७ से, पृ. ४३
(ख) तुलना करें–
सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुचइत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं॥ –उत्तराध्ययन अ.१२, गा. ४२

के धारक मानव की ऋद्धि-सिद्धियों, लब्धियों आदि का जो वर्णन मिलता है, वह विकसित प्राणशक्ति की सम्पदाओं का सूचक है। इसी प्राणशक्ति के सहारे अतीन्द्रिय क्षमताएँ उभरती हैं और ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ सम्पर्क करना, सूक्ष्म की गतिविधियों को समझना, तथा अपने पक्ष में उनको झुकाना सम्भव होता है।[1]

शारीरिक और मानसिक क्षेत्र में प्राणशक्ति का प्रभाव

शरीर में स्थित यह प्राणिज विद्युत् रूपी प्राणशक्ति आकर्षक व्यक्तित्व के रूप में देखी जा सकती है। मनःक्षेत्र में उसका उभार साहस, विवेक, सन्तुलन, मुस्कान आदि गुणों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जब वह जैविक प्राणशक्ति मनोबल, ओज और शौर्य के रूप में विकसित होती है, तब समीपवर्ती लोगों पर गहरा प्रभाव डाल देती है। लोग उसका अनुमगन करने और आदेश मानने को बाध्य होते हैं।[2]

प्राणशक्ति की अभिवृद्धि से प्राणबल संवर साधना : कैसे और क्यों?

शरीर, मन और अन्तःकरण में काम करनेवाली विद्युत् रूपी प्राण शक्ति की अभिवृद्धि और अध्यात्म विकास में उसका सदुपयोग करना प्राणबल-संवर की साधना का प्रथम सोपान है। विविध बाह्य एवं आभ्यन्तर तपश्चरण इसी प्राणबल संवर की साधना के उद्देश्य से किये जाते हैं। मौन, एकान्त, विविक्त स्थान-सेवन तथा ब्रह्मचर्य आदि साधनाएँ भी इसी उद्देश्य से विहित हैं कि वह जैविक प्राणभण्डार निरर्थक कार्यों में खर्च न होकर सुरक्षित रखा जा सके और अधिक महत्त्वपूर्ण संवर-निर्जरा रूप अध्यात्म कार्यों में खर्च किया जा सके।

महान् आत्माओं का सान्निध्य, सम्पर्क या उपासना एवं सत्संग अपने आप में बहुत बड़ा लाभ है। भगवती सूत्र में उपासना के क्रम में श्रवण से लेकर निर्वाण तक उत्तरोत्तर आध्यात्मिक लाभ बताया गया है। प्राणवान् व्यक्तियों के सान्निध्य में रहकर भी उनके विद्युत् प्रवाह (प्राणबल) से उसी प्रकार लाभान्वित हुआ जा सकता है, जिस प्रकार चन्दन वृक्ष के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगन्धि युक्त होकर लाभान्वित होते हैं। यह स्पष्ट है कि आग और बिजली के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में यदि ग्रहण करने की विवेकयुक्त शक्ति हो तो वे भी उसी तरह की बन जाती हैं।

चुम्बक शक्ति से अल्पप्राण व्यक्ति भी प्राणऊर्जा सम्पन्न

अभ्यास करने पर वही सामान्य अल्पप्राण सचेतन चुम्बक के रूप में विकसित हो सकता है। इसी व्यक्तित्व को प्राणवान् तथा चैतन्य-प्राण ऊर्जा सम्पन्न कहते हैं। प्राणबल-संवर-साधना का उद्देश्य भी इसी चुम्बकत्व शक्ति, ब्रह्मवर्चस् या प्राणऊर्जा का

---

१. अखण्ड ज्योति फरवरी १९७७ से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण पृ. ४२
२. वही, नवम्बर १९७३ से भावांश ग्रहण पृ. ५१

अभिवर्धन करके आत्मशक्तियों के विकास में लगाना है। इसी के सहारे तपश्चर्या, तितिक्षा, परीषहजय, एवं कष्टसाध्य साधना पथ पर अन्त तक डटे रहना सम्भव होता है। इस शक्तिशाली चुम्बकत्व से अतीन्द्रिय सामर्थ्य प्राप्त होता है। तपःसाधना द्वारा इसी प्राणशक्ति की वृद्धि कर लेने वाले महानुभाव दूसरों को उपयोगी और सार्थक प्रेरणा देकर लाभान्वित कर सकते हैं।[1]

प्राणबल द्वारा सम्प्राप्त उपलब्धियाँ

चर्मचक्षुओं से न देख पाने वाले स्थानों में घटित हो रही घटनाओं को स्पष्ट देख पाना, और उसका हूबहू वर्णन कर पाना, एक स्थान से दूसरे स्थान को परस्पर संवादों का आदान-प्रदान, सूक्ष्म जगत् में पक रही भावी घटनाओं की सूक्ष्म क्रियाओं के संकेतों को समझकर भविष्य कथन, आदि सभी असामान्य या असम्भव समझे जाने वाले कार्य इसी चैतन्य चुम्बकत्व (प्राणबल) के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

चुम्बकीय शक्ति सम्पन्न में चुम्बक के तीनों गुण

प्राणवान् व्यक्ति में यह चुम्बकीय शक्ति अधिक मात्रा में विकसित होती है। यद्यपि यह चुम्बकीय शक्ति होती सभी में है, पर अल्पप्राणमनुष्यों की सामर्थ्य से वह प्रकट नहीं हो पाती। जिस प्रकार चुम्बक में आकर्षण शक्ति, एकरसता, और दिशा की स्थिरता होती है, उसी प्रकार चुम्बकीय शक्तियाँ जिसमें विकसित हो जाती हैं, उसमें ये तीनों विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। चुम्बक के समान जो मनुष्य अपने मन की प्रवृत्तिरूपी चुम्बकीय कणों को यथार्थरूप से व्यवस्थित और क्रमबद्ध कर लेता है, उसकी आत्म-शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। ऐसे महान् आत्माओं में प्रबल आकर्षण होता है। वे जहाँ भी होते हैं, लोग चारों ओर से उनकी ओर खिंचे चले आते हैं।

जिस तरह चुम्बक में एकरसता होती है। कितने ही विखण्डित रूप हो जाने पर भी उसमें आकर्षण-क्षमता बनी रहती है। उसी तरह बाह्यरूप से कभी दब जाने या छोटे हो जाने पर भी प्राणवान् महापुरुषों के व्यक्तित्व में एकरसता बनी रहती है। उनमें क्षुद्रताएँ, विसंगतियाँ या पक्षपात की प्रवृत्तियाँ नहीं आ पातीं।

चुम्बक के समान दिशा की स्थिरता का गुण भी प्राणवान् महान आत्माओं की विशेषता होती है। वे स्वीकृत लक्ष्य की दिशा में स्थिर रहकर गृहीत पथ पर आगे बढ़ते जाते हैं। ऐसे परिष्कृत व्यक्तित्व के धनी मानव अपने जीवन मूल्यों को कभी खोते नहीं, अपने सिद्धान्तों और आदर्शों पर अडिग रहते हैं।

---

१. (क) अखण्ड ज्योति 'फरवरी' १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ४३
(ख) सवणे नाणे विण्णाणे अकिरिया निव्वाणसिद्धि॥ —भगवतीसूत्र

चुम्बकीय शक्ति का लोप : दुरुपयोग से

जैसे चुम्बक को बार-बार पटका जाए, तथा ऊपर-नीचे ऊलजलूल ढंग से उसे उलटा-पलटा जाए, तो उसकी आकर्षण शक्ति समाप्त हो जाती है, वैसे ही जो मनुष्य अपनी मानसिक दुर्बलतावश अपनी सभी विशेषताओं और महान् गुणों के बावजूद भी निकृष्ट विचारों, पतित क्रियाओं तथा दुर्गुणों को अपना लेते हैं, अथवा अपनी शक्ति-सामर्थ्य और सद्गुण सौन्दर्य का दुरुपयोग करते हैं, वे अपनी चुम्बकत्व शक्ति को खो बैठते हैं और पतन के गड्ढे में गिर जाते हैं।

चुम्बकीय शक्ति और प्राणबल संवर का साधक

इसी चुम्बकत्व शक्ति रूप प्राणऊर्जा से सामान्य मनुष्य को राजर्षि, ब्रह्मर्षि और देवर्षि स्तर तक पहुँचने का अवसर मिलता है। इसी आत्मविद्युत रूप चुम्बकशक्ति के प्रयोग से, अथवा आश्रय से बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा तक पहुँचा जा सकता है। इसी प्राणऊर्जा-सम्पदा के अभिवर्धन के साथ उसके नियंत्रण, संरक्षण और उच्चस्तरीय प्रयोजनों में संलग्न करने का विवेक जब प्राणबल संवर का साधक कर लेता है, तभी उसकी रत्न-त्रयसाधना यात्रा सिद्धि के शिखर की ओर द्रुतगति से होती है। वह प्राणवान् गुरु-सान्निध्य में रह कर ब्रह्मचर्य से, संयम से, तपश्चर्या से, समिति-गुप्ति के निष्ठापूर्वक पालन से, महाव्रतों की साधना से, शुभध्यान मौन से प्राणबल और उसके संरक्षण, नियंत्रण और प्रयोग का विवेक प्राप्त कर लेता है। विकसित स्तर का वही प्राणबल संयम में पराक्रम करने के साथ आत्मा की अनन्त चतुष्टय सम्पदा को अर्जित करने के पराक्रम में भी सहायक होता है।[1]

आध्यात्मिक सम्पदाओं की शारीरिक विशेषताओं से एकान्ततः संगति नहीं

तपस्या करने वाला शरीर से कृश होते हुए भी प्राणबल सम्पन्न होने से तेजस्वी होता है। तपस्या का उद्देश्य तेजस्विता उत्पन्न करके उसे संवर और निर्जरा के पथ में लगाना है। इस सम्बन्ध में चेहरे की चमक के साथ इस आत्मिक शक्ति की संगति नहीं जोड़नी चाहिए। स्वास्थ्य और सौन्दर्य शारीरिक विशेषताएँ हैं, जो पूर्वकृतकर्मवश किसी को प्राप्त होती हैं, किसी को नहीं।

हरिकेशबल मुनि तपस्वी और आत्मतेज से युक्त प्राणबली साधक थे, किन्तु उनके शरीर का डीलडौल, आकार एवं रूप रंग आकर्षक एवं सुन्दर नहीं था। फिर भी उत्तराध्ययनसूत्र में उनकी तपस्विता और तेजस्विता का स्पष्ट रूप से बखान किया गया है।

---

१. अखण्ड ज्योति फरवरी १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४३

यों तो नवयौवन में सभी के चेहरे प्रायः चमकते हैं, प्रौढ़ता के साथ रूक्षता आती है और वृद्धावस्था में चेहरे पर तथा अन्यत्र झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं। इस अवस्थाकृत परिवर्तन को देखकर आत्मिक तेजस्विता की न्यूनाधिकता का नाप-तौल करना अनर्थकर एवं अन्यायकर सिद्ध होगा।

आत्मतैजस् या ब्रह्मवर्चस् अथवा प्राणऊर्जा सम्पन्नता का रूप समझने के लिए व्यक्ति में धैर्य, गाम्भीर्य, दृढ़ता, श्रद्धा, साहस, उदात्त चरित्र, दृढ़ निश्चय जैसे गुणों को टटोलना चाहिए, साथ ही यह भी देखना चाहिए कि वह व्यक्ति भय और प्रलोभनों का त्याग करके, लोकमान्यता एवं आग्रहों की उपेक्षा करके किस सीमा तक सत्य का आग्रही रहा और अपने स्वीकृत संवर पथ पर अडिग रहा।

आत्मतैजस् या प्राणबली व्यक्ति में हम महामानवों का उदात्त विनियोग, समर्थ पुरुषों का आत्मिक वैभव, सत्-पुरुषार्थियों का पराक्रम, नैष्ठिकों का चरित्र देख सकते हैं। प्राणबल संवर की साधना से ही ऐसी आध्यात्मिक सम्पदा प्राप्त हो सकती है।[1]

प्राणायाम से प्राणबल का असाधारण विकास जीवन के सभी क्षेत्रों में सम्भव

वैदिक परम्परा के मूर्धन्य मनीषियों ने प्राणी के शरीर में प्राणमय कोश का अस्तित्व माना है। प्राणविद्या के अन्तर्गत प्राणायाम-प्रक्रिया का सहारा लेकर प्राणमय कोश की आंशिक एवं समग्र साधना की जा सकती है।

प्राणायाम दीखने में तो सामान्य लगता है, किन्तु यदि उच्चस्तरीय विधान के अनुसार साधा जाए तो उससे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में असाधारण विकास किया जा सकता है। साथ ही इससे प्राणतत्त्व के गुणधर्मों, क्रिया-कलापों तथा प्रभावों का आदि का वर्णन भी भारतीय ग्रन्थों में मिलता है।

इस मान्यता को भौतिक विज्ञान बहुत दिनों तक झुठलाता रहा। परन्तु शरीरविज्ञान के सम्बन्ध में जैसे-जैसे उसकी जानकारियाँ बढ़ीं, और बढ़ती जा रही हैं, वैसे-वैसे वह प्राण संस्थान के अस्तित्व और प्राणायाम को प्राणतत्त्व के महत्त्व के रूप में स्वीकार करता जा रहा है।

प्राणतत्त्व की मन्दता एवं लोप होते ही जीवन की मन्दता एवं मृत्यु : वैज्ञानिकों की दृष्टि में

यह भी माना गया कि इस प्राणतत्त्व के मन्द पड़ने के साथ-साथ उस प्राणी के शरीर की क्रिया और नाड़ी की गति में मन्दता आती है। और प्राणतत्त्व के समाप्त होते ही

---

१. (क) अखण्डज्योति, फरवरी १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४४
(ख) सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसइ जाइविसेस कोवि॥
सोवागपुत्ते हरिएस साहू, जस्सेरिसा इड्ढि-महाणुभागा।
—उत्तराध्ययनसूत्र अ. १२ गा. ३७

प्राणी की मृत्यु हो जाती है। भारतीय मनीषियों ने प्राण को चेतना को क्रियाशील, शक्ति सम्पन्न रखने वाला माना। जीव को प्राणी इसीलिए कहा जाता है कि उसकी जीवन प्रक्रिया प्राणशक्ति के सहारे संचालित होती है। शरीर में प्राण की कमी होते ही प्राणान्त की स्थिति सामने आ खड़ी होती है।

इंग्लैण्ड के डॉ. किलनर ने एक मरणासन्न रोगी की जांच करते हुए देखा कि उनकी दुर्बीन (माईक्रॉसकोप) के शीशे पर एक विचित्र प्रकार के रंगीन प्रकाशकण जम गए हैं, जो पहले कभी नहीं दिखाई दिये थे। दूसरे दिन उक्त रोगी के कपड़े उतरवाकर देखा तो वही प्रकाश अम्ल लहरों के रूप में माइक्रॉसकोप के शीशे के सामने उड़ रहा है। और धीरे-धीरे वह (प्राण-विद्युत का) प्रकाश ज्यों-ज्यों मन्द पड़ता जाता है; त्यों-त्यों उस रोगी के शरीर और नाड़ी की गति में मन्दता आती जा रही है। थोड़ी देर बाद एकाएक वह प्राणविद्युत् का प्रकाशपुंज बिलकुल लुप्त हो गया। फिर उन्होंने रोगी की नाड़ी पर हाथ रखा तो मालूम हुआ कि नाड़ी की गति बंद हो गई है। अर्थात्—रोगी की मृत्यु हो गई है।

निष्कर्ष यह है कि प्राणी को जीवित रहने के लिए प्राणतत्त्व अत्यन्त आवश्यक है। प्राण और जीवन प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस दृष्टि से प्राणशब्द का फलितार्थ चैतन्य शक्ति होता है।[1]

कहा भी है—जैसे मंत्र की प्राणशक्ति को जब तक जाग्रत नहीं कर लिया जाता, तब तक सैकड़ों पुरश्चरण करने पर भी मंत्रशक्ति से अभीष्ट लाभ प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे ही प्राण के बिना शरीर भी समस्त कार्यों को करने में समर्थ नहीं हो सकता।

इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—प्राण ही सच्चे माने में जीवन को स्थिर रखने वाला अमृत है।[2]

प्राणशक्ति की हानि-वृद्धि के परिणाम

यह प्राण तत्त्व या जीवन तत्त्व जब कम पड़ता है तो प्राणी हर प्रकार से लड़खड़ाने लगता है। और जब वह समुचित मात्रा में रहता है तो समस्त क्रियाकलाप ठीक तरह चलते हैं। जब वह वृद्धि पाता है तो उस अभिवृद्धि को बलिष्ठता, सामर्थ्य, सतर्कता, क्षमता, तेजस्विता, मनस्विता एवं प्रतिभा आदि के रूप में देखा जा सकता है। अतः प्राणवान् का फलितार्थ केवल जीवित रहना ही नहीं अपितु साहसिकता एवं

---

१. वही, मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ३१

२. (क) अमृतमसौ वै प्राणः। —शतपथ ब्राह्मण
(ख) विना प्राणं यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः।
विना प्राणं तथा मंत्रः पुरश्चर्या शतैरपि॥ —अखण्ड ज्योति, अप्रैल ७७ से उद्धृत

सक्रियता से सम्पन्न होना है। ऐसे प्राणबल सम्पन्न व्यक्ति ही महाप्राण कहलाते हैं और वे अपने प्राणबल संवर की साधना के जरिये असंख्यों में प्राण फूँकने और मार्ग दर्शन करने में समर्थ होते हैं।

वैज्ञानिकों की दृष्टि में प्राणशक्ति के कार्यकलाप

मानव-शरीर में विद्यमान प्राणशक्ति से ही अन्तःसंचालन (एफरेण्ट) और नाड़ी संस्थान (नर्वस सिस्टम) अनुप्राणित होता है। मस्तिष्क में कल्पना, स्फुरणा, धारणा, इच्छा, स्मृति, प्रज्ञा, विवेक, विवेचना आदि समस्त शक्तियों का उत्पादन, संचालन एवं अभिवर्धन इसी प्राणशक्ति से होता है। शरीर, मन और इन्द्रियों को दिशा एवं क्षमता तथा गति-प्रगति प्रदान करने वाली अत्यन्त उत्कृष्ट एवं अतिसूक्ष्म सत्ता को भी प्राणशक्ति (वाइटल फोर्स) कहा जाता है। श्वास-प्रश्वासक्रिया तो उसका वाहन मात्र है, जिस पर सवार होकर यह महाशक्ति प्राणी के समस्त अवयवों में पूर्वकृत-कर्मानुसार पर्याप्ति के रूप में प्रवेश करती है और पोषण देती है।[1]

साहसिकता और क्रियाशीलता : आन्तरिक प्राणबल के परिणाम

आपने देखा होगा कि कई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से समर्थ और मानसिक या बौद्धिक दृष्टि से सुयोग्य एवं सुशिक्षित होते हैं। किन्तु अन्तःकरण में प्राणशक्ति (वाइटल फोर्स) के रूप में साहस न होने से वे कोई भी महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठा पाते। शंका-कुशंकाओं के असमंजस में पड़ी मनःस्थिति में न तो उनसे कोई साहसिक निर्णय कर सकना बन पड़ता है और न ही उचित अवसर से लाभ उठाना सम्भव होता है।

इसके विपरीत प्राणायाम की श्वासोच्छ्वास बलप्राण-उत्पादक सूक्ष्मतम विधि से आन्तरिक प्राणबल प्राप्त करके मनस्वी व्यक्ति अपने समक्ष स्वास्थ्य, शिक्षा, साधन, सहयोग, अवसर आदि की प्रतिकूलताएँ और कठिनाइयाँ रहते हुए भी साहसिकता भरे कदम उठाते हैं और आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त करते हैं।[2]

प्राणबल-उपार्जक प्राणायाम से विशिष्ट अन्तःऊर्जा की उपलब्धि

प्राण संवर विद्या के अन्तर्गत किये जाने वाले विशिष्ट संकल्प शक्तियुक्त तथा प्रबल श्रद्धा-भावना से समन्वित प्राणायाम का सूक्ष्म प्रयोग करने से ऐसी साहसिकता, विशिष्ट कर्तृत्वक्षमता, सक्रियता तथा विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्नता आती है। अतः केवल श्वास और उच्छ्वास लेना-निकालना ही प्राणबल का सूचक प्राणायाम नहीं, अपितु श्वासोच्छ्वास की विशिष्ट तालबद्ध और क्रमबद्ध प्राणायाम प्रक्रिया के साथ श्वास के

---

१. अखण्ड ज्योति जून १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. २८

२. वही, जून १९७७ से, भावांश ग्रहण, पृ. २७

साथ आन्तरिक्ष से ब्रह्माण्डव्यापी प्राणतत्त्व एवं प्राणबलजनक पुद्गलों का अधिकाधिक मात्रा में आकर्षण विशिष्ट आन्तरिक ऊर्जा की उपलब्धि का सूचक है।

श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया पद्धति के साथ प्राणबल-उपार्जक प्राणायाम एवं साधक की संकल्पशक्ति का समावेश होने से प्राणायाम सामान्य श्वास लेना न रहकर, विशिष्ट अन्तःऊर्जा की उपलब्धि का आधार बन जाता है। इसलिए प्राणायाम से सूक्ष्मरूप में संकल्प शक्ति का चुम्बकीय कार्य किया जा सकता है; जिसके आधार पर ब्रह्माण्डव्यापी प्राणतत्त्व को अभीष्ट मात्रा में खींच सकना, धारण कर सकना और दूषित-विकृत प्राणवायु को बाहर निकाल सकना संभव होता है।[1]

प्रश्नोपनिषद् में समस्त बाह्यान्तःकरणों में विराजमान रहने की प्राण से प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है[2]–"हे प्राण ! तेरा ही रूप वाणी में निहित है, तू ही श्रोत्र, नेत्र और मन में विद्यमान है। तू इन्हें कल्याणकारी बना। इस शरीर में ही विराजमान रह। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब तेरे ही अधीन है। तू माता-पिता के समान हम पुत्रों की रक्षा कर और हमें सम्पदाओं तथा विभूतियों से सम्पन्न कर।"

जीवनीशक्ति (लाइफ एनर्जी) रूप प्राणतत्त्व के छह प्रकार : वैज्ञानिकों की दृष्टि में

इसी प्राणतत्त्व को वैज्ञानिकों ने लाइफ एनर्जी (जीवनीशक्ति – चेतन ऊर्जा) कहा है। भौतिक विज्ञान के अनुसार इस लाइफ एनर्जी के छह प्रकार माने जाते हैं–(१) ताप (हीट), (२) प्रकाश (लाइट), (३) चुम्बकीय (मैग्नेटिक), (४) विद्युत् (इलेक्ट्रीसिटी) (५) ध्वनि (साउंड) और (६) घर्षण (फ्रिक्शन) अथवा यांत्रिक (मैकेनिकल)। जैन दर्शन के अनुसार छह पर्याप्तियाँ लगभग इसी तथ्य का उद्घाटन करती हैं।

इसी षड्विध प्राणतत्त्व को प्राणायाम अथवा श्वासोच्छ्वास बलप्राण द्वारा अभीष्ट मात्रा में उपलब्ध एवं विकसित किया जा सकता है और अपने व्यक्तित्व को ओजस्वी, तेजस्वी, ऊर्जस्वी, बनाया जा सकता है। इसके लिए स्थूल माध्यम नासिका-रन्ध्र होते हैं। जिनके आधार पर श्वास को अंदर खींचना और बाहर निकालना होता है।[3]

---

१. वही, जून १९७७ से, भावांश ग्रहण, पृ. २६

२. "या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता, या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवा, तां कुरु मोत्क्रमीः।
प्राणस्येदं वशे सर्वं, त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षतस् श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः इति।" –प्रश्नोपनिषद् २/१२-१३

३. अखण्ड ज्योति मार्च १९७७ से, पृ. ३१

श्वास-उच्छ्वास भी प्राण का आवश्यक अंग

आम धारणा के अनुसार श्वासोच्छ्वास को अथवा श्वास को प्राण कहा जाता है। सांस के साथ चलने वाली 'वायु' 'प्राण' नाम से प्रचलित है। यद्यपि वायु और प्राण का वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा शब्द और वायु का। जहाँ वायु नहीं होगी, वहाँ दो व्यक्ति अत्यन्त पास में खड़े हों तो भी परस्पर वार्तालाप नहीं होगा। हवा नहीं होगी, वहाँ होठ, जीभ आदि सब कुछ बोलने और संचलित होने का प्रयत्न करेंगे, परन्तु मुँह से शब्द नहीं निकलेंगे, क्योंकि बिना हवा के किसी भी ध्वनि का दूसरे तक पहुँच सकना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ श्वास और उच्छ्वास के रूप में वायु होगी, वहाँ अगर प्राणतत्त्व नहीं जुड़ा हुआ है, तो व्यक्ति का जीवन धारण करना कठिन हो जाएगा। उस शरीर में हाथ, पैर, मुँह आदि सब अवयव एवं श्वास के होने पर भी वे ठप्प हो जाएँगे, चल नहीं सकेंगे। इसलिए प्राण को ऑक्सीजन (प्राणवायु कहा जाता है)। वैशेषिक दर्शन ने शरीर के अंदर संचारित होने वाले प्राण को वायु कहा है।[1]

जीवन को स्थिर रखने वाला प्राण : श्वासोच्छ्वास बल-प्राण : क्यों और कैसे?

मतलब यह है कि केवल श्वास को प्राण नहीं कहा जा सकता। श्वासोच्छ्वासरूप वायु के साथ प्राण का घुल-मिल जाना या श्वास के सहारे से प्राणतत्त्व को आकर्षित कर सकना एक बात है, और मात्र श्वास-प्रश्वास क्रिया करना सर्वथा दूसरी। वस्तुतः श्वासोच्छ्वास के साथ प्राण घुल-मिल जाता है, या श्वास के द्वारा प्राण का आकर्षण-विकर्षण किया जाता है, तभी श्वास का संचार सारे शरीर में ठीक ढंग से, व्यवस्थित रूप से होता है।[2]

प्राण के इस नौवें विशिष्ट संस्थान को जैनागमों की भाषा में श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण कहा गया है। इसका रहस्य यह है कि श्वास या उच्छ्वास के साथ जब तक प्राण नहीं जुड़ता है, अथवा जब प्राण का सम्बन्ध उससे टूट जाता है, जब श्वास का चलना, अंदर खींचना या बाहर निकालना, नहीं हो पाता। श्वास की गति (गमनागमन) जब बंद हो जाती है, तब मृत्यु सामने आ खड़ी होती है और जीवन का शीघ्र ही पटाक्षेप हो जाता है। अतः श्वासोच्छ्वास में शक्ति, गति, क्रियाशीलता आदि प्रदान करने वाला प्राण श्वासोच्छ्वास बल-प्राण है।

---

१ (क) वही, सितम्बर १९७७ से, पृ. २९
(ख) शरीरान्तः संचारी वायुः प्राणः, स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादि संज्ञां लभते।
—वैशेषिक दर्शन

२. वही, सितम्बर १९७७ से, पृ. ३१

भगवती सूत्र में प्राणी के जीवनधारणार्थ उच्छ्वासनिश्वास का वर्णन

भगवती सूत्र में एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक के श्वासोच्छ्वास तथा उससे सम्बन्धित पुद्गलों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से आहरण (आकर्षण–आहार) और अनाहरण (विकर्षण) के विषय में शंका-समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि (जीवित रहने के लिए) नैरयिक जीवों से लेकर वैमानिक देवों तक के जीव यानी संसार के सभी प्राणी आभ्यन्तर एवं बाह्य उच्छ्वास (आनमन और उच्छ्वास) तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य निःश्वास (प्राणमन एवं निःश्वास) के रूप में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से पुद्गल-द्रव्यों को ग्रहण करते और छोड़ते हैं। तथा एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय, द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक के आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास एवं निःश्वास को हम जान-देख पाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रज्ञापना सूत्र में भी नारकों से लेकर वैमानिक जीवों तक के आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास और निःश्वास के काल (स्थिति) का वर्णन किया गया है।

इससे एक तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी संसारस्थ प्राणी उच्छ्वास और निःश्वास (संक्षेप में कहें तो–'श्वास') के बिना जीवित, सक्रिय, शक्तिमान और श्वासोच्छ्वास के रूप में चार, पाँच या छह दिशाओं के अमुक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयुक्त प्राणबलवर्द्धक पुद्गलों के ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त प्रज्ञापनासूत्र में उक्त उच्छ्वास-निःश्वास के विरहकाल की प्ररूपणा से यह भी ध्वनित किया गया है कि जो जीव जितना-जितना कषायों एवं रागद्वेष तथा अशुभ लेश्या से हीन है, सुखी है, वह उतने ही अधिक काल के अनन्तर उच्छ्वास-निःश्वास लेता है; क्योंकि तीव्र या द्रुतगामी श्वासोच्छ्वास अपने आप में दुःखरूप है, रोगोत्पादक है, अल्पायुकारक है।[1]

श्वास के साथ आयु ही नहीं, विद्युत तत्त्व का भी आकर्षण और विकर्षण

नैरयिक आदि जीवों द्वारा अपने-अपने शरीर के अनुसार उच्छ्वास-निःश्वास के रूप में बहुत या अल्प पुद्गलों के आहरण (ग्रहण) और निहरण (त्याग) करने की बात जो भगवती सूत्र में कही गई है, वह वैज्ञानिकों के सिद्धान्त से हूबहू मिलती है।

---

१. (क) नेरइयाणं भंते! केवइयकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति का नीससंति वा? जहा ऊसासपदे।" –भगवती. श. १, उ. १, सू. ६/१२

(ख) "तत्थणं जे ते महासरीरा। अप्पसरीरा.....ते बहुतराए। अप्पतराए पोग्गले आहारेंति,.....परिणामेंति, ऊससंति, नीससंति.....नो सव्वे समुस्सास निस्सासा।" –भगवती. श. १ उ. २, सू. ५-१

(ग) नेरइया.....जाव वेमाणियाणं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?
गोयमा! सततं से तयामेव। वेमायाए.....आ. पा. ऊ. नी. वा।
–प्रज्ञापना सूत्र सप्तम उच्छ्वासपद सू. ६९३ से ७०१

वैज्ञानिकों का कथन है कि प्रत्येक श्वास के साथ हम आकाश से केवल हवा ही नहीं खींचते, बल्कि उसके साथ विद्युत् एवं विद्युत के उत्पादक कण, तथा चुम्बकीय तत्त्व भी आकर्षित (आहूत) करते हैं। यह विशेष विद्युत् विभिन्न प्रकार की और विभिन्न गुणों की उत्पादिका होती है, यह सामान्य बिजली की तरह जड़ तत्त्वों के अन्तर्गत नहीं आती; क्योंकि उसमें जीवन के सभी तत्त्व भरे रहते हैं। ऐसा जीवन तत्त्व, जो जीवाणुओं की तरह हलचल ही नहीं करता, बल्कि उसमें चेतना, क्रियाशीलता, उत्साह, एवं विचारकता भी भरी होती है। यह दिव्य और भव्य विचारकता, आध्यात्मिकतत्त्व की चिन्तनशीलता ही शुद्धआत्मिक या परमात्मीय प्रवाह है, जिसे ग्रहण करने की क्षमता प्राणायाम (प्राणबलसंवर) की साधना से होती है।

विशेषतः निद्रावस्था में हमारा अवचेतन मस्तिष्क आकाश से इतनी विद्युतीय खुराक प्राप्त कर लेता है, जिससे शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्रियाकलापों का संचालन ठीक ढंग से हो सकता है। अनिद्रारोग में या विक्षिप्त (पागलपन) या अर्धविक्षिप्त अवस्था में इस विद्युतीय आहार की कमी पड़ती है।

प्राणी के शरीर रूपी यंत्र को संचालित रखने के लिए जिस विद्युत की आवश्यकता पड़ती है, उसे प्राण कहते हैं। प्राण एक प्रकार की अग्नि है, जिसे ज्वलन्त रखने के लिए (छही दिशाओं के पुद्गलों के) आहार (आहरण) की आवश्यकता पड़ती है। ये आहार्य पुद्गल श्वास के माध्यम से शरीर में प्रविष्ट होते हैं।

विज्ञान यह मानता है कि पृथ्वी के इर्दगिर्द एक चुम्बकीय वातावरण दूर दूर तक फैला हुआ है। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण ही सब कुछ नहीं है, उसके साथ चुम्बकीय वातावरण मिलकर अपने लोक में संव्याप्त कितनी ही क्षमताओं को जन्म देता है। उनके आधार पर संसार के समस्त प्राणी कर्मक्षयोपशमवशात् अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु श्वासोच्छ्वास के माध्यम से आकर्षित कर लेते हैं। वे उनकी गतिविधियाँ तथा उनकी शारीरिक मानसिक क्षमताएँ भी बढ़ा सकते हैं; बशर्ते कि वे प्राणशक्ति का अभिवर्धन श्वासोच्छ्वास के साथ करें। इस चुम्बकत्व का उद्गमस्रोत भी पृथ्वी के गहन अन्तराल से निकलने वाला शक्तिप्रवाह (प्राणबलोत्पादक प्रवाह) है।[1]

श्वास के साथ शरीर में प्राणतत्त्व का प्रवेश : श्वास-प्रश्वास के घर्षण से

प्रश्न होता है, भगवतीसूत्र में उल्लिखित, उच्छ्वास-निःश्वास के माध्यम से चार, पांच या छह दिशाओं से प्राणयोग्य पुद्गल कैसे आकर्षित आहूत हो जाते हैं? स्पष्ट शब्दों

---

१. अखण्डज्योति मार्च १९७७ से साभार उद्धृत पृ. ३६

में कहें तो प्राणायाम की प्रक्रिया से ब्रह्माण्डव्यापी प्राणतत्त्व का हवा के साथ आकर्षण कैसे हो जाता है?

प्राणयोग विशारद इसका समाधान यों करते हैं कि हवा में ऑक्सीजन जैसे रासायनिक पदार्थ ही नहीं, उसके गहन अन्तराल में प्राणतत्त्व की प्रचुर मात्रा भी विद्यमान रहती है। वह श्वास के साथ अनायास ही शरीर में प्रवेश करता रहता है। शरीर उसमें से कामचलाऊ मात्रा में सोखता भी है। प्राणायाम प्रक्रिया में श्वास-प्रश्वास के घर्षण से ऊर्जा (बल–शक्ति) की उत्पत्ति और हवा के साथ घुले-मिले ऑक्सीजन जैसे रासायनिक पदार्थों की ही नहीं, प्राणशक्ति (प्राणबल) की उपलब्धि का भी लाभ मिलता है। जीवन का आधार श्वास पर अवलम्बित है, ऐसा जो कहा जाता है, उसके पीछे रहस्य है–श्वास-प्रश्वास का घर्षण, एवं प्राण के अनुदान से अभीष्ट ऊर्जा की उपलब्धि।

घर्षण के महत्त्व को भली-भाँति समझना आवश्यक है। यह क्रिया सामान्य है, पर उसकी प्रतिक्रिया असामान्य है, जिससे ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। रेल की पटरियों पर उसके पहियों की बार-बार रगड़ से चिनगारी और गर्मी उत्पन्न होती है, जो पहिये के धुरे तक को भी गला देती है। दही मथने में रस्सी के दो छोर पकड़ कर रई को उलटा-सीधा घुमाया जाता है। रई घूमती है, ऊर्जा उत्पन्न होती है और उसी की उत्तेजना से दही में घुला हुआ घी मक्खन के रूप में उभर कर बाहर आ जाता है।

इसी प्रकार दायें-बायें नासिका स्वरों के चलने वाले विशेष प्रकार मेरुदण्ड के इडा, पिंगला विद्युत्-प्रवाहों को उत्तेजित करते हैं और उनकी सक्रियता दधि-मथन-सी हलचल पैदा करती है। फलतः ओजस् तत्त्व उभर कर ऊपर आ जाता है। इसे पूर्वोक्त विधिवत् उत्पन्न और धारण किया जा सके तो श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण-संवर का साधक तेजस्वी, ओजस्वी, तपस्वी और मनस्वी बनकर इस प्राण-संवर की साधना प्रखररूप से कर सकता है।

इस उपलब्धि के सहारे प्रखरता की अनेक चिनगारियाँ फूटती हैं। स्फूर्ति, हिम्मत, पराक्रम, शौर्य, निष्ठा, धृति, उत्साह आदि अनेकों आन्तरिक विशेषताएँ उसे उपलब्ध हो जाती हैं। उनसे लाभान्वित होने पर उसके व्यक्तित्व में अनेक ऋद्धि-सिद्धियां, लब्धियाँ और विभूतियाँ उसे हस्तगत हो जाती हैं। पौरुष, पराक्रम और शौर्य इसी आन्तरिक प्राणबल (आन्तरिक ऊर्जा) के सहारे प्राप्त होता है।

श्वास-प्रश्वास के साथ प्राणऊर्जा, आत्मबल आदि की उपलब्धि

इस प्रकार श्वास-उच्छ्वास के साथ प्राणऊर्जा की उपलब्धि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में लाभदायक है। आध्यात्मिक प्राणायाम से आन्तरिक प्राणऊर्जा अर्जित करके आत्मिक शक्ति प्राप्त की जा सकती है, जो आत्म-परिष्कार, आत्मविकास, कर्म-संवर, एवं आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है। आत्मबल बढ़ाने के लिए वैचारिक

भावना और क्रियात्मक प्रखरता दोनों आवश्यक हैं, जो प्राणबल-संवर से प्राप्त हो सकती है।[1]

अधिक प्राणऊर्जा प्राणायाम प्रक्रिया से ही प्राप्त हो सकती है

यह सत्य है, अत्यधिक सशक्तता प्राप्त करने के लिए साधक को अधिक प्राणऊर्जा की आवश्यकता रहेगी। जैसे–बड़ा कारखाना चलाने के लिए विशालकाय मशीनों को गतिशील बना सकने वाली बड़ी मोटर फिट करनी पड़ती है। छोटी मोटरें तो छोटी मशीनें ही चला पाती हैं; इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक कार्य करने के लिए अधिक उच्चस्तरीय प्राण ऊर्जा (प्राणबल) की आवश्यकता पड़ती है। इतनी उच्चस्तरीय प्राणऊर्जा खाने-पीने या आग तापने जैसे प्रयत्नों से नहीं, वरन् वहाँ से प्राप्त करनी होती है, जहाँ चेतना का श्वासोच्छ्वास रूप घर्षणात्मक प्रयत्न तथा उससे प्रभावित एवं आकर्षित होकर लोक की छहों दिशाओं के पौद्गलिक पदार्थ इन दोनों को प्रभावित करने वाली क्षमता का उद्गम हो। कहना होगा कि वह आधार प्राणतत्त्व ही है; जो अन्तरिक्ष में प्रवाहित रहता है। उसी से घर्षण द्वारा आकर्षित किया जाता है–प्राण-बल जो संवर-साधक को जीवन के हर मोड़ पर उत्साह और पराक्रम प्रदान करता है।

प्राणायाम के मुख्यतः दो उद्देश्य

इस प्रकार प्राणायाम के मुख्यतया दो उद्देश्य फलित होते हैं। प्रथम है–श्वास की गति का नियंत्रण करना, अर्थात्–श्वाससंवर या श्वास को शान्त एवं स्थिर करना और दूसरा है–विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त प्राणतत्त्व को आकृष्ट करके स्थूल (औदारिक) सूक्ष्म (तैजस) और कारण (सूक्ष्मतर–कार्मण) शरीर को अद्भुत शक्ति से ओतप्रोत करना। कार्मण शरीर के अन्तर्गत तीव्रगति से श्वास लेने से आयुष्य नामकर्म वशात् आयुष्य कम हो जाता है, जीवन का शक्तिकोष जल्दी ही समाप्त हो जाता है, और दीर्घजीवन सम्भव नहीं रहता। प्राणायाम से श्वास की गति पर नियंत्रण किया जाता है।

प्राणायाम का उद्देश्य श्वास के मार्ग से प्राणतत्त्व को अधिक मात्रा में आकर्षित करना और आत्मा में धारण करके अधिक सशक्त बनना है। श्वास और प्राण का गहरा सम्बन्ध जान लेना आवश्यक है।

भौतिक विज्ञान के अनुसार हवा एक हलकी गैस है। उसके अन्तराल में बहुत-सी बहुमूल्य एवं महत्वपूर्ण वस्तुएँ समाई हुई हैं। दूध में घी रहता है, पर दीखता नहीं। फलों और वनस्पतियों में प्रोटीन, क्षार, चिकनाई, विटामिन आदि घुले रहते हैं, पर दीखते

---

१. अखण्ड ज्योति जून १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. २६-२७

नहीं। इन्हें विशेष विश्लेषण से ही जाना जा सकता है, और विशेष उपायों से ही निकाला जा सकता है।

इसी प्रकार हवा के भीतर भी बहुत कुछ भरा पड़ा है। श्वास लेते समय ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि का रासायनिक मिश्रण शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। उसमें से जो आवश्यक है, उसे शरीर सोख लेता है, और भीतर से उत्पन्न कचरे को वापस लौटने वाली सांस में कार्बन डाई ऑक्साइड गैस के रूप में बहा (बाहर निकाल) देता है।

अतः पृथ्वी पर ठोस, पानी में प्रवाही (तरल) और हवा में गैस के रूप में बहुत-से पदार्थ मौजूद हैं। श्वास खींचते समय उसके साथ पूर्वोक्त वायु आती है, उसके साथ ही पृथ्वी, जल और प्राणतत्त्व आदि भी सामान्यरूप से आते हैं, विशेषरूप से आकर्षित (आहृत) किये जाते हैं, प्राणायाम के द्वारा। अतः प्राणायाम का महत्व और उपयोग तथा उद्देश्य और लाभ समझ लेना आवश्यक है।[1]

स्वास्थ्यसंवर्द्धक प्राणायाम का स्वरूप और उसकी सफलता

आमतौर पर नासिका से श्वास खींचने, छोड़ने और रोकने की विधि-विशेष को प्राणायाम कहते हैं। इसमें श्वास खींचने को पूरक, रोकने को कुम्भक और छोड़ने को रेचक कहा जाता है। इस प्राणायाम के अनेकों भेद-प्रभेद हैं। उनमें पूरक, कुम्भक, रेचक के अलावा अन्तःकुम्भक, बाह्यकुम्भक, शीतली, सीत्कारी, भस्त्रिका, उज्जायी, लोम-विलोम, मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध, सूर्यभेदी, नाड़ीशोधन आदि प्राणायाम मुख्य हैं।

इनके भिन्न-भिन्न विधान, विभिन्न पद्धतियाँ, प्रयोजन तथा परिणाम हैं। इन सभी में यदि एक बात सामान्यरूप से रहे कि श्वास लेते समय संकल्पपूर्वक यह विश्वास विकसित किया जाता है कि नाक के साथ अन्दर प्रविष्ट होने वाली वायु में प्रचुर-परिमाण में प्राणतत्त्व भरा हुआ है। प्राणायाम क्रिया करते समय उद्दीप्त हुई संकल्पशक्ति के सहारे वह भीतर खिंचता चला आ रहा है और उसकी प्रतिष्ठापना शरीर के अंग-अंग में, रोम-रोम में होती चली जा रही है। ऐसी अभिव्यक्ति और सावधानी जितनी प्रखर होगी, उसी अनुपात में उभरा हुआ संकल्प ब्रह्माण्डव्याप्त प्राणतत्त्व को अधिकाधिक मात्रा में खींचने और धारण करने में सफल हो सकेगा।[2]

आशय यह है कि श्वास का आहरण करते (खींचते) समय लोकव्यापी छहों दिशाओं के प्राण-तत्त्वोत्पादक पुद्गलों का प्रचुरपरिमाण में खींचना, रोकते समय उनका रोम-रोम में बस जाना तथा छोड़ते समय अन्तर् की विकृतियों को अपने साथ घसीटते

---

१. अखण्ड ज्योति जून १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. २५
२. वही, सितम्बर १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ३१

हुए ले चलना और ऐसे सुदूर क्षेत्र में फेंक देना, जहाँ से फिर लौटने की सम्भावना न हो। इस प्रकार के तीन संकल्प पूरक, कुम्भक और रेचक के साथ-साथ किये जाएँ तो उससे प्राणायाम का उद्देश्य सफल होगा।

यद्यपि यह प्राणायाम प्रारम्भिक कक्षा का है, तथापि यह आध्यात्मिक प्राणायाम की उपलब्धि में परम सहायक होगा, जिसे जैन परिभाषा में 'श्वासोच्छ्वासबल-प्राण-संवर' कहा जा सकता है। निष्कर्ष यह है कि इस प्राणायाम में उतनी ही मात्रा में सफलता मिलेगी, जितनी मात्रा में संकल्प में प्रखरता होगी।

यदि ऐसे ही उथले मन से श्वास खींचते, रोकते और छोड़ते रहा जाए तो उसके क्रमबद्ध और तालबद्ध होने पर भी वह फेफड़ों का व्यायामभर हो सकता है। इस प्राणायाम का वह लाभ नहीं मिल सकता, जिसकी प्राणविद्या-साधना में महिमा बताई गई है।

इस प्राणायाम की गरिमा यह है कि अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में फैले हुए प्राणतत्त्व (वाइटल फोर्स) का अधिकाधिक मात्रा में आकर्षित करना और मन के कतिपय संस्थानों को समर्थ एवं नियंत्रित बनाना।

प्राणतत्त्व ही शरीर के सभी स्वसंचालित अंगों और संस्थानों को प्रभावित करता है

शरीरशास्त्र की दृष्टि से स्व-संचालित श्वास-प्रश्वास-क्रिया 'वेगस नर्व' के द्वारा गतिशील रहता है। 'वेगस नर्व' का सीधा सम्बन्ध अचेतन मन से रहता है। इसे साधारण इच्छाशक्ति से घटाया, बढ़ाया, रोका या चलाया नहीं जा सकता। इसे संकल्पपूर्वक किये हुए प्राणायाम द्वारा आहृत (आकर्षित) प्राणतत्त्व ही प्रभावित कर सकता है।

इस क्रिया में सफलता मिलने पर प्राणतत्त्व का वेगस नर्व के माध्यम से सारे शरीर पर अधिकार होता चला जाता है। फिर श्वास के साथ प्राणवायु के आवागमन, तथा रक्त में से दूषित तत्त्व छाँटने और निकालने के अलावा एक नया आधार और मिल जाता है, वह है—श्वास से घुली हुई प्राणतत्त्व की विशिष्ट विद्युत् जिसका प्रभाव समस्त अंगों और नाड़ी-संस्थानों पर पड़ता है। स्व-संचालित नाड़ी संस्थान को प्राणतत्त्व से नियंत्रित कर लिये जाने पर नाड़ी तन्तुओं के सहारे प्राण की विलक्षण शक्ति किसी भी प्रत्यक्ष या परोक्ष (सम्बन्धित) अवयव में भेजी जा सकती है और उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध किये जा सकते हैं।

शरीरशास्त्रियों का यह अनुभव है कि शरीर में रहने वाली क्रियाशक्ति से मस्तिष्कीय ज्ञानशक्ति का सामर्थ्य दसगुना अधिक है और उससे भी दसगुनी अधिक क्षमता स्वसंचालित नाड़ी-प्रक्रिया में है। अर्थात्—शारीरिक क्रियाशीलता की अपेक्षा स्व-संचालित क्षेत्रों में सौ गुनी अधिक शक्ति काम करती है। उसे यदि नियंत्रण में लेकर

इच्छानुसार प्रयुक्त किया जाए तो मानव अपने में सामान्य क्रियाशीलता से सौ गुनी क्रियाशीलता विकसित कर सकता है।

शारीरिक और मानसिक विकास को जादुई ढंग से प्रभावित करने वाले हार्मोन्स भी नाड़ी तंतुओं, श्वास-प्रश्वास लहरियों, तथा मांसपेशियों के आकुंचन-प्रसारण द्वारा अर्जित प्राणतत्त्व के प्रभाव से प्रभावित हो सकते हैं, जो किसी भी अन्य उपाय से, दवा-उपचार से प्रभावित नहीं होते। साथ ही शरीर के अन्तर्गत नाड़ी-गुच्छक, उपात्यिकाएँ, ग्रन्थियाँ, कोशिकाएँ तथा अवयवों की कार्य पद्धतियाँ भी निश्चित रूप से पूर्वोक्त प्रकार से प्रभावित की जा सकती हैं।[1]

श्वास-प्रश्वास की गति बंद : सारे क्रियाकलाप बन्द

श्वास-प्रश्वास के चलने तथा खींचने-निकालने के घर्षण के साथ जीवन और उसके कार्यकलाप जुड़े हुए हैं। साधारण श्वास-प्रश्वास-क्रिया से जीवनयात्रा चलती है। जिस प्रकार घड़ी का पैण्डुलम हिलना बन्द हो जाता है तो घड़ी के सारे पुर्जे ठप्प हो जाते हैं, उसी प्रकार श्वास-प्रश्वास की गति बंद हो जाती है तो शरीर और उसके सारे अवयव, इन्द्रियाँ, मन आदि वहीं ठप्प हो जाते हैं। घर्षण बंद तो जीवन के सारे कार्यकलाप बंद। यही मृत्यु है।[2]

शरीरयात्रा को चलते रहने योग्य प्राण तो श्वासोच्छ्वास के साथ हर किसी को मिला है। उसे व्यक्तिगत विद्युत्, आत्म-प्राण, जीवनी शक्ति एवं शक्ति ऊर्जा के रूप में आंका जाता है। किन्तु श्वासोच्छ्वास के माध्यम से प्राणबल के सहारे से उसे सामान्य से आगे बढ़कर असामान्य मात्रा में ग्रहण और धारण करने की इच्छा होने पर साधक प्राणायाम-साधना का आश्रय लेता है, जो आगे चलकर श्वासोच्छ्वास-बल-प्राणसंवर, संक्षेप में–श्वास-संवर करने में सक्षम हो जाता है।[3]

शारीरिक दृष्टि से श्वासोच्छ्वासबल-प्राण की साधना

सामान्यतया प्राणायाम श्वास-प्रश्वास का एक व्यायाम प्रतीत होता है। स्वास्थ्य-संवर्धन के क्षेत्र में उसे 'फेफड़ों की कसरत' कहा जाता है। उसमें फेफड़े को मजबूत बनाने के लिए गहरी सांस (डीप ब्रीदिंग) लेने का विधान भी है।

गहरी श्वास से लाभ, न लेने से हानि

गहरी श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया का मुख्य प्रयोजन यह भी है कि फेफड़ों में अधिक हवा भरी जाए, ताकि उनके कुछ भाग, जो पूरी सांस न लेने से निष्क्रिय एवं अशक्त पड़े

---

१. अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ३१-३०

२. यावद्वायुः स्थिरोदेहे, तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ -हठ. प्र. २/३

३. अखण्ड ज्योति जून १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. २५

रहते हैं, उन्हें इस प्रक्रिया से क्रियाशील और सशक्त बनाया जाए। साधारणतया लोग हलकी सांस लेते हैं, जिससे फेफड़ों का मध्यभाग ही प्रभावित होता है। उनके ऊपर के और नीचे के भागों में थोड़ी-सी हवा पहुँचती है। वहाँ एक प्रकार से निष्क्रियता छाई रहती है। जहाँ निष्क्रियता होगी, वहाँ प्रायः दुर्बलता संभावित है। फेफड़ों की पूरी सफाई न होने से फेफड़े सम्बन्धी अनेक रोगों के या रोग-कीटाणुओं के उत्पन्न होने का खतरा रहता है।

वर्तमान में क्षय, खांसी, प्लूरसी, दमा, सांस फूलना, ब्रोंकाइटिस आदि रोग फेफड़ों की दुर्बलता के कारण ही बढ़ते हैं और यह दुर्बलता उत्पन्न होती है–फेफड़ों के पूरे भाग को पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन की कमी तथा समुचित श्रम करने का अवसर न मिलने से। इस विपत्ति से बचाने के लिए गहरे सांस लेने के जो तरीके खोजे गए हैं, आरोग्य विज्ञान के क्षेत्र में उन्हें ही 'प्राणायाम' कहा जाता है। यह शारीरिक दृष्टि से श्वासोच्छ्वासबल-प्राण की साधना हुई।[1]

प्राणायाम से गहरे श्वास लेने का लाभ, महत्व और उद्देश्य

इस प्राणायाम में गहरी सांस लेने का अभ्यास किया जाता है। साधना के समय इस बात का प्रयास विशेषरूप से किया जाता है कि सामान्य समय में भी उथले सांस लेने की आदत को बदला जाए और उसके स्थान पर सदा के लिए गहरा सांस लेने की आदत डाली जाए। इससे स्वास्थ्य संवर्धन, दीर्घजीवन एवं श्वासोच्छ्वास प्राणबल-संवर (श्वाससंवर) की साधना में आगे बढ़ने की सम्भावनाएँ बढ़ती हैं।

सामान्यतया प्रति मिनट में १८ बार हमारे फेफड़े फूलते-सिकुड़ते हैं। २४ घंटे में इस प्रक्रिया की २५९२० बार पुनरावृत्ति होती है। प्रत्येक श्वास में प्रायः ५०० सी. सी. वायु का उपयोग होता है, जबकि एक स्वस्थ शरीर की आवश्यकता के अनुसार हर सांस में १२०० सी. सी. वायु का उपयोग होना चाहिए। उथली सांस लेने वाले लोग आवश्यकता को देखते हुए आधे से भी कम वायु प्राप्त करते हैं। यह जानबूझ कर शरीर को रुग्ण रखने का तरीका है जिसमें आधे पेट भोजन और आधी प्यास पानी के समान शरीर को दुर्बल बनाये रखा जाता है।

प्राणायामनिष्णात सदा से गहरी सांस लेने की आवश्यकता बताते हुए कहते हैं– 'उथली सांस लेने की गलत आदत से फेफड़े कमजोर पड़ते हैं और उनमें क्षय, दमा, खांसी, सीने का दर्द आदि अनेक रोगों का खतरा बना रहता है।' डॉ. मेकडावेल का कथन है–"गहरी सांस लेना केवल फेफड़ों को ही नहीं, पेट के पाचनयंत्रों को भी परिपुष्ट बनाना है। रक्तशुद्धि की दृष्टि से गहरा श्वास-प्रश्वास बहुमूल्य दवा और उपचार से भी बढ़कर लाभदायी है।"[2]

---

१. वही, सितम्बर १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ३१

२. वही, जून १९७४ से साभार उद्धृत पृ. २३-२४

गहरी सांस लेने से विभिन्न लाभ : पाश्चात्य डॉक्टरों की राय में

गहरी सांस लेने से श्वास-संवर का लाभ भी मिलता है, क्योंकि श्वास जितना धीमा और देर से, गहरा लिया जाएगा, उतना ही वह शान्त होगा, स्थिर होगा। श्वास शान्त होते ही मन भी शान्त और निश्चल होगा, इस प्रकार आस्रवों का सहज ही निरोध हो सकेगा।

गहरी सांस लेने का एक लाभ यह भी है कि फेफड़े को जल्दबाजी की भगदड़ से थोड़ी राहत मिलती है और वह उस अवकाश का उपयोग रक्त को अधिक शुद्ध करने में कर सकता है। इससे हृदय पर भी कम बोझ पड़ेगा और वह अधिक निरोग रह सकेगा।

डॉ. मेटनो का कथन है कि गहरी श्वसन क्रिया का प्रभाव मस्तिष्क पर भी पड़ता है। उन्होंने इससे स्मरणशक्ति की वृद्धि से लेकर प्रसन्नता में तन्मय रहने तक की विशेषता के लाभों को भी स्वीकार किया है।

डॉ. नोल्स लिखते हैं–गहरी सांस लेने की आदत मनुष्य को अधिक कार्य करने की क्षमता और स्फूर्ति प्रदान करती है। श्रमजीवियों को कठोर श्रम करना पड़ता है, उसमें उनकी शक्ति अधिक खर्च होती है, परन्तु वे जल्दी थकने की अपेक्षा देर तक बिना थके कार्य कर सकते हैं, और अपेक्षाकृत अधिक बलिष्ठ रहते हैं, इसका प्रमुख कारण है–कठोरश्रम करने के साथ-साथ फेफड़ों का अधिक काम करना और उस आधार पर रक्तशुद्धि का अधिक अवसर मिलना।

इंग्लैण्ड का प्रख्यात फुटबाल खिलाड़ी 'मिडलोथियन' अपने गर्वीले मन, स्वस्थ तन और फुर्तीलेपन का कारण गहरी सांस लेने के अभ्यास को ही बताता है। उसने इसे ही स्वास्थ संरक्षण और दीर्घ जीवन का सस्ता, किन्तु कार्यक्षम नुस्खा बताया है।

प्राण और वायु दोनों कितने सम्बद्ध कितने भिन्न ?

निष्कर्ष यह है कि स्थूल शरीर में वायु-संचार के लिए फेफड़े प्रधानरूप से काम करते हैं। सूक्ष्म शरीर में यह कार्य नाभिकेन्द्र को ही करना पड़ता है। प्रत्यक्ष शरीर नासिका द्वारा वायु खींचता-छोड़ता है, सूक्ष्म शरीर को उसके साथ प्राणतत्त्व का संचार करना होता है।

अतः प्राण वस्तुतः वायु से भिन्न एक विद्युत्शक्ति है, जो ऑक्सीजन की भाँति वायु में घुली-मिली रहती है। श्वास-प्रश्वास के साथ ही उसका आवागमन भी होता रहता है। जैसे–समुद्र के पानी में नमक घुला-मिला रहता है, परन्तु समुद्रजल और नमक दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे ही वायु के साथ प्राणतत्त्व घुला-मिला होने पर भी दोनों एक दूसरे से भिन्न स्तर के हैं।

प्राणतत्त्व : सूक्ष्म शरीर की नाड़ियों में घुला-मिला

कतिपय प्राणविद्यावेत्ताओं ने सूक्ष्म (तैजस) शरीर की नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले शक्ति प्रवाह, को 'प्राण' तत्त्व माना है। जिस प्रकार रक्त और रक्तवाहिनी शिराओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहने पर भी उनका स्वतंत्र अस्तित्व है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर की नाड़ियों और उनमें प्रवाहित होने वाले प्राण तरंगों का एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हुए दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व माना जाता है।

प्राण-प्रवाह की दस धाराएँ मानी गई हैं। जिनमें से पाँच नाभिदेश से ऊपर की ओर चलती हैं और पाँच नीचे की ओर। महत्व और उपयोगिता को देखते हुए प्राण के ऊर्ध्वगामी प्रवाह को प्राण और अधोगामी प्रवाह को उपप्राण कहते हैं।

अध्यात्मक्षेत्रीय प्राणायाम का दूरगामी प्रभाव

इस प्रकार प्राणायाम तीनों शरीरों और उनसे सम्बन्धित सभी अवयवों पर प्रभाव डालता है। स्थूलशरीर में वह आरोग्य, स्फूर्ति, शक्ति, गति बढ़ाता है। सूक्ष्म शरीर में एकाग्रता, सन्तुलन, पवित्रता, साहसिकता, तेजस्विता-ओजस्विता आदि बढ़ाता है। और कारण (कार्मण) शरीर को प्राणसंवर के माध्यम से प्रभावित करता है, जिससे अन्तःऊर्जा बढ़ती है और अनायास ही कई लब्धियाँ, ऋद्धियाँ और विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।[1]

आरोग्यविज्ञानक्षेत्रीय प्राणायाम से अध्यात्मक्षेत्रीय प्राणायाम बढ़कर

इस दृष्टि से आरोग्यविज्ञानक्षेत्रीय प्राणायाम की भी उपयोगिता है; परन्तु अध्यात्म-क्षेत्रीय प्राणायाम इससे भिन्न है। इसमें ब्रह्माण्डव्यापी प्राण की अभीष्ट मात्रा आत्मप्राण तक पहुँचाई जाती है। इस प्रकार उसकी स्थिति और सम्पदा बढ़ती है। फलतः भौतिक सफलताओं के साथ-साथ आत्मिक विभूतियों के समस्त अवरुद्धमार्ग खुल जाते हैं।[2]

आध्यात्मिक प्राणायाम के दो रूप और उससे लाभ

जिस प्रकार तालाब को वर्षा के विपुल जल का अनुदान मिलता है तो वह परिपूर्ण हो जाता है, किन्तु यह अनुदान न मिलने पर वह सूखता है और सड़ता जाता है। उस तालाब को स्वच्छ और भरापूरा रखने के लिए नये वर्षाजल की आवश्यकता रहती है। उसी प्रकार आत्मप्राण के सरोवर में ब्रह्मप्राण के प्रचुर प्राणजल का अनुदान पहुँचाया जाए, तभी वह स्वच्छ एवं परिपूर्ण रह सकता है। आत्मप्राण में ब्रह्मप्राण (ब्रह्माण्डव्यापी

---

१. अखण्ड ज्योति, जून १९७४ से साभार उद्धृत पृ. २४
२. अखण्डज्योति, मई १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. ७७

प्राण) को पहुँचाना, मिलाना ही आध्यात्मिक प्राणायाम का स्वरूप है। इससे अन्तरात्मा के विकास को अवसर मिलता है; और श्वासोच्छ्वास बलप्राण-संवर का पथ प्रशस्त हो जाता है। साथ ही आत्मोत्कर्ष का वह द्वार खुलता है, जिसमें प्रवेश करने के पश्चात् व्यक्ति क्रमशः अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर तेरहवें-चौदहवें (सयोगी केवली-अयोगी केवली) गुणस्थान तक पहुँच जाता है।[1]

आत्मप्राण और ब्रह्मप्राण का समन्वय : वैदिक दृष्टि से

ऐतरेयोपनिषद् में व्यक्ति (आत्म) प्राण और ब्रह्मप्राण के समन्वय की चर्चा है कि प्राण एक है, किन्तु वह दो देवताओं में–दो पात्रों में भरा हुआ है। शिव पुराण में प्राणायाम के दो प्रकारों का उल्लेख है–"प्राणायाम सगर्भ और अगर्भ, दो प्रकार का होता है। जप और ध्यान से युक्त प्राणायाम सगर्भ होता है, उनसे रहित होता है, वह अगर्भ कहलाता है।" योगकुण्डल्युपनिषद् में बताया गया है कि "उस (आध्यात्मिक) प्राणायाम के दो साधन मुख्य हैं–(१) सरस्वती (सुषुम्ना नाड़ी) का चालन और (२) प्राणरोध। अभ्यास से कुण्डली मारे बैठी कुण्डलिनी सीधी हो जाती है।"[2]

आध्यात्मिक प्राणायाम से तात्पर्य है–ब्रह्माण्डीय चेतना को जीव चेतना में सम्मिश्रित करके जीवसत्ता का अन्तःतेजस् जागृत करने वाला श्वासोच्छ्वासबल-प्राणरूप प्राणयोग।

ऐसा अन्तःऊर्जा-उत्पादक प्राणायाम प्राणबलसंवर-साधना में सहायक

ऐसे विशिष्ट अन्तःऊर्जा-उत्पादक प्राणायाम प्रयोगों में साहसिकता एवं सक्रियता प्रधान है। आलस्य और प्रमाद जैसी जीवन-सम्पदा (प्राण-बल-सम्पदा) को पंगु बना देने वाली दुःखद विडम्बनाओं को निरस्त करने में इस श्वासोच्छ्वास प्राणबल संवर रूप प्राणायाम की साधना से बहुत सहायता मिलती है, उत्साह जगता है और स्फूर्ति बढ़ती है।

प्राणसंवर की इस प्राणायाम क्रिया के साथ मनोयोग जुड़ा रहने से ही सफलता के आधार बनते हैं। इसके लिए प्राणबल संवर की प्रक्रिया में मन को भी प्रशिक्षित एवं

---

१. वही, सितम्बर १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ३१

२. (क) प्राणा वै द्विदेवत्याः एकमात्रा गृह्यते।
तस्मात् प्राणा एकनामाता द्विमात्रा हूनो, तस्मात्प्राण द्वन्द्वम्। –ऐतरेयोपनिषद् २/२७

(ख) अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विना गर्भः, सगर्भस्तत्-समन्वयात्। –शिवपुराण

(ग) तत्साधनं द्वयं मुख्यं, सरस्वत्यास्तु चालनम्।
प्राणरोधमथाभ्यासत्सा ऋज्वी कुण्डलिनी भवेत्॥ –योग-कुण्डलिन्युपनिषद् १/८

अभ्यस्त करना होता है। अन्तरंग प्राप्य बल के बिना सम्पर्क क्षेत्र की बिखरी पड़ी अवांछनीयताओं से जूझने की वीरता तथा व्यक्तित्व को आन्तरिक ऊर्जा सम्पन्न उच्चस्तरीय सिद्ध करने वाली सज्जनता कथमपि सम्भव नहीं हो सकती। सरकस के खेल दिखाने के लिए प्रशिक्षित करके हिंस्र एवं क्रूर जानवरों को साधने के समान यह कार्य भी अत्यन्त कठिन है, किन्तु असम्भव नहीं है। श्वासोच्छ्वास-प्राणबल संवर-साधनात्मक प्राणविद्या के आधार पर जो चेतनात्मक प्राणऊर्जा उपार्जित की जाती है, उसमें ऐसी ही साहसिकता, वीरता और सक्रियता का सुखद समन्वय है।[1]

आध्यात्मिक प्राणायाम से श्वासोच्छ्वास बल-प्राण संवर में तीव्रता

अध्यात्म-साधना में प्राणायाम को योगाभ्यास का महत्वपूर्ण अंग माना गया है। उससे मात्र मनोनिग्रह का लाभ ही नहीं मिलता, अन्य सूक्ष्म संस्थानों का भी परिशोधन होता है। शारीरिक आरोग्य का लाभ तो सर्वविदित है। फेफड़े सुदृढ़ होने तथा अधिक मात्रा में शरीर में प्राणवायु के प्रवेश होने से जीवन तत्त्व भी अधिक मिलते हैं; आत्मिक परिशोधन की गति भी तीव्र होती है। फलतः आत्मिक पवित्रता बढ़ती है। कुसंस्कारों और दोष-दुर्गुणों का निराकरण होता है। अन्तःकरण में श्रेष्ठ संस्कार जागृत होने लगते हैं। इससे हिंसादि आस्रवों का निरोध करने एवं अहिंसादि संवर का पालन करने में व्यक्ति सक्षम हो जाता है।

प्राणायाम का स्थूल (औदारिक) और सूक्ष्म (तैजस) शरीरों पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता है– स्वास्थ्य-संवर्द्धन और मानसिक एवं बौद्धिक परिष्कार के रूप में। कार्मण (कारण) शरीर के भाव-संस्थान पर भी इस साधना की उपयुक्त प्रतिक्रिया होती है।[2]

प्राणायाम से व्यक्ति के शरीरबल, मनोबल तथा आत्मबल में संवर्द्धन होने पर बाह्याभ्यन्तर तपश्चर्या तथा परीषहजय आदि कर्मनिर्जरा एवं कर्मसंवर की क्षमता बढ़ जाती है।

मनुस्मृति में भी कहा है–"जैसे अग्नि में डालने से धातुओं के मल जल जाते हैं, वैसे ही प्राणनिग्रह रूप प्राणायाम करने से इन्द्रियों के विकार दूर हो जाते हैं।" अमृतनादोपनिषद् में उल्लेख है कि "जिस प्रकार सोने को तपाने से उसके खोट जल जाते हैं, वैसे ही प्राणधारणरूप प्राणायाम से इन्द्रियों के विकार जलकर नष्ट हो जाते हैं।" 'योगसन्ध्या' में कहा है–"प्राणायाम जैसे पापरूपी ईंधन को जलाने वाला पावक (अग्नि) है, वैसे ही योगियों ने इसे संसाररूपी समुद्र को पार करने वाला महासेतु (बड़ा पुल) भी कहा है।" पंचशिखाचार्य ने प्राणायाम का महत्व बताते हुए कहा है–"प्राणायाम

---

१. अखण्ड ज्योति, मार्च १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४५
२. अखण्ड ज्योति अप्रेल १९७७ में भावांश ग्रहण, पृ. ४६

से बढ़कर और कोई तप (आभ्यन्तर तप) नहीं, इससे मलों की शुद्धि होती है, और ज्ञान का प्रकाश होता है।" जाबाल-दर्शनोपनिषद् में कहा है–"प्राणायाम से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध होने से अन्तःकरण में (ज्ञान का) प्रकाश होता है और उस प्रकाश से आत्म-साक्षात्कार होता है।"[1]

अध्यात्म प्राणायाम की चार स्तर के रूप में चार स्थितियाँ

इस प्रकार प्राणायाम की पहुँच अध्यात्मक्षेत्र के अतिमहत्वपूर्ण परतों तक है। उसे केवल शारीरिक, मानसिक व्यायामों का उपचार मात्र नहीं समझना चाहिए। अपितु उसे उच्चस्तरीय योग-साधन अथवा श्वासोच्छ्वासबल-प्राण-संवर (संक्षेप में 'श्वाससंवर') के योग्य साधन मानकर चलना चाहिए।

वैदिक परम्परानुसार पुरश्चरण-अनुष्ठानों की सफलता के लिए पूर्वभूमिका के रूप में प्राणायाम की विशेष साधना कराई जाती है। प्राणायाम के द्वारा उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उसके चार स्तर बताते हुए मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है– "प्राणायाम की मुक्ति (कर्ममुक्ति) फलदायिनी चार अवस्थाएँ सुनो ! वे क्रमशः इस प्रकार हैं–(१) ध्वस्ति, (२) प्राप्ति, (३) संविद् और (४) प्रसाद।"

जिस प्राणायाम से इष्ट (शुभ) और दुष्ट (अशुभ) कर्मों के मल का क्षय होता है, जिससे चित्त में अकषायत्व (कषायरहितता) की प्राप्ति होती है, वह प्राणायाम-साधना 'ध्वस्ति' कहलाती है।" "जिससे इहलौकिक और परलौकिक लोभ-मोहात्मक कामों (इच्छाकाम-मदनकामों) का योगी स्वयं निरोध करके आत्मभाव में सदाकाल के लिए आसीन हो जाता है, वह प्राप्ति नामक प्राणायाम अवस्था है।"

जिससे अतीत, अनागत, दूरस्थ और तिरोहित पदार्थों या विषयों को जान लिया जाता है, जिससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रों तथा सूक्ष्म दिव्य लोकों की ज्ञानसम्पदा प्राप्त हो जाती है, तथा उनके तुल्य प्रभाव हो जाता है, ऐसी स्थिति का नाम 'संविद्' है।

---

१. (क) दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ –मनुस्मृति
(ख) यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धर्मणान्मलाः ।
तथेन्द्रियकृताः दोषा दह्यन्ते प्राण-धारणात् ॥ –अमृतनादोपनिषद्
(ग) प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धन पावकः ।
भवोदधि-महासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥ –योगसन्ध्या
(घ) "तपे न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां, दीप्तिश्च ज्ञानस्य।" –पंचशिखाचार्य
(ङ) "प्राणायामेन चित्तं शुद्धं भवति सुव्रत!
चित्तेशुद्धे शुचिः साक्षात् प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः॥" –जाबाल दर्शनोपनिषद् ६/१६

जिस स्थिति में पाँचों प्राण तथा दशों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, मन में प्रसन्नता आनन्द एवं उल्लास का अनुभव होता है, उस प्राणायाम को 'प्रसाद' कहते हैं।

ये चारों प्राणायाम अवस्थाएँ श्वासोच्छ्वास-बल-प्राणसंवर (श्वाससंवर) से उपलब्धि की अवस्थाएँ हैं।[1]

मिथ्यात्वादि पाँच आस्रवों के निरोधरूप संवर और श्वाससंवर में कितना साम्य, कितना अन्तर ?

योगविद्या के विविध आचार्यों ने विविध प्रकार के प्राणायामों द्वारा श्वास रूप प्राण का निरोध करने की बात पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने इसके बहुत ही लाभ शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बताये हैं, जिनका उल्लेख हम पिछले पृष्ठों में कर आए हैं। किन्तु श्रमण भगवान् महावीर ने श्वास-निरोध, श्वास-संवर अथवा श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण-संवर की बात नहीं कही, इसके पीछे क्या रहस्य है ?

जहाँ तक भगवान् महावीर द्वारा अर्थरूप में प्रतिपादित शास्त्रों का निरूपण है, उन्हें पढ़ने तथा उनका परमार्थ, रहस्यार्थ एवं फलितार्थ समझने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि यह केवल भाषा का अन्तर है। किस व्यक्ति ने किस रूप में किस भाषा में किस अभिप्राय से क्या बात कही ?, यह समझते ही हमें आसानी से ज्ञात हो जाएगा कि सबका लक्ष्य एक है, फलितार्थ समान है।

'महिम्न स्तोत्र'[2] में इसी तथ्य को स्पष्टरूप से समझाया है कि मनुष्यों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सीधे-टेढ़े मार्ग को ग्रहण करके चलते हैं। परन्तु जिस प्रकार विभिन्न स्रोतों एवं उद्गमस्थलों से निकली हुई नदियाँ

---

१. श्रूयताम्मुक्तिफलदं तस्यावस्था-चतुष्टयम्।
ध्वस्तिः प्राप्तिस्तथा संवित् प्रसादश्च महीयते ॥
कर्मणामिष्टदुष्टानां जायते मल-संक्षयः ।
चेतसोऽपकषायत्व यत्र सा ध्वस्तिरुच्यते॥
ऐहिकाऽमुष्मिकान् कामांल्लोभ-मोहात्मकान् स्वयम्।
निरुध्याऽऽस्ते सदा योगी प्राप्तिः सा सार्वकालिकी॥
अतीताननागतानर्थान् विप्रकृष्ट-तिरोहितान् ।
विजानातीन्दु-सूर्यर्क्ष-ग्रहाणां ज्ञानसम्पदा ॥
तुल्य प्रभावस्तु सदायोगी प्राप्नोति संविदम् ।
तदा संविदिति ख्याता प्राणायामस्य सा स्थितिः॥
शान्ति प्रसाद येद्राऽस्य मनः पंच चावयवः।
इन्द्रियाणीन्द्रियर्थाश्च स प्रसाद इति स्मृतः ॥
—मार्कण्डेय पुराण

२. "रुचीनां वैचित्र्यादृजु-कुटिल-नानापथजुष ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥"
—महिम्न स्तोत्र

सीधे-टेढ़े मार्गों से बहती हुई अन्त में समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, उन सबका अन्तिम लक्ष्य समुद्र होता है, उसी प्रकार सीधे-टेढ़े मार्ग से चलकर अन्त में परमात्मरूप अथवा कर्म-मुक्तिरूप मोक्षरूपी अन्तिम लक्ष्य में जाकर सभी मिल जाते हैं।

भगवान् महावीर ने कहा–"मन, वचन, काया की चंचलता से कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है, उसे रोको–संवर करो। साथ ही उन्होंने हिंसादि आस्रवों तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों से कर्मों के आगमन (आस्रव) का प्रतिपादन किया।

देखना चाहिए कि श्वास-संवर या श्वासोच्छ्वासबल प्राण-संवर तथा पूर्वोक्त आस्रवों के निरोधरूप संवर में क्या अन्तर है ? दोनों के परिणाम समान हैं। जैसे–भगवान् महावीर ने मनोनिरोध की बात इसलिए कही कि मन का निरोध नहीं होगा तो श्वास-निरोध नहीं होगा, श्वासनिरोध होगा तो मनोनिरोध अवश्य होगा।

मनःसंवर और श्वास-संवर अन्योन्याश्रित

प्राणतत्त्व का या श्वासरूप प्राण वायु का मन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन पर अंकुश रखना उसके साथी प्राण के हाथ में है। इसे यों भी समझा जा सकता है–मन की चंचलता को रोकना, मन को स्थिर करना प्राणवायु–श्वास की स्थिरता पर निर्भर है।

मन की चंचलता प्रसिद्ध है। वह क्षण-क्षण में अस्त-व्यस्त बना इतस्ततः उड़ता रहता है। एक स्थान में स्थिर और एकाग्र न होने से किसी भी महत्त्वपूर्ण दिशा में गहराई से चिन्तन-मनन करना तथा तन्मयतापूर्वक वह कार्य करना संभव नहीं होता। मानसिक चंचलता संवर पथ की सबसे बड़ी बाधा है। इसके रहते प्राणबल-संवर या श्वास संवर में सफलता नहीं मिल सकती। इसी प्रकार श्वास शान्त और स्थिर हुए बिना मन शान्त और स्थिर नहीं हो सकता। हठयोग प्रदीपिका में इसी तथ्य की ओर इंगित किया गया है–जिसने प्राणवायु (श्वास) को बांध लिया–जीत लिया, उसने मन को बाँध–जीत लिया। पवन (श्वास) के स्थिर होते ही मन स्थिर होता है, और मन के स्थिर होते ही श्वास स्थिर हो जाता है। चित्त की चंचलता के दो ही कारण हैं–एक वासना का और दूसरा प्राणवायु का चंचल होना। इन दोनों में से एक के नष्ट (लय) हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है।[1]

---

१ (क) अखण्ड ज्योति, अप्रेल १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४४

(ख) 'पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते। मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।'
हेतु द्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः। तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः।'
–हठयोगप्रदीपिका ४।२१-२२

वैदिक मनीषियों की दृष्टि में : मन और प्राण (श्वास) के विलय, विजय एवं नियंत्रण का परस्पर सम्बन्ध

"जहाँ मन विलीन हो जाता है, वहाँ प्राणवायु भी विलीन हो जाता है। जहाँ वायु विलीन हो जाता है, वहाँ मन विलीन हो जाता है।" मन और वायु दोनों समान क्रिया वाले हैं। दोनों दूध और पानी की तरह परस्पर मिले हुए हैं। "इसी कारण जहाँ वायु है, वहाँ मन की प्रवृत्ति होती है और जहाँ मन है, वहाँ वायु की प्रवृत्ति होती है।"

आगे इसमें बतलाया है कि–"इन्द्रियों का नाथ (प्रवर्त्तक) मन है, और मन का प्रवर्त्तक (नाथ) वायु है और वायु का नाथ (प्रवर्त्तक) मन का लय है। वह मनोलय नाद के आश्रित है।" "मन के स्थिर होने पर प्राणवायु स्थिर हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से वीर्य स्थिर हो जाता है। वीर्य के स्थिर होने से शरीर में सत्त्व सदैव स्थिर रहता है।"

"छान्दोग्योपनिषद्" में कहा गया है–"जैसे डोरी से बंधा हुआ पक्षी घूमघाम कर वापस अपने मूल आश्रय पर ही आ जाता है; उसी प्रकार हे सौम्य ! मन कहीं दूसरी जगह आश्रय न पाने पर घूमघाम कर प्राण का ही आश्रय लेता है, क्योंकि मन प्राण से ही बंधा हुआ है।"

'योगबीज' में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–"अनेकों प्रकार के विचारों से मन साधा नहीं जाता। इसलिए प्राणवायु को जीतने से ही मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।"

'योगरहस्य' भी इसी विचार का समर्थक है–विविध विचारों, तर्कों, अध्ययन, श्रवण आदि से मन स्थिर एवं समाहित नहीं हो पाता, प्राणवायु के स्थिर करते ही मन:स्थैर्य पर विजय प्राप्त की जा सकती है।"[1]

---

१. (क) "मनो यत्र विलीयते, पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥"
(ख) "दुग्धाम्बुवत् सम्मिलितावुभौ तौ, तुल्यक्रियौ मानस-मारुतौ हि।
यतो मरुत तत्र मन:प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्-प्रवृत्तिः॥"
(ग) "इन्द्रियाणां मनो नाथो, मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः, स लयो नादमाश्रित॥॥"
(घ) "मन:स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरोभवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्य प्रजायते॥–हठयोग-प्रदीपिका ४/२३, २४, २९, २८
(ङ) "सौम्य तन्मनो दिश दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते,
प्राणबन्धनं हि सौम्य ! मन इति॥" –छान्दोग्योपनिषद् ६/८/२
(च) "नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि॥" –योगबीज
(छ) "चित्तं न साध्यं विधिधैर्विचारैर्वितर्कयादैरपि वेदवादिभिः।
तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जयः, प्राणो हि विधेन्नतुकाश्चिदन्यः॥" –योगरहस्य

मनःसंवर के लिए श्वास (प्राण) संवर और श्वास संवर के लिए मनःसंवर अनिवार्य

इन सब अनुभूत तथ्यों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोनिग्रह, मनोजय या मनःसंवर के लिए प्राण-निग्रह, प्राणविजय, प्राण-संवर या श्वास-संवर (श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण-संवर) का होना अनिवार्य है।

दोनों में भाषाभेद है, परिणामभेद या लक्ष्यभेद नहीं

मन में जब उद्वेग होता है, चंचलता होती है, चिन्ता, भय या आवेश होता है, तब श्वास तेज हो जाता है; इसके विपरीत उपवास से, ऊनोदरी (अल्पाहार) से, हलके सुपाच्य आहार लेने से स्वास की गति मन्द, शान्त और संयत हो जाएगी। श्वास शान्त और संयत होते ही मन या चित्त शान्त, संयत और स्थिर हो जाएगा। इसी प्रकार मन प्रसन्न, शान्त और स्थिर होगा, तो श्वास भी शान्त, संयत और स्थिर हो जाएगा।

इससे उलटे रूप में कहें तो—यदि श्वास तीव्र गति से चलेगा, कषायों के आवेग, आवेश आदि के कारण तीव्र होगा, शान्त और नियंत्रित नहीं होगा तो मन भी अशान्त, अस्थिर और उच्छृंखल होगा।

इसी प्रकार मन भी उद्विग्न, चंचल, आवेशग्रस्त, भयादि ग्रस्त होगा, अस्थिर एवं अशान्त होगा तो श्वास भी अस्थिर, चंचल और अशान्त तथा अनियंत्रित होगा। अतः श्वास का निरोध या निग्रह करना श्वास-संवर है, प्राण संवर है, और मन का निरोध या निग्रह करना मनःसंवर है।

इसलिए श्वास संवर कहें या मनःसंवर कहें या चित्त-संवर दोनों का परिणाम एक ही है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग की चंचलता एवं प्रवृत्ति का निरोध, मन-वचन-काय का संवर या नियंत्रण-निग्रह। भाषाभेद है लक्ष्यभेद या परिणामभेद नहीं। स्थूल दृष्टि से देखने पर ये दोनों प्रवृत्तियाँ और पद्धतियाँ पृथक-पृथक् दिखाई देती हैं, किन्तु वास्तव में वे पृथक्-पृथक् नहीं है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—[1] संवर करो, या तप करो। और योग विद्याविशारदों ने कहा—श्वास-संवर या श्वास-निरोध, प्राणनिग्रह या प्राणनिरोध करो। दोनों के परिणाम में कोई अन्तर नहीं है। श्वास शान्त और नियंत्रित होने पर मन, वचन और काया तीनों ही नियंत्रित, शान्त और स्थिर होंगे।

द्विविध चित्तशान्ति : श्वास से श्वास को नियंत्रित कीजिए

श्वास प्राणवायु है। यदि प्राणवायु (प्राण) पर नियंत्रण किया जा सके, उसे

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से यत्किंचिद् भावग्रहण पृ. ६८

प्राणायाम द्वारा स्थिर और शान्त किया जा सके तो मनोनिग्रह, मनःसंयम, चित्त-स्थिरता या मनःसंवर जैसा कठिनतम कार्य अत्यन्त सरल बन जाएगा।

चित्तवृत्ति-प्रवृत्ति के दो रूप हैं–एक है चित्त की अस्थिरता-चंचलता और दूसरी है–विषय वासनाओं के पाशविक कुसंस्कारों की ओर रुझान। इन दोनों ही आस्रवकारिणी अवांछनीयताओं को रोकने, नियंत्रित करने पर ही मन-वचन-काय-संवर हो सकता है;परन्तु प्रश्न यह है कि क्या विचारों से, तर्कवितर्क से, समझाने से, शास्त्रों के अध्ययन-मनन-श्रवण, निदिध्यासन से अथवा अन्य किसी दण्ड आदि प्रयोगों से चित्तवृत्ति पर नियंत्रण (निरोध) किया जा सकता है?

योगविद्या के ग्रन्थों के पूर्वोक्त प्रमाणों और अनुभवों के आधार पर यही कहा जा सकता है, कि केवल इनसे चित्तवृत्तिनिरोध रूप संवर या मनःसंवर नहीं हो सकता। मनोनिग्रह या मनःशान्ति हो सकती है श्वास को प्राणायाम द्वारा शान्त, संयत, नियंत्रित करने से। अशान्त मुद्रा में कषाय अधिकाधिक उत्तेजित होता है और उत्तेजित अवस्था में, श्वास भी तीव्र होगा। श्वास शान्त होगा तो मनोभाव भी शान्त होगा। मनोभाव अशान्त और चंचल हों तो शरीर में तनाव बढ़ जाएगा। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास को अधिकाधिक शान्त रखने का पुरुषार्थ करता है, उसके कषाय, आवेग, आवेश, तथा तनाव स्वतः शान्त हो जाते हैं।[1]

श्वास तीव्र होने के कतिपय कारण और उसका परिणाम

श्वास के उत्तेजित होने, तीव्रगति से चलने, तेज होने के क्या-क्या कारण हैं? योगविज्ञान के आचार्यों ने इस पर गहराई से विचार किया है। जब शरीर में कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है और ऑक्सीजन की मात्रा घट जाती है, तब श्वास स्वतः ही तेज हो जाता है। जब मनुष्य पर्वतारोहरण करता है, तब उसे अधिक ऑक्सीजन की जरूरत पड़ती है, क्योंकि पर्वत पर चढ़ने में उसे अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। अधिक जोर लगाने, अधिक शक्ति खर्च करने, तथा प्रवृत्ति एवं श्रम बढ़ने से कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है और ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है। फलतः ऐसे समय में पर्वतारोही का या अत्यधिक श्रम, अतिप्रवृत्ति आदि करने वाले का श्वास अपने-आप ही तीव्रगति से चलने लगता है। श्वास की गति में तीव्रता रहने से जीवन के शक्तिकोष (प्राणबल) का जल्दी ही ह्रास हो जाता है।[2]

---

१. अखण्डज्योति अप्रैल १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ४४

२. (क) महावीर की साधना का रहस्य से यत्किंचिद् भावांश ग्रहण, पृ. ६८
(ख) अखण्डज्योति जून १९७४ से भावांश ग्रहण, पृ. २३

सुखी जीवों श्वास-क्रिया बहुत ही देर से, दुःखी जीवों की बहुत जल्दी : शास्त्रीय प्रमाण

प्रज्ञापनासूत्र के उच्छ्वासपद में निरूपित एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक के, तथा पंचेन्द्रिय जीवों में नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के एक श्वास लेने के बाद दूसरा श्वास लेने के विरहकाल (व्यवधान काल) बताने का एक रहस्य यही है कि जो जीव जितने अधिक, अधिकतर या अधिकतम क्लिष्ट, क्रोधादि आवेशों से ग्रस्त, चिन्ता, शोक, भय आदि से व्यथित और दुःखी होते हैं, उन जीवों की श्वासोच्छ्वास क्रिया उतनी ही अधिक और शीघ्र चलती है। नारकीय जीवों जैसे अत्यन्त दुःखी जीवों के तो यह क्रिया सतत् अविरतरूप से चलती है।

इसके विपरीत जिनके क्रोधादि कषायों के आवेश जितने अधिक शान्त, स्थिर होते हैं, जिनकी लेश्याएँ जितनी प्रशस्त होती हैं, जिनके लोभ, परिग्रह, अहंकार आदि जितने-जितने कम होते हैं, उनके मानसिक संक्लेश उतने ही कम होने से वे सुखी होते हैं। तदनुसार जो जीव जितने-जितने अधिक, अधिकतर और अधिकतम सुखी होते हैं, उनकी श्वासोच्छ्वास क्रिया उत्तरोत्तर देर से चलती है। अर्थात्–उनका श्वासोच्छ्वास-विरहकाल उतना ही अधिक, अधिकतर और अधिकतम है।

जैसे कि सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव अधिकतम सुखी होते हैं, क्योंकि पांच अनुत्तर विमानवासी देवों के कषाय उपशान्त होते हैं, विषयवासनाएँ भी शान्त होती हैं, उनके परिग्रह और अभिमान भी अत्यन्त कम होते हैं। इसलिए वे अधिकतम सुखी होते हैं। उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है, इसलिए वे ३३ पक्षों में उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं। यानी वे एक श्वासोच्छ्वास के बाद दूसरा श्वासोच्छ्वास ३३ पक्ष के बाद लेते हैं।

इसी प्रकार जो तन-मन से स्वस्थ, शान्त और सुखी होते हैं, वे मानव या प्राणायाम-परायण योगी भी दीर्घकाल से श्वासोच्छ्वास लेते हैं। इसके विपरीत अस्वस्थ, ज्वरग्रस्त, अतिकामुक, भोगी, अतिक्रोधी, अत्यहंकारी आदि संक्लिष्ट एवं दुःखी मनुष्य जल्दी-जल्दी श्वास लेते हैं।"[1]

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र, सप्तम उच्छ्वासपद के 'प्राथमिक' से, प्रज्ञापना सूत्र भा. १ (आ. प्र. स. ब्यावर) पृ. ४९५

(ख) प्रज्ञापना सूत्र मलयगिरिवृत्ति पत्रांक २२०-२२१

(ग) तुलना करें–"गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः।"
स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः।"
–तत्त्वार्थसूत्र अ. ४/सू. २२,२१

श्वास-संवर से कषाय-संवरादि तथा मनःसंवर भी होता है

इस पर से यह तथ्य फलित होता है कि प्राणायाम द्वारा श्वास को नियंत्रित, शान्त और स्थिर करने, श्वास की चाल को अत्यन्त धीमी करने से श्वाससंवर भी होता है, और साथ ही कषाय संवर, आदि से सम्बद्ध मनःसंवर भी होता है। क्योंकि श्वास जितना तेज चलेगा, उतनी ही शरीर में गर्मी बढ़ेगी, मन भी उत्तेजित, चिड़चिड़ा और आवेशयुक्त होता जाएगा।

योगविद्या विशारदों का कहना है कि यह तन-मन की गर्मी में वृद्धि और श्वास की गति में तीव्रता दोनों ही जीवन का जल्दी अन्त करते हैं। भूतकाल में मनुष्यों के श्वास का अनुपात ११-१२ बार प्रति मिनट था, अब वह बढ़कर १५-१६ या प्रायः १८ बार प्रति मिनट तक पहुँच गया है। इसी अनुपात से मनुष्य की आयु भी घट गई है। इसलिए श्वास-संवर से श्वास की गति नियंत्रित होने से दीर्घजीवन और स्वास्थ्य-संवर्धन की संभावना तो है ही; मनःसंवर, कषाय संवर आदि की साधना भी अनायास ही हो जाती है।[1]

श्वास कब तीव्र होता है, कब मन्द? : संक्षेप में निष्कर्ष

श्वास कब तीव्र होता है? अधिक भय, चिन्ता, क्रोधादि आवेश, एवं कामवासना की प्रबलता, अतिश्रम, आदि मन में आते ही श्वास की गति तेज हो जाती है। अधिक सर्दी और अधिक गर्मी लगने पर या शरीर के ज्वरग्रस्त, तनावग्रस्त, रक्तचापवृद्धि तथा हाँफनी आदि हो जाने पर भी श्वास की चाल तीव्र हो जाती है। श्वास की गति मन्द होती है—उपवास से, कायोत्सर्ग से, शिथिलासन से, शान्त एवं एकाग्रचित्त से तथा ध्यान करने से।

इस प्रकार उपवास, अल्पाहार एवं हलका आहार करने पर श्वास स्वतः नियंत्रित हो जाता है, श्वास अपने आप ही संयत एवं शान्त हो जाता है। श्वास-संवर होने से कषाय आदि आस्रवों का भी स्वतः संवर होने लगेगा।

जो व्यक्ति श्वास को अधिकाधिक संयत और शान्त रखने का प्रयत्न करता है, उसके कषाय, प्रमाद, मन-वचन-काययोग आदि अपने आप ही शान्त, संयत और स्थिर हो जाते हैं। अतः श्वास संवर कहें या कषाय संवर, मनःसंवर कहें या प्राण संवर, बात एक ही है। श्वास संवर से व्यक्ति स्वस्थ, दीर्घजीवी एवं संयत होने के साथ-साथ मनोभावों से, कषायों से शान्त तथा तनाव से मुक्त होगा। अतः श्वास संवर या श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण-संवर का संवर-साधना में बहुत बड़ा महत्त्व और लाभ है।[2]

---

१. अखण्ड ज्योति, जून १९७४ से भावांश ग्रहण पृ. २३
२. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण पृ. ६८-६९

आसनविजय, निद्राविजय और आहारविजय

जो व्यक्ति दीर्घकाल तक ध्यान या कायोत्सर्ग करना चाहता है, उसके लिए श्वास-संवर करना अनिवार्य होता है। ध्यानमुद्रा में बैठने के लिए आसन, निद्रा और आहार पर विजय आवश्यक होती है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा–महावीर की ध्यान-साधना के मूल हैं–"आसन-विजय, निद्राविजय और आहार-विजय।"

आसन पर विजय का मतलब है–एक ही आसन पर लगातार ५-१० घंटे बैठ सकना। ऐसा वे ही कर सकते हैं, जिनका प्राणवायु (प्राण) पर, वीर्य पर नियंत्रण है। जो व्यक्ति श्वास (प्राण) पर विजय नहीं पा सके हैं, वे आध घंटे भी एक आसन पर मुश्किल से बैठ सकते हैं। शरीर चंचल होता है तो मन भी चंचल एवं उद्विग्न होने लगता है, ध्यान में एकाग्रता नहीं आ पाती। अतः श्वास-विजय (श्वास-संवर) आसन-विजय के लिए अनिवार्य है। अतः आसन-विजय होते ही श्वास-विजय अनायास ही हो जाती है। निद्रा आदि प्रमाद पर विजय एवं आहार पर नियंत्रण के लिए भी श्वास-संवर अथवा श्वास-विजय अनिवार्य है।[1]

भगवान् महावीर ने कायोत्सर्ग पर बहुत जोर दिया है। कायोत्सर्ग करते ही श्वास स्वतः शान्त और संयत होने लगेगा। श्वास-संवर के लिए कायोत्सर्ग भी प्रबल साधन है। कायोत्सर्ग में काया शान्त और स्थिर होगी, काया से प्रवृत्ति अत्यन्त कम हो जाएगी तो श्वासोच्छ्वास स्वतः ही शान्त, स्थिर और संयत होने लगेगा। काया भी शान्त और निश्चेष्ट, वचन भी शान्त और मौन हो जाएगा, मन भी शान्त और स्थिर। योगों की चंचलता कम होते ही संवर सधने लगेगा। मन-वचन-काया से प्रवृत्ति जितनी कम होगी, उतना ही श्वास-संवर सधता जाएगा।

वास्तविक स्वस्थता, प्राणायाम से श्वास-नियंत्रण एवं कायोत्सर्ग : एक ही फलितार्थ सूचक

आयुर्वेद में 'स्वस्थ' का लक्षण इस प्रकार दिया है–जिसके वात, पित्त और कफ, ये तीनों दोष सम हों, अग्नि सम हो, धातुएँ सम हों, मलक्रिया बराबर हो, आत्मा, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न और शान्त हों, उसे ही 'स्वस्थ' कहा जाता है।"[2]

प्राणायाम से श्वास-संवर होने के कारण श्वास नियंत्रित और शान्त होता है, त्रिदोष भी सम हो जाते हैं, अग्नि सम हो जाती है; मल विसर्जन क्रिया, पाचन क्रिया आदि सब ठीक रहती हैं। आत्मा, मन और इन्द्रियाँ शान्त एवं प्रसन्न रहते हैं।

---

१. महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ६९-७०

२. 'समदोषः समाग्निश्च, समधातु-मलक्रियः। आत्मेन्द्रियमन स्वस्थ इत्यभिधीयते॥"
–आयुर्वेद-भास्कर

कायोत्सर्ग के द्वारा भी 'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं अप्पाणं, वोसिरामि' इत्यादि पदों से काया की स्थिरता, वाणी की स्थिरता, ध्यान के द्वारा मन, प्राण और चित्त की स्थिरता-एकाग्रता एवं शान्ति, फिर आत्म-व्युत्सर्ग द्वारा आत्मा, इन्द्रियों तन-मन की शान्ति और प्रसन्नता। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग श्वास-संवर, प्राणविजय, मनोविजय आदि का कारण है।

एक पुद्गल निविष्टदृष्टि भी श्वास-संवर से सिद्ध हो सकती है

आचारांग सूत्र में कायोत्सर्ग के समय भगवान् की मुद्रा का वर्णन आता है। उनका शरीर बिलकुल सीधा और सरल था। एक पुद्गल पर वे अपनी दृष्टि जमाए रहते थे। एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाना–श्वास पर संयम-संवर किये बिना हो नहीं सकता। आप जैसे ही किसी चीज पर दृष्टि टिकाते हैं, आपकी श्वासक्रिया अपने-आप धीमी हो जाएगी। श्वास मंद या शान्त हुए बिना एक पुद्गल पर आपकी दृष्टि टिकी नहीं रह सकेगी।

शान्त मुद्रा और आवेशग्रस्त मुद्रा के परिणाम में अन्तर

हमारे समक्ष मनुष्य की मुख्यतः दो प्रकार की मुद्रा प्रकट होती है। एक है शान्त मुद्रा और दूसरी है आवेशग्रस्त मुद्रा। स्वाभाविक शान्तमुद्रा में शरीर भी समत्वयुक्त होगा; मन, इन्द्रियाँ आदि भी शान्त, स्वस्थ एवं प्रसन्न होंगे, मनोभाव भी शान्त होगा और श्वास (प्राणवायु या प्राण) भी शान्त एवं नियंत्रित होगा।

अशान्त मुद्रा में श्वास तीव्र एवं अनियंत्रित होगा, मनोभाव भी शिथिल होगा,एवं शरीर में तनाव आ जाएगा। श्वाससंवर से श्वास भी शान्त होता है, तन मन भी स्वस्थ होते हैं और कषाय भी शांत होते हैं, फलतः कर्मों का आस्रव (आगमन) रुक जाता है। भगवान् महावीर ने कहा–"आत्मा के द्वारा आत्मा का सम्प्रेक्षण करो।"[१] मैं समझता हूँ–जैसे ही आप गहराई से आत्म-संप्रेक्षण करेंगे, अपने भीतर झाकेंगे वैसे ही श्वास स्वतः शान्त और नियंत्रित हो जाएगा।

बौद्ध परम्परा में 'आनापानसती' की साधना निरन्तर श्वास दर्शन की प्रक्रिया है। उससे भी श्वास संवर सिद्ध होता है। वैदिक परम्परा में 'सोऽहम्' की साधना है, उससे भी श्वासनिग्रह एवं शान्त होता है।

इन सभी दृष्टियों से देखें तो श्वास-संवर या जैनपरिभाषा में श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण-संवर का बहुत बड़ा महत्त्व है, वह संवर-साधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। ■

---

१. (क) महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण
(ख) 'एक्कपोग्गलनिविट्ठ दिट्ठीए।'
(ग) देखें–आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. ९ उवहाणसुत्त में भगवद् चर्या सूत्र –दशवैकालिक
(घ) संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।

१७

अध्यात्म-संवर का स्वरूप, प्रयोजन और उसकी साधना

आत्मा अनन्तचतुष्टय-सम्पन्न होते हुए भी दरिद्र, अभावपीड़ित और पराधीन क्यों ?

आत्मा अपने आप में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, असीम आनन्द (आत्मिक सुख) एवं अनन्तशक्ति (आत्मवीर्य) से सम्पन्न है। इसके पास ज्ञान और दर्शन की असीम निधि विद्यमान है; इसके पास सुख और शान्ति का, आनन्द और उल्लास का असीम भण्डार है, इसके पास बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का असीम खजाना है।

फिर क्या कारण है कि इतनी सब निधि और समृद्धि होते हुए भी वह अज्ञानी है, अन्धविश्वासी है, मोह-ममत्व से ग्रस्त है, दुःखी और अशान्त है, पराधीन और परमुखापेक्षी बना हुआ है ? अत्यन्त दुर्बल, कायर, दब्बू और भयभीत है ? बाहर के सुख-साधनों, बाह्य सम्पदा और समृद्धि को बटोरने में अहर्निश क्यों लगा रहता है ?

अध्यात्मज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि मनुष्य सच्चिदानन्दमय है, समस्त तीर्थंकर भगवान् कहते हैं कि मनुष्य परमात्मा के समान अनन्त-ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति से सम्पन्न है, किन्तु वह अपनी इस निधि और समृद्धि से अनभिज्ञ है। वह अन्तर् में झांककर अपनी निधि और समृद्धि को जानने-देखने का यत्न भी नहीं करता। वह अन्तर्मुखी नहीं है, बहिर्मुखी बना हुआ है। वह पुस्तकों, ग्रन्थों आदि के श्रवण एवं पठन से अवश्य ही जानता है कि आत्मा परमात्मस्वरूप है, अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय से सम्पन्न है, परन्तु उसका यह ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मों से, मोहनीय कर्मों से दबा-छिपा है।

आत्मा में सम्यग्ज्ञान के होते हुए भी वह भ्रान्तिवश एवं मूढ़तावश भौतिक और बाह्य जानकारी को ही ज्ञान समझकर अज्ञानी बना फिरता है। मिथ्याज्ञान के चक्कर में पड़कर वह प्रवृत्ति तो बहुत करता है, परन्तु उसे आनन्द, सुख-शान्ति और प्रसन्नता की उपलब्धि नहीं होती। उसका समय और श्रम व्यर्थ जाता है। अधिक से अधिक सौ वर्ष की औसत आयु होते हुए भी उसकी अधिकतर भाग-दौड़ इन्हीं वैषयिक सुखों, भौतिक सुख-साधनों को पाने, उनका संरक्षण और उपभोग करने की चिन्ता में, इष्ट पदार्थों के

वियोग और अनिष्ट पदार्थों के संयोग से बचने और इष्टपदार्थों को अधिकाधिक अपनाने की उधेड़बुन में होती रहती है। आत्मा की ओर तथा आत्मा में निहित पूर्वोक्त असीम ज्ञानादि चतुष्टय की ओर उसका ध्यान प्रायः नहीं जाता। जाता भी है तो ऊपर-ऊपर से उनकी जानकारी भर कर ली जाती है, उनको हृदयंगम करने, उन्हें अपने जीवन में प्रकट करने में दत्तचित्त होकर उन्हीं को प्राप्त करने में लगे रहने की ओर से प्रायः उपेक्षा की जाती है।

'परमात्म प्रकाश' के अनुसार शास्त्र आत्मबोध के लिए पढ़े जाते हैं, परन्तु शास्त्र पढ़कर भी जिसे बोध हृदयंगम नहीं हुआ, जिसके रागादि विकल्प नहीं मिटे, आत्मा में सदैव निवास करने वाले परमात्मा को नहीं जाना-माना, तब तक वह मूर्ख-मूढ़ ही है।[1]

किसी व्यक्ति के पास अपने पिता की असीम सम्पत्ति तिजोरी में रखी हुई हो, उसके पास उस सम्पत्ति की सूची भी है, फिर भी वह उस सम्पत्ति को कभी तिजोरी खोलकर उसके अन्दर झाँक कर देखे नहीं, उस सम्पत्ति पर दूसरे लोग कब्जा जमाने की ताक में बैठे हैं, इसका उसे बिलकुल ही भान न रहे। वह बाहर ही बाहर विभिन्न प्रवृत्तियों में दौड़धूप करता रहे। पिता से प्राप्त अपनी सम्पत्ति को अपने पास होते हुए भी उससे अनभिज्ञ रहकर उसे उपलब्ध नहीं कर पाता।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने पास ज्ञानादि आध्यात्मिक सम्पदा होते हुए भी तथा वीतराग सर्वज्ञ आप्तपुरुषों द्वारा बताये जाने पर भी जो व्यक्ति उसकी ओर झाँके-देखे ही नहीं, उसे उपलब्ध करने का विचार तक न करे, तथा सहज स्वभाव से प्राप्त उस आध्यात्मिक सम्पदा को केवल तन-मन की तिजोरी में ही बन्द रहने दे; वह अपनी आत्म सम्पदा को कैसे उपलब्ध कर सकता है ?

जो व्यक्ति परम पिता परमात्मा के समान स्वयं की आत्मा को प्राप्त ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय की निधि को पाकर भी अज्ञानवश भौतिक सम्पदा को ही वास्तविक सम्पत्ति मनकर चले, भौतिक विषयसुखों को ही वास्तविक सुख मानकर उन्हीं में रचा-पचा रहे, वह आत्मसमृद्धि और आत्मिक सुख को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

वह पूर्वकृत शुभकर्मोदयवश दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी मोहनीयादि कर्मवश मिथ्याज्ञान और मिथ्यात्व के वशीभूत होकर अपनी उस अध्यात्म सम्पदा एवं आत्मिक निधि से वंचित रहता है। इसके फलस्वरूप वह अज्ञानवश अधिकाधिक कर्मों

---

१. बोह-णिमित्ते सत्थु किल लोए पढिज्जइ इत्थु।
तेण वि बोहु ण जासु, वरु सो किं मूढु ण तत्थु ॥
सत्थु पढंतु वि होइ जडु जो ण हणेइ वियप्पु।
देहि वसंतु वि णिम्मलउ णवि मण्णइ परमप्पु ॥ —परमात्म प्रकाश अ. २, दो. ६४, ८३

का संचय करता रहता है, जिसके कारण उसे नाना गतियों और योनियों में जन्म लेकर अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं।

भौतिक सम्पदाओं की अपेक्षा आध्यात्मिक सम्पदाएँ अत्यधिक सुखकर तथा हितकर

इस तथ्य की ओर से आँखें मूँदकर अधिकांश मानव भौतिक सम्पदाओं को उपार्जित करने में अथवा विनाशकारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त करने में तल्लीन हो रहे हैं। संसार में धन, बल, पद, सत्ता, वैभव, वर्चस्व, प्रतिष्ठा, बृहत् परिवार, भौतिक विद्याओं या लौकिक विद्याओं की प्राप्ति या क्रियाकुशलता आदि को सम्पदा माना जाता है। परन्तु इनके सहारे से संवर मार्ग अथवा मोक्षलक्ष्यी शाश्वत सुखगामी मार्ग की ओर बढ़ने के बजाय इन्द्रियतृप्ति, तृष्णा, अहंता-ममता आदि आम्रव मार्गों का ही पोषण होता है। इसके कारण मनुष्य अपनी अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप आध्यात्मिक सम्पदा से वंचित हो जाता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति आत्मसंवर के पथ पर चलने की ठान लेते हैं, वे भौतिक सम्पदाओं और भौतिक उपलब्धियों को उपार्जित करने में अपना समय और श्रम नहीं खोते। अध्यात्मसंवर के मार्ग पर चलने से उसे अनायास ही अनेक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, एन्द्रियक तथा प्राणबल आदि भौतिक सम्पदाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

जैव शास्त्रानुसार उसे उत्तम संहनन, उत्तम संस्थान, पूर्ण इन्द्रियाँ, स्वस्थ तन-मन, मनोबल, वचनबल एवं कायबल आदि उपलब्धियाँ तथा अन्य अनेक लब्धियाँ सिद्धियाँ भी अनायास ही उपलब्ध हो जाती हैं। जिस सुखी जीवन के लिए भौतिक उपलब्धियाँ और भौतिक सम्पदाएँ मनुष्य प्राप्त करता है, वह सुख आम्रवमार्गी मानव से दूरातिदूर होता जाता है, जबकि संवरमार्गी साधक के चरणों में वे लौटती हैं; और सुख-शान्ति में वृद्धि करती हैं।

शास्त्रों में धर्माचार्य की आठ सम्पदाएँ बताई गई हैं—आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, प्रयोगमति और संग्रह परिज्ञा सम्पदा। उनकी ये आठ सम्पदाएँ आत्म सम्पदा में अभिवृद्धि के लिए होती है।

भौतिक उपलब्धियाँ तभी तक आकर्षक लगती हैं, जब तक वे मिल नहीं जातीं। मिलने पर उनके साथ जुड़े हुए झंझट और उन्माद, तथा अहंत्व और ममत्व इतने अधिक विषम होते हैं कि उनके कारण मानव पहले से भी अधिक अशान्त और उद्विग्न रहने लगता है। वस्तुस्थिति को नहीं समझने वाला भौतिक सम्पत्तिधारी ईर्ष्यालुओं, असन्तुष्ट जनों, अपहरणकारी चोर-डाकुओं, लुटेरों, शासनकर्ताओं तथा सम्पत्तिलोभी मित्रों से घिरा रहता है।

वस्तुस्थिति यह है कि भौतिक सम्पत्ति वाला भी सम्पत्ति का निजी उपभोग उतना ही कर पाता है, जितना एक निर्धन या मध्यवित्त कर पाता है। अतिरिक्त जमा की हुई सम्पत्ति उसमें तथा उसके परिवार में अगणित उलझनें पैदा कर देती है, बंटवारा करते समय भी परिवार में परस्पर मनमुटाव, शत्रुता, वैमनस्य आदि पैदा हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधिक सम्पत्ति भी परिवार में व्यक्तिगत दोष दुर्गुणों, मांसाहर, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा आदि अनेक दुर्व्यसनों की फौज खड़ी कर देती है।[1]

अध्यात्म संवर के लक्ष्य के अभाव में अथवा आध्यात्मिक सम्पदाओं के ज्ञान के अभाव में उन वृद्धिंगत भौतिक सम्पदाओं का पापास्रव में ही अधिक उपयोग होता है, सदुपयोग नहीं बन पड़ता है। यदि उनका उच्छृंखल उपभोग एवं उद्धत प्रदर्शन किया जाए तो भी वे आस्रव को बढ़ाने में ही सहायक होती हैं। उसकी प्रतिक्रिया भी परिवार में घातक विद्रोह तथा उत्तराधिकारियों की दुरभिसंधि को साथ लेकर आ धमकती है।

अतः जितना श्रम और मनोयोग भौतिक सम्पदाओं के उपार्जन में लगाया जाता है, उतना ही ध्यान एवं प्रयास अध्यात्म-संवर के माध्यम से आत्मिक गुणों की अभिवृद्धि एवं उपलब्धि पर केन्द्रित किया जाए तो निःसन्देह उसका विपुल लाभ, असाधारणरूप से उपलब्ध होता है। बल्कि आध्यात्मिक सम्पदा उपार्जन करने वाले व्यक्तियों का अन्तःकरण सद्गुणों की सौरभ से सतत सुरभित रहता है; आत्मसन्तोष का आनन्द उनके तन-मन पर छाया रहता है; स्वास्थ्य सुषमा भी अधिकाधिक बढ़ती जाती है। परिष्कृत विचार वैभव, स्वभाव एवं आचरण के कारण उस अध्यात्म संवरसाधक का व्यक्तित्व निखर जाता है। अनेक जिज्ञासुजन तथा विषयकषायों के अत्यधिक सम्पर्क के कारण सन्तप्तजन उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उससे मार्गदर्शन, सुझाव, परामर्श ग्रहण करने आते हैं और सद्भावना की वर्षा करते हैं।

वास्तव में, आध्यात्मिक सम्पदायुक्त पुरुष को भौतिक सम्पदाओं से वंचित नहीं रहना पड़ता। कदाचित् वे न मिलें तो भी उसकी आन्तरिक विशेषताएँ संवरप्रधान दृष्टि, संतोष, निःस्पृहता एवं परपदार्थों के प्रति निरपेक्षता[2] उसे आत्मानन्द प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त होते हैं। जबकि अध्यात्म संवर से रहित भौतिक सम्पदाएँ आन्तरिक उद्वेगों तथा बाह्य आक्रमणों से व्यक्ति को चिन्तित, व्यथित करती रहती हैं।

आत्मा को बहिर्मुखी होने से बचाकर अन्तर्मुखी बनाओ, आत्मप्रेक्षण करो

सांसारिक प्राणी की प्रायः यही स्थिति है। इस स्थिति से छुटकारा पाने, पूर्वकृत कर्मों से छुटकारा पाने तथा नये-नये कर्मों के आगमन (आस्रव) से दूर रहने हेतु समस्त

---

१. (क) अखण्ड ज्योति मई, १९७४ से भावांश ग्रहण पृ. २०
(ख) देखें ठाणांगसूत्र स्थान ८ में आचार्य की आठ सम्पदाएँ
२. अखण्ड ज्योति मई १९७४ से भावांश ग्रहण पृ. २०

सर्वज्ञ वीतराग महापुरुषों ने एक स्वर से कहा है–अपनी आत्मा को बहिर्मुखी बनाने से रोककर अन्तर्मुखी बनाओ, बाहर के भौतिक और आत्मबाह्य नाशवान पदार्थों के लोभ-मोह से आत्मा को हटाकर अपने अन्दर निहित आत्मगुणों को-अपने स्वरूप को जानने-देखने में लगाओ। उन्होंने नपे-तुले शब्दों में कहा–"अपनी आत्मा का अपनी आत्मा से सम्यक् प्रेक्षण-दर्शन करो।" योगीन्दुदेव आचार्य ने भी आत्मदर्शन को ही मोक्ष का एकमात्र कारण बताया है।[1]

अध्यात्मसंवर से ही आत्मदर्शन यथार्थरूप से हो सकता है

यद्यपि आत्मा शरीर, मन, इन्द्रियों आदि के आवरणों से आवृत है, इसलिए इन चर्मचक्षुओं से या द्रव्यमन एवं इन्द्रियों से आत्मा को जाना देखा नहीं जा सकता। समयसार के अनुसार "आत्मप्रज्ञा से ही आत्मा को जाना जा सकता है।"[2]

जब तक आत्मा का स्वरूप तथा आत्मा में निहित अनन्तज्ञानादि चतुष्टय का सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक आत्मा पर एवं आत्मगुणों पर आवरण डालने वाले, आत्मा के गुणों को व्यक्त होने देने में बाधक, आत्मशक्ति को कुण्ठित और मोहित करने वाले एवं आत्मिक सुख में बाधा डालने वाले कर्मों तथा कर्मों के मिथ्यात्वादि कारणों से आत्मा एवं आत्मगुणों की रक्षा नहीं हो सकती। इसीलिए महापुरुष अध्यात्म संवर के लिए आत्मज्ञान एवं आत्मदर्शन पर अधिकाधिक जोर देते हैं।

अध्यात्म संवर का पहला पड़ाव : आत्मदर्शन

आत्मज्ञान एवं आत्मदर्शन अध्यात्म संवर का पहला पड़ाव है। योगीन्दुदेव ने परमात्म प्रकाश में भी यही कहा है–"आत्मा को छोड़कर ज्ञानी पुरुषों को अन्य कोई वस्तु सुन्दर नहीं लगती। इसलिए जो परमार्थ के ज्ञाता हैं; जो वीतराग सहजानन्दरूप अखण्ड आत्मसुख में तन्मय हो गये हैं, उनका विषयवासनाजनित क्षणिक सुखों में मन नहीं लगता। जिसने मरकतमणि प्राप्त कर लिया, उसे काँच के टुकड़ों से क्या प्रयोजन है? उसी तरह जिसने ज्ञानमय आत्मा को जान लिया, उसी में चित्त को रमा लिया, उसे परपदार्थों की इच्छा नहीं रहती।"[3]

---

१. (क) सपिक्खए अप्पगमप्पएणं .....। –दशवैकालिक सूत्र चूलिका २, गा. १२
(ख) अप्पादंसणु एक्कु परु, अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खहँ कारण जोइया, णिच्छइं एह उ जाणि॥ –योगसार (योगीन्दुदेव) दो. १६
(ग) अप्पा अप्पउ जइ मुणहि, तो णिव्वाण लहेइ।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ तो संसार भमेहि॥ –वही दो. १२

२. पण्णाए सो घित्पइ अप्पा। –समयसार २९६

३. अप्पा मिल्लिवि णाणियहँ, अण्ण ण सुंदर वत्थु।
तेण ण विसयहं मणु जाणंतहँ परमत्थु ॥
अप्पा मिल्लिवि णाणमिउ, चित्ति ण लग्गइ अण्णु।
मरगउ जे परियाणियउ तहुँ कच्चे कउ मण्णु? ॥ –परमात्म प्रकाश अ. २ दो. ७७७

बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी होने से ही आत्मा अपने को देख सकती है

यद्यपि आत्मा अमूर्त है, चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि ज्ञानीजनों ने आत्मा को पहचानने की विभिन्न रीतियाँ बताई हैं; उनको अपनाने से आत्मा का दर्शन सम्भव है। 'योगसार' में कहा गया है–जैसे वड़ के वृक्ष में उसका बीज स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार देह में भी उस आत्मदेव को विराजमान समझो, जो तीनों लोकों में मुख्य है।[1]

परन्तु सामान्य मानव की चेतना प्रायः बहिर्मुखी एवं सुषुप्त रहती है, वह या तो कर्मचेतनारूप होती है, या कर्मफलचेतनारूप; उसकी ज्ञान-चेतना प्रायः अन्तर्तम में छिपी हुई, लुप्तप्राय रहती है। ऐसी स्थिति में भीतर घुसकर आत्मसत्ता को समझना और उसके सहारे अध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुँचना बहुधा सम्भव नहीं होता।

आँखों के माध्यम से आत्मा बाहर के दृश्य तो देखती है, पर उसकी निज की स्थिति क्या है ? वह यह अनुभव नहीं कर पाती कि आत्मा ज्ञानमय है, दर्शनमय है। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने आत्मा की स्पष्टरूप से पहचान कराते हुए कहा–"जो आत्मा है, वह विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान रूप) है, जो विज्ञान है, वही आत्मा है। आत्मा स्वयं को विज्ञान से विशेषरूप से जानती है।" अर्थात्–आत्मा अपना परिज्ञान, अपनी पहचान स्वयं करती है, अपनी ही विशुद्ध ज्ञान-चेतना से। परन्तु अधिकांश आत्माएँ अपनी बहिर्मुखी वृत्ति के कारण इन्द्रियों के माध्यम से अनुकूल-प्रतिकूल बाह्यविषयों की ही अनुभूति करती हैं, और उन पर ही मनोज्ञता-अमनोज्ञता, प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष, या आसक्ति-घृणा, अथवा मोह-द्रोह की छाप लगा कर स्थूल क्षणिक सुख-दुःख की कल्पना कर लेती हैं।[2]

भ्रान्ति का कारण : आत्मानुभव के रस को छोड़कर विषयरसों का आस्वादन

जीभ द्वारा वह बाह्य वस्तुओं के स्वाद चखती है और मनोज्ञ रस को अच्छा और अमनोज्ञ को बुरा मानकर एक में आसक्ति और दूसरे में घृणा का भाव अनुभव करती रहती है। इसके बदले वह (आत्मा) अपने अन्तर् में डुबकी लगाकर अध्यात्म रस का आस्वादन नहीं कर पाती। उपनिषदों के कथनानुसार 'वही वास्तविक रस है।' इसीलिए सूत्रकृतांग में कहा गया है–इन्द्रियों के दास असंवृतात्मा मानव हिताहितनिर्णय के क्षणों में मोह मुग्ध हो जाते हैं।[3]

---

१. जं वडमज्झह बीउं फुड, बीयहँ वडुवि हु जाण। तं देहहं देउ वि मुणहि, जो तइलोयपहाणु॥
–योगसार दोहा ७४

२. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया । जेण विजाणति से आया।
–आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ. ५ सू. १७१

३. 'मोहं जंति नरा असंवुडा।' –सूत्रकृतांग १/२/१/२०

अध्यात्मशक्तियों का प्रयोग अध्यात्मसंवर में हो तभी आत्मानुभव

यही स्थिति श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय के माध्यम से आत्मा के द्वारा किये गए शब्द, गन्ध और स्पर्शरूप बाह्य विषयों के रसास्वादन से उत्पन्न बाह्य अनुभूतियों की है। परन्तु अन्तर् में डुबकी लगाकर आध्यात्मिक संगीत के शब्द, अध्यात्म सौरभ एवं आत्मिक स्पर्श का तथा उनके स्रोतों का तथा उन आन्तरिक अनुभूतियों को मस्तिष्क तक पहुँचाने वाले ज्ञान तन्तुओं में चलने वाली जैविक विद्युत् (प्राण-ऊर्जा की तैजस) धारा के सम्बन्ध में तनिक भी परिज्ञान नहीं करती।

स्पर्शेन्द्रिय के माध्यम से होने वाली कामक्रीड़ा में रस और आनन्द तो आता है, परन्तु उस रस की क्षणिक तृप्ति और क्षणिक विषयानन्द के पश्चात् गहन दुःख और संताप होता है, इसे जानकर भी आत्मा नहीं जानना चाहता। वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अन्धा बनकर विभिन्न बाह्य अनुभूतियों और विषयसुखों को ही सर्वस्व मानता है। अपनी आन्तरिक निजी अध्यात्म शक्तियों का अध्यात्म-संवर में प्रयुक्त करने की जानकारी नहीं करता।[1]

अध्यात्मसंवर से विमुख क्यों ?

कतिपय व्यक्तियों की बुद्धि संसार की अनेकानेक भौतिक जानकारियों या ज्ञान विज्ञान से समृद्ध होती है। किसी-किसी की अध्ययनशीलता और ज्ञान-सम्पदा को देखकर दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। फिर भी उन आत्माओं को अपनी आत्मसत्ता, आत्मिक ज्ञान-सम्पदा और आत्मिक शक्तियों तथा आत्मिक लक्ष्य के सम्बन्ध में बहुत ही स्वल्प ज्ञान होता है। पुस्तकों और ग्रन्थों के श्रवण एवं पठन से आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु जब तक वह आत्मनिष्ठालक्ष्यी अथवा दूसरे शब्दों में– अध्यात्म-संवरलक्ष्यी नहीं होता तब तक वह ज्ञान कच्चा और पल्लवग्राही समझना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों की श्रद्धा और निष्ठा आत्मस्पर्शी नहीं होती।[2]

आत्मज्ञानरूपी समुद्र में समस्त ज्ञान-सरिताओं का समावेश सम्भव

महायाजक शाल्वनेक ने अनेक विद्याएँ प्राप्त करके अपने मस्तिष्क में संगृहीत कर ली थीं। एक बार श्रेष्ठी उदयन के यहाँ अनायास ही उनका आगमन हुआ। महायाजक ने अपनी अनेक संगृहीत विद्याओं का परिचय देते हुए श्रेष्ठी से कहा–"आप इनमें से जिसमें भी रुचि रखते हों, उस सम्बन्ध में मुझसे पूछें और ज्ञान प्राप्त करें।"

---

१. (क) अखण्डज्योति, अप्रैल १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. ५०
   (ख) रसो वै सः। –उपनिषद्
२. अखण्डज्योति नवम्बर १९७३ से भावांश ग्रहण पृ. २०

श्रेष्ठी ने उनसे निवेदन किया कि, "क्या ऐसा हो सकता है कि आपने जो जो जाना है उन सबका मूल आधार ही मुझे प्रदान करने का अनुग्रह करें ?"

महायाजक असमंजस में पड़ गये और शनैः शनैः सिर हिलाते देखकर श्रेष्ठी ने उन्हें समझाने के लिए उनके समक्ष घर में प्रयुक्त होने वाले अनेक बर्तन और उपकरण प्रस्तुत करते हुए कहा–"देव ! क्या इन सबको एक ही रथ में भरकर नहीं ले जाया जा सकता ?"

शाल्वनेक की आँखें खुल गईं। उन्होंने नई चेतना अनुभव की और कहा–"ऐसा हो सकता है। एकमात्र आत्मज्ञान के समुद्र में ज्ञान की समस्त सरिताओं का समावेश हो सकता है। मैं अब उसी को उपलब्ध करूँगा, और प्राप्त करने के पश्चात् ही आपको ज्ञान दीक्षा प्रदान करने का साहस करूँगा।"[1]

श्रमण भगवान् महावीर ने इसी तथ्य को अनावृत करते हुए कहा–"जो व्यक्ति अध्यात्म (आत्मस्वरूप–चेतन के स्वरूप) को जानता है, अथवा आन्तरिक जगत् को या जीव की मूलवृत्ति (सुखशान्ति की भावना) को जानता है, वह बाह्य को अर्थात् जड़-जगत् या बाह्य जगत् के स्वरूप को जानता है; इसी प्रकार जो बाह्य को भलीभाँति जानता है, वह अन्तरंग को भी सम्यक् जानता है।"[2]

आत्मज्ञान जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है

सचमुच, आत्मा को भलीभाँति जान लेना, अध्यात्मसंवर की पगडंडी पर मुस्तैदी से कदम रखना है। यही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–जो व्यक्ति जीवों (आत्माओं) को जानता है और अजीवों (आत्म बाह्य पदार्थों) को भी जान लेता है, इस प्रकार जीव और अजीव का ज्ञाता ही संयम (अध्यात्म संवर) को जान सकता है।

इन दोनों के सम्यक्ज्ञान का परिणाम यह होता है कि वह समस्त जीवों की बहुविध गति को, फिर उस गति के प्राप्त होने के कारणभूत तत्त्वों-पुण्य-पाप (आस्रव) और बन्ध को तथा उनसे मुक्ति का उपाय जान लेता है। फिर वह दिव्य एवं मानुष कामभोगों से विरक्त हो जाता है। अर्थात् वह तथाविध सम्यक् आत्मज्ञान के फलस्वरूप अपने आपको विषयभोगों के जाल में, तथा बाह्य आभ्यन्तर संयोगों के जाल में नहीं फंसाता, शीघ्र ही उन बाह्यान्तर संयोगों से विरक्त, अलिप्त एवं अनासक्त हो जाता है।[3]

---

१. अखण्डज्योति, जुलाई १९७७ से

२. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ।
जे बहिया जाणइ से, अज्झत्थं जाणइ। –आचारांग १/१/४

३. देखें दशवैकालिक सूत्र, अ. ४ गा. १३ (जो जीवे वि वियाणे..... से लेकर १६वीं गाथा तथा निर्विंदए भोए तक का पाठ)

आचारांग निर्युक्ति में कहा है–अंधा कितना ही बहादुर हो, वह शत्रुसेना को पराजित नहीं कर सकता, इसी प्रकार अज्ञानी साधक भी अपने विकारों को नहीं जीत सकता। विराग के विराग में आत्मज्ञान की ज्योति हो, तभी बाह्याभ्यन्तर संयोगों से अलिप्त एवं अनासक्त रहने में सफलता मिलती है। यही अध्यात्म संवर का प्रयोजन है।[1]

कठोपनिषद् में भी आत्मज्ञान का महत्व बताते हुए कहा गया है–"उस महान् और विभु (सर्वसमर्थ) आत्मा को जानकर बुद्धिमान् (धीर) पुरुष कभी शोकाकुल नहीं होता। बल्कि उस अनादि, अनन्त तथा महत्तत्त्व (बुद्धि) से पर एवं ध्रुव (निश्चल) आत्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है।[2]

आत्मा को आत्मा से जानना अध्यात्मसंवर है

दशवैकालिक सूत्र में आध्यात्मिक संवर के लिए स्पष्ट कहा गया है–"आत्मा को आत्मा से जानो।" प्रायः व्यक्ति आत्मा को पुस्तकों, ग्रन्थों या प्रवचनों के द्वारा जानने का उपक्रम करता है। यह जानना दूसरे के शब्दों द्वारा है।

इसके लिए 'समयसार' में आत्मा को सम्यक्रूप से जानने के लिए आत्मा में आत्मा का ध्यान करने की बात कही है।

'दशवैकालिक सूत्र' में जहाँ आत्मा को आत्मा से सम्प्रेक्षण करने की बात कही है, वहाँ समय तथा ध्यान में चिन्तन का क्रम भी बताया है। वहाँ रात्रि का प्रथम प्रहर और अन्तिम प्रहर, एकान्त में, स्वयं ही साधक को अपनी आत्मा से वार्तालाप करने का सुझाव दिया है। इससे अपने गुणदोष, अच्छे-बुरे कार्यों, कर्त्तव्यों और दायित्वों तथा अपनी स्खलनाओं का स्वयं अन्तर्निरीक्षण करके साधक अध्यात्म संवर का मार्ग प्रशस्त करता है। आत्मजागरण, स्वकर्तव्य एवं आत्मशुद्धि और आत्मशक्ति का भान भी इसी प्रकार आत्मनिरीक्षण से होता है।

सच्चा आत्मज्ञान या आत्मदर्शन : कब होता है, कब नहीं ?

वस्तुतः हम मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को देखते हैं; जिनके द्वारा हमारी धारणाएँ और संस्कार बने हुए हैं, हमारी आदतें निर्मित हुई हैं। सच्चे माने में आत्मदर्शन या आत्मा का ज्ञान तभी हो सकता है, जब हम धारणाओं, परम्पराओं, शास्त्रवाक्यों, इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाली जानकारी तथा संस्कारों और आदतों से ऊपर

---

१. 'न जिणइ अंधोपराणीयं।' –आचारांग निर्युक्ति २१९

२. (क) महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।
(ख) अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।
–कठोपनिषद् २/१/४, १/३/१५

उठकर इन सबसे अतीत होकर आत्मा का निरीक्षण तथा अपनी आत्मा की शक्तियों और सम्पदाओं का ज्ञान करते हैं। इसलिए दशवैकालिक में आत्मज्ञान-दर्शन करने के लिए कहा गया (अपने माने हुए ग्रन्थों, पन्थ, मत आदि तथा व्यक्तियों के प्रति) रागद्वेष से दूर सम होकर अपनी आत्मा को अपने से जानो।

अध्यात्म संवर आत्म-भावों से आत्मा को भावित करने से

शास्त्रों में जहाँ-जहाँ अध्यात्म संवर की बात कही गई है, वहाँ आत्मा को भावित करने का अध्यात्मरत–आत्मलीन होने का विधान किया है। किसी साधक के दीक्षित हो जाने के पश्चात् उसके लिए कहा गया है–"संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।"[1] अर्थात् वह संयम और बाह्याभ्यन्तर तप से आत्मा को सतत भावित-वासित करता हुआ विचरण करे।

आत्मभाव में रमण करने वाला व्यक्ति प्रति क्षण आत्मा के हित की ही बात सोचता है, आत्म-कल्याण की बात ही बोलता है, जो कुछ करता है, वह आत्म-विकास को लक्ष्य में रखकर।

इस प्रकार आत्मदर्शन या आत्म-सम्प्रेक्षण से क्या होता है ? उसके लिए शास्त्रकार स्वयं कह देते हैं–स्थूल शरीर के साथ राग-द्वेष का जो धागा जुड़ा हुआ है, उससे वह अपने को पृथक् समझने लगता है। राग-द्वेष के प्रसंगों में ज्ञानचेतना के द्वारा सम रहने का अभ्यास करता है।[2]

राग-द्वेष एवं मोह के कारण जो कर्मों का तीव्रता से आगमन–आस्रव होता था, वह रुक जाता है, यही अध्यात्म संवर है।

पंचास्तिकाय की वृत्ति में कहा गया है–"जीव के मोह, राग और द्वेष के परिणामों का निरोध होना, तथा जीव के उन परिणामों से कर्मास्रव के परिणामों का निरोध हो जाना (अध्यात्म) संवर है।"

---

१. उपासक दशांग १/७६

२. (क) जो पुव्वरत्ता वररत्तकाले संपेक्खए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं, किं मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि। इत्यादि दशवैकालिक की द्वितीय चूलिका की गाथा १२ से १४ की व्याख्या (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) पृ. ४१९
(ख) समयसार, तात्पर्यवृत्ति २९६
(ग) अप्पा अप्पम्मिरओ। –प्रवचनसार
(घ) चैतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांश ग्रहण, पृ. ४१
(ङ) वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो से पुज्जो।
–दशवैकालिक अ. ९, उ. ३, गा. ११

इसी प्रकार 'मूलाचार वृत्ति' में भी कहा गया है–"आत्मा के (स्वभाव-रमणरूप) परिणामों के द्वारा (जिस प्रक्रिया से) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि के परिणामों का निरोध किया जाता है, वह (अध्यात्म) संवर है।"

आचारांग सूत्र में बताया गया है कि "जो क्रोधदर्शी होता है, वह क्रमशः मानदर्शी, मायादर्शी, लोभदर्शी, प्रेय (राग) दर्शी, द्वेषदर्शी, मोहदर्शी, गर्भदर्शी, जन्मदर्शी, मरणदर्शी, नरकदर्शी, तिर्यञ्चदर्शी और अन्त में दुःखदर्शी होता है।"

इस सूत्र का रहस्य भी यही है कि आत्मद्रष्टा साधक क्रोधादि के कारण होने वाले कर्मों के आम्रव और बन्ध का द्रष्टा हो जाता है, और उसके परिणामस्वरूप होने वाले नरक तिर्यंच आदि गतियों की प्राप्ति और पुनः पुनः जन्ममरणादि से होने वाले दुःखों का दर्शन कर लेता है। उसकी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि में आत्म बाह्य विभावों में रमण करने के परिणामों का दर्शन चलचित्रवत् हो जाता है। ऐसा आत्मद्रष्टा साधक कर्मों के आदान (कषायों तथा आम्रवों) को अध्यात्मसंवर प्रधान दृष्टि से रोककर कर्मों का भेदन कर पाता है।[1]

वही अध्यात्म संवर का साधक : जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता, न रमता है

जो इस प्रकार अनन्यभाव से एकमात्र स्व-आत्मा के प्रति दृष्टि रखता है, वही सच्चा आत्मद्रष्टा होता है; वही अध्यात्मसंवर को सिद्ध कर सकता है। इसी तथ्य का समर्थन 'आचारांग सूत्र' में किया गया है–"जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता, वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नहीं है। इसी प्रकार जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नही रखता।"

सर्वत्र सभी अंगों में आत्मा को देखना : आत्मदर्शन

आचार्य योगीन्दु ने इसी सम्यक् आत्मदर्शन का अनुभव व्यक्त करते हुए कहा–"मैं जहाँ कहीं भी देखता हूँ, मुझे आत्मा ही दिखाई देती है। शरीर के विशिष्ट अवयवों (इन्द्रियाँ, हाथ, पैर आदि, तथा मन, बुद्धि, चित्त, हृदय और प्राण आदि) को देखता हूँ तो मुझे वहाँ भी शुद्ध आत्मा के ही दर्शन होते हैं।"

---

१. (क) 'जीवस्य मोह-राग-द्वेष परिणाम निरोधो, जीवस्य तन्निमित्त कर्मपरिणाम-निरोधो वा संवरः।" –पंचास्तिकाय अ. वृ. १०८

(ख) "जीव परिणामेव मिथ्यात्वादि परिणामो निरुध्यते वा स संवरः।"
–मूलाचार १८३४ वृ.

(ग) देखें–जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी .....तिरियदंसी से दुक्खदंसी तक (आचारांग १/३/४/१३०) सूत्र की व्याख्या (आगम प्रकाशन समिति ब्यावर) पृष्ठ ११४-११५

इसका रहस्य यह है कि मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, प्राण, इन्द्रियाँ आदि सब मूल में आत्मा के द्वारा ही अनुप्राणित, प्रेरित और संचालित होते हैं। आत्मा के कारण ही शरीरादि प्राप्त हुए हैं। जब आत्मा निकल कर अन्यत्र चली जाती है, तब स्थूल शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण आदि सब यहीं रह जाते हैं, स्थगित और नष्ट हो जाते हैं।

इसलिए आत्मद्रष्टा जब सर्वत्र अणु-अणु में आत्मा को ही देखता है, तब वह सिर्फ आत्मा को ही देखता है, आत्मा से पृथक् होने से इनकी ओर उसकी दृष्टि नहीं टिकती, इन्हें वह अपने नहीं जानता-मानता। इतना ही नहीं, वह 'स्व' (आत्म) भाव में इतना तल्लीन और दृढ़ हो जाता है कि न तो आत्मबाह्य भावों पर दृष्टि रखता है, और न ही परभावों या विभावों में रमण करता है।

एकमात्र शुद्ध आत्मा को जानना-देखना : आत्मदर्शन

आचार्य अमितगति के शब्दों में–"एकमात्र मेरी आत्मा शाश्वत है, शुद्ध है, कर्मोपाधि से रहित है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनस्वरूप है, आनन्दमय है, शक्तिस्वरूप है। शेष सब आत्मबाह्य भाव–परभाव या विभाव (कषायादि विकार) हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, जड़ पदार्थ, स्वजन-परिजन आदि सब कर्मों से जनित या प्राप्त हैं, ये सब कर्मोपाधिक हैं। ये शाश्वत नहीं हैं, न ही शुद्ध हैं।"

आत्मा के साथ एकत्व की प्रतीति ही सच्चा आत्मदर्शन

जब इस प्रकार की आत्मैकत्व प्रतीति या आत्मा के साथ अभिन्नता का दर्शन हो जाता है, तभी साधक सच्चा आत्मज्ञाता-द्रष्टा बनता है, अध्यात्म संवर में सफल होता है। ऐसे व्यक्ति का भेद ज्ञान सुदृढ़ हो जाता है। उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थ अन्य हैं, मैं (आत्मा और आत्म-सम्बद्ध गुण) अन्य हूँ। वह अपने अनन्त शक्तिमान् शुद्ध निर्दोष आत्मा को शरीर से उसी प्रकार पृथक् समझ लेता है, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की समझी जाती है।

वह मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भी घबराता नहीं, उसके तन-मन में भय और कम्पन नहीं होता। वह समभाव में स्थिर रहता है। हर्ष-शोक के प्रसंगों तथा इष्टवियोग एवं अनिष्टसंयोग के अवसर पर वह समत्व में–ज्ञानादिमय शाश्वत आत्मा में स्थिर रहता है।[1]

---

१. (क) "जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी।"
–आचारांगसूत्र १/२/६

(ख) चेतना का ऊर्ध्वारोहण में प्रकाशित आचार्य योगीन्दु का उद्धरण, पृ. ४०

(ग) एकः सदा शाश्वतिको ममाऽत्मा, विनिर्मलः साधिगम स्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ताः न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥
–अमितगति सामायिकपाठ

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं, तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्तिः ॥ –वही, श्लो. २

आचारांगसूत्र के अनुसार जो इस प्रकार कर्मों के आदान (कषायों या आस्रवों)[1] का निरोध करता है, वह स्वकृत कर्मों का भेदन करता है।

भेदविज्ञाता आत्मदर्शी अर्हन्नक श्रावक ज्ञाता-द्रष्टा बना रहा

अर्हन्नक श्रावक के समक्ष एक देव उसके आत्म धर्म की परीक्षा करने हेतु विकराल रूप धारण करके उपस्थित होता है। वह जिस जलयान में बैठकर अपने साथी व्यापारियों के साथ जा रहा था, उस जहाज को उलट देने के लिए तत्पर था, और अर्हन्नक को धमकी दे रहा था कि "यदि तूने आत्मधर्म को असत्य नहीं कहा तो तुझे और तेरे सब साथियों को समुद्र में डुबा दूँगा।"

कितना भयंकर आतंक था। परन्तु आत्मद्रष्टा-ज्ञाता अर्हन्नक का इससे एक रोम भी विचलित नहीं हुआ। उसने साथियों को विचलित होते देख, उन्हें भी धर्म में सुस्थिर किया। देव भी उसकी आत्मधर्म (आत्मा के ज्ञाता द्रष्टारूप धर्म) में दृढ़ता देखकर उसके चरणों में झुक गया, प्रसन्न होकर विदा हुआ।[2]

ज्ञानचेतना में सुदृढ़ रहने वाले अध्यात्म संवर साधक की वृत्ति या दृष्टि

ऐसा आत्मज्ञातृत्व या आत्मदृष्टत्व तभी प्रकट हो सकता है, जब व्यक्ति की दृष्टि अध्यात्म संवर लक्ष्यी हो ऐसा। साधक ज्ञानचेतना में सुदृढ़ रहता है। वह गाली देने वाले, निन्दा करने वाले या अपना अहित करने वाले के प्रति भी मन में द्वेष या रोष न लाए, वह अपने आप में स्थिर रहे। यही अध्यात्म संवर है, आत्मनिग्रह या आत्मनियंत्रण है। आस्रव लक्ष्यी दृष्टि वाला व्यक्ति तो ऐसे अवसर पर रोष द्वेष तथा प्रतीकार करता है।

सुकरात को आत्मा की अमरता पर दृढ़ विश्वास : आत्म-दर्शन का प्रतीक

सुकरात को जिस समय जहर का प्याला पीने को दिया जा रहा था। उस समय उसके भक्त, मित्र और समर्थक व्याकुल, उदास और खिन्न होकर कहने लगे—आप इसे मत पीजिए। अन्यथा, मर जाएँगे। फिर हम आपको कहाँ पाएँगे ? परन्तु सुकरात के मन में कोई घबराहट, विचलता या व्याकुलता नहीं थी। वह शान्ति और धैर्य से बैठा था।

जब उसके अनुयायियों ने बार-बार कहा तो सुकरात ने कहा—"मित्रो ! क्यों इतने व्याकुल हो रहे हो ? तुम्हें क्यों कष्ट हो रहा है ? इस विश्व में आस्तिक भी हैं और नास्तिक भी। आस्तिक कहते हैं, आत्मा है, पर वह अमर है। जब आत्मा अमर है तो मुझे मरने की क्या चिन्ता है ? इसी प्रकार नास्तिक कहते हैं कि आत्मा है ही नहीं, तब कौन मरेगा ? नास्तिकों की दृष्टि से भी मुझे मरने की कोई चिन्ता नहीं है।"

---

१. देखें—आयाणं सगडाब्भि (आचा. १/३/४/१२८) सूत्र की व्याख्या, पृ. ११५ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

२. देखें ज्ञाताधर्मकथासूत्र अ.८ में अर्हन्नक की जीवन घटना

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है–अध्यात्मसंवर का साधक लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवित-मरण, निन्दा-प्रशंसा, सम्मान-अपमान तथा भय-प्रलोभन में सम रहता है।[1]

एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ, अन्य नहीं : यही आत्मदर्शन की सिद्धि

इतना भेदज्ञान, विवेकख्याति, या देहाध्यास से उपरति उसी में हो सकती है, जिसका आत्मा के सच्चे स्वरूप का, परभावों से या विभावों से भिन्नता का ज्ञान सुदृढ़ हो। वस्तुतः आत्मज्ञान एवं दर्शन के अभ्यासी साधक की दृष्टि में जब एकमात्र आत्मा ही मुख्य रहता है, तब उसका मनन-चिन्तन कैसा होता है, इसकी कुछ झाँकी 'आत्मषटक' में इस प्रकार मिलती है–

"मैं मन, बुद्धि, चित्त या अहंकार रूप नहीं हूँ; मैं कान, नाक, जीभ या नेत्र भी नहीं हूँ। मैं आकाश, पृथ्वी, तेज या वायु नहीं हूँ। मैं तो मंगलकारी (शिव) तथा कल्याणकारी (शिव) चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ। मैं प्राण, पंचप्राण (वायु), सप्त धातु तथा पंचकर्मेन्द्रिय भी नहीं हूँ। ये राग-द्वेष या लोभ-मोह आदि भी मेरे नहीं हैं। न ही मद-मात्सर्य भाव मेरे अपने हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी मेरे नहीं हैं। न पुण्य मेरा है, न पाप। मंत्र, तीर्थ, वेद (शास्त्र) या यज्ञ भी मेरे नहीं हैं। न भोज्य पदार्थ मेरे हैं, न मैं (आत्मा) उनका भोक्ता हूँ। मैं तो एकमात्र कल्याणकर मंगलकर सच्चिदानन्दरूप आत्मा हूँ।"

आत्म-बाह्य भाव मैं या मेरे नहीं, मैं अन्य हूँ : आत्मद्रष्टा का चिन्तन

'नियमसार' में यही बताया है–"एकमात्र ज्ञानदर्शनस्वरूप मेरा आत्मा ही शाश्वत तत्व है। इससे भिन्न जितने भी (राग-द्वेष, कर्म, शरीर आदि) भाव हैं, वे सब संयोगजन्य बाह्यभाव हैं, वे मेरे नहीं हैं।"

आत्मज्ञाता के हृदय से ये उद्‌गार निकलते हैं–'यह जीव (आत्मा) अन्य है, और यह शरीर अन्य है।' अर्थात् उसे यह दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि आत्मा पृथक् है, और ये अदृश्यमान या दृश्यमान पौद्‌गलिक पदार्थ या कषायादि विभाव पृथक् हैं। इन्द्रियाँ मन आदि आत्मा को जानने-देखने आदि के लिए उपकरणमात्र हैं। "इन्द्रियों और मन से जन्य ये कामभोग भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ।"

सम्पर्क में आएँ तो इन्हें केवल जानना-देखना ही पर्याप्त है। इनके प्रति अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, कषाय तथा प्रियता-अप्रियता आदि संवेदन के चक्कर में पड़ना उचित नहीं।

---

१. लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो णिन्दा पसंसासु, तहा माणावमाणओ॥ –उत्तराध्ययन सूत्र अ. १९ गाथा ९०

अध्यात्म संवर का साधक आत्मद्रष्टा अथवा भेदज्ञाता होता है, इसलिए जब ये इन्द्रियाँ आदि अज्ञान, रागद्वेष आदि विभावों-विकारों से लिप्त होने लगते हैं, तब वह तुरन्त सावधान होकर उन्हें उसी तरह हटा लेता है, जिस प्रकार मुँह पर मक्खी बैठते ही मनुष्य तत्काल उसे हटा लेता है। अर्थात्–स्थितात्मा या आत्मस्थ साधक इन उपकरणों के द्वारा जानना-देखना आदि क्रियाएँ करता हुआ भी उनके विषयों के प्रति रागद्वेष नहीं करता, कषाय भावों में लिप्त नहीं होता।

'आचारांग' में बताया गया है कि इस प्रकार की एकत्वानुप्रेक्षा से सहाय-विमोक्ष की[1] भावना का उद्रेक होता है और साधक सहज ही लाघव धर्म तथा तप का लाभ प्राप्त कर लेता है। यही अध्यात्म संवर की साधना का एक रूप है।

एकमात्र आत्मा का सम्प्रेक्षण : अध्यात्म संवर का उत्कृष्ट रूप

आचारांग सूत्र में कहा गया है कि "(अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में) आज्ञाकांक्षी पण्डित शरीर एवं कर्म के प्रति अनासक्त (स्नेह-रहित) होकर एकमात्र आत्मा को देखता हुआ शरीर (कर्म-शरीर) को प्रकम्पित कर डाले, (तपस्या द्वारा) अपने कषायात्मक शरीर को कृश करे, जीर्ण करे।"

चूर्णिकार ने इस सूत्र पर एकत्वानुप्रेक्षा तथा अन्यात्वानुप्रेक्ष-परक व्याख्याएँ की हैं। एकाकी (एकमात्र) आत्मा की सम्प्रेक्षणा इस प्रकार करनी चाहिए–"आत्मा अकेला (स्वयं) ही कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही जन्मान्तर में जाता है।"

---

१. (क) महावीर की साधना का रहस्य से सार संक्षिप्त, पृ. १३१-१३२
(ख) मनो-बुद्ध्यहंकारचित्तानि नाऽहं, न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमि र्न तेजो न वायुः चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥१॥
न च प्राणसंज्ञो, न वै सप्त धातुर्नवा पंचकोशः।
न वाक् पाणिपादौ न चोपस्थ पायू, चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥२॥
न मे द्वेषरागौ, न मे लोभमोहौ, मदोनैव मे नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षः चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥३॥
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं, न मंत्रो न तीर्थं, न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता, चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥
–आत्मषटक ॥४॥
(ग) एगो मे सासदो अप्पा, णाण-दंसण-लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ –नियमसार १०२
(घ) अन्नोजीवो, अन्नं इमं सरीरं। –सूत्रकृतांग २/१/९
(ङ) अन्ने खलु कामभोगा, अन्नो अहमंसि। –सूत्र कृतांग २/१/१३
(च) एगो अहमंसि न मे अत्थि कोइ, न वाऽहमवि कस्सइ। एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणेज्जा, लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ।
–आचारांग श्रु. १ अ. ८, उ. ५

"मैं सदैव अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, और न मैं किसी दूसरे का हूँ। यह संसार अनर्थ का सार है। यहाँ कौन किसका है ? कौन स्वजन या परजन है ? ये स्वजन और परजन तो संसारचक्र में परिभ्रमण करते हुए किसी समय (जन्म) में स्वजन और फिर परजन हो जाते हैं। एक समय ऐसा आता है, जब न कोई स्वजन रहता है, न परजन।"

"आप इस प्रकार का चिन्तन करें कि मैं अकेला हूँ। पहले भी मेरा कोई नहीं था, और पीछे भी मेरा कोई नहीं है। अपने (मोहनीय आदि) कर्मों के कारण मुझे दूसरों को अपना मानने की भ्रान्ति हो रही है। वास्तव में, मैं पहले भी अकेला था, अब भी अकेला हूँ और पीछे भी मैं अकेला ही रहूँगा।"

यह है कषायात्मारूप कर्मशरीर से होने वाले आस्रवों का निरोध करने हेतु आत्मैकत्व-सम्प्रेक्षणरूप अध्यात्म संवर।

एकमात्र आत्मा की शरण में चले जाने पर कष्ट का आभास नहीं होता

एकमात्र आत्मा के सान्निध्य में जब व्यक्ति चला जाता है, तब उसे शरीर से होने वाले कष्टों या सुखों का अनुभव नहीं होता; न ही वह शरीर के प्रति मोह, राग एवं द्वेष करता है। देहाध्यास छोड़ कर आत्मा में प्रवेश करता या एकमात्र आत्मा की शरण में चला जाता है, उसके सभी दुःख-कष्ट समाप्त हो जाते हैं, उसे किसी भी कष्ट, दुःख का अनुभव-संवेदन नहीं होता।

भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा है–"वीर पुरुष इस महावीथी (अध्यात्म संवर रूप महामार्ग) के प्रति प्रणत–समर्पित हो जाते हैं।"

भगवान् महावीर स्वयं अध्यात्म संवर की परिपूर्णता के लिए अपनी आत्मा के प्रति प्रणत–समर्पित हो चुके थे। आत्मा ही उनका भगवान् और आत्मा ही देवाधिदेव तथा आत्मा ही परमगुरु था। उनके समक्ष केवल आत्मा ही थी। आत्मा ही उनके लिए सर्वस्व, जीवनाधार था। आत्म-सरोवर में वे गहरी डुबकी लगाकर रहते थे। इस कारण भयंकर से भयंकर उपसर्ग भी उन्हें विचलित नहीं कर पाए।

आत्म समर्पित साधक बाहुबलिमुनि की अध्यात्म संवर साधना

बाहुबलिमुनि ऐसे ही आत्म-समर्पित परम साधक थे। वे देहाध्यास त्यागकर कायोत्सर्ग करके आत्म समाधि में स्थिर हो गए थे। सर्दी, वर्षा, आँधी, भूकम्प, विद्युत्पात आदि किसी भी प्रकृतिकृत कष्ट की उन्हें बिलकुल अनुभूति नहीं हुई। पक्षियों ने उनके कान, हाथ आदि पर घोंसले बना लिये, शरीर पर बेलें छा गईं, तब भी उन्हें शरीरगत कष्ट का अनुभव नहीं हुआ, क्योंकि वे एकमात्र आत्मा में तल्लीन हो गए थे।

भगवान् महावीर भी मृत्यु के कष्ट को भी जीत चुके थे। भयंकर से भयंकर कष्टों (उपसर्गों) के समय भी वे अविचल रहे, उन्हें उस कष्ट का आभास तक नहीं हुआ। यदि

उन्हें जरा भी कष्ट महसूस होता तो वे जीवित ही नहीं रह पाते। किन्तु वे मृत्यु के उस पार अमरत्व तक पहुँच चुके थे।

आत्मा में तल्लीन साधक पर सर्पविष का प्रभाव नहीं

दक्षिण भारत के किसी जंगल में एक आत्मलीन साधक ध्यान में खड़े थे। कुछ चरवाहों ने देखा कि काला साँप उन्हें डस रहा है, वह बार-बार उनके पैरों में काटते-काटते थक कर चला गया। पर साधु ध्यान से जरा भी विचलित नहीं हुए। वे पर्वत की तरह अडोल खड़े रहे।

ध्यान खुलने पर जब चरवाहों ने उनसे पूछा, "आपको पता है, एक साँप ने आपको बार-बार काटा था, क्या आपको उसका जहर नहीं चढ़ा ?"

साधु ने मानो कुछ हुआ ही नहीं था, इस प्रकार सहज भाव से उत्तर दिया– "आया होगा साँप, काटा होगा। शरीर पर क्या हो रहा है, इसका मुझे बिलकुल ही आभास नहीं हुआ, क्योंकि मैं तो अपनी आत्मा में तल्लीन था।"

यह है, आत्मा का अनन्यशरणरूप अध्यात्म संवर जो उसका ही अभिन्न अंग है।[1]

समाधिमरण की आराधना : अध्यात्म संवर की प्रक्रिया

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब व्यक्ति श्रद्धापूर्वक किसी अध्यात्म साधना में लग जाता है, तब उसे कष्ट का वेदन बहुत ही कम होता है, आत्मज्ञानी को तो होता ही नहीं। संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण की आराधना भी अध्यात्म संवर की प्रक्रिया है; क्योंकि उसमें व्यक्ति का अन्तरात्मा देह, गेह, संघ, परिवार, परिजन आदि सबसे

---

१. (क) देखें, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए, धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं। –आचारांग १/४/३/१४१ की व्याख्या

(ख) एकाकी आत्म-सम्प्रेक्षण के प्रेरक श्लोक–
'एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम् ।
जायते म्रियते चैकः, एको याति भवान्तरम्।' ॥१॥
सदैकोऽहं न मे कश्चित् नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ।
न तं पश्यामि यस्याऽहं, नाऽसौ भावीति यो मम ॥२॥
संसार एवाऽयमनर्थसारः, कः कस्य, कोऽत्रस्वजनः परो वा।
सर्वेभ्रमन्ति स्वजनाः परे च; भवन्ति भूत्वा, न भवन्ति भूयः ॥३॥
विचिन्त्यमेतत् भवताऽहमेको न मेऽस्ति कश्चित्वरतो न पश्चात्।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव अहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥४॥
–आचारांग विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) पृ. १३५

(ग) पणया वीरा महावीहिं । –आचारांग श्रु. १ अ. उ. ३ सू. २१

(घ) जैनधर्म : अर्हत और अर्हताएँ से भावांश ग्रहण, पृ. १०५-१०६

राग-द्वेष, काम, क्रोध आदि छोड़कर एकमात्र आत्मा की सन्निधि में चला जाता है। फिर उसे मरने का जरा भी दुःख नहीं होता। वह मृत्यु को एक महोत्सव समझता है। मृत्यु उसका प्रिय सखा बन जाता है। वह हंसते-हंसते मृत्यु का आलिंगन कर लेता है। इससे दुःख, भय, चिन्तादि जनित कर्मों के आस्रव के प्रसंग उसके लिए संवर के प्रसंग बन जाते हैं।

अध्यात्म संवर का स्वरूप : प्रतिसंलीनता–आत्मनिष्ठा

अध्यात्म-संवर का एक रूप है–प्रतिसंलीनता। आचारांग में बताया गया है कि भगवान् महावीर ध्यान करते समय इन्द्रियों और मन के बाह्य विषयों से (शब्द-रूपों से) अमूर्च्छित (मोह-राग-द्वेष-मुक्त) होकर अपने आप में संलीन हो जाते थे। यही प्रतिसंलीनता का रूप है, जो अध्यात्म संवर का अंग है।

ऐसी अध्यात्म संवर मूलक प्रतिसंलीनता में बाहर के शब्द, रूप (श्रवण-प्रेक्षण) बन्द करके कान से भीतर की आवाज सुनी जाती है। भीतर की आँख से देखा जाता है।

भ. महावीर आत्मिक सौन्दर्य का दर्शन करते थे। अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में कहें तो–व्यक्ति बाहर से अर्थात् बाहरी दुनियाँ से पीठ करके जितना-जितना भीतर की ओर जाता है उतने ही शीघ्र भीतर के नेत्र और कर्ण खुल जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि अध्यात्म संवर साधक बाहर के कानों से, आँखों से सुनता-देखता अवश्य है, परन्तु वह आँखों से आत्मगुणों को देखता है, तथा कानों से भीतर की आवाज सुनता है, यही उसे अध्यात्म संवर की साधना में अभीष्ट है।

आत्मा ही संवर आदि है : अध्यात्म संवर का एक विशिष्ट रूप

भगवान् महावीर सतत आत्मध्यान, आत्मविलोकन, आत्मसंवर आदि में तल्लीन रहते थे।

भगवतीसूत्र में एक संवाद आता है। पूछा गया–सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग क्या है ? तब वहाँ वस्तुतत्त्व की दृष्टि से समाधान किया गया है कि, "आत्मा ही सामायिक है, वही सामायिक का प्रयोजन (अर्थ) है, आत्मा ही प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक या व्युत्सर्ग है, और आत्मा ही प्रत्याख्यान आदि का प्रयोजन (अर्थ) है।"

तात्पर्य यह है कि जब साधक आत्मा के स्वभाव, स्वरूप, गुण और अस्तित्व को समझ लेता है, तब उसका आत्मा में या आत्मभावों में स्थिर होना ही सामायिक है, प्रत्याख्यान है, संयम है, संवर है, विवेक है, या व्युत्सर्ग है।

जैसे सूर्य के चारों ओर ग्रह, नक्षत्र आदि परिक्रमा करते हैं, वैसे ही अध्यात्म-संवर के चारों ओर सामायिक प्रत्याख्यान (त्याग), संयम, विवेक, व्युत्सर्ग,

तप आदि की परिक्रमा होती है। इसके अतिरिक्त गुप्ति, समिति, परीषह-विजय, कषाय-विजय, चारित्रपालन आदि भी अध्यात्म-संवर के अंग हैं।

अर्हत-सम्प्रेक्षण ही शुद्ध आत्म सम्प्रेक्षण है : अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के इस शुद्धस्वरूप में स्थिर रहने, भावितात्मा बने रहने एवं इस एकत्वसम्प्रेक्षा से राग-द्वेषादि विकारों से अलग होने की एक सुन्दर प्रक्रिया बताई है–"जो व्यक्ति अर्हत् को समस्त पर्यायों (समस्त आत्मगुणों) के सहित जानता, देखता है, वह अपनी आत्मा को सम्यक्रूप से जान लेता है। जो इस प्रकार अर्हत् को जानता-देखता है, उसका मोह विलय (विनष्ट) हो जाता है। मोह के कारण ही राग-द्वेष क्रोधादि कषाय होते हैं, और आत्मा कर्मफल से मलिन–अशुद्ध होता है। अतः अर्हत् का ध्यान करना, अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करना है; क्योंकि अर्हत् की आत्मा और अपनी शुद्ध आत्मा में मूलतः कोई अन्तर नहीं है।

वर्तमान में अन्तर है तो केवल कर्मोपाधिक है। उस अन्तर को मिटाने के लिए अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में अपनी आत्मा के शुद्ध और वास्तविक स्वरूप को जानने-देखने तथा आत्मा के अस्तित्व को उद्दीप्त एवं व्यक्त करने के लिए यह सुन्दर प्रक्रिया है।

अर्हत् सम्प्रेक्षण से स्वभावरमणतारूप संवर, परभावरमणतानिरोध

तात्पर्य यह है कि जो अर्हत् के गुणों का ध्यान–एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करता है, वह प्रत्येक स्थान में तथा स्वयं में भी ज्ञान-दर्शनमय आत्मा को देखता है। इस कारण इन्द्रियों, मन आदि उपकरणों द्वारा होने वाले क्रियाकलापों का वह ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है।

वह प्रतिक्षण जागरूक रहकर यही सोचता है कि इन उपकरणों से आत्मा यदि अज्ञान, मोह, राग-द्वेष, कषाय आदि विभावों–आत्म बाह्य भावों में पड़ता है, तो वह अपना ही अहित करता है, इनके वश में होकर आत्मा अपना ही शत्रु बन जाता है। इसके विपरीत जब आत्मा इन उपकरणों के द्वारा जानना-देखना आदि क्रियाएँ करके उनमें राग-द्वेषादि का संवेदन नहीं करता, केवल ज्ञाता द्रष्टा बना रहता है, तो वह आत्मा अपने लिए हितैषी मित्र बनता है।

ऐसे ज्ञान-दर्शन-चारित्रविनयरूप अध्यात्मभाव में लीन रहने वाले साधक को सूत्रकृतांग में श्रेष्ठ पुण्डरीक कहा है, वस्तुतः ऐसे व्यक्ति की विवेकप्रतिभा जागृत हो जाती है। ऐसा आत्मद्रष्टा साधक शरीरादि के अणु-अणु में आत्मा का सम्प्रेक्षण करता है। आत्मा के द्वारा आत्मा का सम्प्रेक्षण करने से, या ध्यान करने से जो आत्मदर्शन होता है, उससे आत्मा से सम्बद्ध शरीर और शरीर से सम्बद्ध–सजीव-निर्जीव पदार्थों का–

स्व-पर का भेदविज्ञान हो जाता है; स्वभाव और विभाव का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है। यह भी अध्यात्मसंवर की प्रक्रिया का एक रूप है।

जब व्यक्ति स्व-भाव में रमण करता है, तब स्वतः ही राग, द्वेष मोह आदि पलायित होने लगते हैं। जिस प्रकार सूर्य का जाज्वल्यमान प्रकाश होते ही अन्धकार स्वयं भाग जाता है, उसी प्रकार साधक में आत्मज्ञान-दर्शनरूप सूर्योदय का प्रकाश होते ही अज्ञान-मोहादि का अंधेरा भी भाग जाता है। आचारांग सूत्र के अनुसार उस आत्मदर्शी साधक की धी–अन्धता मिट जाती है।[1]

भगवान् महावीर विशुद्ध आत्मज्ञानी साधक थे, प्रसिद्धि आदि के नहीं

भगवान् महावीर ने अपनी साधना में सर्वाधिक स्थान अध्यात्मसंवर को दिया और उसके लिए वे साधना काल में सदैव आत्मध्यान में तथा अपने आपको (आत्मा को) देखने जानने में अधिकाधिक लीन रहे। वे विशुद्ध आत्मज्ञानी थे। आत्मा के शुद्ध अस्तित्व तक पहुँचना ही उन्हें अभीष्ट था। इसके लिए तप, कायोत्सर्ग और ध्यान ही उनके मुख्य आधार थे। परन्तु तप, त्याग और ध्यान से कभी उन्होंने मन में यह विकल्प नहीं उठाया कि मैं अनेक लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त करूँ। चमत्कार दिखाने और आडम्बर करने का, प्रसिद्धि और प्रशंसा का, विकल्प उन्होंने कभी नहीं उठाया।

बहुत से लोग तप, त्याग, योग-साधना आदि से भौतिक सिद्धियाँ और उपलब्धियाँ पाने में लग जाते हैं। आकाश में उड़ने, पानी पर चलने आदि साधना की सिद्धि में अधिकांश लोग लग जाते हैं। परन्तु सिद्धियाँ अध्यात्म संवर में आत्म-ज्ञान की साधना में रुकावट डालती हैं। अतः सिद्धियाँ ज्ञान की साधना में न तो आवश्यक हैं, और न ही उपयोगी। वे साधना में विक्षेप डालने वाली हैं बल्कि सिद्धियों और उपलब्धियों से

---

१. (क) जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ से भावांश ग्रहण पृ. ११९-१२०
(ख) आया णे अज्जो सामाइए, ...सामाइयस्स अट्ठे, आया णे अज्जो पच्चक्खाणे.....
पच्चक्खाणस्स अट्ठे, आया .....संजमे, ... संजमस्स अट्ठे, आया .....संवरे.....संवरस्स अट्ठे; आया विवेगे .....विवेगस्स अट्ठे, आयाविउसग्गे..... विउसग्गस्स अट्ठे।"
–भगवतीसूत्र शतक १, उ. ९, सू. २१/४
(ग) "जो जाणइ अरहंते, सव्वेहिं दव्वपज्जवेहिं।
सो जाणइ अप्पाणं, मोहो तस्स जाति लयं ॥" –आचार्य कुन्दकुन्द
(घ) महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ५२
(ङ) अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ। –उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७
(च) अहवा वि णाण-दंसण-चरित्त-विणए तहेव अज्झप्पे जे पवरा होंति ते पवरा पुंडरीया उ॥
–सूत्रकृ. निर्युक्ति
(छ) सहिते दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए।
–आचारांग १/३/३ सू. १२७ का विवेचन देखें (आ. प्र. स. ब्यावर) पृ. ११९-१५६

अल्पज्ञ मानव का अहंकार और मद बढ़ता है। अत्यधिक प्रशंसा और प्रसिद्धि के चक्कर में डाल देती हैं। मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति इनसे रुक जाती है।

जो लोग भौतिक सिद्धियों को पाने में लग जाते हैं, वे चित्त पर्याय में ही उलझे रहते हैं। वे चित्त, मन, बुद्धि आदि से ऊपर नहीं उठ पाते। वे आत्मा के शुद्ध अस्तित्व को पाने का पुरुषार्थ नहीं कर पाते।

भगवान् महावीर मन, बुद्धि, चित्त आदि से ऊपर उठकर आत्मज्ञान की साधना में, अस्तित्व तक पहुँचने की साधना में लगे हुए थे।

एक शिष्य ने बारह वर्ष लगाकर पानी पर चलने की विद्या में सफलता प्राप्त कर ली। गुरु के पास आया। गुरु के समक्ष अपनी प्रशंसा करते हुए उसने कहा–"अब मुझे नदी पार करने के लिए नौका का सहारा नहीं लेना पड़ेगा। मैं स्वयं पानी पर चलना सीख गया हूँ।"

गुरु आत्मज्ञानी साधक थे। उन्होंने कहा–"अरे भोले! जो काम दो पैसे खर्च करके किया जा सकता है, उसके लिए तूने जीवन के १२ वर्ष खो दिये। इसकी अपेक्षा तो तू १२ वर्ष तक आत्म विकास की साधना करता तो तुझे आत्म ज्ञान प्राप्त हो जाता।"

अध्यात्म संवर की साधना के साथ प्रसिद्धि-सिद्धि आदि का निषेध

निष्कर्ष यह है कि अध्यात्मसंवर की साधना के साथ किसी प्रकार की इहलौकिक, पारलौकिक कामना, वासना, प्रसिद्धि एवं प्रशस्ति की लालसा, भोगों की प्राप्ति की वांछा या पूजा सत्कार सिद्धि या उपलब्धि की इच्छा नहीं होनी चाहिए।

भगवान् महावीर ने तपस्या और त्रिरत्नरूपधर्माचरण तथा सामायिक पौषध आदि धर्मासाधनाओं के साथ किसी प्रकार की इहलौकिक, पारलौकिक तृष्णा, वासना, भोगलिप्सा, यशकीर्ति आदि की कामना का सख्त निषेध किया है।[1]

आत्मवान् और अनात्मवान् की पहचान

स्थानांग सूत्र में बताया गया है कि जो (आत्मज्ञान से रहित) अनात्मवान् होते हैं, उनके लिए निम्नोक्त छह स्थान अहित, अशुभ, अक्षमता, अनिःश्रेयस एवं अननुगामिता के कारण बनते हैं। वे हैं–पर्याय, परिवार, श्रुत, तप, लाभ एवं पूजा सत्कार। इसके विपरीत जो आत्मवान् (आत्मज्ञानी) होते हैं, उनके लिए पूर्वोक्त छहों स्थान हित, शुभ, क्षमता, निःश्रेयस तथा अनुगामिता के कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि दीर्घ दीक्षा-पर्याय या अधिक अवस्था, बड़ा शिष्यादि परिवार अथवा कुटुम्ब परिवार,

१. (क) महावीर की साधना का रहस्य से भावांश ग्रहण, पृ. ४९
(ख) देखें–दशवैकालिक अ. ९ उ. ३ में– न इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा तथा आयार महिट्ठिज्जा इत्यादि पाठ।

शास्त्रज्ञान, तपश्चरण, विविध उपलब्धियाँ-लब्धियाँ एवं पूजा प्रतिष्ठा अनात्मवान् को पचती नहीं। वह अहंकार ममकार से उद्धत और अविनीत होकर दूसरों का तिरस्कार करता है। इस प्रकार वह रागद्वेष-मोह कषायादिवश कर्मों का आस्रव और बन्ध करके अपना संसार बढ़ाता है। जबकि आत्मवान् मन, बुद्धि, चित्त आदि के इन विकल्पों (पर्यायों) से ऊपर उठकर एकमात्र अध्यात्म संवर की दृष्टि रखकर चलता है। इन उपलब्धियों के लिए वह लालायित नहीं होता और प्राप्त होने पर समभाव से आत्मा को भावित रखता है।[1] अतः अध्यात्म संवर के लिए आत्मवान् होना आवश्यक है।

आत्मा और आत्मवान् की पहचान

'परमानन्द पंचविंशति' में आत्मा को पहचानने की पद्धति बताई गई है–'जिस प्रकार पाषाणों में सोना, दूध में घी, तिल में तेल छिपा रहता है, उसी प्रकार देह में आत्मा रहता है। अरणि की लकड़ी में जैसे अग्नि शक्तिरूप से रहती है, वैसे ही शरीर में यह आत्मा रहती है। जो इसे जान लेता है, वही पण्डित है। वह ज्ञान रूप आत्मा है, अन्य नहीं, वह परम शान्तिरूप है, भवतारक है। वही आनन्दरूप है, सुखदाता है, वही चैतन्यघन है और वही गुणों का सागर है। इस प्रकार परम आल्हाद-सम्पन्न, राग-द्वेष-रहित, देह में स्थित है यही मैं हूँ, इस प्रकार जो जानता है, वही पण्डित है, आत्मज्ञानी है।'[2]

भौतिक धन की अपेक्षा आत्मज्ञानरूपी धन को अपनाओ

महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने जब अपने पतिदेव से सुना कि "धन सम्पत्ति प्राप्त करके मनुष्य प्रायः अमरत्व को प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि बहुधा धन सम्पत्ति के

---

१. (क) छट्ठा अत्तवतो हियाए सुहाए खमाए णीसिसाए आणुगामियत्ताए भवति तं जहा–परियाए परियाले सुते तवे लाभे पूया सक्कारे।
(ख) छट्ठाणा अजत्तवओ अहियाए असुभाए अखमाए अणीसिसाए अणणुगामियत्ताए भवन्ति, तं जहा–परियाए परियाले सुते तवे लाभे पूयासक्कारे।–स्थानांग, स्थान ६ सू. ३३,३२

२. (क) पाषाणेषु यथा हेम दुग्धमध्ये यथा घृतं।
तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः॥२४॥
काष्ठमध्ये यथा वह्निः शक्ति रूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः॥२५॥
स एव ज्ञान रूपोहि स एवात्मा न चाऽपरः।
स एव परमा शान्तिः स एव भवतारकः॥१९॥
स एव परमानन्दः स एव सुखदायकः।
स एव घन चैतन्ये स एव गुणसागरः॥२०॥ –परमानन्द पंचविंशति
(ख) "आत्मा वाऽरे मैत्रेयि! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च।
आत्मनः खलु दर्शनेन इदं सर्वं विदितं भवति॥" –बृहदारण्यकोपनिषद्
(ग) विशोकभावः आनन्दमयो विपश्चित् स्वयं कुतश्चित्र विभेति कश्चित्॥ –उपनिषद्
(घ) अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७९ से सार–संक्षिप्त, पृ. ४

लोभ और मोह में पड़कर मनुष्य का जीवन सुखशान्तिमय नहीं हो सकता।" इस पर मैत्रेयी ने कहा–"मुझे धन-सम्पत्ति नहीं चाहिए, अमरत्व का –आत्मसुख का साधन बताइए।" मैत्रेयी ने बहुत आग्रह करने पर याज्ञवल्क्य ने सूत्ररूप में कहा–"अरी मैत्रेयी! आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य (मनन करने योग्य) और निदिध्यासितव्य (अनुभव करने योग्य) है। आत्मा को (अपने आप को) जान देख लेने पर सब कुछ जान-देख लिया जाता है। यही अमरत्व का साधन है, आत्म कल्याण का मार्ग है।"

अध्यात्म संवर की यात्रा का प्रथम पड़ाव : आत्मज्ञान-आत्मदर्शन

सचमुच, अध्यात्म संवर की यात्रा का पहला पड़ाव आत्मज्ञान-आत्मदर्शन है। कठोपनिषद में ही आगे चलकर कहा गया है–"जो धीर पुरुष अपने में स्थित आत्मा को जान-देख लेते हैं, उन्हीं को शाश्वत (नित्य) सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।"

वस्तुतः आत्मज्ञान की प्राप्ति सर्वोत्तम उपलब्धि है। आत्मा को यथार्थ रूप से जान लेने पर व्यक्ति अध्यात्म संवर के पथ पर निर्विघ्नतापूर्वक चल सकता है। देवी भागवत के अनुसार "वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य, जो योग (आत्मा के परमात्मा से जुड़ने) के मार्ग में भयंकर विघ्नकारक शत्रु हैं, जैनदृष्टि से अध्यात्म संवर के पथ में रोड़े हैं, उनसे आत्मा को बचा लेता है। अध्यात्म संवर का साधक आत्मज्ञान के बल से कुपथगामी नहीं होता, तथा उपनिषदकार के शब्दों में वह आत्मविज्ञ शोक, चिन्ता से रहित होकर आनन्दपूर्वक जीता है और स्वयं किसी से भी नहीं डरता।"

अध्यात्म संवर का आत्मज्ञानी साधक अपनी उपलब्ध आत्म-सम्पदारूपी फसल की रक्षा इन काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि पक्षियों से करता रहता है। वह अध्यात्म संवर के लिए प्रतिक्षण इन बाधक तत्त्वों एवं आस्रवोत्पादक पदार्थों से बचने का पुरुषार्थ करता है।

आत्मज्ञान का तात्पर्य अपने आपको तथा आत्मगुणों के पहचानना

इसीलिए आचारांगसूत्र में सर्वप्रथम आत्मज्ञान की प्रेरणा दी गई है। आत्मज्ञान का तात्पर्य अपने आप को जानना है, और पर-पदार्थों या परभावों–विभावों से अपने आपको बचाना है, विरत करना है, परभावों से निर्लिप्त अनासक्त रहना है। आत्मा को यथार्थरूप से स्वयं के द्वारा ही जाना जा सकता है, जैसाकि आचारांग में कहा गया है–मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहाँ से और किसलिए आया हूँ।[1]

आत्मा के अष्टविध रूपों में से कौन-से हेय, कौन-से उपदेय?

जैनागमों का अवलोकन करने पर यत्र-तत्र आत्मज्ञान की, आत्मा को आत्मभावों से भावित (भावितात्मा) तथा संवृतात्मा साधक की चर्चा आती है। जैनाचार्यों ने आत्मा को देखा, अनुभव किया और जान लिया कि आत्मा एक रूप में नहीं है।

---

१. आचारांग श्रु. १ अ. १, सू. ४

वैसे तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्राणी तक की आत्मा स्वरूप की दृष्टि से एक (समान) है, परन्तु कर्मों के आवरण अथवा कषायादि आस्रव-बन्धकारक तत्त्वों से लिप्त होने के कारण आत्माएँ आठ प्रकार की बताई गई हैं-(१) द्रव्य आत्मा, (२) कषाय आत्मा, (३) योग-आत्मा, (४) उपयोग आत्मा, (५) ज्ञान-आत्मा, (६) दर्शन आत्मा, (७) चारित्र आत्मा और (८) वीर्यात्मा।

सोचना यह है कि इन आठ आत्माओं में कौन-कौन-सी आत्मा, आत्मा के लक्षण से युक्त है? कौन-सी नहीं? तथा कौन-सी आत्मा उपादेय या हेय है? वास्तव में देखा जाए तो संसारी जीवों की विकृत एवं कषायादि-लिप्त आत्मा को देखकर ही ये आत्मा के पृथक-पृथक नाम दिये गए हैं। कषाय, योग, उपयोग आदि में से किसी की प्रधानता या विशेषता को देखकर सांसारिक जीवों की आत्मा की पहचान कराने हेतु ये आठ नाम दिये गए हैं। इनमें से कषायात्मा और योग-आत्मा ये दोनों प्रकार की आत्माएँ शुद्ध रूप में न होने के कारण हेय हैं। आत्मा का लक्षण उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार दिया गया है-

"जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य (शक्ति) और उपयोग हों ये जीव (आत्मा) के लक्षण हैं।"[1]

त्रिविध आत्मा में बहिरात्मा का चिन्तन और मनोवृत्ति प्रवृत्तियाँ

आत्मा का यह लक्षण होते हुए भी सभी जीवों में यह लक्षण प्रकटरूप में नहीं दिखाई देता। सांसारिक जीवों की मनोवृत्ति और तदनुसार उनका व्यवहार प्रत्यक्ष प्रतीत होता है-जिजीविषा, वंशवृद्धि की दृष्टि से पुत्रैषणा, पेट तथा आश्रितों के भरण-पोषण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वित्तैषणा एवं अपनी प्रशंसा प्रसिद्धि एवं यश, कीर्ति के लिए लोकैषणा, ये मूलभूत वृत्ति प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। ये सब आत्मबाह्य तथा शरीर से सम्बद्ध पदार्थ हैं। इनमें आत्मा के लक्षणानुसार एक भी तत्त्व नहीं है। इसलिए आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध रूप को लेकर तीन प्रकार बताये हैं। (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा।

बहिरात्मा का सारा चिन्तन शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं को लेकर होता है। वह शरीर को ही आत्मा मनता है। शरीर ही, अथवा शरीर का पोषण ही उसके लिए महत्वपूर्ण होता है। उसमें आत्मा को जानने की जिज्ञासा नहीं होती। होती है तो भी भौतिकता के घेरे में ही बन्द होकर रह जाती है।

---

१. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरिअं उवओगो य, एवं जीवस्स लक्खणं॥" -उत्तराध्ययन २८/११

इन्द्र और विरोचन की आत्मज्ञान-पिपासा में अन्तर

एक बार अपने आप को जानने की प्रबल जिज्ञासा देवराज इन्द्र और दैत्यराज विरोचन के मन में हुई। दोनों प्रजापति के पास आए और विनम्रतापूर्वक अपना-अपना प्रश्न उनके समक्ष रखा। प्रजापति ने दोनों की विवेक बुद्धि की परीक्षा के लिए जल से भरे हुए एक पात्र में अपना-अपना मुख देखने को कहा और बताया–"जो दिखाई दे, वही तुम हो, वही तुम्हारा स्वरूप है।" प्रजापति ने यह जानने के लिए ऐसा किया था कि "इनमें आत्मा को जानने की उत्कट अभिलाषा है या नहीं? अथवा आत्मा को पहचान सकने की क्षमता है या नहीं?" विरोचन तो पानी में अपनी आकृति देखकर अतीव प्रसन्न हुआ और ऐसा कहता हुआ चला गया कि "मैंने अपने आप को जान लिया है"। उसने शरीर को ही अपना स्वरूप माना और वही अपने अनुगामियों को सिखाया कि शरीर को खूब बलिष्ठ बनाओ, और सजधजकर दर्पण में अपने स्वरूप को देखो।

किन्तु इन्द्र इतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने प्रजापति के समक्ष तर्क प्रस्तुत किया–"शरीर ही आत्मा है, इसमें मुझे शंका है, क्योंकि शरीर नाशवान है, उसके नष्ट होते ही आत्मा भी क्या नष्ट हो जाएगी? शरीर को कष्ट दुःख-सुख का जो अनुभव होता है, वह आत्मा को भी होता है क्या?"

प्रजापति इन्द्र की प्रबल जिज्ञासा, आत्मज्ञान की क्षमता देखकर प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा–"तत्त्वमसि–तुम वही (परमात्मस्वरूप) हो। तुममें और परमात्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। शरीर नाशवान है, आत्मा अविनाशी है। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर ही मनुष्य परमात्मा की तरह निर्दोष-निर्विकार शुद्ध हो सकता है।[1]

विष्णु पुराण में अध्यात्मसंवर के सन्दर्भ में आत्मज्ञान की महत्ता बताते हुए कहा है–"जब व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप को जान लेता है, तब वह शुद्ध, निर्दोष हो जाता है, उसकी समस्त (परपदार्थों को पाने की) कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं।[2]" वही आत्मज्ञानी का लक्षण है।

आत्मज्ञान की निष्ठा के अभाव में बहिरात्मा बने हुए व्यक्ति की करुणदशा

परन्तु आत्मज्ञान की निष्ठा और लक्ष्य प्राप्ति कहने में जितनी आसान है, उतना उसे अन्तरंग के रोम-रोम में रमाना सुगम नहीं है। सामाजिक, गणसम्बन्धी, परिवार सम्बन्धी अनेकानेक विघ्न बाधाएँ, संकीर्णता के पुराने अन्तर्मन में जमे हुए कुसंस्कार चुनौती बनकर आत्मज्ञान साधक के समक्ष खड़े होते हैं।

---

१. अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९७९ से सार संक्षिप्त पृ. ६

२. "यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्वकामक्षये ज्ञानरूपमपास्तपोषम्।" –विष्णुपुराण

देवी भागवत के अनुसार उस समय काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य आदि विकार भी उसके आत्मज्ञान में, आत्मज्ञान को क्रियान्वित होने में बाधक बन जाते हैं।[1]

अधिकांश आत्मज्ञान की निष्ठा में कच्चे और स्वानुभवशून्य व्यक्ति उस समय बहिरात्मा बनकर आत्मबाह्य भावों–परभावों और विभावों को ही प्रश्रय देने लगते हैं। वे अध्यात्मसंवर का पथ छोड़कर आस्रवों के ही उपार्जन करने में लग जाते हैं।

आचारांग सूत्र[2] में आत्मज्ञान की निष्ठा से हीन व्यक्तियों की करुणदशा का चित्रण दो रूपकों द्वारा किया गया है। उसका सारांश यह है कि "संसार रूपी एक महाह्रद है, उसमें प्राणी एक कछुआ है। कर्मरूपी अज्ञान-शैवाल से ढके हुए महाह्रद में किसी समय शुभसंयोग से सम्यक्त्वरूपी छिद्र (विवर) हो जाने से कछुएरूप प्राणी को विशाल चमकता हुआ निर्मल आत्माकाश शान्ति आनन्द आदि नक्षत्रों सहित दिखाई दिया। इससे उसकी प्रसन्नता तो बढ़ी, किन्तु वह उस आत्माकाश को भली-भांति जानने-देखने के लिए कहाँ रुका नहीं। अपने परिवार के मोहवश उन्हें बताने के लिए वहाँ से चल दिया, और उन्हें अपनी असामान्य उपलब्धि की बात बताई, किन्तु वापस उन्हें साथ लेकर जब लौटा तो उसे वह सम्यक्त्वरूपी (आत्मज्ञान का प्रारम्भिक) छिद्र नहीं मिला। आत्मज्ञानरूपी निर्मल आकाश नहीं दिखाई दिया। उस पर पुनः मोह, अज्ञान आदि का शैवाल छा गया। यही करुण स्थिति आत्मज्ञानहीन व्यक्ति की होती है।

आत्मज्ञानहीन व्यक्ति वृक्ष की तरह स्थिति स्थापक, आत्मिक उत्क्रान्ति परायण नहीं

दूसरा रूपक वृक्ष का दिया है कि वृक्ष सर्दी, गर्मी, आँधी, वर्षा आदि अनेक प्राकृतिक आपत्तियों तथा उसके फल-फूल तोड़ने के इच्छुक अनेक लोगों द्वारा पीड़ा, यातना, प्रहार आदि के कष्टों को सहता हुआ अपने स्थान पर स्थित रहता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानहीन मानव आधि, व्याधि, उपाधि तथा दैहिक, दैविक दुःखों को अज्ञानवश बरबस सहता है, समभाव एवं अध्यात्मज्ञान न होने से मानसिक पीड़ाएँ, व्यथाएँ पाता है, फिर भी अपनी उस अज्ञानरूपी दशा को छोड़ नहीं पाता।

वह पारिवारिक, साधिक एवं सामाजिक मोहवश उन्हीं में रचा-पचा रहता है। आत्मज्ञान की निष्ठा के अभाव में उसकी दशा वृक्ष के समान स्थिति स्थापक की-सी हो

---

१. (क) अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७९ से भावांश ग्रहण पृ. ७
(ख) तत्प्रत्यूहः षडाख्यातायोगविघ्नकराऽनघ! कामक्रोधौ लोभ मोहौ मद-मात्सर्य संज्ञकौ॥
–देवी भागवत ७/३५/३

२. आचारांग श्रु. १ अ. ६ उ. १ का से बेमि–से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचिते पच्छण्णपलासे, उम्मुग्गं से णो लभति। भंजगा इव सन्निवेसं नो चयंति, सूत्र १७९ की व्याख्या, पृ. १९४ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

जाती है। बार-बार दिया हुआ आत्मस्वरूप का उपदेश भी वह रुचिपूर्वक सुनता मानता नहीं, न ही हृदयंगम करता है। वह आत्मज्ञानी होने का दावा करता है, परन्तु उसका आत्मज्ञान पुस्तकों और ग्रन्थों से किया हुआ औपचारिक होता है, निष्ठायुक्त नहीं होता। यथार्थ आत्मज्ञान होता तो वह असंयम में, लोभ-मोहादि कर्मास्रवों के जाल में नहीं फंसता; वह अध्यात्म संवर को अपना कर अपनी अध्यात्म सम्पदा की उसी प्रकार रक्षा करता; जिस प्रकार सामान्य मनुष्य अपने प्राण, जीवन एवं धन आदि की रक्षा करने में जी-जान से प्रयत्न करते हैं।

'योगवाशिष्ठ' में बताया गया है कि "जिसने जानने योग्य (आत्मा और उससे सम्बन्धित गुणों) को जान लिया और विवेक दृष्टि प्राप्त कर ली, उस आत्मज्ञानी (प्राज्ञ) व्यक्ति को शरीर और मन के कष्ट उसी प्रकार दुःखी नहीं कर सकते, जिस प्रकार वर्षा से भीगे हुए जंगल को अग्नि नहीं जला सकती।"

आत्मज्ञानी मनुष्य को सांसारिक बन्धनों में जकड़े हुए, वासना और कामना से जनित कष्टों को सहते, रोते-कलपते मनुष्य अत्यधिक क्षुद्र (जैनदर्शन की भाषा में बहिरात्मा) परिलक्षित होते हैं।

इसीलिए योगवाशिष्ठ में कहा गया है—आत्म प्रज्ञा प्राप्त विवेकवान् योगी संसार में शोकाकुल (आर्त्तरौद्रध्यान पीड़ित एवं विभिन्न कर्मास्रवों को आमंत्रित करने वाले) मनुष्यों को उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार पर्वत की चोटी पर खड़ा मनुष्य पृथ्वी पर नीचे चलते या खड़े हुए मनुष्यों को देखता है।[1]

यही अन्तरात्मा की भूमिका है। अन्तरात्मा का मुख परमात्मा की ओर होता है।

आत्मज्ञान से विकास की और अज्ञान से विनाश की सम्भावनाएँ

वस्तुतः जहाँ आत्मज्ञान में विकास की या अध्यात्म संवर में उत्तरोत्तर प्रगति की समग्र सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, वहाँ अज्ञान में उत्तरोत्तर उतनी ही पतन की पराकाष्ठा है। इसी दृष्टि से 'उत्तराध्ययन सूत्र' में अविद्यावान् पुरुषों को अपने लिए दुःखों की सृष्टि करने वाले कहा गया है। जन्म-मरणादि के नाना दुःख अज्ञान के ही फल हैं। अज्ञान के कारण ही मोह, मिथ्यात्व, विपरीत दृष्टि, आशंका, आसक्ति, रागद्वेष आदि होते हैं और उनसे कर्मों की बाढ़ आकर जीवन को घेर लेती है।

इसीलिए महाभारत में अज्ञान को आत्मा का महाशत्रु बताते हुए कहा गया है—"हे राजन्! इस संसार में आत्मा का सबसे भयंकर शत्रु एक ही है—अज्ञान। इससे बढ़कर

---

१. (क) "प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाश्रयः।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव॥"
—योगवाशिष्ठ
(ख) प्रज्ञा-प्रासादमारुह्याशुच्यः शोचतो जनान्। तमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति।
—योगवाशिष्ठ

और कोई शत्रु नहीं है। इसी अज्ञान से आवृत, विमोहित एवं प्रेरित होकर व्यक्ति अनेकानेक दारुण घोर कुकर्मों में प्रवृत्त होता रहता है।"[1]

अपनी आत्मा से सत्य का अन्वेषण करो : यही आत्मज्ञान का रहस्य है

इसीलिए भगवान् महावीर ने आत्मविकास-गवेषकों को अन्धविश्वास, मोह, अज्ञान आदि से ऊपर उठकर स्वयं आत्मान्वेषण करने का कहा है—"अपनी आत्मा से ही सत्य की गवेषणा करो। दूसरे किसी के कहने मात्र से अन्धश्रद्धापूर्वक मत मानो"।[2]

ऐसे आत्मज्ञान की प्राप्ति अध्यात्मसंवर की दिशा में प्रस्थान करने पर ही होती है। अध्यात्मसंवरसाधक स्वयं विवेक, विश्लेषण और अनुभव कर पाता है कि मैंने आँखों से जो कुछ देखा, अथवा कानों से जो कुछ रम्य, मनोज्ञ शब्द श्रवण किया, एवं अन्य इन्द्रियों से जो कुछ अब तक जाना-देखा, सुना या मन से जो कुछ सोचा-विचारा, प्राणों से जिस ऊर्जा शक्ति का सांसारिक क्रियाकलापों में व्यय किया, वह सब कुछ कर्मों के आस्रव (आगमन) और बन्ध का ही कारण बना। निर्जीव पौद्गलिक कर्मोपाधिक वस्तुओं का ही उससे ज्ञान किया, उन्हीं के पाने में, उन्हीं के संरक्षण में तथा उन्हीं के उत्पादन और वियोग की चिन्ता में अपनी शक्ति लगाई। अपनी आत्मा में जो तपःशक्ति या ऊर्जा शक्ति (तैजस्शक्ति) थी, उसे भी परपदार्थों को या सांसारिक विषयों को पाने में लगा दी।

अगर उन जड़ पदार्थों और पंचेन्द्रिय विषयों में सुख-दुःख की, प्रिय-अप्रिय की, मनोज्ञ-अमनोज्ञ की कल्पना न की होती, अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष (घृणा) की वासना न की होती तो सहज ही अध्यात्मसंवर हो जाता, और आत्मा की ज्ञान-दर्शन-सम्पदा, आत्मिक आनन्द की सत्ता प्राप्त हो जाती, तथा आत्मशक्तियों का साक्षात्कार हो जाता और उनका उपयोग आत्मविकास के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचने में अनन्तज्ञान-दर्शन, अनन्त आत्मिक सुख और अनन्त आत्म शक्ति को पाने में किया जाता।

अध्यात्मसंवर की दृष्टि भौतिकताप्रधान दृष्टि को बदलने से

परन्तु यह सब तभी हो सकता है, जब मनुष्य की दृष्टि बदले, मान्यता में परिवर्तन हो। वह इस तथ्य को हृदयंगम कर ले कि जड़ पदार्थों तथा इन्द्रिय विषयों में

---

१. (क) जावंतऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुंपंति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए। —उत्तराध्ययन ६/१
(ख) एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्तिशत्रुरज्ञान तुल्यः पुरुषस्य राजन्!
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि॥ —शान्ति पर्व–महाभारत

२. "अप्पणा सच्चमेसेज्जा" —उत्तराध्ययन ६/२

अपने आप में न तो सुख होता है, न ही दुःख। पदार्थ और विषय दोनों ही निर्जीव हैं, वे अपने आप में न तो प्रिय होते हैं, न ही अप्रिय। सुख-दुःख की या प्रिय-अप्रिय की कल्पना तो मनुष्य के मन की कल्पना है।

इन्द्रियों, मन और प्राणों को अच्छे या बुरे प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किये जाने पर जो कुछ भी सुख-दुःख की या प्रिय-अप्रिय की संवेदना (अनुभूति) होती है, वह आत्मा की अपनी भ्रान्तिपूर्ण अनुभूति या संवेदना है। ऐसी स्थिति में जड़ पदार्थों का पौद्गलिक विषयों को न तो दुःख के लिए दोष दिया जा सकता है, और सुख के लिए श्रेय। मनुष्य की गलत मान्यता या मिथ्या दृष्टि के कारण ही ऐसा होता है। यदि मनुष्य की दृष्टि सम्यक् हो जाए, वह अध्यात्मसंवर की दृष्टि बन जाए तो उसकी मान्यता भी यथार्थ एवं भ्रान्तिरहित हो सकती है।

जैसे रत्न के मूल्य से अपरिचित आदिवासी के समक्ष एक सेर गुड़ और एक रत्न रखकर दोनों में से एक को उठा लेने को कहा जाए तो वह गुड़ को उठाएगा, रत्न को नहीं। बल्कि रत्न की ओर वह आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। किसी अबोध शिशु के समक्ष एक ओर हजार रुपये के नोटों का बंडल रखा जाए और दूसरी ओर एक खिलौना रखा जाए तो वह नोटों के बंडल की उपेक्षा करके खिलौने को खुशी-खुशी उठा लेगा।

ठीक यही बात यहाँ बाह्य जगत् में बिखरे हुए धनादि जन्य निर्जीव विषय सुख-साधनों, सुख-सुविधाजनक पदार्थों तथा निर्जीव विषयों की तुलना आध्यात्मिक सम्पदा एवं आत्मशक्तियों से की जा सकती है। भ्रान्त मान्यता एवं असम्यक्दृष्टि वाले व्यक्ति की वृत्ति-प्रवृत्ति बाह्य निर्जीव पदार्थों और विषयों को अपनाने की होती है, आत्मिक सम्पदा एवं आत्मिक आनन्द एवं शक्ति को पाने के लिए अध्यात्म-संवर को अपनाने की नहीं होती।

अध्यात्मसंवर में बाधक-साधक अपनी ही विपरीत दृष्टि, मान्यता एवं वृत्ति

निःसंदेह मनुष्य अपनी दृष्टि, मान्यता एवं वृत्ति के स्तर पर ही वस्तुओं का मूल्यांकन करता है। तदनुरूप ही प्रिय-अप्रिय का, लाभ-हानि का तथा सुख-दुःख आदि का अनुमान लगाता है, अपनी मनोवृत्ति में तदनुरूप ही राग-द्वेष को जोड़ता है।

परन्तु दृष्टिकोण का स्तर बदलते ही, आस्रवों (कर्मागमन-कारणों) को हेय और संवर (कर्मागमन निरोध) को उपादेय समझने लगता है। दृष्टि बदलते ही अनुभूतियों और मान्यताओं में जमीन-आसमान जैसा अन्तर आ जाता है। फिर व्यक्ति जिन पदार्थों और विषयों को पाने, सुरक्षित रखने और उपभोग करने के लिए लालायित रहता था, उन्हें आत्मविकास के लिए निरर्थक एवं अनर्थकर समझकर ठोकर मारते हुए या पीठ करते हुए संकोच नहीं करता।

वस्तुएँ दोनों के समक्ष एक जैसी हैं। उनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया, पर एक ने उन्हें प्राणप्रिय माना और दूसरे ने उन्हें विरक्तिपूर्वक ठुकरा दिया, अथवा एक ने उन्हें मनोज्ञ-अमनोज्ञ मानकर राग-द्वेष किया, दूसरा उन वस्तुओं या विषयों को जीवन यात्रा की आवश्यकतानुसार अपनाकर या पाकर भी तटस्थ या सम रहा; न तो उनके प्रति राग (मोह ममत्व) किया और न ही उनके प्रति द्वेष या घृणा की।

यही समभाव की माध्यस्थ्यदृष्टि या ज्ञाता-द्रष्टा रहने की दृष्टि ही अध्यात्मसंवर की दृष्टि है।[1]

असीम सुख अपनी आत्मा में ही है, बाह्य पदार्थों और विषयों में नहीं

अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन के बाद आत्मा का निजी गुण अनन्त सुख (आत्मिक आनन्द) है। वह भी आत्मा में ही है। परन्तु आस्रवलक्ष्यी दृष्टि वाला मनुष्य, कस्तूरीमृग के द्वारा नाभि में कस्तूरी होते हुए भी जगह-जगह बाहर भटकते रहने की तरह उस आत्मसुख को बाह्य पदार्थों में ढूँढ़ता फिरता है। आस्रव प्रधान दृष्टि वाला मानव बाह्य पदार्थों और इन्द्रिय विषयों को पाने और कामभोगों का उपभोग करने में सुख की कल्पना करता है, वह मरुभूमि में मृगमरीचिका की तरह सुख की पिपासा मिटाने के लिए दौड़ लगाता है। किन्तु सुख उससे दूरातिदूर होता जाता है।

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–"जो व्यक्ति विविध कामभोगों से निवृत्त नहीं हो पाता है, वह संकल्पविकल्प के वशीभूत होकर पद-पद पर विषाद, चिन्ता, शोक और दुःख पाता है।"[2]

अधिकांश लोग सुखाकांक्षी बनकर पदार्थों और व्यक्तियों के माध्यम से लोभ और मोह के वशीभूत होकर इन्द्रिय विषयों की लालसा, कामवासना एवं मनोवांछा अथवा धनादि की तृष्णा की पूर्ति में सुख मानते हैं; और इनकी पूर्ति के लिए हाथ-पैर पीटते हैं, परन्तु वे अपने काल्पनिक सुखों को पाने में सफल नहीं होते। इसके विपरीत जो विकासवान् आत्माएँ होती हैं, वे इस बालक्रीड़ा को विनोद की दृष्टि से देखती हैं, परन्तु उस क्रीड़ा में स्वयं फंसने की मूर्खता नहीं करतीं। वे इस इन्द्रियजन्य या भौतिक सुख की वास्तविकता और दुःखबीज समझकर अध्यात्मसंवर के पथ पर चलते हैं और आत्मा में जो असीम सुख (आनन्द) का स्रोत है, उसे ही पाने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। उनकी दृष्टि में अन्तिम सुख स्वाधीन है, स्वतन्त्र है, वस्तुओं और परिस्थितियों पर अवलम्बित नहीं है।

इसीलिए संसार के समस्त लोगों को इस वस्तु-निष्ठ या विषयाधीन सुख की भ्रान्ति मिटाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा–"जो सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है, अथवा

---

१. अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९७६ से भावांश ग्रहण, पृ. ५२

२. "...जो कामे न निवारए। पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ।" –दशवैकालिक अ. २ गा.१

मन जिस सुख की कल्पना पर-पदार्थों को पाने और भोगने में करता है, वह तो पराश्रित है, विघ्न बाधाओं से युक्त है, विच्छिन्न (नाशवान्) है तथा कर्मों के आस्रव और बन्ध का कारण होने से (दुःख बीज है, भविष्य में अनेकों दुःखों को लाने वाला होने से) विषम है, अतएव वास्तव में वह सुख नहीं, दुःख ही है। जिसकी दृष्टि स्वयं अन्धकार का नाश करने वाली होती है, उसे दीपक क्या प्रकाश देगा? इसी प्रकार जिसकी दृष्टि में आत्मा स्वयं सुखरूप है, जो सुख के विषय में मिथ्यात्व एवं अज्ञानमयी भ्रान्त अन्धदृष्टि से रहित होता है। उसे इन्द्रिय विषय और बाह्य पदार्थ क्या सुख देंगे।"

भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि सुख और दुःख का (कर्ता) उत्पादक और भोक्ता कौन है? तब उन्होंने स्पष्ट कहा–"आत्मा ही अपने लिए सुखों का कर्ता-भोक्ता है, और आत्मा ही दुःखों कर्ता-भोक्ता है"। जब उनसे पूछा गया कि अपने लिए दुःख तो कोई नहीं चाहता, फिर भी दुःख क्यों आता है? क्या कोई ईश्वर, भगवान्, अवतार या देवी देव उसे दुःख देता है? वह दुःख किसने किया? इसके उत्तर में वे कहते हैं–वह दुःख अपने द्वारा ही कृत है, दूसरा कोई दूसरों को सुखी या दुःखी नहीं करता, न ही कर सकता है।

आत्मा ही जब आस्रवों के लुभावने, मनोमोहक मार्ग में फंस जाता है, तब दुःख पाता है, और आत्मा ही स्वयं जब संवर के सरल, निश्छल, निराबाध, स्वाधीन मार्ग पर चलता है, तो शाश्वत निराबाध सुख प्राप्त करता है। यदि आत्मा अपने आप को परभावों और विभावों के संकटापन्न तथा जन्म-मरणादि दुःखों से परिपूर्ण मार्ग पर जाने से स्वयं को रोक ले, संवृत कर ले, अथवा सुख-दुःख में समभाव से भावित कर ले, अर्थात् अध्यात्मसंवर कर ले तो वह स्वयं अन्दर और बाहर एक सरीखे ज्ञानादि से प्रकाशमान, शुद्ध और असीम आनन्द से परिपूर्ण हो सकता है।

इसके विपरीत आत्मा ही जब अपनी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, प्राण एवं अंगोपांगों को यत्नाचार से रहित होकर स्वच्छन्द और खुले छोड़ दे, इन द्वारों से विषयों और पदार्थों से जनित रागद्वेष, प्रियता-अप्रियता की वृत्ति या क्रोधादि कषाय-विकारों को बेधड़क प्रविष्ट होने दे तो वह आस्रवों और बन्धों के फलस्वरूप दुःखों के कंटीले झाड़-झखाड़ों में उलझ जाता है।

इतना ही नहीं, वह तदनुरूप अनगढ़, अव्यवस्थित एवं कुरूप जीवन जीता है। इसके कारण वह स्वयं भी दुःख पाता है और सम्पर्क में आने या रहने वालों के लिए भी दुःखरूप बन जाता है।[1]

---

१. (क) सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥" –प्रवचनसार १/७६

(ख) तिमिरहरा जइ दिट्ठा जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तहसोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुर्व्वति॥ –वही, १/६७

उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ और विकृत मनःस्थितियाँ उसे बार-बार आस्रव और बन्ध के दुःखोत्पादक पथ की ओर ही धकेलती हैं। वह मोह एवं अज्ञानवश यह नहीं समझता कि जितना निष्फल पुरुषार्थ मैं इन पराश्रित सुखों को पाने के लिए करता हूँ, उतना ही यदि आत्मा के प्रति वफादार रहकर आत्मसुखों को पाने हेतु संवर के मार्ग में करूँ तो उस निराबाध सुख की प्रति सहज ही हो सकती है। मेरे अपने ही हाथ में सुख और दुःख है।

इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा–"(पाप में प्रवृत्त) अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी और कूटशाल्मलीवृक्ष के समान (कष्टदायी) है और (सत्कार्यों अहिंसादि धर्माचरणों में प्रवृत्त) अपनी आत्मा ही कामधेनु और नन्दन वन के समान (सुखदायी) है।" "(सदाचार में प्रवृत्त) आत्मा तो मित्र के तुल्य है, और (दुराचार और दुर्व्यसनों में प्रवृत्त होने पर) वही आत्मा शत्रु बन जाती है।"

आत्मा ही कर्म बांधती है, वही कर्मों से मुक्त होती है : क्यों और कैसे?

इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया है–कई लोग धर्माचरण करने के बदले धर्म के नाम से अन्धविश्वास, कट्टरता, साम्प्रदायिकता का प्रचार करके परस्पर संघर्ष, वैर-विरोध, हत्या, दंगा, आतंक और मनोमालिन्य पैदा कर देते हैं, उनका वह बाह्य–अहिंसा धर्माचरण भी अधर्माचरण और पापास्रव का कारण बन जाता है।

कई लोग अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म के आचरण को दुःखदायक समझकर उससे कतराते हैं, अथवा अनेक सुख-सुविधाएँ अपनाकर धर्माचरण में–रत्नत्रयरूप धर्म की साधना में शिथिलता करते हैं। उनकी आत्मा जो मित्ररूप हो सकती है, वह शत्रु रूप हो जाती है। अर्थात्–आस्रव और बन्ध के कारण जन्म-मरणादि अनेक दुःखों की परम्परा बढ़ाने वाली बन जाती है।

सुख-दुःख, बंध-मोक्ष या उत्थान-पतन, अपने हाथ में

इसीलिए उत्तराध्ययन में कहा गया है–"गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतनी हानि नहीं करता, जितनी हानि अधर्माचरण या दुराचरण में प्रवृत्त अपनी स्वयं का आत्मा कर सकता है।"

इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया–"बन्ध और मोक्ष तेरी अन्तरात्मा में ही हैं।" तू चाहे तो आस्रवों के मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा को बन्धन में डाल सकता है,

---

(ग) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। –उत्तराध्ययन अ. २०, गा. ३७
(घ) दुक्खे केण कडे? अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे॥ –भगवतीसूत्र १७ श. ५ उ.

१. (क) अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे णंदणंवणं। –उत्तराध्ययन २०/३६
(ख) अप्पामित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ। –उत्तराध्ययन २०/३७

और तू चाहे तो अध्यात्म संवर के पथ पर चलकर अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त और स्वाधीन सुखभाजन कर सकता है।[1]

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि मनुष्य के सुख और दुःख के अथवा उत्थान और पतन के समस्त आधार अपने भीतर ही होते हैं। बाहर तो उसकी प्रतिक्रिया मात्र दृष्टिगोचर होती है। स्पष्ट है कि व्यक्ति की मौलिक विशेषताओं के बीज प्रत्येक आत्मा के अन्तर् में दबे-पड़े रहते हैं। उनमें से जिन बीजों को विकसित होने का अवसर मिल जाता है, वे सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के सघनवृक्ष के रूप में फलते-फूलते हैं और उन्हीं के अनुरूप उनके बाह्यजीवन का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। फिर उसे बाह्य-पदार्थ विषय सुख-दुःखदाता नहीं प्रतीत होते; न ही बाह्यपदार्थों, इन्द्रिय विषयों या मनोवृत्तियों में सुख का आभास या भ्रम होता है।[2]

आत्म निग्रह—अध्यात्मसंवर ही सब दुःखों से मुक्त होने का उपाय

इसीलिए भगवान् महावीर ने कर्मों के आस्रव-बन्ध से होने वाले दुःखों से मुक्त होने के लिए स्पष्ट निर्देश दिया—"हे पौरुषयुक्त पुरुष! अपनी आत्मा का ही निग्रह (संवर) कर। आत्मनिग्रह (अध्यात्मसंवर) से ही तू सब दुःखों से मुक्त हो सकता है।"

यही अध्यात्मसंवर का मूल सूत्र है। इन्द्रियों का निग्रह, मनोनिग्रह, प्राणों का संवर, अथवा हाथ-पैर आदि अवयवों पर संयम, सभी कुछ आत्मनिग्रह या अध्यात्म-संवर पर निर्भर है। यद्यपि इन्द्रियविजय, मनोविजय, प्राणसंवर या अवयव-संयम आदि सब इसी अध्यात्मसंवर में सहायक हैं तथापि आत्मा इन सबका मूल संचालक होने के नाते आत्मा के हाथ में इन सबकी लगाम है, इसलिए आत्मनिग्रह करने से इन सबका निग्रह करना आसान हो जाता है।[3]

सुख का मूल धर्म है पर धर्म से हीन लोग स्वच्छंदाचारी होकर दुःख पाते हैं

वस्तुतः सुख का मूल कारण संवर-निर्जरारूप धर्म है। आपदाओं, परेशानियों और कष्टों की आँधी में असहाय, कुण्ठित और निरुपाय व्यक्ति के लिए धर्म ही एकमात्र सहायक, पथप्रदर्शक एवं उद्धारक होता है। सुख और शान्ति की परिस्थितियों का जनक भी धर्म है। चाणक्य के शब्दों में—"सुख का मूल धर्म है।"

---

१. (क) विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसोवि धम्मो विसओववन्नो हणाई वेयाल इवाविपन्नो।
(ख) "न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पया॥"
—उत्तराध्ययन २०/४४, ४८
(ग) बंध मोक्खो अज्झत्थेव। —आचारांग श्रु. १ अ. ५ उ. २

२. अखण्ड ज्योति अक्टूबर १९७३ से भावांश ग्रहण पृ. ३

३. "पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा णमोक्खसि।"—आचारांग श्रु. १ अ. ३, उ. ३

आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में–जो प्राणियों को संसार के जन्म-मरणादि दुःखों से उबार कर उत्तम शाश्वत सुख धारण करा देता-पहुँचाता है, वह (रत्नत्रयरूप) धर्म है।

उपनिषद्कार कहते हैं–धर्म समग्र जगत् के स्थायित्व का मूलधार है।

परन्तु वर्तमान में अधिकांश व्यक्ति धर्म की उपेक्षा करके मनमाना आचरण करते हैं, स्वच्छन्दाचारपूर्वक चलते हैं। नशीली चीजों का सेवन, मांसाहार, व्यभिचार, जूआ, चोरी, डकैती, शिकार, आतंक, हत्या, दंगा, तोड़-फोड़ आदि दुर्व्यसनों में आनन्द मानते हैं। कितने ही लोग छल-कपट, धोखा-धड़ी, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, बेईमानी आदि हिंसाजनक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। कई लोग येन-केन-प्रकारेण धनोपार्जन करने या धनसंग्रह करने में आनन्द मानते हैं। परन्तु उनके आन्तरिक जीवन में झाकें तो असलियत का पता लग जाएगा कि वे सुख-शान्ति से कितने दूर हैं?[1]

आस्रवलक्ष्यी लोग प्रायः भोगपरायण होते हैं, उन्हें त्याग की बात नहीं सुहाती; संवर-निर्जरारूप सद्धर्म से सुखशान्ति प्राप्त होने की बात रुचिकर नहीं लगती। जबकि भोगलालसा और भोगों की प्राप्ति में उन्हें अधिक कष्टसहन, मानसिक क्लेश का सामना, आर्त्तरौद्रध्यान, चिन्ता, शोक आदि करना पड़ता है। इतना सब त्याग करने के बाद उन्हें कदाचित् सुख मिल जाए तो भी वह अत्यल्प, पराधीन, वस्तुनिष्ठ और क्षणिक होता है।

जबकि संवर-निर्जरारूप धर्म के मार्ग पर चलने वालों को विवेकपूर्वक थोड़ा-सा त्याग करना होता है, अपने मन को समझाकर, तन-वचन को उस दिशा में अभ्यस्त करके मन से उन पदार्थों से वैराग्य, सुख-सुविधाओं और कामभोगों के प्रति विरक्ति और तन-वचन से तप, संयम द्वारा कष्टों, मुसीबतों, असुविधाओं को समभाव से सहने का अभ्यास करने में जो स्वेच्छा से त्याग करना होता है, वह अत्यल्प है, उस अल्प त्याग से तत्काल स्थायी सुखशान्ति प्राप्त होती है।

गीता में यही कहा है–त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् – अर्थात्–त्याग के पश्चात् शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है।

एक अपरिग्रही अकिंचन त्यागी तपस्वी की महिमा सुनकर एक राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ। राजा के मन पर संन्यासी के त्याग का अमिट असर हुआ। वह सत्संग करने लगा। एक दिन उसने उक्त संन्यासी के त्याग की प्रशंसा करते हुए कहा–"गुरुदेव! आप कितने महान् त्यागी हैं। आपके पास धन, धान्य, मकान, वस्त्र आदि कुछ भी नहीं, आप अकिंचन हैं।"

---

१. (क) सुखस्य मूलं धर्मः। –चाणक्य नीति सूत्र २
(ख) संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमेसुखे। –रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो. २
(ग) अखण्ड ज्योति अक्टूबर १९७७ से भावांश ग्रहण पृ. २

संन्यासी मनोमन्थनपूर्वक यह सब सुनता रहा। जब राजा प्रशंसा करके चुप हो गया तो संन्यासी ने मुस्कराते हुए कहा–"राजन्! तुम मेरे त्याग की इतनी प्रशंसा कर रहे हो, परन्तु वास्तव में देखता हूँ कि तुम्हारे त्याग के सामने मेरा त्याग बहुत ही नगण्य है। तुम ही बड़े त्यागी हो!"

राजा हतप्रभ होकर सोचने लगा–"मैं कैसा त्यागी हूँ? मैं तो इतने बड़े राज्य, वैभव, ऐश्वर्य एवं सुखसाधनों का उपभोग कर रहा हूँ, फिर भी गुरुवर्य कह रहे हैं कि तुम बड़े त्यागी हो। यह अटपटी बात समझ में नहीं आती।" राजा ने जिज्ञासुभाव से पूछा–"गुरुदेव! मैं कहाँ त्यागी हूँ, मैं तो भोगी हूँ। त्यागी तो आप हैं।"

संन्यासी ने रहस्योद्घाटन करते हुए कहा–"राजन्! मैंने जो कुछ छोड़ा है, वह बहुत पाने के लिए अल्प को छोड़ा है। मैं मुक्ति (कर्ममुक्ति) का राज्य प्राप्त करना चाहता हूँ, उसके लिए मैंने बहुत थोड़ा त्याग किया है। अर्थात्–मैंने प्रभूत परमात्मवैभव एवं अनन्त सुखशान्ति पाने के लिए अल्पमूल्यीय सांसारिक वैभव सम्पदा का त्याग किया है; लेकिन तुम तो इस अनन्त सुखशान्तिमयी परमात्म-सम्पदा, जो कि बहुत बड़ी है, उसको छोड़ कर इस अल्पमूल्यीय सांसारिक सुखवैभव में मग्न हो रहे हो। सोचो–तुम्हारा त्याग बड़ा है, या मेरा?"

राजा इस तात्त्विक एवं सात्त्विक अमृतवचन को सुनकर नतमस्तक हो गया।

वास्तव में, संन्यासी और राजा की दृष्टि में अन्तर के कारण ही ऐसा हो रहा था। राजा की दृष्टि में भोग सुख की प्रधानता महत्वपूर्ण थी, जबकि संन्यासी की दृष्टि में त्याग में सुखशान्ति की प्रधानता।

इसी प्रकार आस्रवप्रधान लोगों की दृष्टि में सांसारिक राग-द्वेषवर्धक सुखभोग के साधन रुचिकर एवं महत्वपूर्ण लगते हैं, जबकि संवर-निर्जरारूप धर्म प्रधान लोगों की दृष्टि में तप, त्याग, यम, नियम आदि रुचिकर लगते हैं। यह दृष्टि की ही सम्यक्ता, असम्यक्ता का प्रभाव है।

जैसे पीलिया हो जाने पर आँखें पीली हो जाती हैं और हर पदार्थ पीला नजर आता है, ज्वरग्रस्त हो जाने पर प्रत्येक पदार्थ कड़ुआ लगता है, पागल हो जाने पर आदमी को सर्वत्र अव्यवस्था दिखाई देती है और वह अस्त-व्यस्त ढंग से चलता है, अंटसंट बोलता है, जैसे-तैसे अनुकूल-प्रतिकूल सोचता है, वैसे ही दृष्टि एवं ज्ञान मिथ्या हो जाने पर व्यक्ति को सुखशान्तिदायक संवरनिर्जरारूप धर्म अरुचिकर, कठोर, असुविधाजनक एवं कष्टदायक लगता है।

आत्मा में निहित अनन्तज्ञान एवं अनन्तदर्शन तथा अनन्तसुख को जानने-समझने और दृढ़तापूर्वक अपनाने की दृष्टि प्राप्त हो जाए तो व्यक्ति अध्यात्मसंवर के मार्ग में स्थिर होकर कर्मों के आस्रव से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ■

१८

अध्यात्मसंवर की सिद्धि : आत्मशक्ति सुरक्षा और आत्मयुद्ध से

प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग या अनुपयोग, दोनों ही शक्तिनाश के कारण

किसी व्यक्ति के पास प्रचुर मात्रा में पौष्टिक पदार्थ हों, किन्तु वह उसके उपयोग करने की विधि न जानता हो, अथवा वह लोभवश उसका अत्यधिक उपयोग कर लेता हो, अथवा उस पौष्टिक पदार्थ के सेवन की विधि जानता हुआ भी वह उसका उपयोग बिलकुल न करता हो, उसका परिणाम यह होगा कि उस पौष्टिक पदार्थ से होने वाले लाभ से वह बिलकुल वंचित हो जाएगा। अत्यधिक एवं अविधिपूर्वक सेवन से वह उसे पचा नहीं पाएगा, फलतः उससे शक्ति प्राप्त होने के बदले अजीर्ण, अपच या अन्य रोग उसके शरीर पर आक्रमण करके उसकी रही-सही शक्ति को भी नष्ट कर देंगे।

ठीक यही स्थिति आत्मिक शक्ति के विषय में है। प्रत्येक आत्मा में निश्चयदृष्टि से अनन्त शक्ति है, वह उस शक्ति का अध्यात्म-संवर की विधि से उपयोग करना ही न जाने, अथवा पूर्वजन्मकृत क्रूर कर्मों में शक्ति के दुरुपयोग के कारण उसकी अनन्तशक्ति पर सघन आवरण छा गया हो, जिससे वह उसे प्राप्त ही न कर सके या उपयोग ही न कर सके, अथवा मनुष्यजन्म प्राप्त करने से उसे प्रचुर शक्ति प्राप्त हो तो भी वह उसका उपयोग न करे, अथवा भलीभांति उपयोग करना न जाने, अथवा उपयोग करना जानते हुए भी उसका उपयोग न करे, या हिंसादि क्रूर कर्मों में शक्ति लगाकर उस प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करे तो उसकी वह शक्ति या तो कुण्ठित, क्षीण या नष्ट हो जाएगी, या फिर वह उस अमूल्य शक्ति को पचा न पाने के कारण व्यर्थ ही नष्ट करके भविष्य में उस शक्ति की प्राप्ति से वंचित हो जाएगा।

अनन्तशक्तिघन आत्मा की शक्तियों का दुरुपयोग और सदुपयोग : कब और कैसे होता है?

आत्मा का चौथा निजी गुण है—अनन्तशक्ति (वीर्य)। किन्तु अध्यात्म-संवर-प्रधान दृष्टि वाले मानव जहाँ स्वयं को प्राप्त या उपार्जित शक्तियों का उपयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की साधना में या अहिंसादि पांच व्रतों तथा संयम, यम-नियम के पालन

में, समत्व या शम आदि या क्षमादि दशविध उत्तमधर्मों के आचरण में परीषहों, कषायों एवं विषयविकारों पर विजय प्राप्त करने में लगाते हैं; वहाँ अध्यात्म-संवरप्रधान दृष्टि से रहित भौतिकलक्ष्यी दृष्टि वाले मानव अपनी उन शक्तियों का उपयोग या तो करना ही नहीं जानते, या फिर वे हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहेंगे, अपनी शक्तियों का बिलकुल उपयोग नहीं करेंगे।

कई आसुरी शक्तिप्रधान व्यक्ति हिंसादि कुकृत्यों में जूआ, चोरी, मांसाहार, शिकार (निर्दोष पशुपक्षियों के वध), व्यभिचार, मद्यपान आदि करके अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करते हैं। फलतः ऐसे लोगों को शक्ति का मिलना, न मिलना बराबर है।

कुछ लोग अपनी शक्तियों का उपयोग एकान्ततः लौकिक एवं भौतिक कामनाओं तथा तुच्छ स्वार्थों के वशीभूत होकर हिंसा, असत्याचरण, ठगी, बेईमानी, चोरी, डकैती तथा अत्यन्त भोगविलास, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार, परिग्रहवृद्धि आदि में करते हैं, फलतः वे अशुभ आम्रवों की वृद्धि करते हैं।

अर्जित या प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग मुख्यतया आठ कारणों से करते हैं

आचारांगसूत्र में बताया गया है कि कतिपय व्यक्ति निम्नोक्त आठ कारणों से अपनी अर्जित बहुमूल्य शक्ति का सरासर दुरुपयोग करते हैं–(१) अपने जीवन या जीविका के लिए, (२) अभिनन्दन, यश एवं प्रशंसा के लिए, (३) सम्मान-प्राप्ति के लिए, (४) पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए, (५) सन्तानादि के जन्मोत्सव आदि के निमित्त से, (६) मृत्यु-सम्बन्धी कारणों या प्रसंगों पर, (७) कारागार-बन्धन से या जन्म-मरण के दुःख से पिण्ड छुड़ाने के लिए, और (८) रोग, आतंक, उपद्रव, संकट आदि दुःखों को मिटाने या उनका प्रतीकार करने के लिए।[1]

आत्म शक्ति की आराधना को छोड़कर शरीरादि शक्तियों की आराधना कितनी निकृष्ट?

इसका विश्लेषण करते हुए आचारांग सूत्र में इसकी व्याख्या की गई है–

(१) कई लोग शारीरिक शक्ति (कायबल) बढ़ाने के लिए मांस, मछली, अण्डों आदि का तथा मद्य आदि नशीली चीजों का सेवन करते हैं।

(२) कई लोग स्वयं अजेय होने के लिए स्वजन-सम्बन्धियों को शक्तिशाली बनाते हैं और स्वजनवर्ग के बल (ज्ञातिबल) को अपना बल मानते हैं।

(३) कई धनप्राप्ति, स्वार्थसिद्धि, पद, प्रतिष्ठा, यश-कीर्ति, प्रशंसा एवं सम्मान की प्राप्ति के लिए मित्रबल बढ़ाते हैं।

---

१. "इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए दुक्ख-पडिघात हेतु।"
–आचारांग श्रु. १ अ. १ उ. १ सू. ७

(४) कतिपय अन्धश्रद्धालु व्यक्ति परलोक में कामभोगों या कामसुखों की प्राप्ति के लिए इहलोक में उक्त लौकिक कामना के वशीभूत होकर दान, शील, तप या उपकार आदि करके प्रेत्यबल बढ़ाते हैं।

(५) कुछ लोग तथाकथित देवी-देवों को प्रसन्न करके उनकी शक्ति (देवबल) पाकर अपनी तुच्छ लौकिक कामना सिद्ध करने हेतु पशुबलि, हिंसाबहुल यज्ञ, सुरा-मांस आदि का चढ़ावा, तथा हिंसाजनित पदार्थों का पिण्डदान करते हैं।

(६) कई लोग शासनकर्त्ताओं, शासनाध्यक्षों या राजा महाराजाओं से सम्मान पाने तथा उनसे किसी तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि के लिए, अथवा उनका आश्रय पाने, अथवा उनके पृष्ठबल से किसी को दबाने-सताने हेतु उन्हें कूटनीति की चालें बताते हैं, भ्रष्टाचार की रीति सिखाते हैं, अथवा शत्रु राज्य को या विरोधी पक्ष को परास्त करने में सहायक बनकर राजबल बढ़ाते हैं।

(७) कई लोग धन प्राप्ति अथवा चोरी, लूटपाट, तस्करी आदि का माल लेने हेतु अथवा अपना आतंक, रौब व दबदबा बढ़ाने हेतु लुटेरों, चोरों, तस्करों एवं दस्युओं आदि से सांठगांठ करके अपना चोरबल बढ़ाते हैं।

(८) कई लोग अतिथियों–मेहमानों को अपने पक्ष में करने हेतु उनकी अपेय-अभक्ष्य पदार्थों से तथा अन्य अनाचार युक्त सुविधाएं देकर अतिथिबल बढ़ाते हैं।

(९) कई लोग कृपणों (अनाथों, कंजूसों, अपंगों या याचकों) का बल बढ़ाने हेतु उन्हें मांसाहार-मद्य आदि भोज्य पेय पदार्थ खिला-पिलाकर अपने चहेतों, प्रशंसकों या मतदान समर्थकों की पलटन खड़ी कर लेते हैं, और उनसे सम्मान, प्रतिष्ठा एवं प्रशंसादि पाने के लिए कुछ धन या साधन भी दे देते हैं।

(१०) कई लोग शाक्यों, श्रमणों आदि को दोषयुक्त एवं औद्देशिक आहारपानी तथा आचार-शिथिलता-पोषक कई सुख-सुविधाएँ देकर अपने पक्ष में कर लेते हैं, और उनके मुख से अपनी प्रशस्तिगान, प्रशंसावाक्य सुनकर अपना श्रमणबल बढ़ाते हैं।

इन और ऐसे ही विविध अध्यात्म संवर के विरुद्ध, अथवा आर्य-आचार या अहिंसा प्रधान आचरण के विरुद्ध कार्यों से दण्ड-समारम्भ (हिंसाजन्य-प्रयोग) करते हैं। इनमें से अधिकांश लोग जानबूझकर या भय से ये हिंसाजन्य कार्य करते हैं, कई लोग अपने द्वारा किये हुए विविध पापों पर पर्दा डालने अथवा पापों से छुटकारा पाने की मान्यता से ऐसा करते हैं। कई लोग किसी सांसारिक या भौतिक अपेक्षा से, स्वार्थ से या लौकिक कामना (आशंका) से ऐसा अनिष्ट करते हैं।"[1]

---

१. "से आयबले, से णाइबले, से मित्तबले, से पेच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोर-बले, से अतिहिबले, से किवणबले, से समणबले। इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंड-समादाणं, संपेहाए भया कज्जति, पावमोक्खोत्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए॥"
—आचारांग श्रु. १ अ. २, उ. २, सू. ७३, वृत्ति, तथा व्याख्या, (आ. प्र. स. ब्यावर)

आत्मबल की वृद्धि के बजाय शरीरादि बल बढ़ाते हैं

आचारांगसूत्र के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन सब बलों का उपयोग अधिकांश आत्मबल (आध्यात्मिक शक्ति) हीन मानव दूसरों को मारने, सताने, रौब जमाने, अहंकार को पुष्ट करने में लगाते हैं। इस प्रकार वे अपनी शक्ति का उपयोग संवर की अपेक्षा आस्रवों को बढ़ाने में ही करते हैं।

सांसारिक लोग मानते हैं कि शरीरबल से श्रम करके कमाने, खाने और पचाने का लाभ मिलता है। बुद्धिबल से अधिक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों को संभालने तथा निर्णय करने का कार्य हो सकता है। धनबल के सहारे मानव अधिक ब्याज कमाने से लेकर व्यवसाय चलाने तक की सुविधा पा लेता है। संघबल या समूह बल के आधार पर साधनहीन लोग मिलजुलकर काम कर सकते हैं और दूसरों को प्रभावित करके अपना काम बना सकते हैं। इसी प्रकार साधनबल के आधार पर अकुशल व्यक्ति भी बुद्धिमानों और अनुभवियों से भी बढ़कर सफलता प्राप्त करते देखे जाते हैं। ये सारे चमत्कार भौतिक शक्ति के हैं। सांसारिक जीवन में भौतिक शक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में उसके लिए प्रयत्न भी किया जाता है।

भौतिक बलों का मनमाना उपयोग : आत्मिक सम्पदा नष्ट करने में

आश्चर्य यह है कि लोग इन भौतिक शक्तियों को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य समझते हैं। इन शक्तियों को पाकर इनका मनमाना उपयोग करते हैं। किन्तु इन सब बलों के साथ आत्मबल न हो तो समय पर अन्तःप्रेरणा की प्रखरता में कमी होने से उपलब्ध साधनों या सहायकबलों का समुचित सदुपयोग नहीं हो सकेगा।

आत्मबल होने से इन दूसरे बलों की आवश्यकता नहीं रहती, जो व्यक्ति को अन्धकारपूर्ण पापगर्त में धकेल देते हैं। आन्तरिक दुर्बलता, अन्यमनस्कता और निष्क्रियता बनकर छाई रहती है, ऐसा व्यक्ति अन्य भौतिक बलों को पाकर भी कुछ नहीं कर पाता। आलस्य और प्रमाद में ही उसकी जीवन-शक्ति नष्ट हो जाती है। बहुमूल्य आत्म-सम्पदा भी गल जाती है।

अध्यात्म संवर के माध्यम से आत्मशक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। मनुष्य विषय-वासनाओं में, कामक्रीड़ाओं में, तथा मोह और अहंकार की वृद्धि करने वाले कार्यों में अपने तन-मन के बल को नष्ट कर डालता है, इन्द्रियबल को क्षीण कर डालता है, शरीर अनेक रोगों का घर बन जाता है। यदि वह सावधान और जाग्रत होकर अपनी शक्तियों को संजोए रखे, खोए नहीं, व्यर्थ के आस्रववर्द्धक कार्यकलापों में नष्ट न करे तो उसकी शक्तियाँ संचित रह सकती हैं।

उस आत्मशक्ति का उपयोग वह समिति, गुप्ति, परीषह-जय, कषायविजय, चारित्रपालन एवं रत्नत्रयसाधना में लगाकर अध्यात्म संवर को उपलब्ध कर सकता है।

उसके सहारे वह आत्मा की अनन्त चतुष्टयसम्पदा को प्राप्त करके आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

इसके विपरीत यदि आत्मा की अपारशक्तियों को निरर्थक सांसारिक कार्यों में खर्च करता रहेगा तो आत्मबल का ह्रास हो जाएगा। फलतः ऐसा व्यक्ति संशयी, प्रमादी, संकोची और भयभीत बना रहेगा। उसके शरीर में तत्परता और मन में जागरूकता न होने से वह आत्मा के इस निजीगुण-आत्मशक्ति (वीर्य) से वंचित हो जाएगा।[1]

आत्मा की रक्षा, क्यों और कैसे हो?

इसलिए 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा गया है–"आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए।" वहाँ व्याख्याकार ने शंका प्रस्तुत करके समाधान किया है कि आत्मा तो कभी मरती नहीं है, फिर उसकी रक्षा का विधान क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि आत्मा के पूर्वोक्त पांच लक्षणों के अनुसार ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा, वीर्यात्मा तथा उपयोगात्मा इन पांचों की क्रोध, मान, माया लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि से रक्षा करनी चाहिए।

आत्मरक्षा कैसे करनी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर मूलगाथा में दिया गया–इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति को रोककर तथा इन्द्रियों को विषय-विकारों से निवृत्त करके आत्मा की परिचर्या में सुसमाहित (एकाग्र) करके।

अध्यात्म संवर का फलितार्थ भी आत्मा की सतत रक्षा करना है। जो आत्मा अध्यात्म संवर के माध्यम से रक्षित नहीं होतीं, वे एकेन्द्रिय आदि नानाविध जातियों (जन्म-मरणरूप संसार) के पथ की पथिक होती हैं और पूर्वकृत कर्मवश वहाँ अनेकानेक असह्य दुःख भोगती हैं। आत्मा की रक्षा करने का अर्थ है–आत्मा के निजीगुणों की रक्षा करना।[2]

शक्तियों का दुरुपयोग रोकने से आत्मिक शक्ति संचित-विकसित होती है

'नियमसार' में बताया गया है कि "(आत्म) ज्ञानी ऐसा चिन्तन करे कि मैं (आत्मा) केवल शक्तिस्वरूप हूँ।"[3] यों देखा जाए तो मनुष्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक सभी प्रकार की शक्तियों का भण्डार है। इसी के बलबूते पर उसने

---

१. अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. २

२. "अप्पा हु खलु सततं रक्खिअव्वो।"
सव्विंदिएहिं सुसमाइएहिं॥
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ।
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥
–दशवै. चू. २ गा. १६ तथा इसकी व्याख्या (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. ४२०

३. "केवल-सत्ति-सहावो सोहं, इदि चिंतए णाणी।" –नियमसार ९६

भौतिक ज्ञान-विज्ञान में प्रगति की है, दूसरी ओर ऐसे भी महामानव हुए हैं, जिन्होंने अपनी उक्त शक्तियाँ आस्रवकारी सावद्यकर्मों में न लगाकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप आध्यात्मिक मार्ग में लगाई हैं और समस्त कर्मों का, कषायों एवं रागद्वेष-मोह का निरोध एवं क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं। उन्होंने अपने कल्याण के साथ-साथ अनेकों जिज्ञासु एवं मुमुक्षु जनों का कल्याण किया है। उन लोगों ने अपनी शक्तियों का निरर्थक एवं अहितकर कार्यों में अपव्यय न करके उनको संजोया और अध्यात्म संवर के मार्ग से अनन्त आत्मशक्ति उपलब्ध की।

वैसे तो ये शक्तियाँ सभी में हैं। परन्तु अधिकांश मानव जाने-अनजाने उन शक्तियों का दुरुपयोग या अपव्यय करते रहते हैं। आचारांग सूत्र में बताया है कि आत्मा में निहित अनन्तशक्ति से अनभिज्ञ अज्ञानी मनुष्य किस प्रकार और किस-किस कारण से जीवों की हिंसा करके अपनी शक्ति का दुरुपयोग और अपव्यय करते हैं, और घोर कर्मों का आस्रव और बन्ध करके अपने लिए स्वयं दुर्गति और दुर्योनि का पथ प्रशस्त करते हैं तथा जन्म-मरणादि दुःख भोगते हैं।

आचारांग के अनुसार–वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग पहले बताये हुए मुख्य ८ कारणों से करते हैं। सम्भूति मुनि के जीव (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) ने तपस्या से अर्जित संचित की हुई आत्मशक्ति को निदान (कामभोगों का संकल्प) करके व्यर्थ ही खो दी। वह खोई हुई शक्ति उसे पुनः प्राप्त न हो सकी। इसके विपरीत चित्तमुनि ने तप-संयम से प्राप्त शक्ति से समस्त कर्मों को क्षय कर डाला और सिद्ध बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन गए।[1]

कई व्यक्ति निरर्थक ही अपनी शारीरिक, मानसिक शक्तियों को नष्ट करते रहते हैं। वे जूआ, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, हत्या, दंगा, आतंक, तोड़फोड़, आगजनी, शिकार, आदि दुष्कृत्यों में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। वे चाहते तो अपनी शक्तियों को इन दुष्कृत्यों में न खोकर सत्कार्यों में अथवा आत्मविकास के प्रयोजनों में, अथवा अध्यात्म संवर की साधना के माध्यम से अहिंसा-सत्यादि के आचरण में लगा सकते थे।

कई लोग अपनी मानसिक और बौद्धिक शक्तियों का ह्रास निरर्थक कल्पनाओं, वहमों तथा आशंकाओं में आर्तध्यान और रौद्रध्यान में लगाकर करते रहते हैं। यह अपने हाथों से अपनी झौंपड़ी जलाना है। व्यर्थ की चिन्ता, कल्पना, ईर्ष्या, द्वेषभाव, घृणा, वैमनस्य, ठगी, चोरी, डकैती, बलात्कार आदि का प्लान मन ही मन बनाने वाले अपनी ही बनाई हुई चिता में स्वयं झुलसकर अपनी मानसिक और बौद्धिक शक्ति का दुर्व्यय करते रहते हैं।

---

१. देखें–उत्तराध्ययन सूत्र का १३वाँ चित्त-सम्भूतीय अध्ययन

कई व्यक्ति आवारा भटकते हैं। किसी काम में उनका मन नहीं लगता। फलतः वे ताश, शतरंज या ऐसे ही, किसी व्यर्थ की पंचायत में पड़ जाते हैं। कई लोगों की आदत बिना बुलाए किसी के यहाँ टपकने की होती है। कई व्यक्ति बैठे-बैठे टांगें हिलाया करते हैं, कई नाखून से जमीन कुरेदते रहते हैं। कई कँधे उचकाते रहते हैं। कई उंगलियाँ मरोड़ते हैं, कई सिर झटकते हैं, कोई सीटी बजाते हैं। या कई फालतू गपशप में, कई परनिन्दा, चुगली में अपना समय खोते हैं।

इस तरह शारीरिक शक्तियों को खर्च करना आजकल आम बात हो गई है। यों देखने में यह बात साधारण-सी है परन्तु शक्ति का थोड़ा-थोड़ा अपव्यय भी जीवनभर में जाकर कितना बड़ा हो जाता है। यह शक्ति ह्रास का क्रिया कलाप बूंद-बूंद करके घड़ा खाली करने जैसा है।[1]

आध्यात्मिक संवर का अभ्यास : सभी शक्तियों का क्षरण रोकने का कारण

आध्यात्मिक संवर का अभ्यास करने से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक शक्तियों का क्षरण रोका जा सकता है। संवर से इन शक्तियों का अपव्यय रोका जाता है। मानसिक उद्वेगों से बचा जाता है। इनकी प्रवृत्तियों को अधिकाधिक विश्राम देकर खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। रात्रि में तो शयन करके आन्तरिक शक्ति की बैटरी को चार्ज किया जा सकता है; दिन में भी ध्यान, मौन, चर्या-विवेक, यत्नाचार आदि के द्वारा अपने तन-मन को बुद्धि को विश्राम देकर उनकी शक्तियों को पुनः अर्जित और संचित कर सकते हैं।

आत्मशक्तियों का संचय क्यों और किसलिए?

आत्मशक्तियों को संचित, अर्जित और सुरक्षित और जागृत रखकर क्या करना है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि हमें अपने आप से प्रश्न करना चाहिए कि हमें आत्मा को किस ओर ले जाना है? ऊपर की ओर या नीचे की ओर? लोक की दृष्टि से ऊपर देवलोक है, और लोक के अन्त में सर्वोपरि शाश्वत स्थान, जो शिव, अचल, निरामय, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरागमन स्थल सिद्धालय है-मोक्षस्थान है, और नीचे नरकलोक है।

अशुभ कर्मों के कारण नरक-तिर्यञ्चलोक मिलता है, शुभकर्मों के कारण देवलोक-मनुष्यलोक। और शुद्ध अबन्धक कर्मों के कारण और अन्त में अष्टविध कर्मों से सर्वथा मुक्त होने पर मोक्षलोक मिलता है। जहाँ दुःखों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है।

आत्मार्थी और मुमुक्षु साधक तो ऊर्ध्वगमन ही चाहेगा। ऊर्ध्वगमन आत्मशक्तियों को अध्यात्मसंवर के माध्यम से अर्जित, सुरक्षित, संचित करने से ही हो सकता है।

---

१. अखण्डज्योति अप्रैल १९७९ से भावांश ग्रहण, पृ. २०

तदनन्तर संचित आत्म शक्ति से अध्यात्म संवर की साधना करके या तो सर्वथा कर्ममुक्त हुआ जा सकता है या आंशिक (देश) संवर सरागसंयम के द्वारा देवलोक भी प्राप्त हो सकता है।[1]

अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में आत्मशक्ति संचय के चार मूलाधार

आत्मशक्ति का संचय करने के लिए अध्यात्मसंवर की साधना आवश्यक है। सामायिक (समभाव) की पौषध की तथा देशावकाशिक व्रत की साधना अध्यात्मसंवर की ही साधना है। ध्यान, मौन, कायोत्सर्ग, बाह्यआभ्यन्तर तप आदि भी इसी साधना के अंग हैं। अध्यात्मसंवर की साधना के सन्दर्भ में आत्मशक्ति-संचय के चार मुख्य आधार भी मनीषियों ने बताए हैं–(१) दृढ़संकल्प (नियम-व्रत-बद्धता), (२) प्रचण्ड मनोबल, (३) दृढ़विश्वास और (४) सत्श्रद्धा।

आत्मशक्ति संचय का प्रथम मूलाधार : दृढ़ संकल्प

दृढ़संकल्प का अर्थ है–व्रत या नियम-मर्यादाओं में आबद्ध होना, प्रतिज्ञाबद्ध होना। जो निश्चय कर लिया, उसे क्रियान्वित करने की साहसिकता अक्षुण्ण रखना।

घटिया स्तर के लोगों में चंचलता और अस्थिरता बनी रहती है। वे बन्दर की तरह देर तक किसी सत्कार्य में, अहिंसादि संवर के पथ में टिके नहीं रहते। एक को छोड़कर दूसरे कार्य में लग जाते हैं। कुविचारों और कदाचारों का आकर्षण सर्वविदित है। निम्नकोटि के मार्ग में मनुष्य का मन देर तक टिका रहता है, क्योंकि उससे शीघ्र मनोरथ पूर्ण होने की तृष्णा जुड़ी रहती है। उत्कृष्टता के मार्ग पर–अध्यात्मसंवर के मार्ग पर चलने पर अदृश्य तथा आन्तरिक सफलता मिलने की बात स्थूलबुद्धि को सहसा विशेष आकर्षक नहीं लगती। तत्काल फल मिलने की आशा धूमिल होते ही उसका धैर्य जवाब दे जाता है और झटपट वह उस श्रमसाध्य और समयसाध्य अध्यात्मसंवर के मार्ग को छोड़ बैठता है।

माली को फलेफूले बगीचे की, विद्यार्थी को स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने की और व्यवसायी को धनवान् बनने की प्रतीक्षा धैर्यपूर्वक करनी पड़ती है। अपनी दीर्घकालीन साधना में अटूट धैर्य और दृढ़निश्चय के साथ लगा रहना पड़ता है। इसी प्रकार अध्यात्म संवर के पथ पर चलते हुए शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता है, इस निश्चय के साथ साधक को दृढ़संकल्प पूर्वक आत्मशक्ति संचय में जुटे रहना चाहिए। यही आत्मशक्ति संचय का प्रथम मूलाधार है।

आत्मशक्ति संचय का द्वितीय मूलाधार : प्रचण्ड मनोबल

द्वितीय मूलाधार है–प्रचण्ड मनोबल। अध्यात्म संवर के मार्ग में संचित कुसंस्कार

---

१. चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांश ग्रहण, पृ. १६

एवं कषायादि विकार प्रबल विघ्नकारक होते हैं। उनसे जूझने के लिए प्रचण्ड मनोबल चाहिए। अन्यथा संचित कुसंस्कारों, पूर्वकृत कर्मों, अथवा नये आते हुए कर्मों तथा कर्मों के आगमन के कषाय-प्रमादादि कारणों से जूझकर अहिंसा संयम एवं तप में निखालिस रूप से प्रवृत्त होना अतीव कठिन होता है।

इसके लिए चंचलता को ठुकराने वाला, बहकाने वाले आकर्षण एवं प्रलोभनों तथा संवर पथ से विचलित करने वाले दबावों एवं दुष्प्रवृत्तियों से जूझने वाला प्रचण्ड मनोबल भी अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में शक्तिसंचय का द्वितीय मूलाधार अत्यावश्यक है। बाल-चंचलता, कौतुकप्रियता, आदि को हटाकर दृढ़ निश्चयी प्रौढ़ता उत्पन्न करने में प्रचण्ड मनोबल की ही प्रधान भूमिका रहती है।

मनोबल के लिए कठोर आत्मानुशासन की आवश्यकता

अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था को दूर करने हेतु इसी कठोरता का आश्रय लेकर तप, तितिक्षा, संयम, नियम, मौन, क्षमा, मार्दव, ब्रह्मचर्य आदि अनेकों धर्मांगों को अध्यात्म संवर की साधना में स्थान देना पड़ता है। साधनाविधि में कहीं ढील-पोल नहीं चल सकती। निर्धारित धर्मक्रिया तथा आचार का पालन भी उत्साहपूर्वक पूर्ण करना होता है। फौजी अनुशासन के समान पूर्ण अनुशासन में अपने आपको रखना होता है। अध्यात्म संवर भी एक तरह से आत्मानुशासन है। साधना के दौरान लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, भय-प्रलोभन आदि अनेकों द्वन्द्व मनोबलहीन संवर साधक के मन को शीघ्र प्रभावित करते हैं, और साधक कठोर संवर पथ को छोड़कर आश्रवों के सुख-सुविधाओं वाले मार्ग को पकड़ लेता है।

अध्यात्मसंवर के साधक की कठोर अग्नि परीक्षा कब और कैसे?

उसकी आत्मशक्ति की कठोर अग्निपरीक्षा तब होती है, जब इन्द्रियाँ अपने विषयों में उच्छृंखल रूप से प्रवृत्त होने को मचलती हैं। अगर उन्हें खुली छूट दे दी जाए, उन पर अंकुश न लगाया जाए तो वासनाओं की उच्छृंखलता सारी साधना को चौपट कर देगी।

जीभ का चटोरापन पेट को बिगाड़ कर नाना रोग पैदा कर देता है, यह किसी से छिपा नहीं है। जननेन्द्रिय का असंयम मनुष्य को निस्तेज और सत्त्वहीन बना देता है, इसके हजारों उदाहरण संसार के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। तृष्णा के वशीभूत व्यक्ति अन्याय, अनीति, अत्याचार, शोषण, लूट, ठगी, बेईमानी, भ्रष्टाचार आदि किस-किस पाप में लगाकर अपना पतन कर बैठते हैं, यह भी सर्वविदित है। अहंता एवं जाति आदि के मद का उन्माद किस प्रकार दूसरे को बदनाम करने, नीचे गिराने तथा मिथ्या प्रदर्शन के आडम्बर रचकर ईर्ष्या वैर और द्वेष के बीज बो देता है, उसका ताण्डवनृत्य कहीं भी

देखा जा सकता है। व्यसनों में, विलासिता में, ठाठबाट में, अनाचार एवं मिथ्याप्रदर्शन में श्रम, समय और धन का कितना अपव्यय होता है यह किसी से छिपा नहीं है।[1] अध्यात्म संवरनिष्ठ साधक प्रचण्ड मनोबल के सहारे ही इन अवांछनीय दुष्कर्मों की बाढ़ को रोक सकता है। और इन असत्कर्मों के निरोध से संचित आत्मशक्ति को आत्मविकास के प्रयोजनों में लगा सकता है।

कषायों तथा विकारों के आस्रव छिद्रों को प्रचण्ड मनोबल से ही रोका जा सकता है

जिस प्रकार फूटे बर्तन में दूध दुहने से दुधारू गाय पालने का सौभाग्य एवं श्रम निरर्थक चला जाता है, उसी प्रकार जिस तन-मन-वचन के योगों में कषायों एवं कल्मषों के अगणित छिद्र हो रहे हों, तब विविध उपायों से उपार्जित अधिक सम्पत्ति और उपलब्धियों का लाभ क्या होगा? इसलिए इस निरर्थक अपव्यय को रोकने के लिए आत्मशक्ति का मूलाधार प्रचण्ड मनोबल आवश्यक है।

तन-मन-वचन एवं मस्तिष्क की तथा धन की क्षमताएँ भले ही किसी के पास स्वल्पमात्रा में हो, पर यदि वह मनोबल के सहारे इन्हें अपव्यय से बचाकर सदुपयोग करने और आत्म-शक्ति का संचय करने में दक्ष हो गया है तो उसका प्रतिफल बलवानों, धनवानों और विद्वानों की सम्मिलित शक्ति से भी अधिक श्रेयस्कर हो सकता है। इसे अध्यात्म संवर का ही चमत्कार कहा जा सकता है। बाह्याभ्यन्तर तप और तितिक्षा (परीषहजय) की अनेक साधनाएँ अध्यात्मसंवर के ही विविध रूप हैं।

आत्मशक्ति संचय का तृतीय मूलाधार : विश्वास

आत्मशक्तिसंचय का तृतीय मूलाधार है–विश्वास। इससे दृढ़निश्चय की मनःस्थिति बनती है और शंका, वहम, सन्देह, चंचलता और अस्थिरता के बादल फटने लगते हैं। विश्वास से अनेकाग्रता, व्यग्रता, उद्विग्नता और आर्त्त-रौद्रध्यान की मनोवृत्ति समाप्त होती है। दृढ़विश्वास उस अनिश्चितता का अन्त करता है, जो अध्यात्मसंवर के मार्ग में बार-बार रूप बदल कर आती है। दृढ़विश्वास से व्यक्ति में पूरे मनोयोग से अध्यात्म संवर की तत्परता और तीव्रता उत्पन्न होती है।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विभिन्न मत-मतान्तर होते हैं, सभी अपने-अपने प्रबल तर्क-प्रतितर्क प्रस्तुत करते हैं। सामान्य व्यक्ति उस समय उनमें से किसी एक मान्यता को चुनने और अपनाने में असमर्थ हो जाता है। संदग्धि मनःस्थिति में एक को अपनाने पर आगे चलकर मन में ही विक्षोभ, पश्चात्ताप या संताप उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अध्यात्म-संवर के मार्ग पर दृढ़विश्वास हो तो किसी श्रेयस्कर मान्यता को स्वीकृति देने एवं उसकी क्रियान्विति से लाभ उठाने की क्षमता पैदा हो जाती है।

---

१. अखण्ड ज्योति फरवरी १९७७ से, पृ. ४ से ७ तक

विश्वास के क्षेत्र में आजकल सम्प्रदाय, धर्म, जाति, कुल-परम्परा आदि के नाम पर कई अन्धविश्वास, भ्रम, मिथ्या मान्यताएँ और अन्ध परम्पराएँ घुस जाती हैं, सामान्य लोगों के मन-मस्तिष्क में ये बुरी तरह छाई रहती हैं और दुराग्रह के रूप में पत्थर की लकीर बन जाती हैं। फिर वह विचिकित्सा, शंका या सन्देह का शिकार हो जाता है। अध्यात्मसंवर के साधक की आत्मशक्ति को ये बुरी तरह बर्बाद कर देती है।

इस विषय में भगवान् महावीर ने कहा–विचिकित्सा (फल प्राप्ति में सन्देह या संशय) से युक्त आत्मा से व्यक्ति आत्म समाधि प्राप्त नहीं कर सकता। समाधि प्राप्त हुए बिना अध्यात्मसंवर सिद्ध नहीं हो सकता। विवेकयुक्त विश्वास ही निश्चय के तट पर साधक को पहुँचा सकता है। विश्वास की शक्ति ही अध्यात्म संवर साधक की जीवन नैया को संसार सागर से पार कर सकती है।[1]

आत्मशक्ति-संचय का चतुर्थ मूलाधार : सत्-श्रद्धा

आध्यात्मिक क्षेत्र की सर्वोपरि शक्ति सुश्रद्धा है। इसको जो साधक जितनी मात्रा में परिष्कृत, विकसित, अर्जित और संचित करेगा, वह उतनी ही मात्रा में अध्यात्म-संवर साधना में सफलता को सामने करबद्ध खड़ी देखेगा। श्रद्धावान् को ही आत्मज्ञान मिलता है, यह गीतावाक्य मननीय है। गीता में यह भी कहा है कि "यह पुरुष (आत्मा या परमात्मा) श्रद्धातत्त्व से ओत प्रोत है। जो जिस स्तर की श्रद्धा अपनाए हुए है, वह ठीक उसी प्रकार का हो जाता है।"

अध्यात्म संवर के माध्यम से आत्मिक सफलता के शिखर पर पहुँचाने में सुश्रद्धा एक प्रकार से प्रबल और समर्थ ब्रह्मास्त्र है।

सुश्रद्धा का तात्पर्यार्थ है–देवाधिदेव (अर्हत् और सिद्ध) वीतराग परमात्मा, सद्गुरु, सद्धर्म, एवं सुशास्त्रों अथवा जीवादि नौ तत्वों के प्रति रुचि, जिज्ञासा, उमंग एवं उत्साहपूर्वक अचल सद्भाव, ऐसे उत्कृष्ट तत्त्वों के प्रति अटल समर्पणभाव तथा गहन आत्मीय भावना एवं उच्च आदर्शों, सिद्धान्तों तथा प्रभु के आदेशों-निर्देशों के प्रति भावभरी निष्ठा का सद्भाव, जिसके कारण उन्हें पाने के लिए सब कुछ न्योछावर कर देने या उत्सर्ग (व्युत्सर्ग) कर देने में कोई भी कठिनाई, विचलता या उद्विग्नता महसूस न हो।

आचारांग सूत्र में इसी दृष्टि से अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में बताया गया है कि साधक उन्हीं श्रद्धेय त्रिपुटी (देव-गुरु-धर्म) में ही दृष्टि रखे, उन्हीं द्वारा प्ररूपित सर्वकर्मक्षय या कषायमुक्ति में मुक्ति माने, उन्हीं को आगे रखकर विचरण करे, उन्हीं की

१. (क) अखण्ड ज्योति, फरवरी १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ८
(ख) वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लहइ समाधिं।

स्मृति (संज्ञान) सभी कार्यों में रखे, उन्हीं के सान्निध्य में तल्लीन होकर रहे। यतनापूर्वक विहरण करे।

इस सम्बन्ध में दीपक और पतंगे का, चन्द्र और चकोर का, पपीहे और स्वाति-बिन्दु का उदाहरण यथार्थरूप से अवतरित होता है। प्यार और स्नेह तो बराबर वालों और छोटों से भी किया जा सकता है, उमंग तो दुष्कृत्यों के लिए भी उठती है। उत्सुकता तो दुर्व्यसनों और विलासिता के लिए भी उठती है। इन संवेदनाओं तथा अन्धश्रद्धा अथवा विकृत श्रद्धा से सुश्रद्धा की तुलना नहीं हो सकती।

अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में वही श्रद्धा ग्राह्य या उपादेय हो सकती है, जिससे उच्च आदर्शों और व्यक्तित्वों के प्रति वफादारी और निष्ठा केन्द्रित हो। परमात्मा पर, गुरु (मार्गदर्शक) पर, सद्धर्म पर, सुशास्त्रों पर, उपासना या साधना पर, ज्ञानदर्शन-चारित्र-तपरूप मोक्ष (अन्तिम लक्ष्य) पर, मोक्षमार्ग (कर्म-मुक्ति के पथ) पर जितनी गहन श्रद्धा होगी, उसी अनुपात में आत्मिक शक्ति बढ़ती है, और उस संचित शक्ति से अध्यात्मसंवर का उद्देश्य पूरा होगा। आत्मिक उपलब्धि, प्रगति, कर्ममुक्ति एवं कर्मास्रव-निरोध की समस्त सम्भावनाएँ इसी सुश्रद्धा पर निर्भर हैं।

ट्रांजिस्टर में जिस प्रकार क्रिस्टल मैग्नेट की शक्ति काम करती है, उसी प्रकार व्यक्तित्व के निर्माण, निर्धारण एवं परिवर्तन में एकमात्र श्रद्धा की शक्ति काम करती है। यदि वह अशुभास्रवों के आसुरी प्रयोजनों को अपना ले तो सर्वनाशी अधःपतन निश्चित है, किन्तु यदि उसे संवर मार्ग की उत्कृष्टताओं के साथ जोड़ दिया जाए तो उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रगति की दिशा में द्रुतगति से बढ़ा जा सकता है।

आत्मशक्ति के सुरक्षण, संचय एवं विकास के लिए पूर्वोक्त चारों साधनों का अपनाना आवश्यक है। इन चारों साधनों से आत्मशक्ति की सुरक्षा होने पर व्यक्ति आस्रवों का निरोध आसानी से कर सकता है, ऐसा होने पर अध्यात्मसंवर स्वतः सिद्ध हो जाता है।[1]

अध्यात्म संवर की साधना की सिद्धि के लिए आत्मयुद्ध अनिवार्य

उपर्युक्त चारों साधनों से शक्ति का संरक्षण, संचय और विकास होने पर भी पूर्वकृत कर्मों के प्रबल संस्कारवश आस्रवों से–अर्थात्–कर्मास्रवों के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, माया, मत्सर, ईर्ष्या, आसक्ति, राग-द्वेष आदि कारणों से युद्ध करना अनिवार्य होता है। ये आत्मा के निजी गुणों (ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति) के साथ आत्मा के स्वभाव जैसे बनकर घुस जाते हैं। अध्यात्म संवर के साधक को इन्हें खदेड़ना, परास्त

१. (क) "तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिसेवणो जयं विहारी ..... ।"
–आचारांग १/५/४/ सू. १६२
(ख) अखण्ड ज्योति, फरवरी १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ९

करना और युद्ध करके विजयी बनना अनिवार्य होता है। अन्यथा, ये अध्यात्म संवर की साधना को सफल नहीं होने देंगे।

बाह्ययुद्ध : अनर्थकर एवं अनार्ययुद्ध है

आमतौर पर जो युद्ध लड़ते है, वे क्रोध, रोष, आवेश, अहंकार आदि से प्रेरित होकर लड़ते हैं। उसमें व्यक्ति दूसरों को परास्त करने के लिए दूसरों की भूमि, धन-सम्पत्ति, या स्त्री अपने कब्जे में करने के लिए लड़ता है। उसमें धन और जन का संहार होता है, शक्ति, समय और संस्कृति का नाश होता है। युद्ध के बाद पक्ष-विपक्ष के लोगों में शत्रुता, वैर विरोध, वैमनस्य बढ़ जाता है, कषायों की बाढ़ आ जाती है।

ऐसा युद्ध चाहे महाभारत का हो, रथ-मूसल संग्राम हो, महाशिला कण्टक हो, या विश्वयुद्ध हो, बहुत ही खतरनाक होता है। उसमें शक्तियों का ह्रास तो होता ही है। विद्याओं, कलाओं, संस्कारों, और सुखशान्ति का लोप हो जाता है। युद्ध के बाद मँहगाई के कारण लोगों का जीवन निर्वाह दूभर हो जाता है।

इसलिए इस बाह्य-युद्ध में संवर की अपेक्षा आस्रवों की ही वृद्धि होती है, पाप की ही वृद्धि होती है,पुण्य की नहीं। इसलिए बाह्य युद्ध में जीत भी हार है।

आचारांगसूत्र की वृत्ति में इसे अनार्य युद्ध कहा है, इसके विपरीत परीषहादि शत्रुओं के साथ युद्ध को आर्ययुद्ध कहा, जो दुर्लभ है।

भगवान् महावीर ने भी बाह्ययुद्ध को छोड़ कर आत्मयुद्ध की प्रेरणा दी

भगवान् महावीर भी क्षत्रिय थे, उन्होंने भी अध्यात्म संवर के साधकों को युद्ध के लिए प्रेरित किया है। परन्तु उन्होंने बाह्ययुद्ध की ओर संकेत नहीं किया है।

युद्ध दो प्रकार के होते हैं–बाह्ययुद्ध और आत्मयुद्ध। बाह्ययुद्ध में दूसरों से लड़ा जाता है, मगर आत्मयुद्ध में लड़ने वाली अपनी आत्मा ही होती है, आत्मा आत्मा के साथ युद्ध करता है। श्रमण संस्कृति के परम-उपासक नमिराजर्षि ने इन्द्र को स्पष्ट कह दिया–मुझे बाह्य युद्ध में कोई विश्वास नहीं है। उन्होंने भगवान् महावीर की भाषा में कहा–बाह्ययुद्ध से भी अधिक महत्वपूर्ण है, आत्मा के साथ युद्ध करना। आत्मा के इस दुर्ग (शरीर) में घुसे हुए काम क्रोधादि शत्रुओं के साथ युद्ध करके उन्हें खदेड़ना है, उन्हें परास्त करना ही आत्मयुद्ध में आत्मा की परम विजय है।

आत्मयुद्ध में युद्ध करने वाला भी आत्मा है और जिससे युद्ध करना है, वह भी आत्मा है। इनमें से एक आत्मा को परास्त करना है, एक को विजयी बनाना है। आत्मा के साथ ही संलग्न क्रोधादि कषाय भी, राग, द्वेष, मद, मत्सर, ईर्ष्या, मोह, आसक्ति, मूर्च्छा-ममता आदि सब विकार-विभाव भी आत्मा के रूप में समता, क्षमता, विरक्ति, सन्तोष, शान्ति, सम्यग्ज्ञान, सत्श्रद्धा आदि आत्मा के निजी गुणों के साथ बैठे हुए हैं, वे

निकल नहीं रहे हैं। शुद्ध आत्मा के चारों ओर ये घेरा डाले हुए पड़े हैं।[1] इन नानाविध कषायात्माओं के साथ शुद्ध आत्मा का युद्ध ही आत्मयुद्ध का वास्तविक रूप है। इसीलिए कहा गया–इन कषाय, विभाव, आत्मविरोधीरूपी आत्माओं के साथ ही युद्ध करो।

आत्मा के कई अर्थ होते हैं। अमरकोश में आत्मा (चेतना), यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म, शरीर आदि को आत्मा के पर्यायवाचक शब्द बताए हैं।[2]

प्रस्तुत प्रसंग में चार कषायों के कषायात्मा, पांच इन्द्रियों के इन्द्रिय-आत्मा, और मन-आत्मा, इन दस के समूह (यूनिट) से युद्ध करना है। आत्मयुद्ध में इन दशविध आत्म-समूह को पराजित करना है और शुद्ध ज्ञानचेतनात्मक आत्मा को विजयी बनाना है। इसलिए कहा–आत्मा द्वारा आत्मा के साथ युद्ध करो। अर्थात्–आत्मयुद्ध करो। बाह्ययुद्ध से तुझे क्या प्रयोजन है? उससे तो कर्मों के आस्रव, बन्ध और उनके फलस्वरूप दुःख ही बढ़ेंगे, जबकि आत्मयुद्ध में शुद्ध आत्मा की समता, क्षमा, निर्लोभता, मृदुता, ऋजुता, मैत्री आदि विशाल गुण-सेना द्वारा कषायादि विकारों के रूप में विरोधी आत्माओं की सेना से युद्ध करके शुद्ध आत्मा को विजयी बनाने से अक्षय एवं निराबाध सुख में वृद्धि होगी। इस आन्तरिक युद्ध की रणभूमि चेतना की भूमि होगी। आत्मयुद्ध में अपने ही शुद्धात्मा के शस्त्र अस्त्र होंगे, अहिंसा-सत्यादि।[3]

इसी आत्मयुद्ध के लिए भगवान् महावीर ने कहा–"युद्ध का क्षण-अवसर दुर्लभ है। हे मेधावी साधक! तू क्षण को जानले।"[4]

युद्ध कब करना चाहिए? इसके लिए कहा गया–प्रतिक्षण युद्ध करना है, जब तक आस्रवों की सेना को अध्यात्म संवर की सेना द्वारा खदेड़ न दिया जाए तथा पराजित न कर दिया जाए, तब तक युद्ध करना है। दूसरे शब्दों में कहें तो–अपनी ही दुर्बलताओं-विकृतियों, आत्मगुणों के विकासावरोधकों, आत्मशक्ति कुण्ठित करने वाले दुर्गुणों से युद्ध करना है।

युद्ध कैसे करें? इसके लिए भी आचारांग, उत्तराध्ययन आदि में स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर ने निर्देश दिया है–जागरूक, सावधान और अप्रमत्त होकर, दृढ़ मनोबल, दृढ़ संकल्प, और परम उत्साह के साथ उन आत्मविकारों से लड़ना है।[5]

---

१. (क) देखें, आचारांग १/५/३/१५९ सूत्र की व्याख्या पृ. १६३ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)
(ख) "अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए।" –उत्तरा. ९/३५

२. आत्मा यत्नो धृति बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च॥ –अमरकोश प्राणिवर्ग

३. (क) पंचिंदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं॥ –उत्तराध्ययन अ. ९ गा. ३६
(ख) अभ्युदय (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण पृ. १५८

४. (क) जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।"
(ख) 'खणं जाणाहि पंडिए!' –आचारांग १/५/३/सू. १५९ तथा वही १/२/१

जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–"उपशम से क्रोध का नाश करो, मृदुता विनम्रता से अभिमान को जीतो, ऋजुता (सरलता) से माया (कपट) को जीतो और संतोष से लोभ पर विजय प्राप्त करो। अगर क्रोधादि कषायों (आस्रवों) को खुली छूट दे दी, उन्हें वश में करने, (उनका निग्रह करने) के बजाय स्वयं उनके ही वशीभूत हो गए तो अनिग्रहीत–असंवृत क्रोधादि विभाव पुनः पुनः जन्म-मरणादिरूप संसार के मूल का सिंचन करते रहेंगे।"[1]

आचारांगसूत्र की दृष्टि से : आत्मयुद्ध क्यों और किसके साथ?

आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर ने इसी आत्मयुद्ध की ओर अध्यात्म संवर के साधकों को प्रेरित करते हुए कहा–"इसी (आस्रवों से युक्त कर्म शरीर) के साथ युद्ध करना है, बाह्य युद्ध से तुम्हें कोई मतलब नहीं है।"[2] तात्पर्य यह है कि भगवान् ने कहा–तुम्हें बाह्ययुद्ध नहीं करना है, यहाँ तो आन्तरिक युद्ध करना है। यहाँ स्थूल शरीरगत विकारों और कर्मों के साथ लड़ना है। यह औदारिक शरीर, जो इन्द्रियों और मन के शस्त्र लिये हुए है, विषय-सुखपिपासु है और स्वेच्छाचारी बनकर तुम्हें विविध आस्रवों के मैदान में नचा रहा है। इसके साथ लड़ो और उस कर्मशरीर के साथ युद्ध करो, जो वृत्तियों के माध्यम से तुम्हें अपना दास बना रहा है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, राग, द्वेष आदि सब विभाव कर्म (कर्मों के आस्रव) रूपी शत्रु की सेना है। इसलिए तुम्हें कर्म-शरीर और स्थूलशरीर के साथ आन्तरिक युद्ध करके कर्मों को क्षीण, परास्त और अवरुद्ध कर देना है। इस भाव (आन्तरिक) युद्ध के योग्य सामग्री का प्राप्त होना अत्यन्त दुष्कर है।

आन्तरिक युद्ध के लिए दो अमोघ शस्त्र : प्रज्ञा और विवेक

इस आन्तरिक युद्ध के लिए आचारांग सूत्र में दो अमोघ शस्त्र बताए हैं–परिज्ञा और विवेक।[3] परिज्ञा से वस्तु का सर्वतोमुखी विवेक करना है। अर्थात्–जिन आन्तरिक वृत्तियों, कषायों या मन-इन्द्रियों से लड़ना है, संघर्ष करना है, उनकी स्थिति, भूमिका, मात्रा, बलाबल आदि को भलीभांति समझ लेना है। फिर विवेक से, अथवा आध्यात्मिक भाषा में कहें तो–भेदविज्ञान से, उनके पृथक्करण की दृढ़ भावना करनी है।

---

१. "उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
माय मज्जव भावेण लोभं संतोसओ जिणे॥"
कोहो य माणो य अणिग्गहीआ माया अ लोभो अ पवड्ढमाणो।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥ –दशवैकालिक ८/३९-४०

२. देखें–"इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ?"
–आचारांग १/५/३/सू. १५९ की व्याख्या, पृ. १६४ (आ. प्र. समिति ब्यावर)

३. देखें–"जहेत्थ कुसलेहिं परिण्णा-विवेगे भासिते।
–(आचा. १/५/३/ सू. १५९ की व्याख्या, पृ. १६५ (आ. प्र. समिति, ब्यावर)

विवेक कई प्रकार का होता है–धन, धान्य, परिवार, गण, शरीर, इन्द्रियां, मन आदि से पृथक्त्व (भिन्नता) का चिन्तन करना परिग्रह-विवेक आदि है, तथा कर्मों से आत्मा के पृथक्त्व की दृढ़भावना करना कर्मविवेक है। अहंत्व, ममत्व, क्रोधादि कषायों रूप विभावों से आत्मा को पृथक् समझना-भावविवेक है।

आन्तरिक शत्रुओं से लड़ो, बाह्य शत्रुओं से नहीं : मनोविज्ञान और अध्यात्म विज्ञान से सम्मत

मनोविज्ञान के अनुसार संघर्ष (स्ट्रगल) या युद्ध मनुष्य की मौलिक वृत्तियों में से एक वृत्ति है। संघर्षरत रहना मनुष्य का स्वभाव बन गया है। भगवान् महावीर ने कहा–तुम संघर्ष करना या लड़ना नहीं छोड़ सकते तो लड़ो, पर बाह्य शत्रुओं से नहीं, आन्तरिक शत्रुओं से लड़ो।

पूर्वोक्त सूत्र में उन्होंने मनुष्य की मौलिक वृत्ति को सुरक्षित रखते हुए उसके युद्ध-संघर्ष करने की दिशा ही बदल दी। कहा–"लड़ो अवश्य, परन्तु जो वृत्तियाँ तुम्हारी आत्मा पर हावी हो रही हैं, जो तुम में कषायादि आवेश उत्पन्न करके लड़ने को प्रेरित करती हैं, उनसे लड़ो।"

बाह्य-संघर्ष की उत्तेजना पैदा करने वाली जैनदर्शनसम्मत आस्रवबन्ध कारिणी ५ वृत्तियाँ

जैनदर्शन की भाषा में ये पांच आस्रवोत्पादक कर्मबन्धकारक उत्तेजक वृत्तियाँ हैं, जो मनुष्य में लड़ाई करने का आवेश पैदा करती हैं–(१) मिथ्यात्ववृत्ति (आत्मा का अज्ञान और तत्त्व के प्रति अश्रद्धा), (२) अविरति वृत्ति (विषयभोगों के प्रति रति और व्रत-प्रत्याख्यानादि संयम के प्रति अरुचि), (३) प्रमादवृत्ति, (४) कषायवृत्ति और (५) योग-वृत्ति (मन-वचन-काया की अशुद्ध वृत्ति-प्रवृत्ति)[1]।

ये पांचों वृत्तियाँ बाह्य संघर्ष करती हैं,[2] जिनसे अध्यात्म संवर के बजाय कर्मास्रव और कर्मबन्ध की परम्परा में वृद्धि होती है। इन वृत्तियों के कारण मनुष्य कषाय एवं रागद्वेषवश बाह्ययुद्ध, संघर्ष, कलह या क्लेश करता है। आध्यात्मिक महामानवों ने इसी बाह्य संघर्ष को रोक (संवर) कर आन्तरिक संघर्ष करने का कहा–ताकि इस प्रकार के अध्यात्म संवर की साधना द्वारा आत्मा अपने शुद्ध रूप-स्वरूप में, निष्कलंक ज्ञानदर्शनमय स्वभाव में, अपने निजी गुणों में स्थिर हो जाए।

---

१. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांचों आस्रव के कारण हैं, क्यों और कैसे? इसके लिए देखें, इसी खण्ड (छठे) के 'कर्मों के आने के पांच आस्रव द्वार' शीर्षक निबन्ध।

२. बाह्य संघर्ष के पांच कारणों के लिए देखें–'सोया मन जग जाए' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) का 'आत्मा युद्धयस्य' लेख पृ. ५५

बाह्य संघर्ष का प्रमुख कारण : मिथ्यात्ववृत्ति

बाह्य संघर्ष का सबसे बड़ा कारण है–मिथ्यात्ववृत्ति। जब तक व्यक्ति स्वयं (आत्मा) को भलीभांति नहीं जानता-पहचानता, तब तक अज्ञानदशा के कारण बाह्य पदार्थों या प्राणियों से संघर्ष करता है, निरन्तर संघर्ष के मूड में रहता है। इसी प्रकार जब तक व्यक्ति तत्त्व-सत्य के दर्शन नहीं कर लेता, सत्य के प्रति दृढ़ आस्थावान् नहीं होता, तब तक वाद-विवाद, निन्दा, पर-परिवाद, बाह्य जय-पराजय, अथवा वाचिक-कायिक संघर्ष के रूप में लड़ता रहता है। तत्त्व या सत्य का अज्ञान और अश्रद्धा की वृत्ति बाह्य युद्धों, या संघर्षों को जन्म देती है।

बाह्य-संघर्ष का द्वितीय कारण : अविरति की वृत्ति

बाह्य संघर्ष का दूसरा कारण है–अविरति। जब तक पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति, अथवा बाह्य-पदार्थों के प्रति प्रियता-अप्रियता, अथवा रति-अरति की भावना बनी रहती है, तब तक मनोज्ञ को पाने, संरक्षित करने, उपभोग करने आदि की लालसा-ललक उठती रहती है। उसके लिए संघर्ष कराती रहती है। इसलिए विषयों और बाह्य पदार्थों के प्रति रति की वृत्ति त्याग, व्रताचरण, नियमपालन, संयमपालन आदि के रूप में विरति नहीं होने देती।

बाह्य संघर्ष का तृतीय कारण : प्रमादवृत्ति

बाह्य संघर्ष का तीसरा कारण है–प्रमादवृत्ति। प्रमाद के कारण मनुष्य तत्त्व को जानता-समझता हुआ भी उसे क्रियान्वित करने में हिचकिचाता है, टालमटूल करता है, असावधान (गाफिल) रहता है, जिसके कारण कषाय और राग द्वेषादि विकार शीघ्र आत्मा पर आक्रमण कर बैठते हैं।

प्रमादवृत्ति के कारण मनुष्य सुखशील, सुखसुविधावादी, आचारशिथिल, कष्टों के प्रति असहिष्णु तथा परीषहों से आक्रान्त हो जाता है। इसी प्रमाद के कारण अध्यात्म-संवर का साधक संवर के स्थान में आस्रवों को आमंत्रित कर लेता है, गफलत के कारण वह आस्रव के स्थान में संवर को परिणत नहीं कर पाता। कर्त्तव्यों और दायित्वों के प्रति जागरूक नहीं रह पाता।

समिति, गुप्ति, महाव्रत, संयम, नियम, प्रत्याख्यान आदि के विषय में लापरवाही का परिणाम होता है–असंयम, सुखशीलता और अजागृति के कारण मानसिक क्लेश, शारीरिक मानसिक अस्वस्थता। जो संघर्ष के कारण बनते हैं।

आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है–प्रमादी मानव को सब ओर से भय होता है, अप्रमादी को कहीं भी भय नहीं होता।

भय सात प्रकार का है–इहलोकभय, परलोकभय, अत्राणभय (आदानभय), अकस्मात्भय, आजीविकाभय, वेदनाभय, अपयशभय और मरणभय।

प्रमादी मनुष्य इन सातों भयों से आक्रान्त रहता है। जहाँ ये भय होते हैं, वहाँ सतत बाह्य संघर्ष करना पड़ता है। फिर आन्तरिक संघर्ष (युद्ध) करने की क्षमता या शक्ति नहीं रहती।[1]

इसलिए प्रमाद अध्यात्मसंवर में बाधक है, आस्रवों को आमंत्रित करने वाला है। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है कि "अध्यात्मसंवर का मेधावी साधक लोक (संसार परिभ्रमण के कारणभूत परिग्रह हिंसादि के कारण समस्त दुःखरूप) तथा लोक संज्ञाओं (आहारादि दस प्रकार की संज्ञा) अथवा यशःकामना, अहंकार-प्रदर्शन की भावना, मोह-मूढ़ता, विचारमूढ़ता, विषयाभिलाषा या गतानुगतिक वृत्ति आदि, (अथवा मनगढंत लौकिक रीतिरिवाज) को सर्व प्रकार से जानकर उनके चक्कर में न पड़े, उनका त्याग (वमन) कर दे। संवर मार्ग में पुरुषार्थ करे। वस्तुतः वही साधक मतिमान कहा गया है।"[2]

आगे कहा गया–"साधक समस्त कामों (काम-भोगों) के विषय में अप्रमत्त (सावधान) रहे।"[2]

भगवान् महावीर ने अध्यात्मसंवर के साधकों को चेतावनी देते हुए कहा–"साधको! देखो, ऊपर (कर्मों के आगमन–आस्रव के) स्रोत (द्वार) हैं, नीचे स्रोत हैं, और मध्य में (तिर्यग्दिशा में) स्रोत कहे गए हैं। ये स्रोत कर्मों के आस्रवद्वार कहे गए हैं, जिनके द्वारा प्राणियों को आसक्ति पैदा होती है, ऐसा समझ लो।"

इन तीनों दिशाओं में या लोकों में जो स्रोत हैं, उन पर वृत्तिकार ने प्रकाश डाला है–कर्मों के आगमन (आस्रव) द्वार ही स्रोत हैं, जो तीनों दिशाओं या लोकों में हैं। ऊर्ध्व-स्रोत हैं–वैमानिक देवांगनाओं या देवलोक के विषयसुखों की आसक्ति। अधोस्रोत हैं–भवन-पति देवों के विषय-सुखों की आसक्ति और तिर्यक् (मध्य) स्रोत हैं–तिर्यग्लोक (मध्य-लोक) में व्यन्तरदेव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी विषय-सुखासक्ति। एक दृष्टि से इन्हीं स्रोतों को संग–आसक्ति समझना चाहिए।

अध्यात्म संवर के साधक को इन स्रोतों से सदा सावधान रहना चाहिए। मन की गहराई में उतरकर इन्हें देखते रहना चाहिए। इन स्रोतों को बंद कर (रोक) देने पर ही कर्मबन्धन बंद होगा, अध्यात्मसंवर की सिद्धि होगी। अन्यथा, इनमें प्रमाद करने पर

---

१. (क) "सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।" –आचारांग १/३/४
(ख) सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता तं–इहलोगभए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, वेयणभए, मरणभए, असिलोगभए। –स्थानांग स्थान ७

२. देखें–तं परिण्णाय मेहावी विदित्ता लोगं, वंता लोगसण्णं, से मइयं परक्कमेज्जासि।
–आचार १/२/६/सू. ९७ की व्याख्या (आ. प्र. स. ब्यावर) पृष्ठ ७४

सतत बाह्य संघर्ष, मन:क्लेश, तन-मन की अस्वस्थता आदि होना निश्चित है, फिर कर्मों के आगमन का तांता लगना सुनिश्चित है।[1]

बाह्य संघर्ष का चतुर्थ कारण : कषायवृत्ति

बाह्य संघर्ष का चौथा कारण है–कषायवृत्ति। जब-जब मानव मन में क्रोध, अहंकार, छल-कपट, लोभ, राग, द्वेष, मत्सर, मद आदि की वृत्तियाँ जागृत होती हैं, तब तब युद्ध का आवेश प्रारम्भ हो जाता है। व्यक्ति कषायों से प्रेरित होकर संघर्ष, कलह, वाक्युद्ध, लड़ाई, विद्रोह आदि करता है। अधिकतर बाह्य युद्ध या संघर्ष अहं प्रेरित होते हैं।

अध्यात्म संवर के साधक को बाह्ययुद्ध छोड़कर कषायादि वृत्तियों के साथ अपने अंतर् में युद्ध छेड़ना चाहिए। जब भी कषाय या रागद्वेष मोह आदि की वृत्ति जगने लगे, तुरंत सावधान होकर उससे मुख मोड़ ले। उसे खदेड़ दे। उसका उदात्तीकरण या मार्गान्तरीकरण कर दे। अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय राग-द्वेष से दूर रहकर समभाव या माध्यस्थ्यभाव की स्थिति में रहे।

बाह्य संघर्ष का पंचम कारण : मन वचन काय (योग) की अशुद्ध प्रवृत्ति

संघर्ष का पांचवाँ कारण है–मन-वचन-काय योगों की अशुद्ध प्रवृत्ति। इसका तात्पर्य है, मन, वचन या शरीर जब आत्मा के नियंत्रण में न रहकर हिंसादि आस्रवों में प्रवृत्त होने लगते हैं, तब बाह्य संघर्ष अवश्यम्भावी होता है। अतः मन वचन योगों को अशुद्ध दशा–(आस्रवों) में प्रवृत्त होने से तुरन्त रोककर, दमन या शमन करके तत्काल अध्यात्मसंवर में प्रवृत्त करना चाहिए। अन्यथा बाह्य संघर्षरत योग अनर्थकारक एवं आस्रवोत्पादक ही सिद्ध होंगे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य को बाह्ययुद्ध के स्थान पर आत्मयुद्ध करना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि बाह्ययुद्ध की कारणभूत पूर्वोक्त पंचविध वृत्तियों से आन्तरिक युद्ध कैसे लड़ा जाए?

वर्तमान मनोवैज्ञानिकों ने भी वृत्तियों के साथ संघर्ष करने का नया तरीका ढूंढा है। यद्यपि अध्यात्मविज्ञान के आचार्यों ने भी आत्मा को अपने स्वरूप में स्थिर रखने के लिए बाह्य विषयों में प्रवृत्त होने वाली वृत्तियों से संघर्ष करने के विभिन्न उपाय बताए हैं, परन्तु उन उपायों को लोग श्रद्धापूर्वक मानकर चलते थे, परन्तु अब समय आ गया है कि

---

१. (क) उड्ढं सोता अहे सोता तिरियं सोता वियाहिया।
एते सोता वियक्खाया, जेहिं संगति पासहा॥
–आचारांग १/५/६/१७९ (आ. प्र. समिति ब्यावर) पृ. ७४
(ख) विणएत्तु सोतं निक्खामं, एस महं अकम्मा जाणति पासति।" की व्याख्या देखें।
–पृ. १८७ (आ. प्र. समिति ब्यावर)

लोग केवल श्रद्धा के सहारे न चलकर "प्रज्ञा से (इस संवर निर्जरा रूप) धर्म तत्व की समीक्षा करें"[1] बाह्य संघर्षों की वृत्तियों को, आन्तरिक संघर्ष में परिणत कर दें, जिससे आम्रवपथ से हटकर संवरपथ पर सरपट गति कर सकें। इस विषय में मनोविज्ञान-सम्मत विधियाँ भी पूरक या सहायक हो सकती हैं।

अध्यात्मविज्ञान की दृष्टि से अध्यात्मसंवर में सहायक पूर्वोक्त आत्मयुद्ध सात प्रकार से हो सकता है। वे सात प्रकार इस प्रकार हैं–(१) दमन, (२) शमन (३) उदात्तीकरण (४) समत्व में स्थिरीकरण (५) प्रतिक्रमण, (६) प्रत्याख्यान (त्याग) और (७) सतत आत्मस्वरूप स्मृति।

आत्मयुद्ध का पहला प्रकार दमन है। दमन का अर्थ है–दबाना। इसे नियंत्रण भी कहा जा सकता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इसे अवदमन (रिप्रेशन) कहा गया है। वृत्तियों का अवदमन होने से मनुष्य व्यावहारिक दृष्टि से बहुत-सी बुराई से बचा रहता है। दबाव मुख्यतया तीन प्रकार के माने गए हैं–राजनैतिक दमन, सामाजिक दमन एवं आध्यात्मिक दमन।

राजनैतिक दमन का उत्कट रूप दण्ड है, अथवा दण्डशक्ति के भय से व्यक्ति कानून के नियंत्रण में चलता है, यह भी राजनैतिक दमन है। परिवार, ग्राम, नगर, जाति, धर्म-सम्प्रदाय (संघ), आदि सब समाज के घटक हैं। सामाजिक दमन के अन्तर्गत समाज में निर्धारित नीति-न्याय की मर्यादा का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना अनिवार्य होता है। कोई व्यक्ति किसी राह चलती युवती को देखकर सहसा उसके प्रति कदाचित् मुग्ध हो जाए, फिर भी सामाजिक मर्यादाओं के कारण वह उसके साथ किसी प्रकार का स्वच्छन्दतापूर्वक अनाचार सेवन नहीं कर पाता। सामाजिक दबाव जो है।

एक कुलीन और सम्भ्रान्त परिवार का युवक है, उसके परिवार में मांसाहार सर्वथा वर्ज्य है। उसके मन में कदाचित् मांस खाने का विचार आए, किन्तु दूसरे ही क्षण यह भाव पैदा होता है कि मेरे परिवार में यह त्याज्य है, यदि कोई देख लेगा तो? इस प्रकार सामाजिक दबाव के कारण उसे अपनी इच्छा को दबाना पड़ा। सामाजिक दमन के कारण वह अपना मनमाना आचरण नहीं कर पाता। अपनी वृत्ति अवदमित करनी पड़ती है।

सेंध मारकर किसी का धन चुराने की इच्छा होने पर भी राजकीय दमन (दबाव) के कारण उसे अपनी इच्छा को वहीं दबाना पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में यह वृत्ति का अवदमन है। आध्यात्मिक जगत् में अध्यात्मसंवर की दृष्टि से भी दमन की बात मान्य है।[2]

---

१. तुलना करें–"पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त विणिच्छियं। –उत्तराध्ययन अ. २३, गा. २४
२. अभ्युदय से यत्किंचिद् भाव ग्रहण, पृ. १५८-१५९

पारिवारिक दवाब (दमन) भी बहुत-सी बार बुराई से बचाने में सहायक होता है। एक धनाढ्य पिता के एक ही पुत्र था। वह विवाहित था। उसमें तीन दुर्व्यसन थे–शराब, जूआ और वेश्यागमन। मां उसे कई बार कह चुकी थी मगर वह उसकी एक भी नहीं मानता था। पिता के प्रति उसे बड़ी श्रद्धा थी। पर पिता की व्यसन त्याग की बात उसे नहीं सुहाती थी। पिता अधिक कुछ न कहकर सब कुछ सहन करता रहा।

एक बार पिता मरणशय्या पर पड़ा जिंदगी की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था। पिता ने पुत्र को अपने पास बुलाकर कहा–"बेटे! अब हम तो जा रहे हैं। मैं कुछ कहूँ तो तुम उसे मानोगे?"

पुत्र ने तपाक से कहा–"पिताजी! अगर आप शराब पीने, जूआ खेलने और वेश्यागमन को छोड़ने को कहेंगे तो मैं अपना वचन नहीं निभा सकूंगा। इन तीनों के अलावा जो भी आप कहेंगे, मैं जी-जान से उस वचन का पालन करूंगा।"

पिता ने कहा–"नहीं, बेटे! मुझे इन तीनों को छोड़ने का वचन तुमसे नहीं लेना है। तुम शराब पीते हो, पिया करो, मगर सुबह ८ बजे नहीं, दोपहर को १२ बजे पीओ। तुम वेश्या के यहाँ जाते हो तो, जाओ, मगर रात के ८ बजे नहीं, किन्तु रात के तीसरे पहर में यानी ३ या ४ बजे के बीच में जाया करो।" फिर पिता ने पूछा–"तुम कितने रुपये से जूआ खेलते हो?"

पुत्र बोला–"यही कोई पच्चीस-पचास रुपये से।"

इस पर पिता ने कहा–"तुम चाहे जितने से जूआ खेलो। अब तो थैली तुम्हारे हाथ में रहेगी। पर एक शर्त है कि कल से ही बही में जूए का खाता खोल दो। जूए में जितने रुपये हारो, जूए के नाम लिख दो, और जितने रुपये जीतो, उतने जूए के खाते में जमा कर दो। बोलो, ये तीनों बातें मंजूर हैं?"

पुत्र खिलखिलाकर हंस पड़ा और बोला–"आपकी तीनों बातें मंजूर हैं, पिताजी! मैं आपको वचन देता हूँ कि तीनों बातों का पालन करूँगा।"

कुछ ही दिनों बाद पिता चल बसे, पिता के वियोग में श्रद्धालु बेटे ने कई दिनों तक शोक मनाया। शोक के दिनों में न तो उसने शराब को हाथ लगाया, न जूआ खेला और न वेश्या के यहाँ गया। मियाद बीतने के बाद पुत्र अपने पिता को दिये गए वचनानुसार दोपहर को १२ बजे शराबखाने की ओर चला। वहाँ पहुँचकर देखा कि कितने ही शराबी नशे में धुत्त होकर रास्ते में पड़े हैं, कुत्ते उनका मुंह सूँघकर पेशाब कर रहे हैं। कई शराबियों को लड़खड़ाते-हकलाते-तुतलाते और बड़बड़ाते देखा। शराब पीने की यह दुर्दशा देख वह धनिक पुत्र उलटे पैरों लौट आया। फिर कभी शराबखाने की ओर मुँह नहीं किया।

पिता के दिये हुए वचन के अनुसार रात को ४ बजे वह वेश्या के यहाँ पहुँचा। पहले तो उसने द्वार खोलने में हिचरमिचर की। ज्यों ही पैसे की गुलाम वेश्या ने दरवाजा खोला, उसका घिनौना रूप तथा जगह-जगह थूक और उल्टी के ढेर देखकर उससे खिंचाव की जगह उसे घृणा हो गई। बिना बात किये वह उलटे पांव लौट चला। वेश्या के यहाँ फिर कभी वह नहीं गया।

जूआ दीवाली तक चला। दीवाली पर उसने बही खाते की जांच की तो पता लगा कि जुए के नाम ही नाम है, जमा तो बराए नाम है। यह देख उसके मुँह से निकल पड़ा– 'यह तो घाटे का व्यापार है, जानबूझकर धन गंवाना है।' तब से उसने जुआ भी सदा के लिए छोड़ दिया।

इस कहानी में पिता को दिये हुए वचन का एक नियंत्रण था, पुत्र की वृत्तियों पर। एक बार थोड़ा-सा नियंत्रण वृत्तियों पर आया, किन्तु होश में आने पर, विवेक-पूर्वक चिन्तन करने पर वह नियंत्रण अवचेतन मन पर छा गया। फलतः भीतर से भी वे बुराइयाँ बन्द हो गईं, और बाहर से भी उन पर ताला लग गया। यद्यपि अवदमन या दमन का यह प्रकार इतना अच्छा नहीं, किन्तु यह उपाय प्रायः कारगर साबित होता है।[1]

अध्यात्म विज्ञान के क्षेत्र में भी दमन की प्रक्रिया बतलाई गई है। पर वहाँ राज्य, समाज, संघ या परिवार आदि द्वारा दमन (दवाब) की प्रक्रिया को अच्छी नहीं माना है। वहाँ परदमन की अपेक्षा आत्मदमन (स्वेच्छा से अपने आप पर नियंत्रण) को श्रेष्ठ माना है। इस सम्बन्ध में स्थानांग सूत्र में एक चौभंगी भी आत्मदमन की श्रेयस्करता को सिद्ध करने के लिए दी गई है– चार प्रकार के पुरुष कहे गए हैं–(१) जो अपना दमन करता है, पर का दमन नहीं। (२) जो पर का दमन करता है, किन्तु आत्मदमन नहीं करता, (३) जो आत्म दमन भी करता है और पर दमन भी करता है, (४) जो आत्म दमन भी नहीं करता और परदमन भी नहीं करता।[2]

उत्तराध्ययन सूत्र में परदमन अर्थात्–दूसरे के द्वारा दमन अथवा दूसरों के दमन की अपेक्षा स्वेच्छा से आत्मदमन को श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है–"अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिए। आत्म-दमन करना ही कठिन है। दान्त आत्मा इस लोक और परलोक में सुखी होता है। दूसरों के (कर्मों अथवा समाज, परिवार, राज्य आदि के) द्वारा बन्धनों और वध (मारपीट, ताड़न-तर्जन आदि) से दमन किया जाऊँ, इससे तो अच्छा है

---

१. सोलह कारण भावना (महात्मा भगवानदीन) से संक्षिप्त

२. "चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा–आयंदमे णाममेगे णो परंदमे, परंदमे णाममेगे णो आयंदमे, एगे आयंदमे वि परंदमे वि, एगे णो आयंदमे, णो परं दमे।

–स्थानांग, स्था. ४, उ. २, सू. २६२

कि मैं स्वेच्छा से (सप्तदशविध) संयम और (द्वादशविध) तप से अपनी आत्मा को दमित कर लूँ।'"

वास्तव में स्वेच्छा से आत्मदमन एक प्रकार का आत्मानुशासन है। दूसरों द्वारा जब अपने पर अंकुश रखा जाता है, नियंत्रण में रखा जाता है, दण्ड शक्ति द्वारा दमन किया जाता है, तब मनुष्य को स्वयमेव मानसिक क्लेश, दुःख एवं पीड़ा महसूस होती है। परन्तु जब किसी अपराध के लिए मनुष्य स्वेच्छा से स्वयं पर नियंत्रण करता है, अपने आपको शासित, दमित करता है, तब थोड़ा-सा कष्ट तो होता है, परन्तु उसका परिणाम सुखद होता है। यह एक प्रकार का आत्मानुशासन है।

आत्मयुद्ध के लिए आत्मदमन स्वेच्छा से स्वीकृत होता है। अध्यात्मसंवर के सन्दर्भ में आत्मदमन ही श्रेयस्कर माना जाता है। योग साधना में इसे 'हठयोग' कहा जाता है। परन्तु हठयोग और आत्मदमन में थोड़ा-सा अन्तर है। आत्मदमन आत्मा के हित, आत्मा के चरम लक्ष्य (कर्म-मुक्ति–मोक्ष) आत्मा के विकास, एवं आत्मा की शुद्धि को लक्ष्य में रखकर किया जाता है, तभी वह आत्मसंयम या आत्मानुशासन अध्यात्म-संवर का रूप लेता है। हठयोग में प्रायः तन-मन के ही हित का लक्ष्य रहता है।

आत्मदमन : एक प्रकार का आध्यात्मिक आत्मपीड़न

कई लोग आत्मदमन को आत्मपीड़न कहते हैं, परन्तु यह आत्मपीड़न आत्म-हत्या या आत्मवध का रूप नहीं है। स्वेच्छापूर्वक प्रसन्नतापूर्वक एवं उत्साहपूर्वक जो आत्मदमन किया जाता है–उसे आध्यात्मिक आत्मपीड़न कहा जा सकता है, शारीरिक आत्मपीड़न नहीं।

आचारांगसूत्र में उच्चसाधकों के लिए इस प्रकार के आत्मदमन की तीन मुख्य भूमिकाएँ बताते हुए कहा गया है–"मुनि पूर्व-संयोग (गृहस्थ पक्षीय पूर्व संयोग अथवा अनादि कालिक आस्रव या असंयम के साथ रहे हुए पूर्व-सम्बन्ध) का परित्याग कर उपशम (इन्द्रियविषयों एवं कषायों का उपशमन) करके शरीर (कर्मशरीर) का आपीड़न करे, फिर प्रपीड़न करे और तब निष्पीड़न करे।"

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है–आपीड़न, प्रपीड़न और निष्पीड़न, ये तीन शब्द मुनि जीवन की अध्यात्मसंवर-साधना की तीन मुख्य भूमिकाएँ हैं–अर्थात् प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् मुनि तीन भूमिकाओं में से गुजरता है।

प्रथम भूमिका दीक्षित होने से लेकर शास्त्राध्ययन काल तक की है, जिसमें वह संयमरक्षा, ग्रहण, आसेवनशिक्षा के सन्दर्भ में शास्त्राध्ययन के हेतु आवश्यक तप (आयम्बिल-उपवासादि) करता है, वह आपीड़न है।

---

१. "अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुदम्मो। अप्पादंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥"
"वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य। मा5हं परेहिं दमंतो बंधणेहिं वहेहि य॥"
–उत्तरा. अ. १/गा.१५-१६

उसके पश्चात् द्वितीय भूमिका आती है–शिष्यों या संघस्थ अन्य मुनियों के अध्यापन तथा धर्म के प्रचार-प्रसार की। इस दौरान भी वह संयम की उत्कृष्ट साधना और दीर्घतपस्या करता है, यह प्रपीड़न है।

इसके पश्चात् तीसरी भूमिका आती है–शरीरत्याग की। जब मुनि स्व-पर कल्याण की पर्याप्त साधना कर चुकता है, शरीर भी जीर्ण-शीर्ण, अशक्त एवं वृद्ध हो जाता है, चलने-फिरने आदि में भी अक्षम हो जाता है, तब वह संल्लेखनापूर्वक समाधि-मरण की तैयारी में लगता है। उस समय दीर्घकालिक बाह्य और आभ्यन्तर तप, कायोत्सर्ग, ध्यान, मौन, स्वाध्याय, आत्मशोधन, आत्मचिन्तन आदि की साधना करता है, यह निष्पीड़न की भूमिका है।

यहाँ तप त्याग आदि द्वारा आत्मपीड़न या आत्मदमन अध्यात्मसंवर के सन्दर्भ में कर्मों के आस्रव के निरोध तथा कर्मक्षय की दृष्टि से स्थूल शरीर के आपीड़न-प्रपीड़न-निष्पीड़न के माध्यम से कर्मशरीर या कर्म का पीड़न ही अभीष्ट है।[1]

आत्मदमन की पूर्वोक्त तीन भूमिकाएँ जैसे साधुवर्ग के लिए बताई हैं, वे गृहस्थ वर्ग के जीवन में भी घटित हो सकती हैं, बशर्ते कि गृहस्थ श्रमणोपासक वर्ग का अध्यात्म संवर की दिशा में प्रस्थान हो। श्रावक के तीन मनोरथ भी इसी तथ्य को प्रकारान्तर से ध्वनित करते हैं।

स्वेच्छा से आत्मदमन के लिए एक शास्त्रीय उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा–यूथपति द्वारा अपने नवजात शिशु को मारे जाने के भय से एक हथिनी ने तापसों के आश्रम में एक गजशिशु को जन्म दिया। वह ऋषिकुमारों के साथ-साथ आश्रम के बगीचे को सींचता था, इस कारण उसका नाम 'सेचनक' रख दिया। जवान होने पर यूथपति को मार कर वह स्वयं यूथपति बन गया। यौवन के मद में आकर उसने आश्रम को नष्ट भ्रष्ट कर डाला। तापसों ने राजा श्रेणिक के पास फरियाद की तो उसने इस हाथी को पकड़ने और मारपीट कर बंधन में डालने का निश्चय किया।

एक देव ने तत्काल इस हाथी के पास आकर कान में कहा–"पुत्र! श्रेणिकनृप तुझे मारपीट कर ठीक करे और बन्धन में डाले, इसकी अपेक्षा तो तू स्वयं अपना दमन कर ले।"

यह सुनते ही सेचनक हाथी रातोरात श्रेणिक राजा की हस्तिशाला में पहुँच गया और खंभे से बंध गया।

इसी प्रकार अध्यात्मसंवर के साधक को दूसरे वश में करें, निग्रह करें, कर्म उसे बन्धन में बाँधे, उससे पहले ही वह स्वयं स्वेच्छा से तप-संयम द्वारा राग-द्वेष-कषायादि से

---

१. देखें–आवीलए पवीलए णिप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं, हिच्चा उवसमं।" (आचारांग १/४/४/१४३ सूत्र की व्याख्या पृ. १४० (आगम प्रकाशन समिति, व्यावर)

होने वाले कर्मास्रवों या कर्मबन्धों का स्वयं निरोध और क्षय कर डाले, स्वयं आत्मदमन करे।

ऐसी ही स्वैच्छिक आत्मदमन की एक घटना एक जैन साधु के विषय में सुनी थी–"एक साधु को कढ़ी पीने का बहुत शौक था। आहार लेने जाते, तब कढ़ी के विषय में अवश्य पूछते और दो चार घर अधिक घूमकर भी कढ़ी लाते थे। कढ़ी का चस्का इतना अधिक लग गया कि जिस दिन उनके भिक्षापात्र में कढ़ी नहीं आती, उस दिन उन्हें चैन नहीं पड़ता था। वे कढ़ी के चिन्तन में ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना भी भूल जाते थे। वैसे वे आत्मार्थी थे, परन्तु कढ़ी की आसक्ति ने उन्हें रसनेन्द्रिय का गुलाम बना दिया था।

एक दिन प्रतिक्रमण के समय वे चिन्तन करने लगे–त्रिलोक-पूज्य, देवेन्द्रवन्द्य साधु होकर भी तूने अपनी आत्मा को कढ़ी का–अर्थात्–रसना का गुलाम बना डाला, धिक्कार है, तुझे! चाहे कुछ भी हो जाए, आज एक बार जीभ को कढ़ी पिलाऊंगा, फिर सदा के लिए कढ़ी का त्याग करूंगा। बस वे पहुँचे एक श्रावक के घर में–पात्र में थोड़ी-सी कढ़ी लाए, साथ ही एक पात्र में थोड़ा-सा गाय का गोबर भी ले आए। कढ़ी और गोबर को मिश्रित करके उन्होंने एक कौर लिया और अपनी जीभ को सम्बोधित करते हुए कहने लगे–"ले, खा यह कढ़ी, पी ले इसे।" और जबरन मुंह में यह गोबर मिश्रित कढ़ी ठूंस ली। बस, उस दिन के पश्चात् फिर कभी उनका कढ़ी खाने का मन नहीं हुआ। सदा के लिए स्वेच्छा से वे कढ़ी का त्याग कर चुके।[1]

यह है–आत्मयुद्ध के संदर्भ में स्वेच्छाकृत आत्मदमन का ज्वलन्त उदाहरण।

जिस स्वादेन्द्रिय की आसक्ति से कर्मों का आस्रव हो रहा था, वहाँ आत्मदमन से उसका निरोध रूप संवर हो गया। आत्मदमन और आत्मनिग्रह प्रायः समानार्थक शब्द हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने आचारांग सूत्र में संसार के सभी मानवों को सम्बोधित करते हुए कहा–"मानव! तू अपनी आत्मा का ही निग्रह कर। स्वयं के निग्रह से ही तू दुःख से (कर्मों के आस्रव एवं बन्ध से) मुक्त हो सकेगा।"[2]

सचमुच, आत्मनिग्रह, आत्मसंयम, आत्मरति, आत्मसन्तुष्टि, आत्मतृप्ति, आत्मरमणता एवं आत्मदमन ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि मानव के लिए आनन्ददायक, सुखशान्ति कारक एवं आकुलतानाशक है। अध्यात्म संवर की सिद्धि के लिए इसके करने के पश्चात् कुछ करना नहीं रह जाता। भगवद्गीता भी इसी तथ्य का समर्थन करती है–"जो मानव आत्मा में ही रति (रमण) करता है, आत्मा में ही तृप्त है, आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कोई अन्य कार्य नहीं रह जाता।"[3]

---

१. 'कुछ देखी, कुछ सुनी' (त. मुनि श्रीलाभचन्द्रजी) से संक्षिप्त

२. 'पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।' –आचारांग १/३/३

३. 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।" –गीता ३/१७

आत्मयुद्ध का दूसरा उपाय या प्रकार : शमन-उपशम

दमन के पश्चात् आत्मयुद्ध का दूसरा प्रकार या उपाय शमन है। इसे जैन-परिभाषा में शम, उपशम, या प्रशम भी कहते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में दो प्रक्रियाएँ हैं–एक है उपशमन की और दूसरी है–क्षयीकरण की।

उपशम में वृत्तियों का समूल क्षय नहीं होता, किन्तु उसका तात्कालिक शमन हो जाता है। मनोविज्ञान में इसे शमन (सप्रेशन) कहते हैं। किसी वृत्ति का एक साथ ही क्षय हो जाए, यह जरूरी नहीं है, होना भी कठिन है। समाज में, परिवार में या राष्ट्र में रहने वाला व्यक्ति हो, अथवा अध्यात्म-साधना में रत रहने वाला हो; कोई भी व्यक्ति सहसा अध्यात्म-संवर के चरम लक्ष्य-वीतराग भाव को प्राप्त नहीं कर लेता। कोई भी साधक आज का आज ही सिद्धि प्राप्त कर ले, यह अतिकल्पना है।

हाँ, गजसुकुमालमुनि की तरह पूर्वजन्म में साधना की हुई हो, वह साधना अधूरी रह गई हो तो इस जन्म में, एक ही दिन में सिद्धि-मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु यह प्रत्येक साधक के लिए दुष्कर है। कषायों की वृत्ति छठे गुणस्थान में पूर्णतया क्षीण या शान्त नहीं होती। दसवें गुणस्थान में जाकर संज्वलन (सूक्ष्म) क्रोधादि कषाय लगभग शान्त हो जाते हैं, ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म उपशान्त हो जाता है, बारहवें में क्षीण हो जाता है।

इस दृष्टि से उपशमन का मार्ग भी आत्मयुद्ध में बहुत ही सहायक होता है। उपशम में क्रोधादि कषायों की तथा रागद्वेषादि की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, दब जाती हैं, ठंडी पड़ जाती हैं। जैसे आग प्रज्वलित हो रही है, उस पर किसी ने राख डाल दी। अब आग राख के कारण दब गई है। वह अपना प्रभाव नहीं डाल सकती, उस पर नंगे पैर चलने वाले का पैर जला नहीं सकती। वह प्रभावहीन हो गई है। इसी प्रकार शमन या उपशम की प्रक्रिया है। इससे आते हुए कर्मों के आस्रव को रोका जा सकता है। अध्यात्म संवर में कर्मों का उपशम भी सहायक है।

बृहत्कल्पसूत्र में इस सम्बन्ध में एक सुन्दर प्रक्रिया बताई है–संघ में किन्हीं दो साधकों में आपस में किसी बात पर मनमुटाव हो जाए, वाक्कलह हो जाए या क्रोधोत्पादक संघर्ष हो जाए तो तुरन्त ही हथेली पर पानी से भीगी हुई रेखा सूखे, उससे पहले ही परस्पर क्षमायाचना करके उस क्रोध, मनोमालिन्य या वाक्कलह को शान्त कर लें। मान लो, कोई दीक्षाज्येष्ठ साधु अपने से दीक्षा में छोटे साधु से क्षमायाचना करने को तत्पर है, मगर वह (छोटा साधु) उसे क्षमा प्रदान करने या उसे आदर देने, उसकी बात को मानकर कलह को रफादफा करने को तैयार नहीं है तो ऐसी स्थिति में बड़े साधु को चाहिए कि वह सामने से चलाकर छोटे साधु से क्षमायाचना करले, वह उसे आदर दे या न दे, उसे क्षमाप्रदान करे या न करे। क्योंकि जो उपशमन करता है

वह वीतराग-आज्ञा का आराधक होता है, जो क्रोधादि का उपशमन नहीं करता, वह आराधक नहीं है।[1]

अध्यात्मसंवर का सच्चा आराधक क्रोधादि उत्पन्न होते ही तुरन्त संभल जाता है, अपने विवेक, ज्ञान और समझदारी से, क्रोध, कलह, अहंकार, लोभ, मोह आदि की लौकिक लोकोत्तर हानियों को भलीभांति समझकर स्वयमेव उसका शमन कर लेता है।

शमन की विविध प्रक्रिया और आगमों में यत्र तत्र शमन निर्देश

समझदारी, विवेक, सूझबूझ, हिताहित विचार, आत्महित चिन्तन आदि सब शमन की प्रक्रिया के अन्तर्गत हैं। आगमों में साधक को यत्र-तत्र अपनी काम, क्रोध, लोभ, मोह, अब्रह्मचर्य, आदि आस्रवोत्पादक कर्मबन्धकारक वृत्तियों को उपशमन करने की विधियों का निर्देश किया गया है।

जैसे–दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–एक साधक सुरूप और कुरूप के प्रति, इष्ट और अनिष्ट के प्रति समभाव रखते हुए, अथवा राग-द्वेषभाव न करते हुए समदृष्टिपूर्वक या प्रशस्तध्यानपूर्वक या सम्प्रेक्षापूर्वक (संयम की अनुप्रेक्षापूर्वक) विचरण कर रहा है। कदाचित् उसका मन मोहकर्मोदयवश पूर्वभुक्त भोगों या कामक्रीड़ा आदि के स्मरण से संयम रूप घर से बाहर निकलने लगे, मन नियंत्रण में न रहे तब आत्मत्राता साधक तुरन्त उसके उपशमन के लिए यह विचार करे कि वह स्त्री या आत्मा से भिन्न परभावात्मक वस्तु मेरी नहीं है, और न ही मैं उसका हूँ।

तात्पर्य यह है कि मोहोदयवश किसी स्त्री या परवस्तु के प्रति कामराग, स्नेहराग या दृष्टिराग, किसी भी प्रकार का राग जागृत हो जाए तो पूर्वोक्त चिन्तनमंत्रबल से तुरंत उसका अपनयन–शमन करे, तुरंत वहीं उसे समझदारी से विवेकपूर्वक दबा दे।[2]

इससे अगली गाथा में शमन के द्वारा काम-राग-निवारण न हो तो आत्म-दमन के द्वारा काम निवारण के चार उपाय बताए हैं–(१) आतापना ले, (२) सुकुमारता का त्याग करे, (३) द्वेषभाव का छेदन करे, (४) रागभाव को दूर करे। इस प्रकार कामभोगों की वासना का (आत्मदमनोपायों से) अतिक्रम कर, जिससे दुःख का स्वतः अतिक्रम हो

---

१. "·····णिग्गंथाणं निग्गंथीणं वा अज्जे व कक्खेउ कडुए विग्गहे समुप्पज्जिज्जासेहे राइणीअं खामिज्जा, राइणीए वि सेहं खामिज्जा। खमियव्वं खमावियव्वं, उवसमियव्वं उवसमावियव्वं संमुह साहुच्छणा बहुलेण होयव्वं। जो उवसमइ अत्थि तस्स आराधणा, जो उ न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा, तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं। से किमाहु भंते? उवसमसारं खु सामण्णं॥"
–कल्पसूत्र (उत्तरार्द्ध) पत्रांक २७०

२. (क) समाए पहाए परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नोवि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं॥४॥–दशवै. अ. २ गा. ४
(ख) इसकी व्याख्या देखें। –दशवै. विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. ३६-३७

जाएगा और (अध्यात्म संवर के सन्दर्भ में) ऐसा करने से तू संसार (इहलोक-परलोक) में सुखी हो जाएगा।"[1]

अध्यात्मसंवर के सन्दर्भ में आचारांग सूत्र में कामविकारशमन के लिए निर्देश किया गया है–ब्रह्मचर्य संवर की सुरक्षा के लिए ब्रह्मचारी कामोत्तेजक कथा न करे, वासना पूर्ण दृष्टि से स्त्रियों के अंगोपांग न देखें, परस्पर कामुक भावों–संकेतों का प्रसारण न करे, उन पर ममत्वभाव न रखे, शरीर की साजसज्जा से दूर रहे, (स्त्रियों का कार्य न करे), वचनगुप्ति का पालन करे, ऐसा महामुनि अध्यात्म संवर से संवृत होकर सदैव पापकर्म का त्याग करता है।"[2]

इसी प्रकार अध्यात्मसंवर के सन्दर्भ में तीर्थंकर महावीर ने आचारांगसूत्र में विषयवासनाओं कामभोगों से पीड़ित-बाधित मुनि को उनके शमन के लिए ६ मुख्य उपाय बताए हैं जो उत्तरोत्तर प्रभावशाली हैं–(१) नीरस भोजन करना, (विगयत्याग या मिर्चमसालों का त्याग करना), (२) कम खाना (ऊनोदरी करना), (३) कायोत्सर्ग (खड़े-खड़े करना या शीर्षासन आदि आसनपूर्वक करना), (४) ग्रामानुग्राम विहार करना, (एक क्षेत्र में अधिक न रहना), (५) आहार का त्याग करना (अर्थात्–दीर्घकालिक तपस्याएँ करना), और (६) स्त्री संग से मन को सदा विलग रखना।"[3]

सचमुच उपरिनिर्दिष्ट शमनोपायों से कामवासना एवं भोगोपभोगों की लालसा अचूक रूप से शान्त हो सकती है। वृत्तिकार ने तो हठयोग जैसा कठोर आत्मदमन का प्रयोग भी बता दिया है कि "ऐसा करते हुए भी कामवासना से मन न हटे तो–"आजीवन सर्वथा आहार-त्याग करे, झंपापात करे (ऊपर से गिर जाए), उद्बन्धन करे, किन्तु स्त्री के साथ अनाचार-सेवन की बात मन में भी न लाए।"

इसी प्रकार दशवैकालिक सूत्र में निर्ग्रन्थ साधुवर्ग को हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग क्यों करना चाहिए?[4] इस विषय में इन पापास्रवों के

---

१. (क) देखें–आयावयाही चय सोगमलं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥५॥
–वही, अ. २, गा. ५ की व्याख्या। (आ. प्र. समिति ब्यावर) पृ. ३७-३८

२. से णो काहिए, णो संपसारए, णो मामए, णो कतकिरिए, वइगुत्ते, अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सया पावं॥
–आचारांग सूत्र १/५/४/सू. १६५

३. (क) देखें–उब्बाधिज्जमाण गामधम्मेहि अवि णिब्बलासए अवि ओमोदरियं कुज्जा, अवि उड्ढं ठाणं ठाएज्जा, अवि गामाणुगामं दुइज्जेज्जा अवि चए इत्थीसु मणं (आचा. १/५/४, सू. १६४ की व्याख्या (आ. प्र. समिति ब्यावर) पृ. १७५
(ख) "·····पर्यन्ते·····अपि पातं विदध्यात् अप्युद्बन्धनं कुर्यात् न च स्त्रीषु मनः कुर्यात्।
–वही शीला. टीका पत्रांक १९८

४. देखें, दशवैकालिक अ. ६ की गा. १०, १२, १३-१४, १५-१६, १७-१८ की व्याख्या (आ. प्र. समिति ब्यावर) पृ. २३६ से २४१ तक।

दुःखद परिणामों का निरूपण किया गया है। कदाचित् किसी निर्ग्रन्थ साधु के मन में हिंसा आदि पापास्रवों में से किसी भी पापास्रव की अव्यक्त इच्छा हो जाए तो तुरंत ही दूसरे क्षण वह शास्त्रोक्त उक्त परिणामों पर विचार करेगा–"यह महाव्रती एवं विश्ववन्द्य निर्ग्रन्थ साधु के लिए अच्छा नहीं है, मेरे भावी जीवन को यह पाप अन्धकारमय बना देगा, इसका कटुफल मुझे ही भोगना पड़ेगा। इससे अच्छा है कि मैं इस पाप को न करूँ।" इस प्रकार चिन्तन करके वह मुनि मन ही मन संकल्प करके पापकारी इच्छा को तुरन्त शान्त कर देता है। उसने अपनी दुष्ट वृत्ति (खराब इच्छा) का वहीं शमन कर दिया।

व्यावहारिक दृष्टि से भी शमन का मार्ग व्यक्त इच्छा का निग्रह है। अविरति आस्रव को मिटाने का यह प्रथम उपाय है। इससे व्रतसंवर निष्पन्न होता है, जो अध्यात्म संवर का अंग है। लोक-व्यावहारिक क्षेत्र में भी नैतिक दृष्टि से शमन का उपाय हितकर है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अच्छा माना जाता है।

जैसे–कोई व्यक्ति व्यभिचार के मार्ग में जाने का विचार करता है। दूसरों की देखादेखी विचार तो कर लेता है, परन्तु इस विचार को क्रियान्वित करने से पहले उसमें विवेक जागा–"व्यभिचार का मार्ग अच्छा नहीं है। इससे तन, मन, धन और धर्म चारों बर्बाद होते हैं। लोकव्यवहार में भी इसे निन्द्य माना गया है। इससे भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं।" इस प्रकार का विवेक जाग्रत होते ही उसने उक्त बुराई में प्रवृत्त होने के विचार को मन ही मन दबा दिया, शान्त कर दिया।

इसी प्रकार शराब, जूआ, शिकार आदि बुराइयों में प्रवृत्त होने से पहले उन बुराइयों से भयंकर हानि और क्षणिक तृप्ति का विचार आते ही वह रुक जाता है, और अपनी दुर्वृत्ति का शमन कर लेता है।[1]

आत्मयुद्ध का तीसरा प्रकार : उदात्तीकरण

आत्मयुद्ध का तीसरा प्रकार या उपाय है–उदात्तीकरण। उदात्तीकरण का अर्थ है–पापास्रव के मार्ग में प्रवृत्त होने के विचार को पुण्यास्रव में बदल देना। अथवा बुरे विचारों या बुराइयों के विचार के कारण आस्रवों के आगमन को रोकने हेतु अच्छे विचार–शुद्ध आत्महित लक्ष्यी विचारों में परिवर्तित कर देना। जैसे–एक भाई की पत्नी के गुजर जाने पर लोगों ने उसे दूसरा विवाह कर लेने का अनुरोध किया, आग्रह पर आग्रह होने लगे, परन्तु वह विवाह करने से इन्कार करता रहा, उसने अपने इस विचार को ब्रह्मचर्यपालन में लगाकर देश सेवा एवं समाज सेवा का व्रत ले लिया।

महात्मा गाँधी ने देशसेवा का विचार किया तो अपनी पत्नी कस्तूरबा को समझाकर अब्रह्मचर्य का त्याग करके ब्रह्मचर्य स्वीकार किया। यह अब्रह्मचर्य आस्रव का निरोध करके ब्रह्मचर्य स्वीकाररूप संवर है, वृत्ति का उदात्तीकरण है।

---

१. अभ्युदय से यत्किंचिद् भावग्रहण, पृ. १६०

एक मनुष्य का मन दिनभर बुरे विचारों में डूबा रहता था, मन में दुर्भावनाएँ उमड़ रही थीं। गुरुदेव ने उसे प्रेरणा दी–तुम नवकारमंत्र के जाप में तल्लीन हो जाओ, तुम्हारे बुरे विचार एवं दुर्भावनाएँ, जो पापास्रव की कारण हैं, पलायित हो जाएँगी, उन्नत विचार पनपेंगे। उसने ऐसा ही किया।

एक व्यक्ति दिनभर उठने वाले बुरे विचारों से तंग आ गया, अतः किसी ने उसे प्रतिदिन छह घंटे स्वाध्याय करने की सलाह दी। उसने इस प्रकार का संकल्प किया। स्वाध्याय में लग गया। फलतः दिनभर उठने वाले बुरे विचारों का उन्नयन हो गया, उनके बदले अच्छे विचार आने लगे, भावना पवित्र हो गई।

इसी प्रकार किसी भी बुराई से बचने के लिए उसके स्थान पर अच्छे विचारों के लिए स्वाध्याय, नामस्मरण आदि का आश्रय लेने से उनका उदात्तीकरण हो सकता है।

मनोवैज्ञानिकों ने भी उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) का प्रयोग किया है। कोई व्यक्ति किसी स्त्री को देखकर उसके प्रति मोहित हो गया। रातदिन उसको पाने की चिन्ता करने लगा। किन्तु वह किसी भी प्रकार से मिली नहीं, मिलना भी सम्भव न था। यह देखकर उसने अपने तन-मन को संगीतकला, चित्रकला या अन्य किसी साहित्यसृजन कविता रचना आदि में लगा दिया, जिससे उसको भुलाकर कला में या अन्य शुभ कार्य में संलग्न हो गया और इस बुराई से बचाव हो गया।[1]

यद्यपि यह प्रक्रिया अध्यात्मसंवर के उद्देश्य को सिद्ध नहीं करती, फिर भी पापास्रव का निरोध करने में किसी हद तक सफल होती है। अध्यात्म संवर की सिद्धि के लिए स्वाध्याय, ध्यान, वैयावृत्य, व्रताचरण का संकल्प, प्रतिज्ञाबद्धता या ऐसी कोई उदात्तीकरण की प्रक्रिया अपनाना उचित है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है–(अध्यात्म संवर का) साधक निद्रा को अत्यधिक तूल न दे, अधिक शयन न करे, अत्यन्त हास-परिहास का त्याग करे, तथा परस्पर गपशप में या निन्दा-विकथाओं में रत न हो, (प्रत्युत, शयन, हास्य एवं विकथा के बदले) वह सदा स्वाध्याय में रत रहे।[2]

इस प्रकार उदात्तीकरण या वृत्ति का उन्नयनीकरण भी आत्मयुद्ध का एक प्रकार है। इस उपाय से आस्रव का काफी अंशों में निरोध हो जाता है और संवरसाधना में सुगमता हो जाती है।

आत्मयुद्ध का चौथा प्रकार : समत्व में स्थिरीकरण

इसके पश्चात् आत्मयुद्ध का चौथा प्रकार है–समत्व में स्थिरीकरण। जिस समय संवर-साधक के मन में चिन्ता, शोक, आर्त्तध्यान तथा इष्टवस्तु या व्यक्ति के वियोग एवं

---

१. अखण्ड ज्योति मई १९७७ से भावांश ग्रहण, पृ. ३५

२. निद्दं च न बहुमन्निज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहोकहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया।" –दशवैकालिक ८/४२

अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग के कारण प्रीति-अप्रीति, रागद्वेष या कषायभाव उमड़ रहे हों, उस समय वह तुरंत संभल जाए और इन्हें कर्मजन्य एवं आत्मबाह्य (विभाव या परभाव) समझकर मन को समभाव में स्थिर कर ले।

चिन्ता, आर्त्तध्यान आदि करने से किसी समस्या का हल नहीं होता, बल्कि आस्रवों का प्रवाह अधिकाधिक प्रविष्ट होता है, जिसका परिणाम कटु होता है। उस समय यह विचार करे कि ये सब संकट, विघ्न या वियोग का दुःख संयोगजन्य है, मेरे ही कृतमकर्मों का फल है, इसमें घबराने से कुछ नहीं होगा।

ऐसे समय समभाव में स्थिर होने के लिए यह विचार भी किया जा सकता है–सर्वज्ञ भगवान् ने जो-जो भाव देखे हैं, वे वैसे ही होंगे। मुझे अपना प्रयत्न या पुरुषार्थ तप, संयम, संवर आदि में करते रहना है। फल अच्छा ही होगा।

उत्तराध्ययन सूत्र की यह गाथा भी इस विषय में बहुत मननीय है–"(अध्यात्म संवर का) साधक लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में, सम्मान और अपमान में सदैव सम रहता है।"[1]

गीता की यह उक्ति भी ऐसे अवसर पर बहुत प्रेरक है–जो पुरुष प्रिय (मनोज्ञ) को पाकर हर्षित नहीं होता, और अप्रिय (अमनोज्ञ) को पाकर उद्विग्न नहीं होता; ऐसा स्थिरबुद्धि, मूढ़ता (मुग्धता) से रहित, ब्रह्मवेत्ता (आत्मवान्) है, वह (जीवित ही) सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में स्थित है।"[2]

इसी प्रकार जो कदापि मन में न तो हीनता-दीनता-लघुता की भावना लाता है, और न ही गुरुता-उत्कर्षता की भावना लाता है, दोनों स्थितियों में सम रहता है, वह व्यक्ति बहुत से आस्रवों को रोक सकता है।

आचारांग सूत्र में कहा गया है–"न तो तू हीन (भावना से ग्रस्त) हो, और न उत्कर्ष–(अतिरिक्त बड़ाई की भावना) से ग्रस्त हो।"[3]

लघुताग्रन्थि और गौरवग्रन्थि, ये दोनों ही संवर साधना को चौपट करने वाली हैं। गौरवग्रन्थि से ग्रस्त होकर मानव अपने माने हुए तथाकथित कुल, जाति, श्रुत, बल, तप, वैभव आदि के मद से अहंकारग्रस्त होकर अपनी बड़ाई करने लगता है, और दूसरे का तिरस्कार।

---

१. "लाभालाभे सुहे-दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो णिंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ।" –उत्तराध्ययन १९/९०

२. न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् चाऽप्यप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो, ब्रह्मवित् ब्रह्मणिस्थितः॥ –गीता ५/२०

३. "....णो हीणे, णो अइरित्ते, णो पीहए।" तम्हा पंडिए णो हरिसे णो कुज्झे।'
–आचारांग १/२/३ सू.

इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है–'न तो साधक दूसरों का तिरस्कार करे और न ही अपने उत्कर्ष का[1] गर्व करे।" बल्कि अध्यात्मसंवर के साधक का कर्त्तव्य है–"वह त्रस और स्थावर, मानव और मानवेतर सभी प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भाव–समभाव रखे, समदर्शी बने।' गीता में उसे ही अतिश्रेष्ठ साधक कहा गया है–"जो सुहृत्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, और बन्धुगणों के प्रति, एवं सज्जनों (साधु पुरुषों या धर्मात्माओं) और दुर्जनों–पापियों के प्रति समबुद्धि रखता है, वही साधक अतिश्रेष्ठ–विशिष्ट है।" जिसका मन साम्यभाव में स्थित है, उन्होंने यहीं (इस जन्म में ही) समग्र संसार (संसार के कारणभूत आस्रव) को जीत लिया क्योंकि ब्रह्म (शुद्ध आत्मा या परमात्मा) निर्दोष और सम है। इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थित हैं, समझ लो।" "जो योगी समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, सुख या दुःख को भी सबमें अपने समान देखता है, वही योगी सर्वश्रेष्ठ माना गया है।"[2]

जहाँ भी विषमता आए, वह चाहे संयोग-वियोग जनित हो, प्रिय-अप्रिय जनित हो, दुःख-सुख जनित हो, शत्रु-मित्र जनित हो, क्षेत्र-जनित हो, वस्तुजनित हो या व्यक्तिजनित हो, वहाँ कर्मों का आगमन (आस्रव) अवश्यम्भावी है।[3] अतः अध्यात्म संवर का साधक विषमता के प्रसंगों पर सावधान होकर मन को समभाव में स्थिर करता है, उस समय वह तटस्थ भाव से केवल ज्ञाता-द्रष्टा बना रहता है, अपने ज्ञानगुण में लीन रहता है, न तो किसी पर राग करता है, न द्वेष, तभी अध्यात्मसंवर की सिद्धि होती है।

आत्मयुद्ध का पांचवाँ प्रकार : प्रतिक्रमण

इसके पश्चात् आत्मयुद्ध का पांचवाँ प्रकार है–प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण अध्यात्मसंवर की साधना यात्रा में हुई भूलों, दोषों, अपराधों, अतिचारों और त्रुटियों का परिमार्जन करने हेतु आत्मयुद्ध का एक सर्वोत्तम एवं सशक्त साधन है। अध्यात्म-संवर

---

१. "न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुअ लाभे न मज्जिा, जच्चा तवस्सि बुद्धिए॥" –दशवैकालिक ८/३०

२. (क) जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं॥ –अनुयोगद्वार प्रथम भाग
(ख) सुहृन्मित्रार्युदासीन मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ –गीता ६/९
(ग) इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ –गीता ५/१९
(घ) आत्मौपम्येन सर्वत्र-समं पश्यति योऽर्जुन!
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥ –गीता ६/३२

३. तुलना करें–निम्ममो निरहंकारो निस्संगो, चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य॥ –उत्तराध्ययन अ. १९/७९

का साधक प्रतिक्रमण के माध्यम से अपने आपको तटस्थ होकर देखता है, मन-वचन-काया के योगों (प्रवृत्तियों) का कोना कोना छान डालता है। वह स्वयं अन्तर्मन की गहराई में उतर कर निरीक्षण-परीक्षण करता है, दिन रात्रि, पक्ष, संवत्सर आदि में कहीं भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि में दोष (अतिचार) का कूड़ाकर्कट जमा हो गया हो उसे तुरंत बाहर निकालता है, और ज्ञानादि की शुद्धि करके उन्हें स्वस्थान पर लाता-रखता है।

प्रतिक्रमण में अध्यात्म-संवर का साधक अपनी छोटी-से-छोटी भूल को बारीकी से पकड़कर निकालता है और भविष्य में उन दोषों को न होने देने के लिए प्रत्याख्यान (नियम, सौगन्ध या प्रतिज्ञा) करता है। प्रतिक्रमण की साधना में अध्यात्मसंवर के साधक को आत्मयुद्ध करना पड़ता है। कच्चा साधक घबरा जाता है। वह सोचता है--एक ओर हिंसादि तथा रागद्वेष-मोहादि जनित आस्रवों की विशाल सेना है, दूसरी ओर अध्यात्मसंवर की आत्मिक ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की सेना है, इनकी सहायता के लिए समिति, गुप्ति, महाव्रत, श्रुतज्ञान (शास्त्र, ग्रन्थ), चारित्र, तप आदि सेना है। परन्तु अध्यात्मसंवर की साधना-यात्रा में साधक संवर के शुद्ध मार्ग को छोड़कर आस्रव के मार्ग पर चढ़ जाता है। प्रतिक्रमण, उस साधक को सावधानीपूर्वक वापस स्वमार्ग पर ले आता है।[1]

प्रतिक्रमण का अर्थ है--वापस लौटना। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को छोड़कर अथवा ज्ञानादि निजी गुणों को छोड़कर प्रमादवश, मिथ्यात्ववश, कषायवश या अशुभ योगवश परभावों या विभावों में भटक जाता है, तब प्रतिक्रमण उस भूल का मिथ्यादुष्कृत, निन्दना, गर्हणा, आलोचना, वन्दना, क्षमापना, प्रायश्चित्त आदि के द्वारा परिमार्जन करके आत्मा को पुनः अपने स्थान में अपने शुद्ध स्वरूप में ले आता है।

प्रतिक्रमण आत्मशुद्धि, आत्मालोचन, आत्मप्रतिलेखन, आत्मरणता, आत्म स्वरूप में स्थिति आदि का सर्वोत्कृष्ट रूप है। शास्त्रों में यत्र तत्र अध्यात्मसंवर के साधक को संवर मार्ग से आस्रवमार्ग में भटक जाने पर पुनः लौटने का संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ--दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है--"(अध्यात्मसंवर के) साधक से जानते-अजानते कोई अधार्मिक कृत्य हो जाए तो तुरंत उससे अपने-आपको रोक ले (संवृत कर ले) तथा दूसरी बार वह कृत्य न करे। अनाचार का सेवन करके उसे गुरु के समक्ष छिपाए नहीं (आलोचना करके प्रकट करे) और न सर्वथा अपलाप (किये हुए दोष का अस्वीकार) करे। किन्तु प्रायश्चित्त लेकर सदा पवित्र (शुद्ध) और स्पष्ट (प्रकटभावधारक), असंसक्त (अलिप्त--बेलाग) और जितेन्द्रिय रहे।"[2]

---

१. देखें--जैन आचारः सिद्धान्त और स्वरूप (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि)

२. (क) प्रतीयं क्रमणम्--प्रतिक्रमणम्। अयमर्थः--शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेष्वेव क्रमणात् प्रतीयं क्रमणम्।" -योगशास्त्र २/१५ व्याख्या

इन दोनों गाथाओं में आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा (दोषों का प्रकटीकरण) तथा प्रायश्चित्त के रूप में प्रतिक्रमण करने का विधान है। आत्मा को अशुद्ध भाव, विचार, वचन और कार्य से रोक कर वापस शुद्ध भाव में लौटा लेना प्रतिक्रमण का उद्देश्य है। रागद्वेषादि औदयिक भाव संसार (आस्रव) मार्ग है और समता, क्षमा, करुणा, नम्रता, दया आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्षमार्ग (संवरमार्ग) है। चैतन्य-यात्री द्वारा क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में भटक जाने पर पुनः क्षायोपशमिक भाव में लौट आने को भी प्रतिक्रमण कहा गया है।[1]

भगवती आराधना में अध्यात्मसंवर के सन्दर्भ में भाव-प्रतिक्रमण की परिभाषा दी गई है—आर्त्त-रौद्रध्यानादि अशुभपरिणाम और पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ परिणाम भाव कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के शुभाशुभ भावों से निवृत्त होकर शुद्ध परिणामों (भावों) में स्थित होना भावपरिणाम है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भाव प्रतिक्रमण की व्याख्या इस प्रकार की है—"मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों (आस्रवकारणों) में मन-वचन-काया से स्वयं गमन न करना, न दूसरों को गमन कराना और न गमन करने वालों का अनुमोदन करना भावप्रतिक्रमण है।"[2]

भगवतीसूत्र में प्रतिक्रमण को त्रिकाल-विषयक बताते हुए कहा गया है—भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमण करना, वर्तमान में लगने वाले दोषों से संवर (निरोध) द्वारा बचना तथा भविष्य में लग सकने वाले दोषों को प्रत्याख्यान द्वारा रोकना त्रिकाल-विषयक प्रतिक्रमण है।"[3]

सचमुच, प्रतिक्रमण अध्यात्मसंवर की सिद्धि के लिए अमोघ साधन है और आत्मयुद्ध में शुद्धआत्मा को विजयी बनाने में सहायक उपाय है।

(ख) "जं जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संजमे खिप्पमप्पाणं, बीअं तं न समाचरे॥"
अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए॥ —दशवैकालिक ८/३०-३१

१. (क) समता योग (रतनमुनि) से सारांश ग्रहण, पृ. २०२
(ख) आर्त्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामाः, पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामा इह भाव-शब्देन गृह्यन्ते, तेभ्योनिवृत्तिः भावप्रतिक्रमणमिति। —भगवती आराधना टीका
(ग) क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशंगतः।
तत्रापि च स्खाऽर्थः प्रतिकूलगमात् स्मृतः। —आवश्यक हारि. वृत्ति

२. देखें—आवश्यक निर्युक्ति (आचार्य हरिभद्र)

३. . देखें—अईयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ।
—भगवतीसूत्र के इस पाठ की व्याख्या

आत्मयुद्ध का छठा प्रकार : प्रत्याख्यान

इसके पश्चात् आत्मयुद्ध का छठा प्रकार है–प्रत्याख्यान। इसमें नियम-उपनियमों का ग्रहण, अमुक मर्यादाओं का स्वीकार, अमुक तप, व्रत आदि का स्वीकार, और अमुक बुराई या आस्रव को छोड़ने का सत्संकल्प, अथवा आत्मा के लिए अहितकर अमुक पदार्थ व्यसन आदि का त्याग, एवं अमुक प्रतिज्ञाग्रहण आदि का समावेश हो जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में संभोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, आहार-प्रत्याख्यान, कषाय-प्रत्याख्यान, योग-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, सहाय-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान, एवं सद्भाव (पूर्ण-समग्रभावों का परमार्थतः) प्रत्याख्यान आदि प्रत्याख्यान के अनेक रूपों और उनके विविध सुपरिणामों का उल्लेख है। इससे प्रत्याख्यान की महत्ता और व्यापकता स्पष्ट सिद्ध है–अध्यात्म-संवर की सिद्धि के लिए।[1]

यह तो स्पष्ट है कि प्रत्याख्यान से वर्तमान में लग सकने वाले, भविष्यकाल में लगने की सम्भावना वाले दोषों, बुराइयों, पापों तथा आस्रवों का निरोध रूप संवर हो जाता है। प्रत्याख्यान से अध्यात्मसंवर में अवरोधक आस्रवों-बुराइयों आदि से किनाराकशी की जाती है, फलतः संवर-साधना में कोई कठिनाई महसूस नहीं होती।

आत्मयुद्ध का सप्तम प्रकार : आत्मस्वरूप-स्मृति-जागृति

आत्मयुद्ध में अन्त तक टिकाये रखने वाला, हार न खानेवाला, तथा निराशा को दूर कर आत्मा में अध्यात्मसंवर में सफलता की आशा का संचार करने वाला सप्तम अमोघ उपाय या प्रकार है–सतत आत्मस्वरूपस्मृति-जागृति।

जब भी आत्मा अपने स्व-भाव या स्व-रूप को छोड़कर परभावों-आत्मबाह्य पदार्थों के प्रति राग द्वेषादि में जाने लगे, अथवा विभाव रूप कषायों के बीहड़ में भटकने लगे, उस समय अध्यात्म संवर-साधक वीर योद्धा की तरह अपने स्वरूप का स्मरण करे या याद रखे तो शीघ्र ही उनसे विरत हो सकता है।

आत्मस्वरूप की स्मृति या जागृति दो प्रकार से हो सकती है–विधेयात्मक पहलू से और निषेधात्मक पहलू से।

जैसे कि समयसार में कहा गया है–"मैं (आत्मा) एकमात्र शुद्ध हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ, सदा अरूपी (अमूर्त्त) हूँ। परमाणुमात्र भी अन्य पदार्थ मेरा नहीं है।" यह विधेयात्मक पहलू से आत्मस्वरूप है। समयसार में निषेधात्मक पहलू से भी आत्मस्वरूप की स्मृति बनाए रखने के लिए कहा गया–मैं क्रोध नहीं हूँ, मान, माया और लोभ नहीं हूँ। मैं राग, द्वेष, ईर्ष्या या घृणा आदि नहीं हूँ।

---

१. देखें–उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ के सूत्र ३३ से ४१ तक की व्याख्या। (आ. प्र. समिति, ब्यावर) पृ. ५०४ से ५०७ तक।

इसी प्रकार आचारांग सूत्र में भी शुद्ध आत्मा का निषेधात्मक पहलू से स्वरूप बताया गया है। आत्मषट्क में भी निषेधपरक स्वरूप बताकर अन्त में कहा गया–'मैं एकमात्र चेतन हूँ, सच्चिदानन्दरूप शिव हूँ।'

उपनिषदों में भी नेति, नेति कहकर स्वरूप जागृति की प्रेरणा दी है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कुल की स्मृति होने पर तुरन्त संभल कर कुलपरम्परा विरुद्ध कार्य नहीं करता, इसी प्रकार आत्मकुल की सतत स्मृति बनी रहे तो अध्यात्मसंवर का साधक तुरंत अपने स्वरूप का स्मरण करेगा–ये कषाय आदि मेरे कुल के नहीं है, मेरा तो ज्ञानादि परिवार का कुल है। इससे आत्मयुद्ध में आत्मा विजयी होती है, कषायादि परास्त हो जाते हैं।'

निष्कर्ष यह है कि जब चैतन्य की निरन्तर स्मृति या अनुभूति रहती है, तब अध्यात्मसंवर की स्थिति होती है, यों भी कह सकते हैं–अध्यात्मसंवर अधिकाधिक सुदृढ़ होता रहता है। चैतन्य की सतत स्मृति या जागृति से आत्मा की शुद्धोपयोग में स्थिरता रहती है। अध्यात्मसंवर के आते ही सम्यक्त्व-संवर, व्रतसंवर, अप्रमाद-संवर और अकषाय-संवर सिद्ध हो जाते हैं। और संवर के अन्तिम शिखर अयोग-संवर तक साधक पहुंच जाता है।

चैतन्य की सतत स्मृति-जागृति होते ही संवर आ जाता है, उसके आते ही आस्रवों के सभी द्वार बंद हो जाते हैं। जब द्वार बंद हो जाता है, आत्मा अपने स्वरूप के प्रति जाग्रत होकर बैठ जाता है, तब न तो कोई क्रोधादि कषाय आ सकता है, न ही प्रमाद घुस सकता है और मिथ्यात्व, अविरति के आने का तो सवाल ही नहीं है।

अन्तिम अयोग संवर के आते ही साधक ने जो आत्मा के साथ पौद्गलिक सम्बन्ध बांध रखे थे, वह सब एक-एक करके टूटने-छूटने लगते हैं। कर्मों के साथ जितने भी सम्बन्ध प्राणी स्थापित करता है, वे सब आत्मा की विस्मृति के कारण होते हैं। जब-जब आत्म-विस्मृति होती है, तब कोई न कोई कर्म-पुद्गल आते हैं और आत्मा के साथ जुड़ जाते हैं।

जब व्यक्ति अपना होश संभालता है, आत्मा की अनुभूति या स्मृति करता है, तब उन कार्मिक पुद्गलों का प्रभाव क्षीण होने लगता है। वे कर्मपुद्गल उसी प्रकार दूर होने

---

१. (क) अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदाऽरूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि॥" –समयसार ३८
(ख) देखें–अभ्युदय में समयसार में आत्मस्वरूप के निषेधपरक कथन का उल्लेख, पृ. १६२-१६३
(ग) देखें–आत्मषटक के उद्धरण पिछले पृष्ठों में।
(घ) देखें–आचारांग १/५/६ सू. १७५ (आ. प्र. समिति ब्यावर) पृ. १८७-१८८

लगते हैं, जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार स्वयं पलायित हो जाता है। उस समय आत्मा का शुद्ध अस्तित्व स्व-स्वरूप प्रकट हो जाता है।

फलितार्थ यह है कि मन-वचन-काया के योग जब समाप्त होने लगते हैं, तब पूर्वोक्त आस्रवद्वार बंद हो जाते हैं। फिर आत्मा में न तो क्रोधादि का आवेग या आवेश आ सकता है, और न ही मद, मत्सर, आदि आ सकते हैं। यही अध्यात्म संवर का परिपूर्ण और शुद्ध रूप है। अयोग संवर सिद्ध होते ही आत्मा अपने आप में परिपूर्ण हो जाता है, आत्मा का पूर्ण विकास हो जाता है, परमात्मभाव की परिपूर्ण स्थिति उपलब्ध हो जाती है। फिर आत्मा को बाहर से कुछ भी पाना या लेना नहीं होता। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं रह जाती, जो आत्मा के लिए बाहर से ग्राह्य हो, या आत्मा के लिए हितकर हो।[1]

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, कर्म, काया, मोह-माया, कषाय, राग-द्वेष मोह आदि सबसे आत्मा अतीत और पर हो जाता है। फिर चैतन्य पर कोई मूर्च्छा, ममता, अहंता, आदि का आवरण नहीं आ पाता, न ही आत्मा पर कोई भी विभाव या परभाव हावी हो सकते हैं। यह स्वयं पूर्ण, सर्वतंत्र-स्वतंत्र, अनन्तज्ञानादि चतुष्टय से युक्त हो जाता है। यह सब आत्मा की–चैतन्य की सतत स्मृति, अस्तित्व की अनुभूति एवं जागृति का ही प्रभाव है। फिर आत्मा की शक्ति को कोई भी बाहरी सजीव निर्जीव पदार्थ अथवा विभाव कुण्ठित नहीं कर सकता। उसके अनन्त आनन्द (आत्मिक सुख) में कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकता, न ही उसके ज्ञान-दर्शन के प्रकाश को कोई लुप्त कर सकता है। इसलिए आत्मयुद्ध का अन्तिम प्रकार या उपाय सतत आत्मस्वरूप स्मृति-जागृति बताया गया है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त विधि से आत्मशक्ति के संरक्षण एवं आत्मयुद्ध से अध्यात्म संवर की सिद्धि होने में कोई सन्देह नहीं रहता। अध्यात्म संवर की पूर्ण स्थिति होने पर अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप महागुणों की उपलब्धि भी तत्काल हो जाती है।

■

---

१. चेतना का ऊर्ध्वारोहण से भावांश ग्रहण, पृ. २०९

परिशिष्ट

कर्म विज्ञान भाग १, २ एवं ३ में उद्धृत ग्रन्थ सूची

अ

अनुत्तरौपपातिक सूत्र
अखण्ड ज्योति (सन् १९७२, ७३, ७४, ७६, ७७, ७८, ७९)
अध्यात्म-सार
अभिधर्म कोष
अनुयोग द्वार टीका
अष्ट सहस्री
अष्ट शती
अन्तकृद्दशांग सूत्र
अमर कोष
अमितगति श्रावकाचार
अथर्ववेद
अभिधान राजेन्द्र कोष
अहिंसा दर्शन (उपाध्याय अमर मुनि)
अनुशासन पर्व
अनुयोग द्वार
अध्यात्म रहस्य
अभिधम्म कोष
अमर भारती
अष्टाध्यायी (पाणिनी कृत)
अमृतनादोपनिषद्
अध्यात्म कमल मार्तण्ड
अनगार धर्मामृत
अभिधम्मत्थ संगहो

आ

आत्म-षट्क
आचारांग-सूत्र
आनन्दघन चौबीसी
आवश्यक सूत्र
आँखों से देखी, कानों से सुनी
आवश्यक कथा
आगार धर्मामृत
आप्त-परीक्षा
आवश्यक चूर्णि
आचारसार
आत्मानुशासन
आप्त-मीमांसा
आत्म-मीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया)
आत्म तत्त्व (विजय लक्ष्मण सूरि)
आदि पुराण (महापुराण)
आचारांग चूर्णि
आराधना सार

इ

Introduction to Devout Life

ई

ईशावास्योपनिषद्
ईथिकल स्टडी

उ

उत्तराध्ययन सूत्र
उत्थान का महावीरांक (जैन कान्फ्रेंस बम्बई द्वारा प्रकाशित)
उपासक दशांग
उपदेश प्रसाद

ऋ

ऋग्वेद
ऋग्वेद पुरुष सूक्त

ऐ

ऐतरेय उपनिषद
As you like It. Act II, Sc. III

ओ

ओघनिर्युक्ति

औ

औपपातिक

अं

अंगुत्तर निकाय

क

Creative Period
कर्म मीमांसा (कल्याण मासिक पत्र जून १९६७)
कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी)
कर्म रहस्य (,, ,,)
कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ)
कर्मग्रन्थ भाग १-६ (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.)
कर्म नो सिद्धान्त (हीरा भाई ठक्कर)
कार्तिकेयानुप्रेक्षा
कर्मग्रन्थ (पं. सुखलाल संघवी)
कर्म की विचित्रता (रतनलाल जैन)
कर्म मीमांसा (युवाचार्य मधुकर मुनि)
कषाय प्राभृत
कषाय पाहुड (आचार्य गुणधर)
कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेश मुनि)
कर्म का स्वरूप (पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री)
Keith : Buddhist Philosophy
कुरान शरीफ
केवल अपने ही लिए न जीएँ (श्रीराम शर्मा आचार्य)

ग

गोम्मटसार (जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड)
गीता
गणधरवाद (पं. दलसुख मालवणिया)
गीता रहस्य (लोकमान्य तिलक)
गोभिल गृह्य सूत्र
गुण साधर्म्य प्रकरण
गौतम सूत्र
गौतम पृच्छा

घ

घट-घट दीप जले (युवाचार्य महाप्रज्ञ)

च

चारित्रसार
चरक संहिता
चाणक्य नीति
चित्त और मन
चेतना का ऊर्ध्वारोहण

छ

छान्दोग्योपनिषद

ज

जीवनरहस्य और कर्म रहस्य (आचार्य अनन्त प्रसाद जैन लोकपाल)
जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि (राधाकृष्णन)
जैन योग (युवाचार्य महाप्रज्ञ)
जैन जगत में प्रकाशित भदन्त आनन्द कौशल्यायन का लेख
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र
जैन दर्शन में आत्म विचार (डॉ लालचन्द्र जैन)
जैन दृष्टिए कर्म विचार (डॉ. मोतीचन्द) (गुजराती)
जैन कथा कोष (मुनि श्री छत्रमल जी)
जैन दृष्टिए कर्म (गुजराती)
जैन कथाएँ (उपाध्याय पुष्कर मुनि)
जैन दर्शन (डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य)
जैन साहित्य का बृहद इतिहास
जवाहर किरणावली (राम वन गमन)
जिनवाणी–कर्म सिद्धान्त विशेषांक
जैन कर्म सिद्धान्त
जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागर मल जैन)
जैमिनी सूत्र
जैन दृष्टिए कर्म की प्रस्तावना (नगीनदास जीवनलाल शाह)
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (जिनेन्द्रवर्णी)
जैन धर्म (महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य)
जाबाल दर्शनोपनिषद
जैन तत्त्व कलिका

ठ

ठाणांग सूत्र (स्थानांग सूत्र)

त

तैत्तिरीय उपनिषद्
तत्त्वार्थ सूत्र
तत्त्वार्थ सर्वार्थ सिद्धि
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक
तर्क संग्रह
तन्दुल वेयालिय
तांड्य उपनिषद्
तीर्थंकर महावीर (श्रीचन्द सुराना)
तन्त्र शास्त्र

तत्त्वार्थ सार
तात्पर्य वृत्ति टीका
तत्त्व दीपिका
तन्त्र वार्तिक (कुमारिल भट्ट)

थ

थेरी गाथा

द

दुःख विपाक सूत्र
दशाश्रुतस्कन्ध
दैनिक आज (कानपुर)
द्रव्य संग्रह
दर्शन पाहुड
दो आँसू (कहानी संग्रह) (उपाध्याय श्री केवल मुनि)
दीघ निकाय
दीघ निकाय सामञ्ञफल सुत्त
दशवैकालिक सूत्र
द्वन्द समास प्रकरण
दशवैकालिक सूत्र (हारिभद्रीय वृत्ति)
देवचन्द्र चौबीसी (अजित-जिन स्तवन)

ध

धवला
धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि)
धम्मपद
धर्मनिर्णय सिन्धु

न

न्याय मञ्जरी (उत्तर भाग)
न्याय सूत्र
न्याय वैशेषिक दर्शन
न्याय दर्शन (वात्स्यायन भाष्य)
नन्दी सूत्र
न्याय कुमुदचन्द्र (आ. प्रभाचन्द्र)
न्यायावतार वार्तिक वृत्ति
न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
न्याय कुसुमाञ्जली
न्याय भाष्य
नीतिवाक्यामृत (आ. सोमदेव)
न्याय दर्शन सार
नियम सार
नीति शतक (भर्तृहरि)
न्याय दर्शन सूत्र
नव पदार्थ ज्ञान सार

प

प्रेमा प्रभा टीका
पंचाध्यायी
पञ्च तन्त्र
पंचास्तिकाय
प्रवचन सार तत्त्व प्रदीपिका टीका
पञ्च संग्रह (प्राकृत, संस्कृत)
पातंजल योग दर्शन
प्रज्ञापना सूत्र
पञ्चास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति
प्रमेय कमल मार्तण्ड

प्रमाण-मीमांसा
पासणाह चरिउ
परमात्म प्रकाश
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
प्रवचन सार प्रदीपिका वृत्ति (अमृत चन्द्राचार्य)
पञ्चम कर्मग्रन्थ (पं. फूलचन्द जी जैन)
प्रकृति बन्ध प्रकरण
पइन्ना
प्रज्ञापना सूत्र
पद्मनन्दी पंचविंशतिका
प्रमाणवार्तिकालंकार
प्रवचन सार टीका
पंचास्तिकाय टीका (आचार्य अमृतचन्द्र)
प्रतीत्य समुत्पाद
पंचाशक
प्रवचनसारोद्धार

ब

ब्रह्म सूत्र
बौद्धपिटक मौलुक्य पुत्र संवाद
बन्ध प्रकरण
बाइबिल
बृहदारण्यक
बृहद कल्प भाष्य
बंध विहाणे मूल पयडिबंधो
बन्ध विहाणे उत्तर पयडिबंधो (पूर्वांश) टीका (संशोधक-विजय प्रेम सूरिजी)
बौद्ध धर्म दर्शन (आचार्य नरेन्द्र देव)
बाल जीवन (गुजराती मासिक पत्र सितम्बर १९६४)
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
ब्रह्म सूत्र शाबर भाष्य
ब्रह्म जाल सूत्र
बुद्ध चरित

भ

भगवती सूत्र
भगवद्गीता
भारतीय इतिहास के नायक
भारतीय दर्शन की रूपरेखा (प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा)
भाव पाहुड
भगवती आराधना

म

मारकण्डेय पुराण
मनु स्मृति
मोक्षमार्ग प्रकाश (पं. टोडरमल)
मूलाराधना
महाबन्धो भाग-२ (भारतीय ज्ञान पीठ)
मनोविज्ञान और शिक्षा (डॉ. सरयू प्रसाद चौबे)
मिलिन्द प्रश्न
मज्झिम निकाय
महाभारत
महावीर स्वामीनो संयम धर्म
माठर वृत्ति

महावीर चरियं
महाकर्म विभंग
महावीर की साधना का रहस्य
मन और उसका निग्रह (स्वामी बुधानन्द)
मानवतां नु मीठुं जगत (कविवर्य नानचन्द्र जी म.)

य

योग सार
योग रहस्य
योगबीज
योग शास्त्र
योग दर्शन (व्यास भाष्य)
योग दर्शन भाष्य
योग कुण्डलिन्युपनिषद
योगसन्ध्या

र

रत्न करण्ड श्रावकाचार
रत्नाकरावतारिका
रामचरित मानस (गोस्वामी तुलसीदास)
रामकृष्ण वचनामृत
राजप्रश्नीय सूत्र

ल

लोक-प्रकाश
लोक तन्त्र निर्णय
लक्ष्मण प्रश्न द्वितीय

व

विपाक सूत्र
विसुद्धि मग्गो
विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद)
वैराग्य शतक (भर्तृहरि)
वल्लभ प्रवचन भाग ३
वैशेषिक सूत्र
वस्तु विज्ञान सार
वैयाकरण
वेदान्त सूत्र
व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र
वैशेषिक दर्शन (प्रशस्त पाद भाष्य)
विवेकानन्द साहित्य
विवेक चूड़ामणि (आद्य शंकराचार्य)

श

शास्त्र वार्ता समुच्चय (आचार्य हरिभद्र सूरि)
शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी
श्वेताश्वतर उपनिषद्
शुक्ल यजुर्वेद संहिता
शान्ति शतकम्
शाबर भाष्य
शास्त्र दीपिका
शान्तसुधा रस काव्य (उपाध्याय विनय विजय)
शालिभद्र चरित्र (आ. जवाहरलाल जी म.)
शिवपुराण

श्र

श्रमणोपासक १० अगस्त ७९ के अंक में प्रकाशित रतनलाल जैन का लेख

ष

षड्दर्शन समुच्चय
षड्दर्शन रहस्य
षड्दर्शन समुच्चय टीका
षट् खण्डागम

स

सिरिवाल कहा (रत्नशेखर सूरि)
समता योग (रतन मुनि)
सामञ्ञफल सुत्त दीघ निकाय
साहित्य नु संक्षिप्त इतिहास (मुनि श्री नित्यानन्द विजय जी)
सूत्रकृतांग
स्थानांग सूत्र
सिद्धि विनिश्चय टीका
सांख्य सूत्र
सांख्य प्रवचन भाष्य
सांख्य कारिका
समयसार
समराइच्चकहा (आचार्य हरिभद्र सूरि)
सोलह सती
स्कन्द पुराण
स्याद्वाद मञ्जरी
सत्य शासन परीक्षा (आचार्य विद्यानन्दी जी)
सन्मति प्रकरण
सन्मति तर्क प्रकरण
सूत्रकृतांग चूर्णि
संयुत्तनिकाय
सामायिक सूत्र
सुत्त निपात वासिट्ठसुत्तं
सिद्धान्त कौमुदी
समयसार (पं. जयचन्द जी)
सांख्यतत्त्व कौमुदी (तत्त्व वैशारदी भारती आदि टीकाएं)
Spiritual Teachings of Swami Brahmanand
Surmons and Sayings of the Buddha—Chetana
Studie of Jain Philosophy

ह

Human Anatomy and Philosophy (Edited By David M. A. Mysore)
हितोपदेश
हरिभद्र सूरिकृत संबोधसत्तरि
हठयोग प्रदीपिका

त्र

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

ज्ञ

ज्ञानसार (उपाध्याय यशोविजय जी)
ज्ञान का अमृत (पं. श्री ज्ञान मुनि)
ज्ञाता धर्म कथा सूत्र ■